

प्रकाशक—

पंडित लालाराम जैन ।

मालिक, ग्रन्थप्रकाश कार्यालय,

मल्हारगंज, इन्दौर ।



८

मुद्रक—

मूलचन्द्र किशनदास कापड़िया,

“जैनविज्ञाप” प्रिन्टिंग प्रेस,

मवाटिया बकला, सुग्गा ।

श्री अहंभूयो नमः ।

## भूमिका ।

यह पद्याध्यायी ग्रन्थ जैन मिद्धान्तके उत्तम कौटिके ग्रन्थोंमेंसे एक अद्वितीय ग्रन्थ है । वर्तमान समयके विद्वान् तो इस ग्रन्थको असाधारण और गम्भीर समझने ही हैं, किन्तु ग्रन्थकर्त्ताने स्वयं इसे ग्रन्थरत्न कहते हुए इसके कानेकी प्रतिज्ञा की है । ऐसा कि "पद्याध्यायावयवमम कर्तुमग्रन्थरत्नमात्मवशान्" इस आदि श्लोकार्थसे प्रकट होता है ।

इस ग्रन्थमें जिन महत्व पूर्ण विषयोंका विमृत्त विवेचन किया गया है, उन सबका परिज्ञान पाठश्रोको इसके स्वाध्याय और मनन करनेसे ही होगा, तथापि संक्षेपमें इतना कहना अनुचित न होगा कि यह ग्रन्थ जितना उपलब्ध है, दो भागोंमें बँटा हुआ है । (१) द्रव्य विभाग (२) सम्यक्त्व विभाग । द्रव्य क्या पदार्थ है ? वह गुणोंसे भिन्न है या अभिन्न ? उसमें उत्पत्ति स्थिति विनाश ये तीन परिणाम प्रतिक्षण किस प्रकार होते हैं ? गुण पर्यायोंका क्या लक्षण है ? इत्यादि बातोंका अनेक शंका समाधानों द्वारा स्पष्ट विवेचन पहले विभागमें (पहले अध्यायमें) किया गया है । इसी विभागमें प्रमाण, नय, निशेधोंका विवेचन भी बहुत विस्तारसे किया गया है । दूसरे विभाग (द्वितीय अध्याय) में जोयस्वरूप, सम्यक्त्व, कष्ट अंग, और अष्ट कर्माका विवेचन किया गया है । यह विभाग अध्यात्म विषय होनेके कारण प्रथम विभागकी अपेक्षा सर्व साधारणके लिये विशेष उपयोगी है ।

इस ग्रन्थके अवलोकनमें जनेतर विद्वान् भी जैन मिद्धान्तके तत्त्वविचार और अध्यात्मचर्चाके अपूर्व रहस्यको समझ सकेंगे ।

ग्रन्थकारने पाँच अध्यायोंमें पूर्ण करनेके उद्देश्यसे ही इस ग्रन्थका पद्याध्यायी नाम रक्खा है और इसी लिये अनेक स्थलोंपर कतिपय उपयोगी विषयोंको आगे निरूपण करनेकी उन्होंने प्रतिज्ञा की है । जैसे—'उक्तं दिग्मात्रतोष्यञ्च प्रसङ्गाद्वा गृहिमरं, वज्रे चोपासकाध्यायमात्सावकाशान् सविस्तारम्, तथा 'उक्तं दिग्मात्रमत्रापि प्रसङ्गाद्गृह्यमाणं, शेषं विशेषतो वक्ष्ये तत्स्वरूपं निनागमान्' इत्यादि प्रणिज्ञावाक्योंसे विदित होता है कि ग्रन्थकारका आशय इस ग्रन्थको बहुत विमृत्त बनाने और उसमें समग्र जैन सिद्धान्तरहस्यके समावेश करनेका था, परन्तु कहने लगे हुए हृदय कंपित होता है कि श्रेयांसि-यद् विम्राणि,



विषय।	पृष्ठ।	विषय।	पृष्ठ।
विधि निषेधमें सर्वथा नाम भेद भी नहीं है ....	८९	द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक ....	१९९
जैन स्याद्वादीका स्वरूप....	९१	पर्यायार्थिक नय विचार ....	१९९
सर्वथा नित्य अनित्य पक्षमें तथा केवल निश्चयात्मक पक्षमें दोष	९२-९३	व्यवहारनय ....	१९६
सत् अतत् भायके कहेनेकी प्रतिज्ञा	९५	व्यवहार नयके भेद ....	१९७
अभिन्न प्रतीतिमें हेतु ....	९६	कुछ नयमासोंका उल्लेख ...	१७१
विशेष ....	९७	नयवादके भेद....	१७६
नित्य अनित्य दृष्टि ....	९८	द्रव्यार्थिकनयका स्वरूप ....	१७९
सत् और परिणाममें अनेक दोषार्थे	९९	द्रव्यार्थिक नय भी विकल्पात्मक है	१८०
प्रत्येकका उत्तर....	१०१	निश्चयनयको सोदहरण माननेमें दोष	१८३
सत् परिणामको अनादि सिद्ध माननेमें दोष....	१२१	निश्चय नय मयार्थ है ....	१८७
सत्परिणामकथंविन्भिन्न अभिन्न है	१२२	व्यवहार नय मिथ्या है....	१८८
उभयथा अविरुद्ध हैं ....	१२४	यस्तुविचारार्थ व्यवहार नय भी आवश्यक है....	१८८
विक्रियाके, अभावमें दोष ....	१२६	स्वात्मानुभूतिका स्वरूप....	१९१
सत्को सर्वथा अनित्य माननेमें दोष	१२७	प्रमाणका स्वरूप....	१९६
सर्वथा नित्य माननेमें दोष	१२८	विरोधी धर्म भी एक साथ रह सकते हैं	१९७
सत् स्वान् एक है ....	१२९	प्रमाण नयोंसे मिल है....	१९९
द्रव्य विचार ....	१२९	सकल प्रत्यक्षका स्वरूप...	२०१
क्षेत्र विचार ....	१३३	देशप्रत्यक्षका स्वरूप ....	२०५
काल विचार ....	१४१	परोक्षका स्वरूप....	२०६
भाव विचार ....	१४३	मतिश्चूत भी मुख्य प्रत्यक्षके समान प्रत्यक्ष है ....	२०८
स्पष्ट विवेचन ....	१४५	द्रव्यमन ...	२१०
द्रव्यक्षेत्रकालभावसे सत् अनेक भी है ....	१४८-१४९	भावमन....	२१०
सर्वथा एक अनेक माननेमें दोष	१५०	कोई वेदको ही प्रमाण मानते हैं	२१२
नयोंका स्वरूप ....	१५१	कोई प्रमाणकरणको प्रमाण मानते हैं	२१२
नयोंके भेद ....	१५१	ज्ञान ही प्रमाण है ....	२१३
स्पष्ट विवेचन ....	१५२	वेद भी प्रमाण नहीं है....	२१६
नयमात्र विकल्पात्मक है ....	१५३	निशेधोंका स्वरूप ....	२१९
		द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकनयोंका विषय	२२३



# विषय-सूची।

## उत्तरार्ध ।

विषय ।	पृष्ठ ।	विषय ।	पृष्ठ ।
सामान्य विरोपका स्वरूप ....	१	जीव और पुद्गल दोनों ही नौ पदार्थ हैं	११
जीव अनीवकी सिद्धि ....	४	जीवकी ही नौ अवस्थाएं हैं ....	१३
मूर्त और अमूर्त द्रव्यका विवेचन	५	दृष्टान्तमाला ....	१४
मुखादिक अनीवमें नहीं है ....	८	एकान्त कथन और परिहार ....	१८
लोक और अलोकका भेद ....	९	नौ पदार्थोंके कहनेका प्रयोगन ....	१९
पदार्थोंमें विशेषता ....	१०	सूत्रका आशय ....	६१
क्रिया और भावका लक्षण ....	११	३ चेतनाके भेद ....	६२
जीव निरूपण ....	१२	ज्ञान चेतनाका स्वामी ....	६४
जीव कर्मका संबंध अनादिसे है ....	१४	मिथ्यादर्शनका माहात्म्य ....	६४
जीवकी अशुद्धताका कारण ....	१७	आत्मोपलब्धिमें हेतु ...	६५
बंधका मूल कारण ....	१९	अशुद्धोपलब्धिका स्वामी ..	६५
बंधके तीन भेद ...	२०	अशुद्धोपलब्धि बंधका कारण है.	६७
भावबंध और द्रव्य बन्ध. . .	२१	मिथ्यादृष्टिका वस्तु स्वाद ....	७०
उभयबंध ...	२१	ज्ञानी और अज्ञानीका क्रियाफल ....	७१
जीव और कर्मकी सत्ता . . .	२१	ज्ञानीका स्वरूप ...	७१
ज्ञान मूर्त भी है ...	२५	सम्यग्ज्ञानीके विचार ....	७१
वैभाषिक शक्ति आत्माका गुण है	२६	सांसारिक सुखका स्वरूप ....	७४
अवद ज्ञानका स्वरूप ..	२८	कर्मकी विचित्रता ....	७५
बंधका स्वरूप ..	२९	सम्यग्दृष्टिकी अभिलाषायें शान्त	
बंधका भेद ...	३८	हो चुकी हैं ....	७९
बंधके कारणपर विचार ...	३९	अनिच्छा पूर्वक भी क्रिया होती है	८२
शुद्ध ज्ञानका स्वरूप .	४३	इन्द्रिय जन्य ज्ञान ..	८४
अशुद्ध ज्ञानका स्वरूप ...	४४	ज्ञानोंमें शुद्धिका विचार ....	८६
बंधका उत्पन्न ....	४६	उपयोगात्मकज्ञान ....	८७
अशुद्धता बंधका कार्य भी है और		क्षयोपशमका स्वरूप ...	८९
कारण भी है ....	४७	कर्मोद्य उपधि दुःखरूप है ....	९०
जीव शुद्ध भी है और अशुद्ध भी है	४८	अनुदिपूर्वक दुःख सिद्धिमें अनुमान	९१

विषय ।	पृष्ठ ।	विषय ।	पृष्ठ ।
मुख्य गुण क्या वस्तु हैं.....	९९	आदेश और उपदेशमें भेद ....	१६४
अनेकान्तका स्वरूप ....	९७	गृहस्थाचार्य भी आदेशदेनेका अ-	
दुःखका कारण ....	९८	धिकारी है ....	१६५
वास्तविक मुख कहाँपर है ....	१००	आदेशदेनेका अधिकारी अवती नहीं है	१६५
जड़ पदार्थ ज्ञानके उत्पादक नहीं हैं	१०२	गृहस्थोंके लिये दान पूजन विधान	१६६
नैयायिक मतके अनुसार मोक्षका		अन्यदर्शन ..	१६८
स्वरूप ....	१०५	उपाध्यायका स्वरूप ...	१६९
निज गुणका विकाश दुःखका कारण		साधुका स्वरूप....	१७०
नहीं है ..	१०५	आचार्यमें विशेषता ....	१७२
सम्यग्दर्शनका स्वरूप ....	१०७	चारित्र्यकी क्षति और अक्षतिमें कारण	१७३
सम्यग्दर्शनके लक्षणोंपर विचार ...	११०	शुद्धआत्माके अनुभवमें कारण....	१७४
ज्ञानका स्वरूप....	११३	चारित्र्यमोहनीयका कार्य ..	१७४
त्यागभूतिका स्वरूप ...	११५	आचार्य उपाध्यायमें साधुकी समानता	१७५
श्रद्धादिकोंके लक्षण ....	११७	बाह्य कारणपर विचार....	१७७
श्रद्धादिकोंके कहनेका प्रयोजन. ..	११८	आचार्यकी निरीहता ....	१७८
प्रशमका लक्षण....	१२१	धर्म ....	१८१
संवेगका लक्षण....	१२२	जगुप्रतका स्वरूप ....	१८१
अनुकम्पाका लक्षण ....	१२५	महाप्रतका स्वरूप ....	१८२
आस्तित्वका लक्षण ....	१२६	गृहस्थोंके मूलगुण ....	१८२
निःशक्तिका लक्षण ....	१२२	अष्ट मूल गुण जैनमात्रके लिये	
भय कम होता है और भयका लक्षण		आवश्यक हैं. ..	१८५
व उनके सात नाम....	१२६	सप्त व्यसनके त्यागका उपदेश ....	१८५
निःकाक्षित अंग....	१४६	अतीचारोंके त्यागका उपदेश ....	१८४
कर्म और कर्मका फल अनिष्ट क्यों हैं	१५०	दान देनेका उपदेश ....	१८४
निर्विचिकित्साका लक्षण ....	१५२	मिनपूजनका उपदेश ....	१८५
अमूढ़ दृष्टिका लक्षण....	१५५	गुरु पूजाका उपदेश ....	१८६
आरहत और सिद्धका स्वरूप ..	१५७	मिनबैतल्य गृहका उपदेश ....	१८६
गुरुका स्वरूप ....	१६०	तीर्थयात्राका उपदेश	
आचार्यका स्वरूप ....	१६४	मिन विमोक्षत्वमें समिहित होनेका	
		उपदेश ....	१८९

विषय ।	पृष्ठ ।	विषय ।	पृष्ठ ।
संयम धारण करनेका उपदेश ....	१८९	सम्यक्त्यके भेद ....	२४२
यतियोंके मूलगुण ....	१९०	चारों बंधोंका स्वरूप ....	२४३
उत्तर कियारूप ब्रतोंका फल ....	१९१	अनुमाग बंधमें विशेषता ....	२४८
ब्रतका लक्षण ....	१९१	चेतना तीन प्रकार है ....	२४९
ब्रतका स्वरूप ....	१९२	सर्व पदार्थ अनंत गुणात्मक हैं ....	२४९
भावहिंसासे हानि ..	१९३	बैसाविक शक्ति ....	२५१
परका रक्षण भी स्वात्म रक्षण है	१९३	विकृतावस्थामें वास्तवमें जीवकी	
शुद्ध चारित्र ही निर्मैताका कारण है	१९४	हानि है ....	२५३
यथार्थ चारित्र ..	१९५	पांच भावोंके स्वरूप ..	२५६
सम्यग्दर्शनका माहात्म्य ..	१९९	गतिर्कर्मका विपाक ..	२५९
बंध मोक्ष व्यवस्था ..	२००	मोहनीय कर्मके भेद ....	२६३
उपगृहण अंगका लक्षण ....	२०२	अज्ञान औदयिक नहीं है ....	२६४
कर्मोंके क्षयमें आत्माकी विशुद्धि...	२०४	कर्मोंके भेद प्रभेद ..	२६६
स्थितिकरण अंगका लक्षण ....	२०५	एक गुण दूसरेमें अंतर्भूत नहीं है	२६९
स्वोपकारपूर्वक प्रोपकार ....	२०८	औदयिक अज्ञान ..	२७३
वात्सल्य अंगका लक्षण ....	२०९	अबुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वकी सिद्धि	२७३
प्रभावना अंगका स्वरूप ....	२१०	आलापिके भेद .	२७८
बाह्य प्रभावना ....	२११	बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वके दृष्टान्त ..	२८०
किन्हीं नासमझोंका कथन ....	२१२	नोकपाकके भेद ..	२९१
ध्यानका स्वरूप ....	२१६	नाम कर्मका स्वरूप ..	२९१
छद्मस्वोंका ज्ञान संक्रमणात्मक है ....	२१७	क्षय्य वेदसे भाव वेदमें सार्थकता	
उपयोगात्मक ज्ञानचेतना सदा		नहीं आती है	२९
नहीं रहती ..	२१९	अज्ञानका स्वरूप ..	३०
सम्यक्तयत्नी उत्पत्तिका कारण ....	२२६	सामान्य शक्तिका स्वरूप ..	३१
राग और उपयोगमें व्याप्ति नहीं है	२२८	वेदनीय कर्मभूतका विपक्षी नहीं है	३१
राग महित ज्ञान ज्ञान नहीं है ....	२३५	असंयत भाव ..	३१
बुद्धिपूर्वक राग ...	२३५	संयमके भेद व स्वरूप ..	३१
अबुद्धिपूर्वक राग ..	२३६	कषायोंका कषय ..	३१
ज्ञान चेतनाको राग नष्ट नहीं कर		कषाय और असंयमका लक्षण	
सका है ....	२३८	असिद्धत्व भाव ..	३१
निश्चिन्त कषय ....	२३९	सिद्धत्व गुण ....	३१

## शुद्धिपत्र ।

## प्रथम अध्याय ।

एट. पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.	एट. पंक्ति.	शुद्ध.	अशुद्ध.
७४ ११	पर्यायनिपेक्ष	पर्यायनिरपेक्ष	१८९ २९	त य	न पर्यय
७७ ११	अभाव	अभाव	१८९ २९	द्रव्यं गुणौ न य	द्रव्यं गुणौ न पर्यय
७८ २९	शुद्धी हे	शुद्धा हे	१९० १०	निश्चयन यस्य	निश्चयनयस्य
९० १०	तस्माद्विधि	तस्माद्विधि	१९१ १४	विमणिसं	विमणिसं
९४ १	वशात्तो	वशात्मा	१९२ १०	(मिमा)	(मिमा)
९६ १	०	अर्थ	१९६ २८	अधीन	आधीन
१०९ १९	ह	हे	१९४ १८	निश्चय	निश्चयनय
१२० २	धीतं	धर्तित	१९४ २	धत्त	धत्त
१२१ १	दृष्टान्ताभास	दृष्टान्ताभास	१९६ २८	अनुग	अनुगान
१२१ ११	अट्टेन	अट्टेत	१९६ २९	प्रवीत	प्रवीति
१२१ २७	सत्तय	सत्तय	१९८ १९	सामान्य	सामान्य
१२९ ८	निरोध	विरोध	१९८ १९	सामान्य	सामान्य
१२९ २९	किञ्चित्	किञ्चित्	२११ ७	व्याप्यनिश्चय	व्याप्यनिश्चय
१३८ ११	लेडन	गोड न	२११ १८	मात्रस्य	मात्रस्य
१३८ १४	मुक्कितैक	मुक्कितैक	२१६ १	सत्त्वज्ञ	सत्त्वज्ञ
१४४ १८	(रव)	(रास्व)	२१८ २२	अधुना	अधुना
१४६ ४	दुमरी	दुमरा	२१८ २७	विनिमुक्त	विनिमुक्त
१४९ ९	हमलिये	हमलिये	२२० ११	नाम	नामदे
१६० २	विभाव	विभाव	२२९ १६	व्यवहारान्तर्भूते	व्यवहारान्तर्भूते
१६१ १२	उपयुक्त	उपयुक्त	२२९ १८	अनय	अनय
१६१ ९	बन्धुका	बन्धुका गुण	२२९ २८	वदार्थ	वदार्थ
१६४ १	मिच्छावात्	मिच्छावात्	२२६ २२	शेख	शेख
१६९ २४	मात्रस्य	मात्रस्य	द्वितीय अध्याय ।		
१६९ २८	आदयवी	आदयवी	६ ८	मात्रस्य	मात्रस्य
१७१ २९	मात्रस्य	मात्रस्य	१ २६	निश्चय	निश्चय
१७१ १७	बन्धुका	बन्धुका	६ २२	हृदि	हृदि
			७ १०	उपयुक्त	उपयुक्त

श्रीः।



समर्पण।

स्वास्वादा वाराधि, वादिगजकेशरी, न्यायवाचस्पति-

श्रीमान् पं० गोपालदासजी।

गुरुवर !

जैन समाजमें तो आप सर्वमान्य मुकुट थे ही, पर अन्य विद्वत्समाजमें भी आपका प्रतिभास्य प्रसार वाग्वित्य प्रख्यात था। आपके ज्ञेय बहुत उदार थे, परन्तु सामाजिक प्रगतिके समान धार्मिक सीमाके कभी बाहर न हुए। जिसे भक्तिचिन्ताने आपका मन नहीं छोड़ा वैसा ही स्वाध्यायन और निरीहताका साथ आपने भी कभी नहीं छोड़ा।

ऐसे समयमें जब कि उच्चतम कोटिके सिद्धान्त प्रयोगके पठन पाठनका मार्ग इका हुआ था, आपने अपने असीम सौंदर्यमें उन प्रयोगोंके मर्मों १५-२० गण्य मान्य विद्वान् तैयार कर दिये, इतना ही नहीं; किन्तु न्याय सिद्धान्त विज्ञताका प्रकाश बराबर बलशाली रहे इसके निचे संविधानमें एक विद्यालय जैन सिद्धान्त विद्यालय भी स्थापित कर दिया, जिनमें वि प्रतिष्ठा विद्वान्तरिता विद्वान् निरुद्ध रहे हैं। जैनधर्मकी वास्तविक उन्नतिका पूरा कारण वह आपकी प्रति जैन समाज द्वारा मन्दिरपर गढ़ा अंकित रहेगी।

रक्षाधी एक आर्षे सिद्धान्त ग्रन्थ होनेपर भी बहुत कालमें लुप्त प्राय था, आपने ही अपने शिष्योंको पढ़ाकर इसका प्रसार किया। कभी २ इसके आधार पर अनेक ग्रन्थ-ग्रन्थों। आपकीने मोनू समाजको भी इस ग्रन्थके अनुपमय रसमें गुप्त किया।

गुरुवर ! आपके प्रसारमें उक्तग्रन्थ दूर इस संघकी आपके आदेशानुसार की हुई पर टीका आपने ही कर कमलमें टीकाकार द्वारा दार-संप्रम-नविनय समर्पित की जाती है।

हैं आपने जगत ही इसके समर्पणका मौलिक मुने प्राप्त होता तो आपको भी इस ग्रन्थकी उन्नति होगी और मुने आपकी हार्दिक समाशोधनाने विशेष अनुभव था जब ही होगा, परन्तु जिनके दूर इस विरीत होता है कि इस अनुसारकी समर्पित करने ही आप जगत्तक तक नये। आपके इस अममय स्वर्गादेशमें प्रतीत होता है कि आपकी अपनी विद्वान् प्रतिष्ठा वन देवता अभीष्ट नहीं था। अन्यथा कुछ काल और उदाहरण आप अपने विद्वान्तरिता अनुभव बदन हुए उगड़ी कार्ये पतिगतिमें जित प्रतिष्ठा वन देवता के उन्नत होने।

आपका निय निम्न  
मनमनमनमन दासजी।



श्रीमान स्वर्गीय पंडित गोपालदासजी दांडे ।

ज. म. म. १९५३

१९५३/१९५४

पुस्तकालय









अर्थ—महावीर स्वामीके शिष्या और भी जितने (वृषभादिक २२) तीर्थंकर हैं। तथा अनादि कालसे होनेवाले अनन्त सिद्ध हैं। उन सबको एक साथ मैं नमस्कार करता हूँ। धर्माचार्य, उपाध्याय, और साधु, इन तीन श्रेणियोंमें विभक्त मुनीश्वरोंको भी मैं वन्दना करता हूँ।

त्रिनिराखनका माहात्म्य—

जीयाउज्जैनं शासनमनादिनिधमं सुवन्द्यमनवयाम् ।  
यदपि च कुमत्तारातीनदयं धूमध्वजोपमं दहति ॥ ३ ॥

अर्थ—जो जैन शासन (जैनमत) अनादि—अनन्त है। अतएव अच्छी तरह वन्दने योग्य है। दोषोंसे सर्वथा मुक्त है। माथमें खोटे मरू रूपी शत्रुओंको अग्निकी तरह जलानेवाला है, वह सदा जयशील बना रहे।

ग्रन्थकारकी प्रतिज्ञा—

इति धन्दिपञ्चगुरुः कृतमङ्गलमभियः स एष पुनः ।  
नाम्ना पञ्चाध्यायीं प्रतिजानीते चिकीर्षिते शास्त्रम् ॥ ४ ॥

अर्थ—इस प्रकार पञ्च परमेश्वरोंकी वन्दना करनेवाला और मङ्गलमय श्रेष्ठ विद्याको करने-वाला यह ग्रन्थकार पञ्चाध्यायी नामक ग्रन्थको बनानेकी प्रतिज्ञा करता है।

ग्रन्थके बनानेमें हेतु—

अग्रान्तरंगहेतुर्गणपि भावः कथेर्विशुद्धतरः ।  
हेतांस्तथापि हेतुः सार्धार्था मयोपकारिणी युक्तिः ॥ ५ ॥

अर्थ—ग्रन्थ बनानेमें यद्यपि अन्तरंग कारण कविस अति विशुद्ध भाव है, तथापि उन कारणका भी कारण तब जीवोंका उपकार करनेवाली श्रेष्ठ बुद्धि है।

भावार्थ—नवतक ज्ञानावाण कर्मका विशेष लयोपशम न हो, तबका अनेक कारण बन्धन मित्रनेत्र भी ग्रन्थ निर्माणादि कार्य नहीं हो सके। इस लिये इस महान् कार्यमें अन्तरंग कारण तो कविर (ग्रन्थकार) या विशेष लयोपशमिक भाव है वस्तु उप लयोपशम होनेमें भी कारण तब जीवोंके उपकार करनेके परिणाम हैं। बिना उपकारी परिणामोंके हुए इस प्रकारकी परिणामोंमें निर्भरता ही नहीं आती।

१ आचार्यका मुनियोंके साथ धार्मिक सम्बन्ध ही होता है। परन्तु परापात्रवत्ता पराधर्मके साथ धार्मिक और सामाजिक, दोनों प्रकारका सम्बन्ध रहता है। इसीसे आचार्य धर्म विशेषण दिया है।

\* आनुमानिक—आमतौरमूलक अनुमानिक सूत्र। ऐसा अनुमान बल विद्या होता है। पर भूमिकासे रह होगा।

कथनक्रम—

सर्वापि जीवलोकः श्रोतुं कामो यत् हि सुगमोनया ।

विज्ञप्तौ तस्य कृते तत्रायमुपक्रमः श्रेयान् ॥ ६ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण जनसमूह धर्मको सुनना चाहता है, परन्तु सरल रीतिसं सुनना चाहता है । यह बात सर्व विदित है । इसके लिये हमारी यह (नीचेलिखी हुई) कथन शैली अच्छी होगी—

सन्नि धर्मिणि धर्माणां मीमांसा स्यादनन्यथा न्याय्यात् ।

साध्यं यस्त्वविशिष्टं धर्मविशिष्टं ततः परं चापि ॥ ७ ॥

अर्थ—धर्मोंका निरूपण होनेपर ही धर्मोंका विशेष विचार किया जा सकता है । इसके सिवाय और कोई नीति नहीं हो सकती । इसलिये पहले सामान्य रूपसं ही वस्तुको सिद्ध करना चाहिये । उसके पीछे धर्मोंकी विशेषताके साथ सिद्ध करना चाहिये ।

भावार्थ—अनेक धर्मोंके समूहका नाम ही धर्म है । धर्म, गुण, ये दोनोंही एकार्थ हैं । जब किसी वास्तव गुणका विवेचन किया जाता है तब वह विवेचनीय गुण तो धर्म कहलाता है और बाकी अनन्त गुणोंका समुदाय धर्म (पिण्ड द्रव्य) कहलाता है । इसी प्रकार हरएक गुण वालनी न्यायसं धर्म कहलाता है, उसमें बाकीके सम्पूर्ण गुणोंका समूह, धर्म कहलाता है । धर्मकी मीमांसा (विचार) तभी हो सकती है जब कि पहले धर्म समुदाय रूप धर्मोंका बोध हो जाय । जिस प्रकार शरीरका परिज्ञान होनेपर ही शरीरके प्रत्येक अंगका वर्णन किया जा सकता है । इसलिये यहां पर पहले धर्मोंका विचार न करके धर्मोंका ही विचार किया जाता है । सामान्य विवेचनाके पीछे ही विशेष विवेचना की जा सकती है ।

तत्त्वका स्वल्प—

तत्त्वं सद्वाक्षयिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम् ।

तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्धिरुत्पन्न ॥ ८ ॥

अर्थ—तत्त्व (वस्तु) मन् प्रमाणवाली है । अथवा सत् स्वरूप ही है । और वह स्वतः सिद्ध है इसीलिये अनादि निधन है । अपनी सहायतासे ही बनता और बिगड़ता है । और वह निर्धिरुत्पन्न (बचनाती) भी है ।

भावार्थ—वस्तु मन् प्रमाणवाली है, यह प्रमाण लक्षण है । प्रमाणमें एक गुणके द्वारा वस्तु वस्तुका प्रमाण होता है । वस्तुमें अस्मिन्, वस्तुत्वं, प्रमेयत्वं, प्रवेश्य आदि अनन्त गुण हैं । अस्मिन् गुणका नाम ही सत् है । मन् करनेमें अस्मिन् गुणका ही प्रमाण होना चाहिये परन्तु वस्तु मन् करनेमें वस्तु वस्तुका प्रमाण होता है । इसका कारण यही है कि अस्तिव आदि सत् ही गुण कथित है । अस्मिन्नाके कारण ही सत्के बदलनेसे सम्पूर्ण गुण समुदायरूप वस्तुका

• दृष्टान्तान्तेनानुपपन्नवस्तुत्वप्रमाणानि विवक्ष्यते ।

प्रमाण हो जाता है । इसीलिये वस्तुको सत् स्वरूप भी कह दिया है । सत् और गुण समुदाय रूप वस्तु, दोनों अभिन्न हैं । इन लिये सत् रूप ही वस्तु है ।

यहोपर मध्य एतद्वक्ती भेद विवक्षा स्वरूप ही वस्तुका सत्, नश्यत बनानाया है । अ-भेद विवक्षामें तो वस्तुको सत् स्वरूप ही बनानाया गया है ।

नैयायिक आदि कतिपय दर्शनशास्त्रोंमें वस्तुको परसे सिद्ध मानते हैं । ईश्वरादिको उत्पत्ति रचयिता बनाने हैं, पण्डित यह मानना सर्वथा मिथ्या है । वस्तु अपने आप ही सिद्ध है । इसका कोई बनानेवाला नहीं है । इसी लिये न इसकी आदि है और न इसका अन्त है । प्रत्येक वस्तुका परिणमन अवश्य होता है उस परिणमनमें वस्तु अपने आप ही कारण है और अनन्त गुणोंका विण्डक वस्तु ब्रह्मन वर्गोंके सर्वथा अगोचर है ।

ऐसा न माननेमें दोष—

**इत्थं नानन्दसत्तः प्रादुर्भूति निरङ्कुशा भवति ।**

**परतः प्रादुर्भावां युतसिद्धत्वं सतां विनाशो वा ॥ ९ ॥**

अर्थ—यदि ऊपर कही हुई रीतिसे वस्तुका स्वरूप न माना जावे तो अनेक दोष आते हैं । अमृत पदार्थ भी होने लगेगा । जब वस्तुको सत् स्वरूप और स्वतःसिद्ध माना जाता है तब तो असत्की उत्पत्ति बन नहीं सकती है । पण्डित ऐसा न मानने पर यह दोष विना किसी भेदभावे प्रवृत्त हो जायगा । इसी प्रकार वस्तुकी परसे उत्पत्ति होने लगेगी । वस्तुमें युतसिद्धता (अव्यवधानात् अभाव) भी होगी । और सत् पदार्थका विनाश भी होने लगेगा । इस तरह ऊपरकी चारों बातोंके न माननेमें ये चार दोष आते हैं ।

अव्यवधानात् उत्पत्ति—

**असत्तः प्रादुर्भावं द्रव्याणामिह भवेदनन्तरम् ।**

**को पारयितुं शक्तः कुम्भोत्पत्तिं मृदाद्यभावेपि ॥ १० ॥**

अर्थ—यदि उन दोषोंको स्वीकार किया जाय तो और कौन २ दोष आते हैं, वही बन-लाया जाता है । यदि असत्की उत्पत्ति मान ली जाय, अर्थात् जो वस्तु पहले किसी रूपमें भी नहीं है, और न उसके परमाणुओंकी सत्ता ही है, ऐसी वस्तुकी उत्पत्ति माननेसे वस्तुओंकी कोई इच्छा ( मर्यादा ) नहीं रह सकती है । जब विना अपनी सत्ताके ही नवीन रूपसे उत्पत्ति होने लगेगी तो संसारमें अनन्तों द्रव्य होने चने जायगे । ऐसी अवस्थामें विना मिट्टीके ही घड़ा बनने लगेगा, इसको कौन रोक सकेगा ।

भावार्थ—असत्की उत्पत्ति माननेसे वस्तुओंमें कार्य-कारण भाव नहीं रहेगा । कार्य-कारण भावके उदय जाननेसे कोई वस्तु कहींसे क्यों न उत्पन्न होनाय उसमें कोई बाधक नहीं हो सकता है । कार्य-कारण माननेपर यह दोष नहीं आता है । जानने कारणसे ही अपना कार्य



अर्थ—अपरा सत्ता नाश हो जायगा यह पक्ष भी सर्वथा बाधित है । क्योंकि द्रव्य कथञ्चि नित्य है यह बात विशेष जानकारोंको प्रत्यक्ष रूपसे प्रतीत है ।

भावार्थ—यदि द्रव्य कथञ्चि नित्य न होवे तो प्रत्यभिज्ञान ही नहीं हो सक्ता । जिस पुरुषको पहले कभी देखा हो, फिर दुबारा भी उसे देखा जाय तो ऐसी बुद्धि पैदा होती है कि “यह वही पुरुष है जिसे कि हम पहले देखा चुके हैं ।” यदि उस पुरुषमें कथञ्चि नित्यता न होवे तो “यह वही पुरुष है” ऐसी स्थिर बुद्धि भी नहीं हो सकती । और ऐसी धारणारूप बुद्धि विद्वानोंको स्वयं प्रतीत होती है । इसलिये सर्वथा वस्तुनाश नाश मानना भी सर्वथा अनुचित है ।

सारांश—

तस्मादनेकदूषणदूषितपक्षाननिच्छता पुंसा ।

अनवयवमुत्तलक्षणमिह सत्त्वं चानुमन्तव्यम् ॥ १४ ॥

अर्थ—इसलिये अनेक दूषणोंसे दूषित पक्षोंको जो पुरुष नहीं चाहता है उसे योग्य है कि वह ऊपर बड़े दृष्ट लक्षणवाली निर्दोष वस्तुको स्वीकार करे । अर्थात् सत् स्वस्व, स्वतः सिद्ध, अनादि निश्चय, स्वसहाय और निर्विकल्प स्वस्व ही वस्तुको समझे ।

सत्ता विचार—

किञ्चिदभूतापि न सत्ता न स्याद्विरुद्धता किन्तु ।

नमन्तिपक्षा भवति हि स्वप्रतिपक्षेण नेतरेणेह ॥ १५ ॥

अर्थ—जिस सत्ताको वस्तुका लक्षण बताया है वह सत्ता भी स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है । किन्तु अपने प्रतिपक्ष ( विरोधी ) के कारण प्रतिपक्षी भावों लिये दृष्ट है । सत्ता भी प्रतिपक्ष है उसीके साथ सत्ताही प्रतिपक्षता है दूसरे किसीके साथ नहीं ।

भावार्थ—नैयायिक सिद्धान्त सत्ताको सर्वथा स्वतन्त्र पदार्थ मानता है । उसके बारे में अनुसार सत्ता यद्यपि वस्तुमें रहती है परन्तु वह वस्तुमें सर्वथा जुड़ी है, और वह नित्य है, व्यापक है, एक है । जैन सिद्धान्त इसके सर्वथा प्रतिद्वन्द्व है । वह सत्ताको वस्तुमें अभिन्न मानता है, स्वतन्त्र पदार्थस्व सत्ताको नहीं मानता । यदि नैयायिक मतके अनुसार सत्ताको स्वतन्त्र पदार्थ माना जावे तो वस्तु अभावस्वरूप टट्टेगी । यदि उसको नित्य माना जावे तो उसके साथ समभाव सम्बन्ध ( नित्य सम्बन्धका नाम समभाव है ) से रहनेवाली वस्तुका कभी भी नाश नहीं होना चाहिये । यदि उस सत्ताको व्यापक तथा एक माना जावे तो वह मध्यवर्ती अन्य पदार्थोंमें भी रह जायगी । दृष्टान्तके लिये गोख सत्ताको ले लें लें लिये नैवे-नैयायिक मतके अनुसार एककोशास्त्री गौरी जो गोत्वरूप है वही वस्तुवाली गौरी भी है ।

जब दोनों जगह एक ही गोचर धर्म है तब वह अव्यक्त होना चाहिये, और अव्यक्त होनेमें कलकत्ता और बम्बईके बीचमें मिलने भी पदार्थ हैं उन मध्यमें भी गोचरधर्म रह जायगा । गोचर धर्मके रहनेसे वे सभी पदार्थ गौ, कहलायेंगे । इन बातोंके भिन्न सत्ताको स्वतन्त्र माननेमें और भी अनेक दोष आते हैं । इस लिये सत्ता स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं किन्तु वस्तुके अस्तित्व एक अस्तित्व नामक गुण है । निम्ने संप्राप्तमें पदार्थ हैं उन सबमें भिन्न २ सत्ता हैं, एक नहीं हैं । जब वस्तु परिणामशील है तब उसके सत्ता गुणमें भी परिवर्तन होना है, इसलिये वह सत्ता कथंचित् अनित्य भी है, सर्वथा नित्य नहीं है । वस्तुके परिणामकी अपेक्षासे ही उस सत्तामें प्रतिपक्षता आती है । पर्यायकी अपेक्षासे वह सत्ता अनेक रूप है । द्रव्यकी अपेक्षासे वह एक रूप भी हैं । इसी प्रकार सत्ताका प्रतिपक्ष पदार्थान्तर रूप परिणामकी अपेक्षासे अभाव भी पड़ता है । और भी अनेक रीतिसे प्रतिपक्षता आती है निम्नरी मन्थकार संध आगे प्रगट करेंगे ।

शङ्काकार

अत्राहैवं कश्चित् सत्ता या सा निरङ्कुशा भवतु ।

परपक्षे निरपेक्षा स्वात्मनि पक्षेऽवलम्बिनी यस्मात् ॥ १६ ॥

अर्थ—यहां पर कोई कहता है कि जो सत्ता है वह स्वतन्त्र ही है । क्योंकि वह अपने स्वरूपमें ही स्थित है । परपक्षसे सर्वथा निरपेक्ष है । अर्थात् सत्ताका कोई प्रतिपक्ष नहीं है ।

उत्तर—

तन्न यतो हि विपक्षः कश्चित्सत्त्वस्य वा सपक्षोपि ।

ठावपि नयपक्षां तौ मिथो विपक्षां विवक्षितापेक्षात् ॥ १७ ॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है । क्योंकि सत्ताका कोई सपक्ष और कोई विपक्ष अवश्य है । दोनों ही नय पक्ष हैं, और वे दोनों ही नय पक्ष विवक्षा वशा परस्परमें विपक्षपक्षको लिये हुए हैं ।

भाषार्थ—जिम समय द्रव्यके कहनेकी इच्छा होती है उस समय पर्यायको गौण दृष्टिसे देना जाता है, और जिम समय पर्यायको कहनेकी इच्छा होती है उस समय द्रव्यको गौण दृष्टिसे देना जाता है । द्रव्य और पर्यायमें परस्पर विपक्षता होनेसे सत्ताका सपक्ष और विपक्ष भी निदृष्ट हो जाता है ।

१ त्रिनका कुछ कथन दूसरे अन्वयमें किया गया है ।

२ नैयामिक दर्शन

फिर शङ्काकार-

अथाप्याह कुदष्टि र्द्यदि नय पक्षौ विवक्षितौ भवतः ।

का नः क्षति भवेतामन्यतरेणेह सत्त्वसंसाद्धिः ॥ १८ ॥

अर्थ-यहां पर फिर विन्या दष्टि कहता है कि यदि नय पक्ष विवक्षित होने हैं, तो रोओ, हमारी कोई हानि नहीं है । सत्ताकी स्वतन्त्र सिद्धि एक नयसे ही हो जायगी ।

भावार्थ-शङ्काकार कहता है कि यदि द्रव्यार्थिक नय अथवा पर्यायार्थिक नय इन दोनोंमेंसे किसी भी नयसे जैन सिद्धान्त सत्ताको स्वीकार करता है तो उसी नयसे हम सत्ताको स्पष्टतः मानेंगे जिस नयसे भी सत्ता मानी जायगी उसी नयसे सत्ताकी स्वतन्त्रता बनी रहेगी । दूसरी नयसे सत्ताका विना माननेकी नया आवश्यकता है ?

शङ्काकारका आशय यही है कि किसी नय दृष्टिसे भी सत्ता नयों न स्वीकार की जाय, उस दृष्टिसे वह स्वतन्त्र है, बिना नय दृष्टिसे सत्ताका प्रतिपक्ष नयों माना जाता है ?

उत्तर-

तत्र यतो द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयात्मकं वस्तु ।

अन्यतरस्य विलोपे दोषस्यापीह लोप इति दोषः ॥ १९ ॥

अर्थ-शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं हैं । क्योंकि वस्तु द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय स्वरूप है । इन दोनों नयोंमेंसे किसी एक नयका लोप करने पर बाकीकी दूसरी नयका भी लोप हो जायगा । यह दोष उपस्थित होता है ।

भावार्थ-"सामान्य विशेषात्मा तदर्थो विषयः" ऐसा परीक्षाप्रश्न मूल है । वस्तु उभय धर्मात्मक ही प्रमाणका विषय है । यदि सामान्य विशेषकी अपेक्षा न करें तो सामान्य भी नहीं रह सत्ता, क्योंकि बिना विशेषके सामान्य अपने स्वरूपका लाभ ही नहीं कर सत्ता । इसी प्रकार विशेष भी यदि सामान्यकी अपेक्षा न रखकर स्वतन्त्र रहना चाहे तो वह भी नहीं रह सत्ता । यहां पर विशेष कथन पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे है, और सामान्य कथन द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे है । यदि शङ्काकारके कम्मानुसार जिस नयसे सत्ता मानने हैं उसी नयसे सत्ताको स्वतन्त्र मानने लगे और प्रतिपक्षी नयकी अपेक्षासे असत्ताको स्वीकार न करें तो वस्तु एक नय रूप होगी । निरपेक्ष एक नयकी स्वीकारतामें वह नय भी नहीं रह सकेगी । क्योंकि वस्तु उभय नय रूप है । इसलिये एक नय दूसरे नयकी अवश्य अपेक्षा रखनी है । इसी परस्परिक अपेक्षामें सत्ताका प्रतिपक्ष असत्ता पड़ती है ।

परस्परकी प्रतिपक्षता-

प्रतिपक्षमसत्ता स्यात्सत्तायास्तथा तथा चान्यम् ।

नाना रूपत्वे किल प्रतिपक्षं धैर्यरूपनायास्तु ॥ २० ॥



अर्थ—जिस प्रकार सत्ताका प्रतिपक्ष असत्ता है उसी प्रकार और भी है । नाना रूप एक रूपताका प्रतिपक्ष है ।

भावार्थ—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे सत्ताके दो भेद हैं । एक सामान्य सत्ता, और दूसरी सत्ता विशेष । सत्ता सामान्यतः ही दूसरा नाम महासत्ता है, और सत्ता विशेष दूसरा नाम अवान्तर सत्ता है । महासत्ता अपने स्वरूपकी अपेक्षासे सत्ता है । परन्तु अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे सत्ता नहीं है । इसी प्रकार अवान्तर सत्ता भी अपने स्वरूपकी अपेक्षासे सत्ता है, किन्तु महासत्ताकी अपेक्षासे वह असत्ता है । हर एक पदार्थमें स्व-स्वरूप और परस्पर-स्वरूप अपेक्षासे सत्ता और असत्ता रहती है । इसी लिये हर एक पदार्थ कथंनिवृत्त सत्त्व है, और कथंनिवृत्त असत्त्व (अभाव) रूप है । सत्ता भी स्व-स्वरूप और परस्पर-स्वरूपकी अपेक्षासे सत्ता, असत्ता और उभय भर्म रहती है ।

महासत्ता सम्पूर्ण पदार्थोंकी सम्पूर्ण अवस्थाओंमें रहती है इसलिये उसे नानारूपा (अनेक-रूपा) कहा है । प्रतिनियत पदार्थोंके स्वरूप सत्ताकी अपेक्षासे अवान्तर सत्ताको एकलूपा कहा है ।

और भी—

एक पदार्थस्थितिरिह सर्वपदार्थस्थितोर्विपक्षत्वम् ।

ध्रौव्योत्पादविनाशत्रिलक्षणायात्रिलक्षणाभावः ॥ २१ ॥

अर्थ—एक पदार्थकी सत्ता, समस्त पदार्थोंकी सत्ताका विपक्ष है । उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप त्रिलक्षणात्मक सत्ताका प्रतिपक्ष त्रिलक्षणाभाव (अत्रिलक्षणा) है ।

भावार्थ—यद्यपि समस्त वस्तुओंमें भिन्न सत्ता है, तथापि वह सब वस्तुओंमें सरीखी है । इसलिये सामान्य दृष्टिसे सब पदार्थोंमें एक सत्ता कह दी जाती है । उसी 'महासत्ता' कहते हैं ।

उस महा सत्ताका प्रतिपक्ष एक पदार्थमें रहनेवाली सत्ता है । उसीको अवान्तर सत्ता कहते हैं । इस अवान्तर सत्तासे ही प्रतिनियत पदार्थोंकी भिन्न २ व्यवस्था होती है ।

वस्तुमें उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य ये तीनों ही अवस्थाएँ प्रतिक्षण हुआ करती हैं । इन तीनों अवस्थाओंको धारण करनेवाली वस्तु ही सब कहलाती है । इसलिये महासत्ता उत्पत्ति, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप त्रयात्मक है । यद्यपि ये तीनों अवस्थाएँ एक समयमें होनेवाली त्रिलक्षणात्मक पर्याय हैं । तथापि ये तीनों एक रूप नहीं हैं, जिस स्वरूपसे वस्तुमें उत्पाद है, उससे ध्रौव्य विनाश नहीं है । और जिस स्वरूपसे विनाश है, उससे उत्पाद ध्रौव्य नहीं है । जिस स्वरूप

\* यह महासत्ता केवल आध्यात्मिक दृष्टिसे कही गई है । कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है कि नैवाधिक और वैजायिक दर्शनमें सब पदार्थोंमें रहनेवाली महासत्ताकी एक रूप पदार्थ ही मानते हैं ।

से उत्पाद विनाश नहीं है । इसलिये प्रत्येक अवस्थामें रहनेवाली अवान्तर सत्ता नहीं है किन्तु एक एक लक्षण रूप है । इसी अपेक्षासे त्रिलक्षणात्मक महासत्ताका प्रामाण्य अर्थात् एक एक लक्षण रूप अवान्तर सत्ता है । क्योंकि त्रिलक्षणाका प्रत्येक लक्षणो है ।

और भी—

कस्यास्तु विपक्षः सत्तायाः स्याददो एवनेकत्वम् ।

यादप्यनन्तपर्यायप्रतिपक्षस्त्वेकपर्यायत्वं स्यात् ॥ २२ ॥

—एक सत्ताका प्रतिपक्ष अनेक है । और अनन्त पर्यायका प्रतिपक्ष एक पर्याय है ।

१—महामता सम्पूर्ण पदार्थोंमें एक रूप बुद्धि पैदा करती है इसलिये वह एक परन्तु अवान्तर मतामें यह बात नहीं है, जो एक वस्तुकी स्वरूप सत्ता है, वह है । इसलिये वह अनेक कहलाती है ।

प्रश्न—

कस्मिन्निह यस्तुन्यनादिनिधने च निर्विकल्पे च ।

दनिदानं किं तद्येनैतज्जृम्भते यच्चस्त्विति चेत् ॥ २३ ॥

—यस्तु एक अवण्ट द्रव्य है । वह अनादि है, अनन्त है, और निर्विकल्पा भी है भेदका क्या कारण है ? जिससे कि तुम्हारा उपर्युक्त कथन सुसंगत हो ।

१—यहाँपर यह प्रश्न है कि जब वस्तु अवण्ट द्रव्य है, तब सामान्यका प्रतिपक्ष प्रतिपक्ष अनेक, उत्पाद द्वय धौन्यका प्रतिपक्ष प्रत्येक एक लक्षण, अनन्त पर्यायका भी आदि जो बहुवचसी बातें कही गई हैं, वे ऐसी हैं जो कि द्रव्यमें लक्षणनेको । इस लिये वह कौनसा कारण है जिससे द्रव्यमें सामान्य, विशेष, एक, द्वय, धौन्य आदि भेद सिद्ध हों ?

उत्तर—

शविभागः स्यादित्यव्यवहृद्देशो महत्त्वपि द्रव्ये ।

ज्जृम्भस्य प्रसन्नो व्योम्नीयाङ्गुलिवितस्निहस्तादिः ॥ २४ ॥

रमो द्वितीय इत्याद्यसंख्यदेशास्तनोप्यनन्ताश्च ।

शा निरंशरूपास्तान्तो द्रव्यपर्यायारूपास्ते ॥ २५ ॥

१ विषयमें स्वामी मुँदकुँद भी ऐसा ही करते हैं—

सत्ता सम्बन्धका सविस्तरका अर्णव पञ्चाया ।

उत्पादव्यपुवत्ता सप्तद्विवत्ता इवदि एता ॥ १ ॥

पञ्चाशितकाय ।

पर्यायाणामेतद्धर्मं यत्त्वैशकल्पनं द्रव्ये ।

तस्मादिदमनवद्यं सर्वं सुस्थं प्रमाणतश्चापि ॥२६॥

अर्थ—यद्यपि द्रव्य अक्षुण्ण प्रदेश (देशांश) वाला है और बड़ा भी है। तथापि उसमें विस्तार क्रमसे अंशोंका विभाग कल्पित किया जाता है। जिस प्रकार आकाशमें विस्तार क्रमसे एक अंगुल, दो अंगुल, एक विलस्त, एक हाथ आदि अंश-विभाग किया जाता है। जिसमें फिर दुबारा अंश न किया जासके उसे ही निरंश अंश कहे हैं। ऐसे निरंशरूप अंश एक द्रव्यमें—पहला; दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, संप्रदात, अविभागी-असंख्यान, अनन्त, तथा च, शब्दसे अनन्तानन्त तक होसके हैं। जितने एक द्रव्यमें अंश हैं उतनी ही उस द्रव्यकी पर्यायें समझनी चाहिये। प्रत्येक अंशको ही द्रव्यपर्याय कहते हैं क्योंकि द्रव्यमें जो अंशोंकी कल्पना की जाती है, वही पर्यायोंका स्वरूप है। द्रव्यकी एक सम की पर्याय उस द्रव्यका एक अंश है। इस लिये उन सम्पूर्ण अंशोंका समूह ही द्रव्य है। दूसरे शब्दोंमें कहना चाहिये कि द्रव्यकी जितनी भी अनादि-अनन्त पर्यायें हैं, उन्हीं पर्यायोंका समूह द्रव्य है। अर्थात् प्रत्येक द्रव्यकी एक समयमें एक पर्याय होती है, और कुछ समय भेदादि अन्त है, इस लिये वस्तु भी अनादि अनन्त है। अतः उपर्युक्त कहा हुआ वस्तु-स्वरूप निरंश निरीर है, और सभी सुख्यवरित है। यही वस्तुका स्वरूप प्रमाणसे भली मानि सिद्ध है।

भावार्थ—यद्यपि वस्तु अनन्त गुणोंकी अक्षुण्ण विण्णुण अक्षुण्ण प्रदेशी है तथापि उसमें अंशोंकी कल्पना की जाती है। वह अंश कल्पना दो प्रकार होती है—एक तिर्यग अंश कल्पना, दूसरी उर्ध्वोश कल्पना। एक समय वर्ती आकारको अविभागी अनेक अंशोंमें विभजित करनेको तिर्यग अंश कल्पना कहते हैं। इन प्रत्येक अविभागी अंशोंको द्रव्य पर्याय कहते हैं। द्रव्यका एक समयमें एक आकार है। दूसरे समयमें दूसरा आकार है। तीसरे समयमें तीसरा आकार है। इसी प्रकार अनन्त समयोंमें अनन्त आकार हैं इस प्रकार कल्पने द्रव्यके आकारके अनन्त भेद हैं। इसीका नाम उर्ध्वोश कल्पना है। और इन अनन्त समयोंमें अनन्त आकारोंमेंसे प्रत्येक समयवर्ती प्रत्येक आकारको स्वयं पर्याय कहते हैं। द्रव्यमें उपर्युक्त रीतिसे अंश कल्पना प्रसङ्गात् गुणके निमित्तसे होती है अर्थात् प्रसङ्गात् गुणके निमित्तसे द्रव्यमें आकार होता है। उसी आकारमें दो प्रकार कल्पना की जाती है। जिन प्रकार द्रव्यमें अंश कल्पना की जाती है उसी प्रकार गुणों की भी होती है। गुणकी एक समयमें एक अवस्था है। दूसरे समयमें दूसरी अवस्था है अर्थात् स्वयंसे ही अवस्था है। इसी प्रकार वाद्यमयमें एक गुणकी अनन्त समयोंमें अनन्त अवस्था है अर्थात् स्वयंसे ही अवस्था है। इन अनन्त समयवर्ती अनन्त अवस्थाओं में द्रव्यके स्वयंसे ही अवस्था अवस्था अवस्था अवस्था कहते हैं। एक गुणकी एक समयमें

ता है, उस अवस्थामें अविभाग प्रतिच्छेदका अंश कल्पनाको गुणमें निर्यगंश कल्पना है । और उन प्रत्येक अविभाग प्रतिच्छेदोंको गुणार्थाग कहते हैं । गुणोंमें जो अंश नहीं जानी है वह विनश्यतत्वमें नहीं होनी क्योंकि देशांश देशांश केवल एक व्यापक है किन्तु गुणका एक गुणांश एक समयमें उस द्रव्यके समस्त देशको व्यापक है इस लिये गुणमें अंश कल्पना काय क्रमसे तत्त्व रूपसे की जाती है । प्रत्येक समयमें अवस्था किसी गुणकी है उसी अवस्थाको गुणांश कहते हैं । एक गुणमें अनन्त अंश विनश्यत होते हैं । इन्हीं वस्तुन गुणांशोंको अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं । तत्त्व अविभाग प्रतिच्छेदोंका लक्षणात्मक प्रकार है । जैसे—बहरीके दूधमें विकृताता कम उसमें अधिक क्रमसे गांध, भेष, उश्नी, भेड़के दूधमें उत्तरोत्तर बढ़ी हुई विकृताता है । गुणके किसीमें कम अंश हैं, किसीमें अधिक अंश हैं । ऐसे २ अंश प्रत्येक गुणमें हो सकते हैं । दूसरा दृष्टान्त ज्ञान गुणका है—सुक्ष्म निगोदिया लब्धव्यार्थात्मक जीवमें के अनन्तत्वे भाग व्यक्त ज्ञान है । उस ज्ञानमें भी अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद तत्त्व ज्ञानसे बड़ा हुआ क्रमसे निगोदियाओंमें ही अधिक २ है । उनसे अधिक २ प, प्रीन्द्रिय आदि जीवोंमें है । पञ्चेन्द्रिय—भसंतीसे सतीमें अधिक है । तीमें किसीमें ज्यादा किसीमें कम स्पष्ट ही जाना जाता है । अथवा एक ही ज्ञानमें निगोदियाकी अवस्थासे लेकर ऊपर क्रम २ से केवलज्ञानतक एक ही ज्ञान की अनन्त अवस्थाएँ हो जाती हैं । ये सब अवस्थाएँ ( भेद ) ज्ञान गुणके अंश हैं । अंशोंको लेकर कल्पना की जा सकती है कि अमुक पुरुषमें इतना अधिक ज्ञान है, अमुकमें कम है । किसी गुणके सभ्य भेदको अंश कहते हैं । ऐसे २ समान अंश प्रत्येक अनन्त होते हैं । तभी यह स्पष्टतासे व्यवहार होता है कि इतने अंश ज्ञानके अमुकमें अधिक हैं । इसी प्रकार रूपमें व्यवहार होता है कि अमुक कपड़ेपर गहरा रंग है । पर फीका रंग है । गहरापन और फीकापन रूप गुणके ही अंशोंकी स्पष्टता और अधिक निमित्तसे कहलाना है । इसी विषयको हम लयके दृष्टान्तसे और भी स्पष्ट कर देने हैं—लयेके चौमट पैसे होते हैं । अर्थात् ६४ पैसे और एक लया दोनों बराबर हैं । इसीको शब्दोंमें कहना चाहिये कि एक लयेके ६४ भेद या अंश होते हैं । साथमें यह भी कल्पना देना उचित है कि सभ्य छोटा भेद (अंश) एक पैसा है । कल्पना करनेके बाद कहा जा है कि अमुक व्यक्तिके पास इतने पैसे अधिक हैं । अमुकके पास उससे इतने पैसे कम हैं । किसीके पास १० आना हों, और किसीके पास ६ आना हों तो जाना जा सकता है कि आनावालेसे १० आनावालेके पास १६ अंश अधिक धन है । दृष्टान्तसे इतना ही अभिप्राय है सभ्य अंशरूप अविभाग प्रतिच्छेदका बोध हो जाय । वास्तवमें अन्य २ दुबड़े किसी गुणके नहीं

हो जाते; और न अंशोंका नाश और उत्पत्ति ही होती है । किन्तु व्यक्तता और अत्यक्तता अपेक्षसे जो तरतम भेद होता है उसीके जाननेके लिये केवल अंशोंकी कल्पना की जाती है । अंश कल्पना सर्वज्ञानागम्य है । द्रव्यकी तरह गुणोंमें भी यही बात समझ लेनी चाहिये कि प्रत्येक गुणके निम्न अंश है उतनी ही उस गुणकी पर्यायें हो सकती हैं । दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि उन त्रिकाटवर्ती पर्यायोंका समूह ही गुण कहलाता है ।

द्रव्य चार विभागोंमें बँटा हुआ है, यह बात भी उपर्युक्त कथनमें स्पष्ट हो गयी है । वे चार विभाग इस प्रकार हैं—देश, देशांश, गुण, गुणांश । अनन्त गुणोंके अणुविण्ड (द्रव्य)को देश कहने हैं । उम अण्ड विण्ड रूप देशके प्रदेशोंकी संज्ञाके लिये अंश कल्पना की जाती है, उसको देशांश कहने हैं । द्रव्यमें रहनेवाले गुणोंको गुण कहने हैं । और उन गुणोंके अंशोंको गुणांश कहने हैं । वस प्रत्येक द्रव्यका स्वभाव इन्हीं चार बातोंमें पर्याप्त है । इन चार बातोंको छोड़कर द्रव्य और कोई चीज नहीं है । ये चारों बातें प्रत्येक वस्तुमें अन्तर्गत हैं । दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि इन्हीं चारों बातोंमें एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे भिन्न निश्चित किया जाता है । इन्हीं चारोंको स्वतन्त्र कहते हैं । स्वभाव आनेवाला है, वस्तुत्व नाम चारका है, अर्थात् हर एक वस्तुकी अपनी २ बातें चार बनें भिन्न भिन्न हैं । स्वतन्त्रत्वसे आने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका मह्य होता है । एक वस्तुका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भिन्न २ हैं । अनन्त गुणोंका अण्ड विण्ड रूप जो देश है उसीको द्रव्य कहने हैं । उम देशके जो प्रदेशोंकी अपेक्षासे भेद हैं उसीको स्वक्षेत्र कहने हैं । अणुविण्ड वही क्षेत्र है निम्न प्रदेशोंमें वह विभक्त है । वस्तुमें रहनेवाले गुणोंकी संज्ञा करने हैं और उन गुणोंकी काल क्रमसे होनेवाली पर्यायोंको ही अर्थात् गुणोंके अंशोंकी संज्ञा करने हैं । अर्थात् देश, देशांश, गुण, गुणांशका दूसरा नाम ही वस्तुका द्रव्यत्व, क्षेत्र, काल, भाव है । वस्तुत्व इस प्रकार है—वस्तुका स्व द्रव्य, उसके अनन्त गुणमणुविण्ड विण्डको छोड़कर और कोई नहीं है । वस्तुका क्षेत्र भी उसके प्रदेश ही हैं, न कि वह स्वभाव है । अर्थात् वह वस्तु स्वभाव है वह स्वक्षेत्र नहीं है किन्तु स्वक्षेत्र है । इसी प्रकार स्वभाव ही उन वस्तुकी काल क्रमसे होनेवाली पर्याय (गुणांश) है, न कि निज कालमें वह वस्तु स्वभाव है वह स्वक्षेत्र, वह स्वक्षेत्र तो वह द्रव्य है । और स्वभाव उम वस्तुके गुण ही हैं ।

एतन्मते त्रिषु क्षेत्रे, विषये, बोधे आदि एक एता औपचर्याका पूर्ण पर्याप्त २ क्षेत्र एतन्मते स्वभाव औपचर्याको क्षेत्र उन्हें वृत्त बोधार्थ नीचके समेक साथ बोधार्थ स्वभाव क्षेत्र स्वभाव क्षेत्र । उप क्षेत्रमे एक २ एता प्रवृत्त बोधार्थ बना टांके । अर्थात् स्वभाव क्षेत्र का क्षेत्र कहिये । एक एता स्वभाव २ औपचर्याका जो क्षेत्र है उसे स्वभाव क्षेत्र कहिये । उप क्षेत्रमे एक २ एता प्रवृत्त बोधार्थ बना टांके ।

गोलियाँ हैं उन्हें स्वतंत्र अर्थात् देशांशके स्थानमें समझना चाहिये । क्योंकि वह गोला रूप समस्त पूर्ण उन्हीं गोलियोंमें पर्याप्त है । उन गोलियोंमें जो एक लक्ष औपधियाँ हैं उन्हें स्वभाव अर्थात् गुणके स्थानमें समझना चाहिये । और उन गोलियोंमें जो कालक्रमसे भिन्न २ स्वाद भेद हैं उसे स्वभाव अर्थात् गुणांशके स्थानमें समझना चाहिये । प्रत्येक द्रव्यका स्वचतुष्टय भिन्न २ है । इस स्वचतुष्टयमें ही प्रत्येक द्रव्य पर्याप्त है ।

संकाशर—

एतेन विना चैकं द्रव्यं सम्यक् प्रपश्यतश्चापि ।

को दोषो यद्भातेरियं व्यवस्थंय साधुरस्तिपति चेत् ॥ २७ ॥

अर्थ—ऊपर कही हुई व्यवस्थाका तो प्रत्यक्ष नहीं है; केवल एक द्रव्य ही भरी भाँति भिन्न रहा है, इस अवस्थामें कौनसा दोष आता है कि जिसके इसे उपर्युक्त व्यवस्था ही ठीक लानी जावे ।

भावार्थ—संकाशरका अभिप्राय इतना ही है कि एक द्रव्यको ही मान लिया जावे जो कि स्पष्टतासे दीप्त रहा है, उस द्रव्यमें देश, देशांश, गुण, गुणांश (स्वचतुष्टय) माननेकी या आवश्यकता है !

उत्तर—

देशाभावे नियमास्तत्त्वं द्रव्यस्य न प्रतीयेत ।

देशांशाभावेपि च सर्वं स्यादेकदेशमात्रं वा ॥ २८ ॥

अर्थ—यदि देशहीन माना जावे तो द्रव्यकी सत्ता ही निश्चय नहीं हो सकेगी । और देशांशोंके न माननेपर सर्व द्रव्य एक देशमात्र ही जायगा ।

भावार्थ—अनन्त गुणोंका अमण्डविण्ड स्वरूप देशके माननेसे ही द्रव्यकी सत्ता प्रतीत होती । यदि विण्डरूप देश न माना जावे तो द्रव्यकी सत्ता ही नहीं दृश्यती । इसी प्रकार देशांशके माननेसे द्रव्यकी दृश्यता (परिमाण)का ज्ञान होता है । जितने जिस द्रव्यके अंश होने हैं वह द्रव्य उनका ही बड़ा समझा जाता है । यदि देशके अंशों (विस्तार क्रमसे) की वक्ष्यता न की जाय तो सभी द्रव्य समान समझे जावेंगे । अंशविभाग न होनेसे सबहीका एक ही अंश समझा जायगा ।

• जो क्षेत्र एक औपधिका है, वही क्षेत्र लक्ष औपधियोंका है । जितनी भी गोलियाँ गहरे गहरे हैं सर्वांमें लक्ष औपधियाँ हैं । उसी प्रकार एक गुण जितने देशमें है वृक्ष भी वही देशमें है । इसलिये सभी गुणोंका एक ही देश है । अर्थात् विषय क्रमसे होनेवाले चन्द्रके एक प्रदेशमें अनन्त गुण रहते हैं ।



निरंश (फिर निम्नका खण्ड न हो सके) अंशोंकी कल्पना करते हो, वह करो । परन्तु नितने भी निरंश-देशोंका है, उन्हींको एक एक द्रव्य समझो । निम्न प्रकार परमाणु एक द्रव्य है उसी प्रकार एक द्रव्यमें नितने निरंश-देशोंको कल्पना की जाती है, उनको उनही द्रव्य समझना चाहिये न कि एक द्रव्य मानकर उसके अंश समझो । द्रव्यका लक्षण उन प्रत्येक अंशोंमें जाता ही है ।

भावार्थ—गुण समुदाय ही द्रव्य कहलाता है । यह द्रव्यका लक्षण द्रव्यके प्रत्येक देश-शमें मौजूद है, इसलिये नितने भी देशोंका है उतने ही उन्हें द्रव्य समझना चाहिये ।

उत्तर—

नैव यतो विज्ञेयः परमः स्यात्पारिणामिकोऽध्यक्षः ।

खण्डकदेशयस्तुन्यग्यण्डितानेकदेशे च ॥ ३२ ॥

अर्थ—उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि खण्डस्वरूप एक देश वस्तु माननेसे और अखण्ड रूप अनेक देश वस्तु माननेसे परिणाममें बड़ा भारी भेद पड़ता है यह बात प्रापस है ।

भावार्थ—यदि शंकाकारके बहनेके अनुसार देशांशोंको ही द्रव्य माना जावे तो द्रव्य एक देशांशका खण्ड खण्ड रूप होगा, अखण्ड रूप अनेक प्रदेशी नहीं ठहरेगा, खण्डरूप एक प्रदेशी माननेमें क्या दोष आता है सो आगे लिखा जाता है—

प्रथमोद्देशितपक्षे यः परिणामो गुणात्मकस्तस्य ।

एकत्र तत्र देशो भवितुं शिलो न सर्वदेशेषु ॥ ३३ ॥

अर्थ—पहला पक्ष स्वीकार करनेसे अर्थात् खण्डरूप एक प्रदेशी द्रव्य माननेसे जो गुणोंका परिणाम होगा वह सम्पूर्ण वस्तुमें न होकर उसके एक ही देशांशमें होगा । क्योंकि शंकाकार एक देशांशरूप ही वस्तुको समझता है इसलिये उसके कथनानुसार गुणोंका परिणाम एक देशमें ही होगा ।

एकदेश परिणमन माननेमें प्रलभ बाधा—

तदस्मत्प्रमाणवाधितपक्षत्वादक्षसंविदुपलब्धेः ।

देहकदेशविषयस्पर्शादिह सर्वदेशेषु ॥ ३४ ॥

अर्थ—गुणोंका परिणमन एक देशमें होता है, यह बात प्रत्यक्ष बाधित है । निम्नमें प्रमाण-बाधा आते वह पक्ष किसी प्रकार ठीक नहीं हो सक्ता । इन्द्रियमन्य ज्ञानसे यह बात सिद्ध है कि शरीरके एक देशमें स्पर्श होनेसे सम्पूर्ण शरीरमें रोमांच हो जाने हैं ।

भावार्थ—शरीर प्रमाण आत्म द्रव्य है इसीलिये शरीरके एक देशमें स्पर्श होनेसे सम्पूर्ण शरीरमें रोमांच होते हैं अथवा शरीरके एक देशमें चोट लगनेसे सम्पूर्ण शरीरमें बेदना होती है । यदि शंकाकारके कथनानुसार आत्माका एक २ अंश ( प्रदेश ) ही एक एक आत्म



द्रव्य समझा जाय तो एक देशमें चोट लगनेसे सब शरीरमें पीड़ा नहीं होनी चाहिये, कि देशमें कष्ट पहुँचा है उसी देशमें पीड़ा होनी चाहिये परन्तु होता इसके सर्वथा प्रतिकूल अर्थात् सम्पूर्ण शरीरमें एक आत्मा होनेसे सम्पूर्ण शरीरमें ही वेदना होती है इसलिये सब एक देश स्वरूप वस्तु नहीं है किन्तु अखण्ड स्वरूप अनेक प्रदेशी है।

असङ्ग-अनेकप्रदेशी द्रव्यमें दृष्टान्त-

प्रथमेतर पक्षे श्वेतु यः परिणामः स सर्वदेशोष्ठ ।

एको हि सर्वपर्वसु प्रकम्पते ताडितो वेणुः ॥ ३५ ॥

अर्थ—दूसरा पक्ष स्वीकार करने पर अर्थात् अनेक प्रदेशी-आखण्ड रूप द्रव्य का जो परिणाम होगा वह सर्व देशमें (सम्पूर्ण वस्तुमें) होगा। जिस प्रकार एक बैतलो वृक्षमें हिचकने से सारा बैत हिल जाता है।

भारार्थ—बैतला दृष्टान्त मोटा है। इसलिये सारा अंश (एक देश) लेना काफी है। सर्वत्र वदने परमाणुभोंका समूह है तथापि स्थूल दृष्टिसे वह एक ही द्रव्य समझा है। इसी अंशमें उमरा दृष्टान्त दिया गया है। बैत अखण्ड रूप वस्तु है इसलिये प्रत्येक हिचकने से उसके सम्पूर्ण प्रदेश हिल जाते हैं। यदि अखण्ड स्वरूप अनेक प्रदेशी व वस्तु उसके एक २ प्रदेशोंको मुझ जुड़ा द्रव्य समझा जाय तो भिन्न देशमें बैतको हिलाने की इच्छामें उमरा हिलना चाहिये, सारा देशमें नहीं परन्तु यह प्रत्यक्ष बाधित करने वाला अनेक देशोंका अखण्ड विग्रह है।

एक प्रदेशका भी द्रव्य है—

एक प्रदेशायदपि द्रव्यं स्यात्प्रत्यक्षवर्जितः स यथा ।

परमाणुस्य शुद्धः काल्पानुयां यथा स्थलः मित्रः ॥ ३६ ॥

अर्थ—कोई द्रव्य एक प्रदेशका भी है और वह प्रत्यक्ष रहित है अर्थात् अखण्ड प्रमाण की कोई द्रव्य है, जैसे शुद्धका शुद्ध परमाणु और कालानु। ये भी स्वतन्त्र मित्र द्रव्य है।

पा-३—

न स्याद्द्रव्यं कश्चिदपि यद्द्रव्यं प्रदेशाय प्रविष्टमो देशः ।

नदपि द्रव्यमिति स्याद्प्रविष्टमानेकदेशामदः ॥ ३७ ॥

अर्थ—किसी देश का द्रव्य कोई नहीं है कि वह प्रदेशों में प्रविष्ट अखण्ड-एक देश का है इसलिये वह प्रदेशका द्रव्य प्रमाणवत् है।

द्रव्य और गुण —

अथ चैव ते प्रदेशाः सविशेषा द्रव्यसंज्ञया भाणिताः ।

अपि च विशेषाः सर्वे गुणसंज्ञास्ते भवन्ति यावन्तः ।

अर्थ—ऊपर निम्न देशांशों ( प्रदेशों ) का वर्णन किया गया है । वे सहेतु हैं । गुण सहित उन्हीं देशांशोंकी द्रव्य संज्ञा है । उन देशांशोंमें रहनेवाले उन्हींकी गुण संज्ञा है ।

भावार्थ—द्रव्य अनन्त गुणोंका समूह है इसलिये जितने भी द्रव्योंके प्रयोग गुणोंका अंश है उन गुणों सहित जो प्रदेश हैं उन्हींकी मिश्रद्रव्य संज्ञा है ।

गुण, गुणीमें उदा नहीं दे—

तेषामात्मा देशो नहि ते देशात्पृथक्त्वसत्ताकाः ।

नहि देशो हि विशेषाः किन्तु विशेषश्च तादृशो देशः ॥

अर्थ—उन गुणोंका समूह ही देश ( अलग-द्रव्य ) है । वे गुण देशसे भिन्न नहीं रहते हैं और ऐसा भी नहीं कह सकते कि देशमें गुण ( विशेष ) रहते हैं उन विशेषों ( गुणों ) के मेलसे ही वह देश बहलता है ।

भावार्थ—नैयायिक दर्शनवाले गुणोंकी मत्ता भिन्न मानते हैं और द्रव्यकी सत्ता मानते हैं, द्रव्यको गुणोंका आधार बनाते हैं परन्तु जैन सिद्धान्त ऐसा नहीं मानता । उन गुणोंके समूहको ही देश मानता है और उन गुणोंकी द्रव्यसे भिन्न सत्ता भी नहीं स्वीकृत करता है । ऐसा भी नहीं है कि द्रव्य आधार है और गुण आधेय रूपसे द्रव्यमें रहते हैं किन्तु उन गुणोंके समुदायमें ही वह विशिष्ट द्रव्य संज्ञा पाता है ।

दृष्टान्त—

अत्रापि च संदृष्टिः शुक्लादीनामिषं तनुस्तन्तुः ।

नहि तन्तां शुक्लायाः किन्तु सितार्थश्च तादृशस्तन्तुः ॥४०॥

अर्थ—गुण और गुणीमें अन्तर है, इसी विषय में तन्तु ( डोरा ) का दृष्टान्त है । गुण आदिका शरीर ही तन्तु है । शुक्लादि गुणोंको छोड़कर और कोई वस्तु तन्तु नहीं और न ऐसा ही कहा जा सकता है कि तन्तुमें शुक्लादिक गुण रहते हैं, किन्तु शुक्लादि एकत्रित होनेसे ही तन्तु बना है ।

भावार्थ—शुक्ल आदि गुणोंका समूह ही डोरा बहलता है । निम्न प्रकार डोरा और अभिन्न है उसी प्रकार द्रव्य और गुण भी अभिन्न हैं । निम्न प्रकार डोरा, मोन्दी वस्तु नहीं है उसी प्रकार द्रव्य भी गुणोंमें वृक्ष चीज नहीं है ।

आशङ्का—

अथ चेद्भिन्नो देशो भिन्ना देशाश्रिता विशेषाश्च ।

तेषामिह संयोगाद्द्रव्यं दण्डीव दण्डयोगाद्वा ॥ ४१ ॥

अर्थ—यदि देशको भिन्न सम्पत्ता जाय और देशके आश्रित रहनेवाले विशेषोंको नि-  
मन्ता जाय, तथा उन सबके संयोगसे द्रव्य कहलाने लगे । निम्न प्रकार पुरख भित्त है, द  
( देश ) भित्त है, दोनोंके संयोगसे दण्डी कहलाने लगता है तो

उत्तर—

नैष हि सर्वसङ्गो दोषत्वाद्वा सुसिद्धदृष्टान्तात् ।

तत्किं चेतनयोगादचेतनं चेतनं न स्यात् ॥ ४२ ॥

अर्थ—उक्त आशङ्का ठीक नहीं है । देशको भिन्न और गुणोंको देशाश्रित नि-  
मन्ता करनेमें तब संसार दोष आयेगा । यह बात सुयुक्ति दृष्टान्त द्वारा प्रसिद्ध है । गुणोंको  
विना माननेमें क्या चेतना गुणके सम्बन्धसे अचेतन पदार्थ चेतन ( जीव ) नहीं हो जायेगा ?

प्रार्थ—अब गुणोंको द्रव्यसे ठीक स्वीकार किया जायगा, तो ऐसी अवस्थामें  
द्रव्य सम्बन्ध होकर कभी किसीसे और कभी किसीसे संबंधित हो सके हैं । चेतना गुणों  
की भी माना द्रव्य न मानकर एक स्वतन्त्र पदार्थ माना जाय तो वह निम्न प्रकार जीवमें रहने  
है उसी प्रकार कभी अजीव नष्ट पदार्थोंमें भी रह जायेगा । उस अवस्थामें अजीव भी जीव  
होकर रहेगा । फिर पदार्थोंका नियम ही नहीं रह सकेगा, कोई पदार्थ किसी का है  
नहीं, एकदम द्रव्यमें गुणको भिन्न सत्तावाला मानना सर्वथा मिथ्या है ।

अवस्था—

अथवा विना विशेषैः प्रदेशास्तस्य कथं प्रदीयेत ।

अथि चान्तरण देशविशेषोपलक्षमायलक्ष्यते न कथम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—दृष्टा वाचक भी है कि विना गुणोंके द्रव्यके प्रदेशोंकी सत्ता ही न  
होगी ? इसकी अज्ञा विना प्रदेशोंके गुण भी नहीं माने जा सके ।

प्रार्थ—द्रव्य समूह ही प्रदेश हैं । विना समूहोंके समूहायी नहीं रह सकेगा, अ-  
विना समूहोंके समूह नहीं रह सकेगा—दोनोंके विना एक भी नहीं रह सकेगा, अ-  
विना समूहोंके समूह कहना कष्टिये कि दोनों एक ही बात है ।

अब, गुणोंको निम्न माननेमें दोष—

अथ चेतनोः दृष्टान्तो दृष्टादेहेनाश्च मन्यमानेपि ।

कथमिह गुणगुणितमात्रः प्रदीयते सम्प्रमानस्यात् ॥ ४४ ॥

अर्थ—यदि यह दृष्टाद्वारा विना विशेषोंके द्रव्य और गुणोंको भिन्न सत्ता माननेमें

माने जावें, तो ऐसी अवस्थामें दोनोंकी सत्ता समान होगी। सत्ताकी समानता है और यह गुणी है, यह कैसे जाना जा सकता है ?  
 भावार्थ—जब गुण समान होंगे

भावार्थ—जब गुण समुदायको द्रव्य कहा जाता है तब तो समुदायको गुण कहते हैं परन्तु गुण और गुणीको भिन्न माननेसे दोनों ही उस समानतामें किसीको गुण कहा जाय और किसीको गुणी कहा जाय ? गुण ही नहीं प्रतीत होगा ।

**भारत-२**

भाराग—  
नस्मादिदमनयसं दंशयिगंपास्तु निर्यिगंपास्ते ।  
गुणसंज्ञकाः कथञ्चित्परणतिस्तथा ।  
—रघुविर—

गुणसंज्ञकाः कथञ्चित्परणतिरूपाः पुनः क्षणं प्रापन् ॥ ३ ॥

अर्थ—इसलिये यह ज्ञान निर्दोष सिद्ध है कि देश विदेश ही गुण बढ़ाने के  
गुण नहीं रहते हैं। वे गुण प्रतिक्षण परिणमनशील हैं परन्तु सर्वथा बिनाशनी नहीं हैं।  
एकत्वं गुणमस्ति चेन्न—

547-

एकस्य गुणगुणिनोः भाष्यं हेतोस्तथावरनन्यस्यात् ।  
तदपि दैतमिव स्यात् किं तत्र निमित्तम् ।

तदपि द्वैतमित्यस्यात् किं तत्र नियन्धनं त्यतिथेत् ॥ ४६

अर्थ—गुण, गुणी दोनों ही एक हैं क्योंकि वे दोनों ही भिन्न सत्तावाले नहीं हैं। अतः गुण, गुणी दोनों ही एक ही सत्ता के अन्तर्गत ही रहते हैं। अतः गुण, गुणी दोनों ही एक ही सत्ता के अन्तर्गत ही रहते हैं। अतः गुण, गुणी दोनों ही एक ही सत्ता के अन्तर्गत ही रहते हैं।

**उत्तर—**

उत्तर-  
यत्किञ्चिदस्ति यस्तु स्यतः स्यभाषं स्थितं स्यभाषम् ।  
अयिनाभाषी निपमादियथितः ॥

अपिनाभापी निपमादियक्षितो भेदकर्ता स्यात् ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो कोई भी वस्तु है वह अपने स्वभाव (गुणस्वरूप) में निष्पक्ष है। वह स्वभाव भी निष्पक्ष है उस स्वभावी (वस्तु) में अविनाशकारी अभिज्ञ है।  
भावार्थ—यद्यपि स्वभाव स्वभाव है, तब भी वह स्वभाव ही है।

भारत—यद्यपि स्वभाष, स्वभाषी, दोनों ही अभिज्ञ हैं तथापि अनेक कारणों से स्वभाष और स्वभाषीमें भेद साम्या जाता है, साम्यसे भेद नहीं है।

॥ १ ॥

प्रकृतः प्रत्ययः कः ।

प्रकृतिः प्रकृत्यो भवति रूपं गुणः स्वभावश्च ।

प्रकृतिः प्रकृत्यो भवति रूपं गुणः स्वभावश्च ।

मृत्युनिः क्लिप्तं पाशुनिरेकार्थपाशका अर्मा कान्ताः ॥ ४८ ॥

अर्थ—शक्ति, ज्ञान, शिरो, धर्म, स्वयं, अहम्, इति, आदि-  
रूपेण भवेत् । यदी नमः पुनः है ।



गुण-पर्यायका नामान्तर—

गुणपर्यायाणामिह केचिन्नमान्तरं वदन्ति युधाः ।

अर्थां गुण इति वा स्वादेकार्थदर्थपर्याया इति च ॥ ६२ ॥

अर्थ—कितने ही बुद्धिवादी गुणपर्यायोंका दूसरा नाम भी करने हैं। गुण और अर्थ, ये दोनों ही एक अर्थवाले हैं इसलिये गुण पर्यायको अर्थपर्याय भी कर देने हैं।

द्रव्य-पर्यायका नामान्तर—

अपि चोद्दिष्टानामिह देशांशैर्द्रव्यपर्यायाणां हि ।

व्यञ्जनपर्याया इति केचिन्नमान्तरं वदन्ति युधाः ॥ ६३ ॥

अर्थ—देशांशोंके द्वारा निम्न द्रव्यपर्यायोंका उपर निरूपण किया जा चुका है, उन व्यञ्जनपर्यायोंको कितने ही बुद्धिवादी व्यञ्जनपर्याय, इस नामसे प्रकाशने हैं।

भावार्थ—प्रदेशास्त्व गुणका परिणमन सम्पूर्ण द्रव्यमें होता है, इसलिये उक्त गुणके परिणमनको द्रव्यपर्याय अथवा व्यञ्जनपर्याय कहने हैं।

सङ्काकार—

ननु मोघमेतदुक्तं सर्वं पिष्टस्य पेषणस्यायात् ।

एकेनैव कृतं यत् स इति यथा वा तदंश इति वा चेत् ॥ ६४ ॥

अर्थ—उपर जितना भी कहा गया है, सभी विष्ट पेषण है अर्थात् पीने दूएबो मिला गया है। एकके करनेसे ही काम चल जाता है, यातो द्रव्य ही करना चाहिये अथवा पर्याय ही करना चाहिये। द्रव्य और पर्यायको मूला २ करना निज्जर है।

उत्तर—

तत्रैव फलयस्वाद् द्रव्यादेशादवस्थितं यस्तु ।

पर्यायादेशादिदमनवस्थितमिति प्रतीतस्यायात् ॥ ६५ ॥

अर्थ—उपर जो शङ्का की गई है वह ठीक नहीं है। द्रव्य और पर्याय दोनोंका ही निरूपण आवश्यक है। द्रव्यकी अपेक्षासे यस्तु निश्चय है। पर्यायकी अपेक्षासे यस्तु अनिश्चय है। इस बातकी प्रतीति दोनोंके कथनमें ही होती है।

भावार्थ—यदि द्रव्य और पर्याय दोनोंका निरूपण न किया जाय तो यस्तुमें कथंकिन् निश्चयता और कथंकिन् अनिश्चयताकी सिद्धि न हो सकेगी इसलिये दोनोंका ही निरूपण निरुक्त नहीं, किन्तु सक्त है।

\* प्रदेशास्त्व गुणके परिणमनको बाँट गुणकी रहिते प्रकाशक ही उक्त व्यञ्जनपर्याय ६२ कर देने हैं।

नित्यता और अनित्यताका दृष्टान्त—

स यथा परिणामात्मा शुक्लादित्वादवस्थितश्च पटः ।

अनवस्थितस्तदंशैस्तरतमरूपैर्गुणस्य शुक्लस्य ॥ ६३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार शुक्लादि अनन्त गुणोंका समूह वस्त्र अपनी अवस्थाओंको प्रतिक्षण बदलता रहता है । अवस्थाओंके बदलने पर भी शुक्लादिगुणोंका नाश कभी नहीं होता है इसलिये तो वह वस्त्र नित्य है । साथ ही शुक्लादिगुणोंके तरतम रूप अंशोंकी अपेक्षासे अनित्य भी है । क्योंकि एक अंश ( पर्याय ) दूसरे अंशसे भिन्न है ।

॥ भावार्थ—वस्त्र, पर्यायदृष्टिसे अनित्य है, और द्रव्य दृष्टिसे नित्य है ।

दूसरा जीवका दृष्टान्त—

अपि चात्मा परिणामी ज्ञानगुणत्वादवस्थितोपि यथा ।

अनवस्थितस्तदंशैस्तरतमरूपैर्गुणस्य योघस्य ॥ ६७ ॥

अर्थ—आत्मामें ज्ञान गुण सदा रहता है । यदि ज्ञान गुणका आत्मामें अभाव हो जाय तो उस समय आत्मत्व ही नष्ट हो जाय । इसलिये उस गुणकी अपेक्षासे तो आत्मा नित्य है, परन्तु उस गुणके निमित्तसे आत्माका परिणमन प्रतिक्षण होता रहता है, कभी ज्ञानगुणके अधिक अंश व्यक्त हो जाते हैं और कभी कम अंश प्रकट हो जाते हैं, उस ज्ञानसे सदा हीनाधिकता ( संसारावस्थामें ) होती रहती है, इस हीनाधिकताके कारण आत्मा कथंचित् अनित्य भी है ।\*

भाषांका—

यदि पुनरेवं न भवति भवति निरंशं गुणांशवद्द्रव्यम् ।

यदि वा कीलकवदिदं भवति न परिणामि वा भवेत् क्षणिकम् ।

अथयेदिदमाकृतं भवन्त्वनन्ता निरंशका अंशाः ।

तेषामपि परिणामो भवतु समांशो न तरतमांशः स्यात् ॥ ६९ ॥

अर्थ—यदि ऊपर कही हुई द्रव्य, गुण, पर्यायकी व्यवस्था न मानी जाय, और गुणांशकी तरह निरंश द्रव्य माना जाय, अथवा उस निरंश द्रव्यको परिणामी न मानकर कृतस्य ( लोहेका पीटनेका एक मोटा कीला होता है जो कि लुहारोंके यहाँ मटा रहता है ) की तरह नित्य माना जाय, अथवा उस द्रव्यको सर्वथा क्षणिक ही माना जाय, अथवा उस द्रव्यके अनन्त निरंश अंश मानकर उन अंशोंका समान रूपसे परिणमन माना जाय, तरतम रूपसे न माना जाय तब क्या दोष होगा ?

\* पदार्थोंकी अवस्थाभेदके निमित्तसे भुक्त जीवोंके ज्ञानमें भी परिणमन होता है इसलिये बुद्ध्यात्मामें भी कथंचित् अनित्यता विद्य होती है ।

उत्तर--

एतत्पक्षस्तुष्टमपि कुष्टं दृष्टवाधिमत्वाच्च ।

नतरावकप्रमाणाभावादिह सौप्यदृष्टान्तात् ॥ ७० ॥

अर्थ—उत्तर कहे हुए चारों ही विरुद्ध दोष सहित हैं, चारों ही विरुद्धोंमें प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा साध आती है । तथा न उनका साधक कोई प्रमाण ही है और न उनकी सिद्धिमें कोई दृष्टान्त ही है ।

भावार्थ—यदि द्रव्यको गुणांशकी तरह माना जाय तो गुणोंका परिणामन एक देशमें ही होगा । अथवा किसी भी गुणका कार्य सम्पूर्ण वस्तुमें नहीं हो सकेगा । यदि उस द्रव्यको निश्चय माना जाय तो उसमें कोई क्रिया नहीं हो सकती है । विद्याके अभिव्यक्ति पुरुषरत्न, पारकन, बन्ध मोक्षादि व्यवस्था कुछ भी नहीं उद्भूत सकती है । इसी प्रकार सर्वथा क्षणिक माननेमें प्रत्यक्षिज्ञान (यह सही है निश्चयको पहिने देना या आदि ज्ञान) नहीं हो सका, कार्यकारण भाव भी नहीं हो सका, हेतु-फल भाव भी नहीं हो सका, और सम्बन्ध व्यवहार भी नहीं हो सका । \*

यदि निश्चय भंड मानकर उनका समान परिणाम माना जाय, तत्त्ववस्तुमें न माना जाय तो द्रव्य सदा एकमा रहेगा, उसमें अवस्था भेद नहीं हो सकेगा । इसलिये उक्त चारों ही विरुद्ध सिद्धा हैं, उनमें अनेक बाधाएँ आती हैं । अब प्रमाण पाकर यहाँ द्रव्यका स्वरूप कहा जाना है ।

दृष्ट-सम्बन्ध-उपक्रम--

द्रव्यत्वं किन्नाम दृष्टभेदीह केनचित् स्मरिः ।

ग्राह प्रमाणमुनयैरधिगतमिव लक्षणं तस्य ॥ ७१ ॥

अर्थ—किमीने आचार्यमें पूछा कि महाराज ! द्रव्य क्या पदार्थ है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उस द्रव्यका प्रमाण और सुनयोंद्वारा अच्छी तरह समान किया हुआ लक्षण कहने लगे ।

\* यदि निश्चयान्त और अनियमितताका विशेष ज्ञान प्राप्त करना हो तो निम्न विधित्वाचारिकाभेद प्रकरणमें अष्ट लक्ष्योंको देखना चाहिये ।

नित्यवैकान्त्येति विक्रिया नोपपद्यते ।

प्राप्तेन कारकाभावः क प्रमाण क तत्त्वम् ॥ १ ॥

अविशेषान्त्येति प्रेत्यभावात्तत्त्वम् ।

प्रत्यक्षिज्ञानमात्राभावात् कार्यारम्भः कुतः पश्य ॥ २ ॥

+इसके स्थानमें हृद देना और 'दृष्टभेदीह'के स्थानमें 'दृष्टभेदीह'देना विदेय



द्रव्यका लक्षण—

गुणपर्ययवद्द्रव्यं लक्षणमेतत्सुसिद्धमविरुद्धम् ।

गुणपर्ययसमुदायो द्रव्यं पुनरस्य भवति चाक्यार्थः ॥ ७२ ॥

अर्थ—जिसमें गुण पर्याय पाये जाय, वह द्रव्य है । यह द्रव्यका लक्षण अच्छी तरह सिद्ध है । इस लक्षणमें किसी प्रकारका विरोध नहीं आता है । “गुण पर्याय जिसमें पाये जा वह द्रव्य है” इस वाक्यका स्पष्ट अर्थ यह है कि गुण और पर्यायोंका समुदाय ही द्रव्य है ।

भावार्थ—“गुणपर्ययवद्द्रव्यम्” इस वाक्यमें वस्तु प्रत्यय है । उसका ऐसा भवितव्यता है कि गुण, पर्यायवाला द्रव्य है । इस कथनसे कोई यह न समझ लेवे कि गुण पर्याय कोई दूसरे पदार्थ हैं जो कि द्रव्यमें रहते हैं और उन दोनोंका आधार भूत द्रव्य कोई दूसरा पदार्थ है । इस अनर्थ अर्थक समझनेकी आशंकासे आचार्य नीचेके कारणसे स्व उस वाक्यका स्पष्ट अर्थ करने हैं कि गुण, पर्यायवाला द्रव्य है अथवा गुणपर्याय जिसमें पाये जाय वह द्रव्य है । इन दोनोंका यही अर्थ है कि गुण पर्यायोंका समूह ही द्रव्य है । यह न कहने ही नहीं जा चुकी है कि अनेक गुणोंका अवच्छिन्न पिण्ड ही द्रव्य है, और वे गुण प्रमाण भवनी आत्माओं कहलें रहते हैं । इसलिये त्रिकाश्वर्ती पर्यायोंको लिये हुए जो गुणों अष्टादश हैं वही द्रव्य है । गुण, पर्यायसे एक कोटि द्रव्य पदार्थ नहीं है । इसी बात स्पष्ट करने हुए निम्नी आचार्योंका कथन प्रकट करते हैं ।

द्रव्यका लक्षण—

गुण समुदायो द्रव्यं लक्षणमेतावताप्युच्यते बुधाः ।

समगुणपर्यायो वा द्रव्यं कैश्चिन्निरूप्यते बृहैः ॥ ७३ ॥

अर्थ—कोई २ बुद्धिवागी “गुण समुदाय ही द्रव्य है” ऐसा भी द्रव्यता स्वीकारने हैं । कोई तिसरे अनुमती बृहद् एवम् समान गति ( भाष २ ) से होनेवाली गुणों पदार्थोंका ही द्रव्यता स्वीकार करने हैं ।

भावार्थ—पहले श्लोकमें गुण और पर्याय दोनोंको ही द्रव्यता स्वीकार करवाया गया था, वस्तु कहकर पर्यायोंका गुणोंमें एक पदार्थ न समझकर गुण समुदायको ही द्रव्य कहा गया है । वाक्यमें गुणोंकी अवच्छिन्नता ही पर्यायों हैं । गुणोंमें सर्वथा भिन्न पर्याय कोई पदार्थ नहीं है । इसलिये गुण, पर्यायमें अनेक बुद्धि रखकर गुण समुदाय ही द्रव्य कहा गया है । इस गुणोंमें पर्याय भिन्न वस्तु नहीं है किन्तु उन गुणोंकी ही अवस्था भिन्न है न वह वस्तु की भिन्न हुई अवस्था कहिये कि उन अवस्थाओंका समूह ही गुण है । त्रिकाश्वर्ती अवस्थाओंके स्वरूपों केवल गुण और कोई पदार्थ नहीं है । यह बात पहले भी स्पष्ट गीतिमें कहने का बुरी है कि गुणोंके अनेक ही रूप ही पर्याय है और उन अंशोंका समूह ही गुण है । अतः पदार्थ स्पष्ट ही गुण है न गुणसमूहको द्रव्य कहना अथवा पर्यायसमुदायों

द्रव्य कहना, दोनोंका एक ही अर्थ है । गुणोंमें पर्यायोंको अभिन्न समझकर ही अत्रण्ड अनन्त गुणोंकी त्रिकालवर्ती पर्यायोंको ही द्रव्य कहा गया है ।

तथा तिर मी इत्थंका एव अर्थ—

**अयमग्राभिप्रायो ये देशास्तद्गुणास्तदंशाश्च ।**

**एकालापेन समं द्रव्यं नाम्ना त एव निश्चेषम् ॥ ७४ ॥**

अर्थ—उपर्युक्त कथनका यह अभिप्राय है कि जो देश हैं, उन देशोंमें रहनेवाले जो गुण हैं तथा उन गुणोंके जो अंश हैं उन तीनोंकी ही एक आलाप ( एक शब्द द्वारा ) में द्रव्य संज्ञा है ।

**नहि किञ्चित्सद्द्रव्यं केचित्सन्तो गुणाः प्रदेशाश्च ।**

**केचित्सन्ति तदंशा द्रव्यं तत्सन्निपातात् ॥ ७५ ॥**

अर्थ—ऐसा नहीं है कि द्रव्य कोई जुदा पदार्थ हो, गुण कोई जुदा पदार्थ हो, प्रदेश जुदा पदार्थ हो, उनके अंश कोई जुदा पदार्थ हो, और उन सबके मिलापमें द्रव्य कहलाता हो ।

तथा ऐसा भी नहीं है—

**अथवापि यथा भित्तां निघ्नं द्रव्ये तथा प्रदेशाश्च ।**

**मन्ति गुणाश्च तदंशाः समवायिस्वात्तदाश्रयाद्द्रव्यम् ॥ ७६ ॥**

अर्थ—अथवा ऐसा भी नहीं है कि जिस प्रकार भित्तिमें निघ्न स्थित रहता है अर्थात् अंगमें भीतिमें स्थित होता है वह भित्तिमें रहता है वस्तु भित्तिसे जुदा पदार्थ है उसी प्रकार द्रव्यमें प्रदेश, गुण, अंश रहने हैं और समवाय\* सम्बन्धसे उनका आश्रय द्रव्य है ।

सावार्थ—ऐसा नहीं है कि देश, देशांश, गुण, गुणांश चारों ही जुदे २ पदार्थ हों, और उनका समूह द्रव्य कहलाता हो, किन्तु चारों ही अण्ड रूपसे द्रव्य कहलाते हैं । भेद विवक्षासे ही चार जुदी २ संज्ञायें कहलानी हैं, अमेद विवक्षासे चारों ही अभिन्न हैं औ उमी चारोंकी अभिन्नताको द्रव्य कहने हैं ।

• उदाहरण—

**इदमस्मि यथा मूलं स्कन्धः शाखा दलानि पुत्पाणि ।**

**गुच्छाः फलानि मर्षाण्येकालापानादात्मको वृक्षः ॥ ७७ ॥**

अर्थ—जिस प्रकार जड़, स्कन्ध ( पीड़ ) शाखा, पत्ते, पुष्प, गुच्छा, फल, मर्षाकी मिलाकर एक आलाप ( एक शब्द ) में वृक्ष कहने हैं । वृक्ष जड़, स्कन्ध, शाखा आदिमें भिन्न कोई पदार्थ नहीं है किन्तु इनका समुदाय ही वृक्ष कहलाता है, अथवा वृक्षमें छोड़कर

\* जिस २ पदार्थोंके एकाग्र नियम सम्बन्धको समवाय सम्बन्ध कहते हैं । गुण, गुणोंकी भिन्न मानकर उनका भिन्न सम्बन्ध वैयर्थिक दर्शन मानता है ।

शास्त्रादिक भिन्न कोटि पदार्थ नहीं है। इसी प्रकार देश, देशांश, गुण, गुणांशका समूह ही द्रव्य है। द्रव्यमें भिन्न न तो देशादिक ही हैं, और देशादिसे भिन्न न द्रव्य ही है।

कारक और आधाराधेयकी अभिन्नता—

यद्यपि भिन्नोऽभिन्नो दृष्टान्तः कारकश्च भवतीह ।

ग्राह्यस्तथाप्यभिन्नो साध्ये चास्मिन् गुणात्मके द्रव्ये ॥ ७८ ॥

अर्थ—यद्यपि दृष्टान्त और कारक भिन्न भी होते हैं और अभिन्न भी होते हैं। यहां गुण समुदायरूप द्रव्यकी सिद्धिमें अभिन्न दृष्टान्त और अभिन्न ही कारक ग्रहण करना चाहिये। तुलनामा आगे किया जाता है।

दोनोंकी भिन्नतामें दृष्टान्त—

भिन्नोऽप्यथ दृष्टान्तो भिन्नो विप्रं यथा दर्शयते ।

भिन्नः कारक इति वा कश्चिद्व्यवधानं धनस्य योगेन ॥ ७९ ॥

अर्थ—आधाराधेयकी भिन्नताका दृष्टान्त इस प्रकार है कि जैसे भित्तिमें विप्र होता है अथवा दर्शय दर्शयता है। भित्ति भिन्न पदार्थ है और उसपर खिना हुआ विप्र द्रव्य पदार्थ है। इसी प्रकार यह द्रव्य पदार्थ है और उसमें रक्ता हुआ दर्शय द्रव्य पदार्थ है, अर्थात् ये दोनों ही दृष्टान्त आधाराधेयकी भिन्नतामें हैं। भिन्न कारकका दृष्टान्त इस प्रकार है—जैसे कोई आदमी धनके निमित्तमें धनवाला कहलाता है। यहांपर धन दूसरा पदार्थ है और द्रव्य दूसरा पदार्थ है। धन और द्रव्यका स्व-स्वामि सम्बन्ध कहलाता है। इस सम्बन्ध में भिन्नता है।

कारण—जिस प्रकार जनान्तरात्, यह भिन्नतामें स्व स्वामि सम्बन्ध है। इस प्रकार दर्शयान् द्रव्य, यह सम्बन्ध नहीं है। अथवा जैसा आधाराधेय मात्र भित्ति में विप्र है वैसे द्रव्य द्रव्यमें नहीं है। अतः कारक और आधाराधेय दोनों ही अभिन्न।

दोनोंकी अभिन्नतामें दृष्टान्त—

दृष्टान्तश्चाभिन्नो कृते ज्ञाना यथा गृहे स्मरन्मनः ।

अथ चाभिन्नः कारक इति कृतेऽप्यं यथा हि ज्ञानायायान् ॥ ८० ॥

अर्थ—जैसे घरमें ही अभिन्नतामें दृष्टान्त इस प्रकार है, जैसे घरमें स्मरण करना यदि स्मरण करनेवाले अभिन्नतामें दृष्टान्त इस प्रकार है जैसे—यह घर ज्ञानायायान् है।

कारण—यद्यपि द्रव्य और ज्ञाना तथा घर और मनुष्य दोनों ही अभिन्नताके दृष्टान्त हैं। द्रव्य ज्ञाना तथा घर नहीं है। और घरमें मनुष्य तथा घर नहीं है। इसी प्रकार द्रव्य ज्ञाना तथा घर स्वस्वामि सम्बन्ध की अभिन्नताका है। इसी अभिन्नता में आधाराधेय और अभिन्नता में स्मरण द्रव्य और द्रव्य में स्मरण कहिये।

पञ्चाकार ।

समवायः समवायी यदि वा स्यात्सर्वथा तदेकार्थः ।

समुदायो यत्तत्त्वो न चापि समवायवानिति चेत् ॥ ८१ ॥

अर्थ—समवाय और समवायी अर्थात् गुण और द्रव्य दोनों ही सर्वथा एकार्थक हैं ।  
ऐसी अवस्थामें गुण समुदाय ही बटना चाहिये । द्रव्यके बटनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

उत्तर—

तत्र यतः समुदायो नियतं समुदायिनः प्रतीतत्वात् ।

व्यक्तप्रमाणसाधितसिद्धत्वाद्वा सुसिद्धदृष्टान्तात् ॥ ८२ ॥

अर्थ—उपयुक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि समुदाय नियतसे समुदायीका होता है ।  
पर बात प्रमेद प्रमाणसे सिद्ध की हुई है और प्रसिद्धदृष्टान्तसे भी यह बात सिद्ध होती है ।

भावार्थ—यद्यपि \* सीकोंका समूह ही सोहनी ( माडू ) है । तथापि सीकोंके समु-  
दायसे ही घरका कड़ा दूर किया जाता है, सीकोंमें नहीं इसलिये समुदाय और समुदायी  
कथञ्चिन् भिन्न भी हैं और कथञ्चिन् अभिन्न भी हैं ।

मुदाय—

स्पर्शरसगन्धवर्णा लक्षणभित्ता यथा रसालफले ।

कथमपि हि पृथक्कर्तुं न तथा शक्यास्त्वग्नण्डदेशात्वात् ॥ ८३ ॥

अर्थ—यद्यपि आपके फलमें स्पर्श, रस, गंध और रूप भिन्न २ हैं क्योंकि इनके लक्षण  
भिन्न २ ॥ तथापि सभी अणुद्रव्यमें एकरूप हैं किसी प्रकार जुड़े २ नहीं किये जा सकते ।

भावार्थ—स्पर्शका ज्ञान स्पर्शनिद्रियमें होता है, रसका ज्ञान रसना-इन्द्रियसे होता है,  
गन्धका नासिकासे होता है और रूपका चक्षुमें होता है इसलिये ये चारों ही भिन्न २ लक्षणवाले  
हैं, परन्तु चारोंका ही तादात्म्य सम्भव है, कभी भी जुड़े २ नहीं हो सकते हैं । इसलिये लक्षण  
रूपमें भिन्न हैं, समुदाय रूपमें अभिन्न हैं, अतएव गुण और गुणीमें कथञ्चिन् भेद और कथञ्चिन्  
अभेद स्पष्टतासे सिद्ध होता है ।

सारांश—

अत एव यथा वाच्या देशगुणांशा विशेषरूपत्वात् ।

यत्तत्त्व्यं च तथा स्यादेकं द्रव्यं त एव सामान्यात् ॥ ८४ ॥

अर्थ—उपयुक्त कथनमें यह बात भलीभाँति सिद्ध हो चुकी कि विशेष कथनरी  
अपेक्षासे देश, गुण, पर्याय सभी जुड़े २ हैं । और सामान्य कथनरी अपेक्षासे वे ही सब द्रव्य  
बटते हैं ।

\* सीकोंका दृष्टान्त स्थूल दृष्टान्त है । केवल समुदायाद्यमें ही इसे धारित करना चाहिये ।

वस्तु सर्वथा अनित्य उहर जायगी, तथा फिर नवीन वस्तुका उत्पाद होगा, और जो है उस नाश हो जायगा । परंतु यह व्यवस्था \*प्रमाण बाधित है इसलिये वस्तुको परिणामी मान चाहिये । फिर किसी परिणामसे वस्तु उत्पन्न होगी, किसीसे नष्ट भी होगी और किं स्थिर भी रहेगी । इसी बातको आगे स्पष्ट करते हैं—

द्रव्यं ततः कथञ्चित्केनचिदुत्पद्यते हि भावेन ।

व्येति तदन्त्येन पुनर्नतदुदितयं हि वस्तुतया ॥९१॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनसे द्रव्य परिणामी सिद्ध हो चुका इस लिये वह किसी अवस्था कथञ्चित् उत्पन्न भी होता है, किसी दूसरी अवस्थासे कथञ्चित् नष्ट भी होता है । वस्तु किं तसे उत्पत्ति और नाश, दोनों ही वस्तुमें नहीं होते ।

भावार्थ—किसी परिणामसे वस्तुमें ध्रौव्य ( कथञ्चित् नित्यता ) भी रहता है ।

उत्पादादि त्रयके उदाहरण—

इह घटरूपेण यथा प्रादुर्भवतीति पिण्डरूपेण ।

व्येति तथा युगपत्स्यादेतदुदितयं न मृत्तिकात्वेन ॥९२॥

अर्थ—वस्तु घटरूपसे उत्पन्न होती है, पिण्ड रूपसे नष्ट होती है, मृत्तिका फिर है । ये तीनों ही अवस्थाएँ एक ही कालमें होती हैं परन्तु एक रूप नहीं हैं ।

शङ्काकार ।

ननु ते विकल्पमात्रमिह यदकिञ्चित्करं तदेवेति ।

एतापतापि न गुणा हानिर्वा तदिना यतस्त्विति चेत् ॥९३॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि यह सब तुम्हारी कल्पना मात्र है और वह व्य उत्पादादि त्रयके माननेसे न तो कोई गुण ही है और इसके न माननेसे कोई हानि नहीं दीवनी !

उत्तर—

तत्र यतो हि गुणः स्यादुत्पादादित्रयात्मके द्रव्ये ।

तस्मिन्हेव च न गुणः सर्वद्रव्यादिशून्यदोषत्वात् ॥९४॥

अर्थ—शङ्काकारकी उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि उत्पादादि त्रय स्वरूप व माननेमें ही त्रय है उनके न माननेमें कोई त्रय नहीं है, अणुयुग द्रव्य, परलोक कार्य आदि पदार्थोंकी शून्यताका प्रयोग माननेमें हानि है ।

\* ऐसा माननेमें जो दोष आते हैं, उनका कथन पहले किया जा चुका है ।

परिणाम नहीं माननेमें दोष-

परिणामाभावादपि द्रव्यस्य स्यादनन्यथावृत्तिः ।

तस्यामिह परलोको न स्यात्कारणमथापि कार्यं वा ॥२५॥

अर्थ—परिणामके न माननेसे द्रव्य सदा एकसा ही रहेगा । उस अवस्थामें परलोक, कारण आदि कोई भी नहीं टहर सका ।

भावार्थ—दृष्टान्तके लिये जीव द्रव्यको ही ले लीजिये । यदि जीव द्रव्यमें परिणमन माना जाय, उसको सदा एक सरीखा ही माना जाय, तो पुण्य पापका कुछ भी फल नहीं सरता है, अपवा मोक्षके लिये सब प्रयत्न व्यर्थ हैं । इसी प्रकार अवस्थामेदके न माननेमें, कारणभाव आदि व्यवस्था भी नहीं बन सक्ती है ।

परिणामीके न माननेमें दोष-

परिणामिनोप्यभावत क्षणिकं परिणाममात्रमिति वस्तु ।

तत्र यतोऽभिज्ञानादित्यस्याप्यात्मनः प्रतीतित्वात् ॥२६॥

अर्थ—यदि परिणामीको न माना जाय तो वस्तु क्षणिक—केवल परिणाम मात्र टहर जाती और यह बात बनती नहीं, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान द्वारा आत्माकी कथिन् निम्न में भी प्रतीति होती है ।

भावार्थ—बिना कथिन् निम्नता स्वीकार किये आत्मामें यह बड़ी नीच है, ऐसा अभिज्ञान नहीं हो सक्ता । इसलिये दोनों श्लोकोका फलितार्थ यह निरुद्ध कि वस्तु अपनी आत्माको कभी नहीं छोड़ती इसलिये तो वह नित्य है और वह सदा नई २ अवस्थाओंको धरती रहती है इसलिये अनित्य भी है । वह न तो क्वथा नित्य ही है और न सर्वथा नित्य ही है मिला कि साम्य बौद्ध मानने हैं ।

घटाकार-

गुणपर्यवषदद्रव्यं लक्षणमेकं यदुक्तमिह पूर्वम् ।

वाक्यान्तरोपदेष्टादधुना तदाध्यते स्थितिं चत् ॥२७॥

अर्थ—पहले द्रव्यका लक्षण “गुणपर्यवषदद्रव्यं” यह कहा गया है और अब वाक्या-

“यद्यनन्तरणकारणकं लक्षणमकम् ज्ञानं प्रत्याभिज्ञातम्” अर्थात् जिस पदार्थको पहिले देना जाय, फिर भी कभी उलीको अपवा उसके सम या विरुद्धको देना जाय तो वही मानमें प्रत्यक्ष और पहिलेका समान, दोनों एक साथ होनेसे वह बड़ी है अपवा उसके न है, आदि ज्ञान होता है । इसीको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । बिना कथिन् निम्नता स्वीकार ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता ।

उक्तं द्रव्यं = मृदुल्य नक्षत्रं - यह कहा जाता है । तथा सत्को उत्पाद, व्यय, प्रोक्त  
व्ययन नक्षत्र है । इत्येवै उक्तं नक्षत्रमेव इमं नक्षत्रमेव बाधा आती है ?

उत्तर—

नक्षत्र यनः सुविचारादेकोर्धो वाक्ययोर्द्वयोरेव ।

अन्यनरं स्यादिति चेन्न मिथोभिव्यञ्जकत्वात् ॥९८॥

अर्थ—दोनों नक्षत्रोंमें विरोध बताना ठीक नहीं है क्योंकि अच्छी तरह विचार  
में दोनों नक्षत्रोंका एक ही अर्थ प्रतीत होता है । फिर भी संकाकार करना है कि न  
नक्षत्रोंका एक ही अर्थ है तो फिर दोनोंके करनेकी क्या आवश्यकता है, दोनोंमेंमें क  
एक ही अर्थ प्रतीत होता है अतएव उत्तर दोगे हैं कि ऐसा भी नहीं है कि दोनोंमेंमें एक ही  
अर्थ, किन्तु दोनोंकी विचार अभिव्यञ्जक (वस्तुवर्शक) हैं ।

पुनरा—

नक्षत्रं नक्षत्रा विना निगमयत्यस्य वा गुणस्य व्याप्तिः स्यात् ।

नक्षत्रादुक्तं वा स्यादित्युक्तं धीव्यवहारतुनः सिद्धम् ॥९९॥

अर्थ—दोनों नक्षत्रोंके विषयमें गुणका इस प्रकार है कि निगमना और गुणकी व्याप्ति  
है अतएव गुण वस्तुमें निगमनाका बोध होता है शक्तिमें "गुणवान् द्रव्य है" ऐसा प्र  
२३ नक्षत्र का गुण निगमना है ।

अतएव नक्षत्रा विना नक्षत्रा धीव्यवहारतुनः सिद्धम् । गुणोंमें कर्तव्य निगमना निगमना  
है अतएव नक्षत्रा विना नक्षत्रा धीव्यवहारतुनः सिद्धम् ।

विचार—

नक्षत्रं वा गुणः स्यात् नक्षत्रादुक्तं वा स्यात् ।

नक्षत्रादुक्तं वा स्यात् नक्षत्रादुक्तं वा स्यात् ।

अर्थ—दोनों नक्षत्रोंमें एक ही अर्थ प्रतीत होता है कि गुण का अर्थ है, अतएव गुण का अर्थ  
नक्षत्रादुक्तं वा स्यात् नक्षत्रादुक्तं वा स्यात् ।

अतएव नक्षत्रा विना नक्षत्रा धीव्यवहारतुनः सिद्धम् ।

अतएव नक्षत्रा विना नक्षत्रा धीव्यवहारतुनः सिद्धम् ।

नक्षत्रादुक्तं वा स्यात् नक्षत्रादुक्तं वा स्यात् ।

नक्षत्रादुक्तं वा स्यात् नक्षत्रादुक्तं वा स्यात् ।

अर्थ—दोनों नक्षत्रोंमें एक ही अर्थ प्रतीत होता है कि गुण का अर्थ है, अतएव गुण का अर्थ  
नक्षत्रादुक्तं वा स्यात् नक्षत्रादुक्तं वा स्यात् ।





नहीं है जैसा कि चौकीपर रखी हुई पुस्तकोंका चौकीके साथ होता है किन्तु ऐसा है जैसा कि तन्तु और कपड़ेका जयवा पुस्तक और अक्षरोंका होता है। यद्यपि कपड़ा तन्तुओं मिला नहीं है तथापि वह तन्तुओंका आधेय समझा जाता है। इसी प्रकार पुस्तक अक्षरों मिला नहीं है तथापि वह अक्षरोंका आधार समझी जाती है, इसी प्रकार गुण और द्रव्य आधार-आधेयभाव है। गुण और विशेष ये दोनों ही एकार्थ वाचक हैं, गुणोंमें गुण रहते हैं। यदि गुणोंमें भी गुण रह जाय तो वे भी द्रव्य कहेंगे और अतवस्या दोष भी आये इसलिये जो द्रव्यके आश्रय रहनेवाले हों और निर्गुण हों वे गुण कहलाते हैं।

खुलासा—

अयमर्थो विदितार्थः समप्रदेशाः समं विशेषा ये ।

ते ज्ञानेन विभक्ताः क्रमतः श्रेणीकृता गुणा ज्ञेयाः ॥ १०५ ॥

अर्थ—गुण, द्रव्यके आश्रय रहते हैं, इसका खुलासा यह है कि एक गुणका जो प्रदेश है वही प्रदेश सभी गुणोंका है इसलिये सभी गुणोंके समान प्रदेश हैं उन प्रदेशोंमें रहनेवाले गुणोंका जब बुद्धिपूर्वक विभाग किया जाता है तब श्रेणीवार क्रमसे अनन्त गुण प्रतीत होते हैं अर्थात् बुद्धिमें विभाग करनेपर द्रव्यके सभी प्रदेश गुणरूप ही दीखते हैं। गुणोंके अतिरिक्त स्वतन्त्र आधाररूप प्रदेश कोई भिन्न पदार्थ नहीं प्रतीत होता है।

उदाहरण—

इष्टान्तः शुक्लाद्या यथा हि समतन्तवः समं सन्ति ।

बुध्या विभज्यमानाः क्रमतः श्रेणीकृता गुणा ज्ञेयाः ॥ १०६ ॥

अर्थ—समान तन्तुवाले सभी शुक्लादिक गुण समान हैं उन शुक्लादिक गुणोंका बुद्धि विभाग किया जाय तो क्रमसे श्रेणीवार अनन्त गुण ही प्रतीत होंगे।

गुणोंका नित्याऽनित्य विचार—

नित्यानित्यविचारस्तोपामिह विद्यते ततः प्रायः ।

विप्रतिपत्तां सत्यां विवदन्ते यादिनो यतो बहवः ॥ १०७ ॥

+ तन्तु और कपड़ेका इष्टान्त भी स्पष्ट है आकाशमें ही पड़ित करना चाहिये ।

+ द्रव्यके आश्रय पदार्थ भी रहती है और वह निर्गुण भी है इसलिये गुणोंका लक्षण परंपरेमें कटित होनेसे अविद्यामि नामक दोष आता है। लक्षण अपने लक्षणमें रहता हुआ यही दूसरे पदार्थमें भी यह भाव, उगीको अविद्यामि कहते हैं, इस दोषको हटानेके लिये गुणोंके लक्षणमें 'द्रव्याश्रय' का अर्थ यह करना चाहिये कि जो नित्यतासे द्रव्यके आश्रय रहे वे गुण सदा बहनेके लक्षणमें लक्षण नहीं आ सकना, क्योंकि पदार्थ अनित्य है इसलिये गुणोंको सदा और बहनेको लक्षणभी बननाया गया है।

अर्थ—गुणोंके विषयमें बहुतसे यादियोंका विवाद होता है—कोई गुणोंको सर्वथा नित्य बनाने हैं, और कोई सर्वथा अनित्य बनाने हैं। इसलिये आवश्यक प्रतीत होता है कि गुणोंके विषयमें निश्चय और अनित्यताका विचार किया जाय।

जैन सिद्धान्त—

जैनानामतमेतन्नित्यानित्यात्मकं यथा द्रव्यम् । ✓

शेषास्तथा गुणा अपि नित्यानित्यात्मकास्तदेकस्यान् ॥१०८॥

अर्थ—जनियोंका तो ऐसा सिद्धान्त है कि जिस प्रकार द्रव्य कथंवेत् नित्य और कथंवेत् अनित्य है, उसी प्रकार गुण भी कथंवेत् नित्य और कथंवेत् अनित्य हैं क्योंकि द्रव्यसे सर्वथा भिन्न गुण नहीं हैं।

गुणोंकी नित्यताका विचार—

तत्रोदाहरणमिदं तद्भाषाऽव्ययाद्गुणा नित्याः ।

तदभिज्ञानात्सिद्धं तल्लक्षणमिह यथा तदेवेदम् ॥१०९॥

अर्थ—नित्यका यह लक्षण है कि जिसके स्व-भावका नाश न हो। यह लक्षण गुणोंमें पाया जाता है इसलिये गुण नित्य हैं, गुणोंके स्व-भावका नाश नहीं होता है। यह गुणोंका लक्षण “यह वही है” ऐसे एकत्व प्रत्यक्षितान द्वारा सिद्ध होता है अर्थात् गुणोंमें यह वही गुण है, ऐसी प्रतीति होती है और वही प्रतीति उनमें नित्यताको सिद्ध करती है।

गुणोंकी नित्यतामें उदाहरण—

ज्ञानं पटणामि यथा पटस्य चाकारमः पटाकृत्या ।

किं ज्ञानस्य नष्टं न नष्टमथ चेत्कथं न नित्यं स्यात् ॥११०॥

अर्थ—आत्माका ज्ञान गुण परिणमनशील है। कभी वह पटके +आकार होना है तो कभी पटके आकार हो जाता है। पटाकारसे पटाकार होने समय उसमें क्या ज्ञान गुण नष्ट हो जाता है? नहीं, ज्ञान नष्ट नहीं होता, केवल अवस्थामें हो जाता है, वह पटके पटको जानता था अब पटको जानने लगा है इतना ही भेद हुआ है। जानना दोनों अवस्थाओंमें

• पटाकारपटके “तद्भाषाव्यये निश्चयम्” इस उपपत्ति आता है।

+ पटाकार और पटाकारका पटज्ञान और पटज्ञानसे प्रयोजन है। ज्ञानगुणका यह स्वभाव है कि वह जिस पदार्थको जानता है उसके आकार हो जाता है इसी लिये ज्ञानको दर्पवत्। प्रलना दी गई है, दर्पणमें भी जिस पदार्थका प्रतिबिम्ब पड़ता है, दर्पण उस पदार्थके आकार होता है।



तान प्रमाण और दृष्टान्त दोनोंसे साधित है । आम्हें फलमें एक साथ ही रूप रस, गन्ध, रस आदिक अनेक गुणोंकी सत्ता प्रत्यक्ष प्रतीत होती है ।

पद्यान्तर—

अथ चेदिति दोषभवात्तित्याः परिणामिनस्त इति पक्षः ।

तत्किं स्यान्न गुणानामुत्पादादिग्रयं समं न्यायात् ॥ १२७ ॥

अर्थ—यदि उपर्युक्त दोषोंके अगुने गुणोंको नित्य और परिणामी माना जाय तो फिर गुणोंमें एक साथ उत्पादादि ग्रय क्यों नहीं होंगे ! अवश्य होंगे ।

भावार्थ—द्रव्यकी तरह गुणोंमें भी उत्पादिग्रय होते हैं यह कश्चित्कार्थ निराल सुझावही बात पहले कही जा चुकी है ।

अपि पूर्वं च यदुक्तं द्रव्यं किल केवलं प्रदेशाः स्युः ।

तत्र प्रदेशावर्जनं चात्केचिशेषश्च कोपि सोपि गुणः ॥ १२८ ॥

अर्थ—पहले यह भी शंका की गई थी कि केवल प्रदेश ही द्रव्य कहलाते हैं सो प्रदेश भी, प्रदेशत्व नामक शक्ति विशेष है । वह भी एक गुण है ।

भावार्थ—द्रव्यमें जो पर्याय होती है, उसे व्यञ्जन पर्याय कहते हैं । वह व्यञ्जन पर्याय प्रदेशात्त्व गुणका विस्तार है, अर्थात् प्रदेशात्त्व गुणकी विशेष अवस्थाका नाम ही व्यञ्जन पर्याय है ।

सारांश—

तस्माद्गुणसमुदायो द्रव्यं स्यात्पूर्वसूरिभिः प्रोक्तम् ।

अयमर्थः स्वल्बु देशो विभज्यमाना गुणा एव ॥ १२९ ॥

अर्थ—हम लिये जो पूर्वपायों ( अथवा पहले इसी मन्थनमें ) ने गुणोंके समुदायरों द्रव्य कहा है वह ठीक है । इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि यदि देश ( द्रव्य ) को भिन्न २ विभाजित किया जाय तो गुण ही प्रतीत होंगे ।

भावार्थ—गुणोंको छोड़कर द्रव्य कोई भिन्न पदार्थ नहीं है । द्रव्यमेंसे यदि एक एक गुणको भिन्न २ कल्पित करें तो द्रव्य कुछ भी देश नहीं रहना । और जो सम्पूर्ण द्रव्यको एक समयमें पर्याय ( व्यञ्जन पर्याय ) होती है वह भी प्रदेशात्त्व गुणकी अवस्था विशेष है इसलिए गुण समुदाय ही द्रव्य है । यह आचार्यका पूरे कथन सर्वथा ठीक है ।

अष्टाध्याय—

ननु चैवं सति निष्पमादिह पर्याया अपन्ति पाचनः ।

सर्वे गुणपर्याया पाच्या न द्रव्यपर्यायाः कौचित् ॥ १३० ॥

अर्थ—यदि गुण समुदाय ही द्रव्य है तो निश्चय ही द्रव्यमें सर्वेद होना

उन सर्वोंको नियमसे गुणोंकी पर्याय ही कहना चाहिये, किसीको भी द्रव्य पर्याय नहीं कहना चाहिये !

उत्तर—

तन्न यतोऽस्ति विशेषः सति च गुणानां गुणत्ववत्त्वेपि ।

चिदचिद्यथा तथा स्यात् क्रियावती शक्तिरथ च भाववती ॥ १३३ ॥

अर्थ—शङ्काकारका उक्त कहेना ठीक नहीं है । क्योंकि गुणोंमें भी विशेषता है । यद्यपि गुणत्व धर्मकी अपेक्षासे सभी गुण, गुण कहलाते हैं तथापि उनमें कोई चेतन गुण है कोई अचेतन गुण है । जिस प्रकार गुणोंमें यह विशेषता है । उसी प्रकार उनमें कोई क्रियावती शक्ति ( गुण ) है और कोई भाववती शक्ति है ।

क्रियावती और भाववती शक्तियोंका स्वरूप—

तत्र क्रियां प्रदेशो देशपरिस्पंदलक्षणो वा स्यात् ।

भावः शक्तिविशेषस्तत्परिणामोऽथ वा निरंशांशः ॥ १३४ ॥

अर्थ—उन दोनों शक्तियोंमें प्रदेश अथवा देशका परिस्पंद ( हलन चलन ) क्रिया कहलाती है और शक्ति विशेष भाव कहलाता है उसका परिणमन-निरंश-अंशों द्वारा होता है ।

भावार्थ—प्रदेशवत्त्व गुणको क्रियावती शक्ति कहते हैं, और बाकीके अनन्त गुणोंको भाववती शक्ति कहते हैं । परिणमन भी दो प्रकारका होता है एक तो ज्ञानादि गुणोंका परिगमन दूसरा सम्पूर्ण द्रव्यका परिणमन । ज्ञानादि गुणोंका परिणमन क्रिया रहित है । केवल गुणोंके अंशोंमें तरतम रूपसे न्यूनाधिकता होती रहती है परन्तु द्रव्यका नो परिणमन होता है, उसमें उसके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें परिवर्तन होता है । वह परिवर्तन सक्रिय है । द्रव्यका परिवर्तन प्रदेशांतर गुणके निमित्तमें होता है । इसीलिये प्रदेशवत्त्व गुणको क्रियावती शक्ति कहा गया है और बाकीके सम्पूर्ण गुण निष्क्रिय है, इसलिये उन्हें भाववती शक्ति कहा गया है ।

यतरे प्रदेशभागास्तनरे द्रव्यस्य पर्याय नाज्ञा ।

यनरे च विशेषांशास्तनरे गुणपर्याया भवन्त्येव ॥ १३५ ॥

अर्थ—जितने भी प्रदेशांश हैं वे द्रव्य पर्याय कहे जाते हैं और जितने गुणांश हैं वे गुणपर्याय कहे जाते हैं ।

भावार्थ—प्रदेशवत्त्व गुणके निमित्तमें जो द्रव्यके समस्त प्रदेशोंमें आकारान्तर होता रहता है उसे द्रव्यपर्याय अथवा व्यञ्जनपर्याय कहते हैं और बाकीके गुणोंमें जो तरतम रूपमें परिणमन होता है उसे गुणपर्याय अथवा अर्थ पर्याय कहते हैं ।

तत्र एव मुद्रुक्तचरं व्युच्छेदादिप्रयं गुणानां हि ।

अनवगमिदं सर्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणमिदृश्यान् ॥ १३६ ॥

अर्थ—इस लिये पहले जो गुणोंमें उत्पाद, व्यय, ध्रुव्य बनलया गया है, वह सब प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध होनेसे निर्दोष है ।

अथ चैतल्लक्षणमिह चान्यं चाक्यान्तरप्रवेदोन ।

आत्मा यथा चिदात्मा ज्ञानात्मा या स एवैकार्यः ॥ १३७ ॥

अर्थ—अब गुणोंका लक्षण वाक्यान्तर (द्वैती रीतिसे) द्वारा करने हैं । जिस प्रकार आत्मा, चिदात्मा, अपना ज्ञानात्मा, ये सब एक अर्थको प्रगट करते हैं उसी प्रकार वाक्यान्तर कथन भी एकार्थक है ।

तदाक्यान्तरमेतयथा गुणाः सहस्रयोपि चान्यपिनः ।

अर्थादेकार्थस्यादर्थदेकार्थथाचकाः सर्वे ॥ १३८ ॥

अर्थ—वह वाक्यान्तर इस प्रकार है—गुण, सहस्रादी, अन्यदी इन सरस एव हैं अर्थ है । अर्थात् उक्त तीनो ही शब्द गुण रूप अर्थके वाचक हैं ।

सहस्रादी शब्दका अर्थ—

सह सार्थ च समं या तत्र भवन्तीति सहस्रयः प्रोक्ताः ।

अयमर्थो गुणपक्षे सन्ति न पर्यायपक्षमात्मानः ॥ १३९ ॥

अर्थ—सह, सार्थ और सम इन तीनोंका एक ही माय रूप अर्थ है । गुणपक्षी माय २ रहने हैं इस लिये वे सहस्रादी बहे गये हैं । इसका यह अर्थ है कि सभी गुण माय साय रहने हैं, पर्यायके स्थान पर सममें नहीं होते हैं ।

सह और समाधान—

ननु सह समं मिदित्या द्रव्येण च सहस्रयो भवन्त्यिति चेत् ।

सन्न यतो हि गुणान्यो द्रव्यं पृथगिति यथा निपिद्यत्यात् ॥ १४० ॥

अर्थ—दोहाकार गहनवी शब्दका अर्थ करता है कि गुण द्रव्यके साथ मिलकर रहने हैं सभी लिये वे सहस्रादी कहलाते हैं । परन्तु दोहाकार की यह बात निर्मूल है क्योंकि गुणोंमें मिल द्रव्य कोई पदार्थ है इस बातका पहले ही निषेध किया जा चुका है ।

भाषार्थ—सहस्रादी शब्दका यह अर्थ नहीं है कि गुण द्रव्यके साथ २ रहने हैं इस लिये सहस्रादी कहलाते हैं क्योंकि ऐसा अर्थ करनेसे द्रव्य गुण पदार्थ कहना है और उस द्रव्य साथ २ रहनेवाले गुण गुण कहने हैं । परन्तु इन बातका पहले ही निषेध किया जा चुका है कि गुणोंमें मिल द्रव्य कोई गुण पदार्थ है । इस लिये सहस्रादी शब्दका यह अर्थ नहीं है कि सभी गुण साथ २ रहने हैं । द्रव्य अलग गुणोंका अलग स्थिति है । उन गुणोंमें निरूपण परिष्कृत (पर्याय) होता रहता है । अवादिवाक्यमें मेवम अलगका यह उन गुणोंमें मिलने भी परिष्कृत होते हैं । उन गुणोंमें गुण मात्र साथ २ रहने हैं । गुणोंका अलग स्थिति

नहीं होता है । परन्तु पर्यायोंमें यह बात नहीं है । वे कमभावी हैं । उनका साथ साथ नहीं रहता है जो पर्यायें पूर्ण समयमें हैं वे उत्तर समयमें नहीं रहती । इसीलिये पर्यायें कम भावी हैं । जो गुण रहने समयमें हैं वे ही दूसरे समयमें हैं इसलिये गुण सहभावी हैं ।

किर भी संज्ञा-समाधान—

**ननुचैवमतिव्याप्तिः पर्यायेष्वपि गुणानुपगमत्वात् ।**

**पर्यायः पृथगिति चेत्सर्वं सर्वस्य दुर्निवारत्वात् ॥ १४१ ॥**

अर्थ—यदि गुणोंको साथरहनेसे सहभावी कहा गया है तो यह लक्षण पर्यायोंमें भी आता है वे भी तो साथ ही साथ रहती हैं । इस लिये वे भी गुण कहलावेंगी । यह अति व्याप्ति दोष है, इस अतिव्याप्ति दोषको दूर करनेके लिये आचार्य कहने हैं कि पर्यायोंमें गुणोंका लक्षण नहीं आता है, क्योंकि पर्यायें साथ २ नहीं रहती हैं किन्तु भिन्न २ रहती हैं । फिर भी यदि लक्षणको दूषित ठहराया जायगा तो हाएक दुवण हाएकमें दुर्निवार हो जायगा अथवा पर्यायोंको भी अविन्न माननेसे अवस्थामें भेद न रहनेमें सभी सब रूपों पर्यायों अर्थात् फिर अवस्थाभेद न हो सकेगा ।

अन्वय शब्दका अर्थ—

**अनुरित्यव्युच्छिन्नप्रवाहरूपेण वर्तते यदा ।**

**अपतीत्ययगत्यर्थादातोरन्वयतोन्वयं द्रव्यम् ॥ १४२ ॥**

अर्थ—अन्वय शब्दमें दो पद पड़े हुए हैं । एक अनु, दूसरा अय, अनु पदका अर्थ है कि बिना किसी रुकावट ( अन्तर्गल ) के प्रवाहरूप और अय पद सम्पर्यक्त अय धातुसे बना है, इसका अर्थ होता है कि गमन करे, चला जाय । अनु और अय-अन्वयका मिलकर अर्थ होता है कि जो अन्तर्गल रीतिसे बराबर प्रवाह रूपसे चला जाय ऐसा अनुगत अर्थ पड़नेसे द्रव्य-अन्वय कहलाता है ।

द्रव्यके पर्याय वाचक शब्द—

**सत्ता सत्त्वं सद्रा सामान्यं द्रव्यमन्वयो वस्तु ।**

**अर्था विधिरविशेषादेकार्थवाचका अस्मी शब्दाः ॥ १४३ ॥**

अर्थ—सत्ता, सत्त्व, सद्रा, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ विभिन्न ये सभी शब्द सामान्य रीतिसे एक द्रव्य रूप अर्थके वाचक हैं ।

**अपमन्यपोस्ति येषामन्ययिनस्ते भवन्ति गुणवाच्याः ।**

**अपमर्षो घस्तुत्वात् स्वतः सपक्षता न पर्यायापेक्षाः ॥ १४४ ॥**

अर्थ—यदि अन्वय भिन्न है वे अन्वयी कहलाते हैं ऐसे अन्वयी गुण कहलाते हैं । इसका अर्थ यह है कि वास्तवमें गुण अपने ही पक्ष ( अन्वयपूर्वक ) में रहते हैं, पर्यायोंकी अपेक्षा नहीं रखते हैं ।

भावार्थ—द्रव्य अन्तः गुणोंका समुदाय है । उन सम्पूर्ण गुणोंमें प्रति समय नयी नयी पर्यायें होती रहती हैं । उन समस्त पर्यायोंमें गुण बराबर माय रहते हैं । ह्मण्क गुणका अन्तः समस्त अवस्थाओंमें अव्यय ( सन्तति अपरा अनुवृत्ति ) पाया जाता है । इस प्रकार अन्तः गुण समुदाय रूप द्रव्यमें अन्तः गुण ही अपनी समस्त अवस्थाओंमें पाये जाते हैं, इसलिये गुण अव्ययी कहलाते हैं । और इसीमें वे महा स्वप्न अर्थात् स्वप्नस्थ में बने रहते हैं । पर्यायोंकी अपेक्षासे मिल २ नहीं हो जाते हैं ।

इस श्लोकमें 'संस्तता' पाठ है । मतलब कहते हैं अन्वयीको अर्थात् गुण व्यतिरेकी नहीं है निमित्त 'यह बही है' ऐसी बुद्धि हो वह अन्वयी कहलाता है और निमित्त ऐसी बुद्धि न हो वह व्यतिरेकी कहलाता है । गुण अनेक हैं इसलिये नाना गुणोंकी अपेक्षासे यद्यपि गुण भी व्यतिरेकी हैं । परन्तु एक गुण अपनी समस्त अवस्थाओंमें रहता हुआ 'यह बही है' इस बुद्धिको पैदा करता है इसलिये वह अन्वयी ही है, बावजूद पर्यायोंमें 'यह वह नहीं है' ऐसी बुद्धि होती है इसलिये वे व्यतिरेकी हैं ।

उदाहरण—

ननु च व्यतिरेकित्वं भवतु गुणानां सद्व्यवस्थेऽपि ।

तदनेकत्वप्रसिद्धौ भाष्यव्यतिरेकतः सतामिति चेत् ॥ १४८ ॥

अर्थ—गुणोंका सत्के साथ अव्यय होनेपर भी उनमें व्यतिरेकीयता भी होना चाहिये क्योंकि वे अनेक हैं । भाष्य व्यतिरेक भी वदार्थोंमें होता है ।

भावार्थ—अनेकोंमें ही व्यतिरेक पड़ता है, गुण भी अनेक हैं इसलिये उनमें ही व्यतिरेक पड़ना चाहिये । किन्तु गुणोंको अन्वयी ही क्यों कहा गया है ।

उत्तर—

तत्र यतोऽस्मि विज्ञासौ व्यतिरेकस्याव्यवस्थेऽपि यथा ।

व्यतिरेकिणो व्यतिरेक्येकः स्यादव्ययी गुणो नियमात् ॥ १४९ ॥

अर्थ—ज्ञानकारकी उपरुक्त शंका हीन नहीं है । क्योंकि अव्यय और व्यतिरेक विशेषता है व्यतिरेकी अनेक होने हैं । और एक गुण नियमसे अव्ययी होता है ।

भावार्थ—व्यतिरेक अनेकोंमें पड़ता है, और अव्यय एकरूप रहने परे अनेकोंमें पड़ता है । पर्यायों अनेक हैं, उनमें तो व्यतिरेक ही पड़ता है । इससे अन्तः गुणोंकी अपेक्षा यद्यपि व्यतिरेक है तथापि प्रत्येक गुण अव्ययी ही है । यह वह नहीं है, ऐसा जो

× इस श्लोकमें 'सद्व्यवस्था' ही पाठ है । बावजूद इसमें 'सद्व्यवस्था' स्थानों में 'सद्व्यवस्था' का, उदाहरण भी अर्थ उपर लिखा दिया है । 'अव्यय' का अर्थ तो अनुवृत्ति है ही । बावजूद 'सद्व्यवस्था' का भी अर्थ उसी भावका होना पड़ता है । किन्तु एकरूप नियम है ।



व्यतिरेक है, वह चार प्रकार है । देश व्यतिरेक, क्षेत्र व्यतिरेक, काल व्यतिरेक और भाव व्यतिरेक ।

देश व्यतिरेक इस प्रकार है—

स यथा चैको देशः स भवति नान्यो भवति स साप्यन्यः ।

सोपि न भवति स देशो भवति स देशश्च देशव्यतिरेकः ॥१४॥

अर्थ—अनन्त गुणोंके एक समयवर्ती अभिन्न पिण्डको देश कहते हैं । जो एक है वह दूसरा नहीं है । तथा जो दूसरा है, वह दूसरा ही है । वह पहला नहीं है । इस देश व्यतिरेक कहते हैं ।

क्षेत्र व्यतिरेक इस प्रकार है—

अपि यद्येको देशो यावदभिव्याप्य वर्तते क्षेत्रम् ।

तत्क्षेत्रं नान्यभूयति तदन्यश्च क्षेत्रव्यतिरेकः ॥ १४८ ॥

अर्थ—जितने क्षेत्रको व्यापकर (चेकर) एक देश रहता है । वह क्षेत्र वही दूसरा नहीं है । और जो दूसरा क्षेत्र है, वह दूसरा ही है, पहला नहीं है । इसको क्षेत्र व्यतिरेक कहते हैं ।

काल व्यतिरेक इस प्रकार है—

अपि चैकस्मिन् समये यकाप्यवस्था भवेत्त साप्यन्या ।

भवति च सापि तदन्या द्वितीयसमयेपि कालव्यतिरेकः ॥१॥

अर्थ—एक समयमें जो अवस्था होती है, वह वही है । दूसरी नहीं हो सकती और जो दूसरे समयमें अवस्था है वह दूसरी ही है, पहली नहीं हो जाती, इसको काल व्यतिरेक कहते हैं ।

भाव व्यतिरेक इस प्रकार है—

भवति गुणांशः कश्चित् स भवति नान्यो भवति स साप्यन्य

सोपि न भवति तदन्यो भवति तदन्योपि भावव्यतिरेकः ॥१॥

अर्थ—जो एक गुणांश है वह वही है, दूसरा नहीं है । और जो दूसरा गुण है, वह दूसरा ही है, पहला नहीं है । इसको भाव व्यतिरेक कहते हैं ।

इस प्रकारके व्यतिरेकके न माननेमें दोष—

यदि पुनरेकं न स्यात्स्यादपि चैवं पुनः पुनः सैवः ।

गुणांशदेशमात्रं सर्वं स्यात्तत्र चाधितत्वात्प्राक् ॥ १५१ ॥

अर्थ—यदि उपर वही दुर्ग व्यतिरेककी व्यवस्था न मानी जावे और जो पहले देशादिक हैं वे ही दूसरे समयमें माने जावें, फिर २ न माने जावें तो सम्पूर्ण वस्तु एक

मात्र देशवाली टहरेगी । और ऐसा मानना ठीक नहीं है एक अंश मात्र देशकी स्वीकारतामें पहले ही बाधा दी जा चुकी है ।

रहस्य—

अयमर्थः पर्यायाः प्रत्येकं किल यथैकशः प्रोक्ताः ।

व्यतिरेकिणो बनेके न सथाऽनेकत्वतोपि सन्ति गुणाः ॥१५२॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए कथनका खुलासा अर्थ इस प्रकार है कि एक २ समयमें क्रमसे भिन्न २ होनेवाली जो पर्यायें हैं वे ही व्यतिरेकी हैं, परन्तु गुण अनेक होनेपर भी उस प्रकार व्यतिरेकी नहीं हैं ।

भाषार्थ—जो द्रव्यकी एक समयकी पर्याय है वह दूसरे समयमें नहीं रहती, किन्तु दूसरे समयमें दूसरी ही पर्याय होती है । इसलिये द्रव्यका एक समयका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भिन्न है, और दूसरे समयका भिन्न है । जो पहले समयका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है वही दूसरे समयका नहीं है इसलिये पर्यायें व्यतिरेकी हैं क्योंकि व्यतिरेकका लक्षण ही यही है कि यह वही नहीं है, पर्यायें अनेक हैं और वे भिन्न २ हैं इसलिये यह वह नहीं है ऐसा व्यतिरेक उनमें अच्छी तरह घटना है, परन्तु गुणोंमें यह बात नहीं है । यद्यपि गुण भी अनेक हैं तथापि उनमें ( प्रत्येक गुणमें ) यह वह नहीं है, ऐसा व्यतिरेक नहीं घटता । किन्तु प्रत्येक गुण अपनी अनादि—अनन्त अवस्थाओंमें पाया जाता है । इसलिये प्रत्येक गुणमें यह वही है, ऐसा अन्वय ही घटता है ।

गुणोंमें अवधारणा दर्शना द्वारा सिद्ध करते हैं—

किन्त्येकशः स्वयुक्तो ज्ञानं जीवः स्वसर्वसारेण ।

अथ त्रैकशः स्वयुक्तो द्रव्या जीवः स्वसर्वसारेण ॥ १५३ ॥

अर्थ—किस्तीन अपनी बुद्धिमें सर्वस्वतामें ज्ञानको ही जीव समझा, और दूसरेने अपनी बुद्धिमें सर्वस्वतामें दर्शनको ही जीव समझा ।

भाषार्थ—एकजें ज्ञान गुणकी मुख्यतामें जीवको ग्रहण किया है और दूसरेने दर्शन गुणकी मुख्यतामें जीवको ग्रहण किया है, परन्तु दोनोंने उसी जीवको उभना ही ग्रहण किया है । यद्यपि ज्ञान गुण भिन्न है और दर्शन गुण भिन्न है, इसी प्रकार और भी निम्न गुण हैं सभी भिन्न २ हैं, तथापि वे बराबर अभिन्न हैं, इसी लिये जो यह कहता है कि “ ज्ञान है सो जीव है ” वह यद्यपि जीवको ज्ञानकी प्रधानतामें ही ग्रहण करता है; परन्तु जीवतो ज्ञान रूपी ही केवल नहीं है किन्तु दर्शनादि स्वरूप भी है । इस लिये गुणोंमें अनेकता होनेपर भी पर्यायोंकी तरह “ यह वह नहीं है ” ऐसा व्यतिरेक नहीं घटता इसी कारणसे आगेके दृष्टिकोसे स्पष्ट करते हैं—

तत एव यथाऽनेके पर्यायाः संप्र नेति लक्षणतः ।

व्यतिरेकिणश्च न गुणास्नयेति सोऽयं न लक्षणाभावात् ॥१५४॥

अर्थ—इस लिये जिस प्रकार अनेक पर्यायों " यह वह नहीं है " इस लक्षणमें न तिरकी हैं, उस प्रकार अनेक भी गुण " यह वह नहीं है " इस लक्षणके न घटनेमें नति रेकी नहीं हैं ।

किन्तु—

तल्लक्षणं यथा स्याज्ज्ञानं जीवो य एव तावांश्च ।

जीवो दर्शनमिति वा तदभिज्ञानात् स एव तावांश्च ॥१५५॥

अर्थ—गुणोंमें अन्वय लक्षण ही करता है । जिस समय जीवको ज्ञान स्वरूप कहा जाता है, उस समय वह उतना ही है और जिस समय जीवको दर्शन स्वरूप कहा जाता है उस समय वह उतना ही है । ज्ञान अथवा दर्शन रूप जीवको कहनेसे उसमें ' यह वही है ' ऐसा ही प्रत्यभिज्ञान होता है ।

एष क्रमः सुखादिषु गुणेषु वाच्यो गुरूपदेशाद्वा ।

यो जानाति स पश्यति सुखमनुभवतीति स एव हेतोश्च ॥१५६॥

अर्थ—पूर्वाचार्योंके कथनानुसार यही क्रम सुखादिक गुणोंमें भी लगा लेना चाहिये । जो जीव जानता है, वही देखता है और वही सुखका अनुभवन करता है । इन सब कार्यों में " यह वही है " ऐसी ही प्रतीति होती है ।

अर्थ शब्दका अन्वर्थ—

अथ चोदिष्टं प्रागप्यर्था इति संज्ञया गुणा वाच्याः ।

तदपि न रूढिवशादिह किन्त्वर्थार्थौगिकं तदेवेति ॥ १५७ ॥

अर्थ—यह पहले कहा जा चुका है कि अर्थ नाम गुणका है, वह भी केवल रूढिवशात् नहीं है किन्तु वह यौगिक रीतिसे है ।

अर्थका यौगिक अर्थ—

स्यादगिताविति धातुस्मद्रूपोयं निरुच्यते तज्ज्ञः ।

अरपर्योन्निगतार्थादनादिसन्तानरूपतोपि गुणः ॥ १५८ ॥

अर्थ—' क ' एक धातु है, गमन करना उसका अर्थ है । उसी धातुका यह ' अर्थ ' शब्द बना है ऐसा व्याकरणके जानकार कहते हैं । जो गमन करें उसे अर्थ कहते हैं । गुण अनादि सन्तति रूपसे साथ २ चढ़े जाते हैं । इसलिये गुणका अर्थ नाम अन्वर्थक (यथार्थ) ही है ।

साध्य—

अयमर्थः सन्ति गुणा अपि किल परिणामिनः स्वतः सिद्धाः ।

नित्यानित्यत्वादप्युत्पादादित्रयात्मकाः सम्यक् ॥ १५९ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका सारांश यह है कि गुण भी नियमसे स्वतः सिद्ध परिणामी हैं इसलिये वे कर्मानिन् नित्य भी हैं और कर्मानिन् अनित्य भी हैं, और इसीसे उनमें उत्पाद, व्यय, धौन्य अच्छी तरह घटने हैं ।

गुणोंमें भेद—

अस्ति विशेषस्तेषां सति च समाने यथा गुणस्येपि ।

साधारणास्त एके केचिदसाधारणा गुणाः सन्ति ॥ १६० ॥

अर्थ—यद्यपि गुणत्व सामान्यकी अपेक्षासे सभी गुणोंमें समानता है, तथापि उनमें विशेषता भी है । किन्तु ही उनमें साधारण गुण हैं, और किन्तु ही असाधारण गुण हैं ।

साधारण और असाधारणका अर्थ—

साधारणास्तु यतरे ततरे नास्ति गुणा हि सामान्याः ।

ते चाऽसाधारणका यतरे ततरे गुणा विशेषाख्याः ॥ १६१ ॥

अर्थ—किन्तु साधारण गुण हैं वे सामान्य गुण कहलाते हैं, और किन्तु असाधारण गुण हैं वे विशेष गुण कहलाते हैं ।

भावार्थ—जो गुण सामान्य रीतिसे हर एक द्रव्यमें पाये जाय, उन्हें तो सामान्य अथवा साधारण गुण कहते हैं । और जो गुण सात २ द्रव्यमें ही पाये जाय उन्हें विशेष अथवा असाधारण गुण कहते हैं । अर्थात् जो सब द्रव्योंमें रहें वे सामान्य और जो किसी विशेष द्रव्यमें रहें वे विशेष कहलाते हैं ।

ऐसा क्यों कहा जाता है ?

नेयामिह धत्तव्ये हेतुः साधारणगुणैर्धस्मात् ।

द्रव्यस्यमस्ति साध्यं द्रव्यविशेषस्तु साध्यते त्वितरः ॥ १६२ ॥

अर्थ—ऐसा क्यों कहा जाता है ? इसका कारण यह है कि साधारण गुणोंमें तो द्रव्य सामान्य सिद्ध किया जाता है, और विशेष गुणोंसे द्रव्य विशेष सिद्ध किया जाता है ।

उदाहरण—

संदाष्टिः सदिति गुणः स गन्धा द्रव्यस्यसाधको भवति ।

अथ च ज्ञानं गुण इति द्रव्यविशेषस्य साधको भवति ॥ १६३ ॥

अर्थ—उदाहरण इस प्रकार है कि सत् ( अस्तित्व ) यह गुण सामान्य द्रव्यका साधक है, और ज्ञान गुण द्रव्य विशेष ( जीव ) का साधक है ।

भावार्थ—सत् गुण सभी द्रव्योंमें समान रीतिसे पाया जाता है इसलिये सभी द्रव्य सत् कहलाते हैं, परन्तु ज्ञान गुण सभी द्रव्योंमें नहीं पाया जाता किन्तु जीवमें ही पाया जाता है इसलिये ज्ञान विशेष गुण है और सत् सामान्य गुण है। इसी प्रकार सभी द्रव्योंमें सामान्य गुण समान हैं, और विशेष गुण जुदे जुदे हैं।

पर्यायका लक्षण कहनेकी प्रतिज्ञा—

उक्तं हि गुणानामिह लक्ष्यं तल्लक्षणं यथाऽऽगमतः ।

सम्प्रति पर्यायाणां लक्ष्यं तल्लक्षणं च वक्ष्यामः ॥ १६४ ॥

अर्थ—इस ग्रन्थमें आगमके अनुसार गुणोंका लक्ष्य और लक्षण तो कहा गया, अब पर्यायोंका लक्ष्य और लक्षण कहते हैं।

पर्यायका लक्षण—

क्रमवर्तिनो ह्यनित्या अथ च व्यतिरेकिणश्च पर्यायाः ।

उत्पादव्ययरूपा अपि च ध्रौव्यात्मकाः कथञ्चिव ॥ १६५ ॥

अर्थ—पर्यायें क्रमवर्ती, अनित्य, व्यतिरेकी, उत्पादव्ययरूप और कथञ्चिन् प्रौढ रूप होती हैं।

तत्र व्यतिरेकित्वं प्रायः प्रागेव लक्षितं सम्पक् ।

अपशिष्टविशेषमितः क्रमतः संलक्ष्यते यथाशक्ति ॥ १६६ ॥

अर्थ—पर्यायोंका व्यतिरेकीपना तो गुणोंके कथनमें सिद्ध किया जा चुका है। अपशिष्टके लक्षण क्रममें यथाशक्ति यहांपर कहे जाते हैं।

क्रमवर्तित्वका लक्षण—

अस्यत्र य प्रसिद्धः क्रम इति धातुश्च पादविशेषे ।

क्रमति क्रम इति रूपस्य स्यादर्थानतिक्रमादेयः ॥ १६७ ॥

यनेन ते नयतो भवितुं शीलास्मथा स्वरूपेण ।

यदि या म एव यनी येषां क्रमवर्तिनस्त एवार्थात् ॥ १६८ ॥

अर्थ—पादविशेषका अर्थ होना है क्रममें नयन करना अर्थात् नयने होना, अथवा क्रम धातु प्रसिद्ध है। एनीका क्रम शब्द बना है। यद् शब्द अने अर्थका उत्पत्ति नहीं करता है। क्रममें जो वर्तन करे अर्थात् क्रममें जो होवे उन्हें क्रमवर्ती कहते हैं। अतः क्रमवर्तित्वमें होनेका निश्चय स्पष्ट है उन्हें क्रमवर्ती कहते हैं। अतः क्रम ही क्रमवर्तित्व का लक्षण है। अतः क्रमवर्तित्वमें होनेका निश्चय स्पष्ट है। अतः क्रम ही क्रमवर्तित्व का लक्षण है। अतः क्रमवर्तित्वमें होनेका निश्चय स्पष्ट है। अतः क्रम ही क्रमवर्तित्व का लक्षण है।

रहीछा सुलला अर्थ—

**अयमर्थः प्रागेकं जातं समुच्छिद्य जायते चैकः ।**

**अथ नष्टे सति तस्मिन्नन्योप्युत्पद्यते यथा देशः ॥ १६९ ॥**

अर्थ—पर्याय कमवर्ती हैं, इसका यह अर्थ है कि जिस प्रकार पहले एक पर्याय हुई, फिर उसका नाश होनेपर दूसरी हुई, उस दूसरीका भी नाश होनेपर तीसरी हुई इसी प्रकार पूर्व पूर्व पर्यायोंके नाश होनेपर जो उत्तरोत्तर पर्याय कमसे होती जाती हैं इसीका नाम कमवर्ती है। अनन्त गुणोंके एक समयवर्ती अभिन्न विष्टको देश कहते हैं। एक समयका देश दूसरे समयसे भिन्न है। यहां पर देशसे पर्यायका ग्रहण होता है।

उपधार—

**ननु यद्यस्मि न भेदः शब्दकृतो भवतु वा तदेकार्पात् ।**

**व्यतिरेककमयोरिह को भेदः पारमार्थिकस्त्विति चेत् ॥ १७० ॥**

अर्थ—यदि व्यतिरेकीपन और कमवर्तीपनमें शब्द भेद ही माना जाय तब तो टीका है। क्योंकि दोनोंका एक ही अर्थ है। यदि इन दोनोंमें अर्थ भेद भी माना जाता है तब बताना चाहिये कि वास्तवमें इन दोनोंमें क्या भेद है ?

उत्तर—

**तन्न पनोस्ति विशेषः सदंशधर्मं द्रव्योः समानेपि ।**

**स्यूलेप्तिव पर्यायेऽप्यन्तर्लीनाश्च पर्यायाः सूक्ष्माः ॥ १७१ ॥**

अर्थ—शंकाकारका यह कहना " कि व्यतिरेकी और कमवर्ती दोनोंका एक ही अर्थ है " ठीक नहीं है। क्योंकि द्रव्यके पूर्व समय वर्ती और उत्तर समय वर्ती अंशोंमें समानता होने पर भी विशेषता है। जिस प्रकार स्यूट पर्यायोंमें सूक्ष्म पर्यायें अन्तर्लीन ( गर्भित ) होती हैं परन्तु व्यक्त भेदसे भिन्न हैं, उसी प्रकार व्यतिरेकी और कमवर्ती भी भिन्न हैं।

भावार्थ—द्रव्यका प्रतिक्षण जो परिणमन होता है उसके दो भेद हैं। एक समयवर्ती परिणमनकी अपेक्षा द्वितीय समयवर्ती परिणमनमें कुछ समानता भी रहती है और कुछ अमानता भी रहती है। दृष्टान्तके लिये बालकको ही ले लीजिये। बालककी हर एक समयमें अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। यदि ऐसा न माना जावे तो एक वर्ष बाद बालकमें प्रवृत्ता और लम्बाई नहीं जाना चाहिये। और वह एक दिनोंमें नहीं आजाती है प्रति समय बढ़ती रहती है चरितु हमारी दृष्टिमें बालककी जो पहले समयकी अवस्था है वही दूसरे समयमें दीगती है, इसका कारण वही सदृश परिणमन है। जो अमर्या-अंश है वह सूक्ष्म है इन्द्रियोंद्वारा उमरा ग्रहण नहीं होता है सदृश-परिणमन अनेक समयोंमें एवमा है इसीलिये कहा जाता है कि स्यूट पर्याय निरस्यार्थी है और इसी अपेक्षामें कर्षांको कर्षंकि भ्रूय स्वल्प कहा है।

क्षेत्रान्तर रूप हो गया है । क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर ग्रहण करनेकी अपेक्षामें ही आत्माके प्रदेशोंकी हानि वृद्धि क्षुब्धी जाती है । वास्तवमें उसमें किसी प्रकारकी हानि अथवा वृद्धि नहीं होती है ।

दूसरा दृष्टान्त—

यदि वा प्रदीपरोचिर्यथा प्रमाणादवस्थितं चापि ।

अतिरिक्तं न्यूनं वा गृहभाजनविशेषतोऽवगाहात् ॥ १८८ ॥

अर्थ—अपना दूसरा दृष्टान्त दीपकका है । दीपककी किरणें उतनी ही हैं जितनी कि वे हैं, परन्तु उनमें अधिकता और न्यूनता जो आती है, वह केवल घर आदि आवरणों के विनोदनेमें आती है और अवगाहनकी विशेषतासे भी आती है ।

मातृार्थ—दीपकको अपना भी छोटा बड़ा आवरण (जिसमें दीपक रक्ता हो वह विनोद दीपकका प्रकाश उसी क्षेत्रमें पर्याप्त रहेगा ।

गुणोंके अवगाहनमें दृष्टान्त—

भेदानामवगाहे दृष्टान्तः स्वांशसंस्थितं ज्ञानम् ।

अतिरिक्तं न्यूनं वा प्रेयाकृति तन्मयास्य तु स्वांशः ॥ १८९ ॥

अर्थ—भेदोंके अवगाहनमें यह दृष्टान्त है कि ज्ञान-गुण जितना भी है वह अपने अंशों (अवस्थाओं अविच्छेदों) में स्थित है । वह जो कभी कमनी कभी बढ़ती होता है, वह है वह अंशों के अवगाहने आकार धारण करनेका होता है । जितना बड़ा अंश है, उतना ही ज्ञान बढ़ता बढ़ता हो जाता है । वास्तवमें ज्ञान गुणके अंशोंमें न्यूनताधिकता नहीं होती ।

दृष्टान्त—

नर्तकं यथा हि संगीतं परिच्छिन्ददिहैव घटमाश्रयम् ।

यदि वा नर्तकं लोकं स्वयमवगच्छत्य लोकमाश्रयं स्यात् ॥ १९० ॥

अर्थ—दृष्टान्त इस प्रकार है कि जिस समय ज्ञान बढ़ने लगता है, उस समय नर्तक का लोक है, अथवा जिस समय वह मगधों को छोड़कर स्वयं मान रहा है, उस समय लोक छोड़ देता है ।

अर्थ—जैसे नर्तक हुए समय ज्ञान बढ़ाकारमें हो चलाता होता उतना ही ज्ञान है, जैसे नर्तक छोड़कर जाने हुए वह लोक प्रत्यक्ष हो जाता है ।

यद्यपि वह घटमाश्रय नहीं है—

न यद्यवगच्छति निजः क्षेत्रज्ञानानां निरन्तरायां मातृः ।

यद्यवगच्छति निजः निरन्तरायां न मातृमाश्रयः ॥ १९१ ॥

अर्थ—जैसे नर्तक को नर्तक के अंशों का मातृका ज्ञान नहीं होता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञान निरन्तरायां अंशों के अंशों में नहीं होता है ।

किन्त्वस्ति च कोपि गुणोऽनिर्यन्तनीयः स्वतः सिद्धः ।

नास्मा अगुणलघुरिति गुरुलक्ष्यः स्वातुभूतिलक्ष्यो वा ॥ १९२ ॥

अर्थ—किन्तु उन गुणोंमें एक अगुणत्व नामक गुण है, वह वचनोंके अगम्य है, स्वतः सिद्ध है, उमका ज्ञान गुरु ( सर्वज्ञ अथवा आचार्य ) के उपदेशसे होता है अथवा स्वातुभूति-प्रमाणसे होता है ।

भारार्थ—अगुणत्व गुण हलक बदार्थमें गृह्य रहता है, इसके निमित्तसे किसी भी शक्तिका कभी भी नाश नहीं होता है । जो शक्ति निम स्वरूपको लिये हुए है, वह सदा उसी स्वरूपमें रहती है, इसलिये ज्ञान गुणमें तरनमता होनेपर भी उमके अंशोंका विनाश नहीं होता है ।

उदाहर—

ननु चैवं सत्यर्थादुत्पादादिप्रयं न संभवति ।

अपि नोपादानं किल करणं न फलं तदनन्यात् ॥ १९३ ॥

अपिगुणः स्वांशानामपकर्षं दुर्बलः कथं न स्यात् ।

उत्कर्षं घटपानिनि दोषोऽयं दुर्जयो महानिति चेत् ॥ १९४ ॥

अर्थ—“किसी शक्तिका कभी नाश भी नहीं होता है और न नवीन कुछ उत्पत्ति ही होती है । यदि ऐसा माना जावे तो गुणोंमें उत्पाद, व्यय, भौत्य नहीं घट सकते हैं, और न कोई किसीका कारण ही बन सका है, न फल ही कुछ हो सका है, क्योंकि उपर्युक्त कथनसे हम गुणोंको सदा निम्य ही मान चुके हो ।

दूसरी बात यह है कि हलक गुणके अंशोंकी कभी न्यूनता भी प्रतीत होती है ऐसी अवस्थामें गुण दुर्बल ( सूक्ष्म-बल्य ) क्यों नहीं हो जाता ? और कभी गुणमें अधिकता भी प्रतीत होती है, ऐसी अवस्थामें वह बलवान ( सशक्त-मोटा ) क्यों नहीं हो जाता ? यह एक महत्व दोष है । इसका निराकरण कुछ कठिन है ।

उत्तर—

तत्र यतः परिणामि द्रव्यं पूर्वं निरूपितं सम्पक् ।

उत्पादादिप्रयमपि सुघटं नित्येऽयं नाप्यनित्येऽर्थे ॥ १९५ ॥

अर्थ—उपर्युक्त जो शक्ति की गई है वह निर्मल ( ठीक नहीं ) है क्योंकि यह पहले अच्छी तरह कहा जा चुका है कि द्रव्य परिणमन शीघ्र है, इसलिये निम्य बदार्थमें ही उत्पाद, व्यय, भौत्य अच्छी तरह घटते हैं, अन्त्य बदार्थमें नहीं घटते ।

उदाहर—

जाम्बूनदे यथा सन्नि जायन्ते कुण्डलादयो भाषाः ।

अथ सत्सु तेषु नियमादुत्पादादिप्रयं भवत्येष ॥ १९६ ॥



अर्थ—सोनेकी सत्ता माननेपर ही उसमें कुण्डलादिक भाग होते हैं और उन कुण्डलादिक भागोंके होनेपर उसमें उत्पादादिक पदों ही हैं ।

भावार्थ—जिस समय सोनेको ठोंक पीटाकर कुण्डलाकार कर दिया जाता है उस समय सोनेमें पहली पाँस रूप पर्यायका विनाश होकर कुण्डल रूप पर्यायकी उत्पत्ति होती है, सोने दोनों ही अवस्थाओं में है इसलिये सोनेमें उत्पादादिप्रय तो नष्ट जाने हैं परन्तु सोनेके प्रत्येक वास्तवमें किसी प्रकारकी नवीन उत्पत्ति अपरा नाश नहीं होता है, केवल भेदमें संयोज्य होता है । यदि सोनेको अनित्य ही मान लिया जाय तो पाँसके नाश होनेपर कुण्डल किम्प्राप्ति बने ! इसलिये नित्य पदार्थमें ही उत्पादादिक तीनों पदों हैं, अनित्यमें नहीं ।

अनया प्रक्रियया किल बोद्धव्यं कारणं कलं चैव ।

यस्मादेवास्य सतस्तद्द्रव्यमपि भवत्येतत् ॥ १९७ ॥

अर्थ—इसी ऊपर कही हुई प्रक्रिया ( रीति ) के अनुसार कारण और फल भी उत्पत्ति कथंचिन् नित्य पदार्थके पदों हैं । क्योंकि ये दोनों ही मत् पदार्थके ही हो सकते हैं ।

आस्तामसदुत्पादः सतो विनाशस्तदन्वयादेशात् ।

स्थूलत्वं च कृशत्वं न गुणस्य च निजप्रमाणत्वात् ॥ १९८ ॥

अर्थ—अविच्छिन्न सन्तति देखनेसे गुणोंमें असत्की उत्पत्ति और सत्का विनाश दूर रहे । परन्तु उनमें अपने प्रमाणसे स्थूलता और कृशता ( दुर्बलता ) भी नहीं होती ।

भावार्थ—ऊपर दो प्रकारकी शंकायें की गई थीं । उन दोनोंका ही उत्तर दिया जा चुका है । समान अविभाग प्रतीच्छेद होनेपर भी ज्ञान कभी घटाकर होना है, कभी लोकाकार होता है, वहाँ तो केवल परिणामनमें आकार भेद है, परन्तु जहाँ पर ज्ञानके अविभाग प्रतीच्छेद न्यूनता अथवा वृद्धि होती है, वहाँ भी ज्ञानके अंशोंका नाश अथवा नवीन उत्पत्ति होती है, किन्तु ज्ञानावरण कर्मके निमित्तसे ज्ञानके अंशोंमें उद्भूति और अनुद्भूति ( व्युत्पत्ति और अत्युत्पत्ति ) होती रहती है । अधिक अंशोंके द्रव जानेसे वही ज्ञान दुर्बल कहा जाता है और अधिक अंशोंके घट हो जानेसे वही ज्ञान स्थूल कहा जाता है । इसके सिवा और किसी प्रकारकी सत्प्रता या निर्वन्धता नहीं आती है ।

उत्पादादिके बहनेकी प्रतिष्ठा—

इति पर्यायानामिह लक्षणमुक्तं यथास्थितं चाथ ।

उत्पादादिप्रयमपि प्रत्येकं लक्ष्यते यथाशक्ति ॥ १९९ ॥

अर्थ—इस प्रकार पर्यायोंका लक्षण, जैसा कुछ भाग कहा गया । अब उत्पादादिप्रयमपि प्रत्येक लक्ष्यते यथाशक्ति कहा जाता है ।

उत्पादस्थितिभङ्गाः पर्यायाणां भवन्ति किल न मतः ।

ते पर्याया द्रव्यं तस्माद्द्रव्यं हि नानुप्रिनयम् ॥ २०० ॥

अर्थ—उत्पाद, स्थिति, भङ्ग, ये तीनों ही पर्यायोंके होते हैं, परार्थके नहीं होते, और उन पर्यायोंका समूह ही द्रव्य कहलाता है । इस लिये वे तीनों भिन्नका द्रव्य कहलाने हैं ।

भावार्थ—यदि उत्पाद, व्यय, भौत्य परार्थके माने जायें तो परार्थका ही भाव और उत्पाद होने लगेगा, परन्तु यह पहले कहा जा चुका है, कि न तो किसी परार्थका भाव होता है, और न किसी परार्थकी नवीन उत्पत्ति ही होती है इसलिये यह तीनों परार्थकी अवस्थाओंके भेद हैं, और वे अवस्थाएं भिन्नका ही द्रव्य कहलानी हैं, इस लिये तीनोंका समूह ही द्रव्यका पूर्ण स्वरूप है ।

उत्पादका स्वरूप—

तत्रोत्पादादवस्था प्रत्यग्रं परिणतस्य नम्य मतः ।

सदसद्भावनिषेधं तद्वत्तद्भावव्यवहारमादेष्टान् ॥ २०१ ॥

अर्थ—उन तीनोंमें परिणत हीन द्रव्यकी नवीन अवस्थाकी उत्पाद करने है । यह उत्पाद भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयी अवस्थाएँ ता और अमा भावने विहित है ।

व्ययका स्वरूप—

अपि च व्ययोपि न मतां व्ययोप्यवस्थान्ययः समानस्य ।

प्रपञ्चसाभावः सन् परिणामित्वान्नमनोप्यवश्यं स्यात् ॥ २०२ ॥

अर्थ—यथा व्यय भी परार्थका नहीं होता है, किन्तु उन्हीं परिणत हीन द्रव्यकी अवस्थाका व्यय होता है । इसीसे -प्रपञ्चसाभाव करने है । यह प्रपञ्चसाभाव परिणत हीन के अरथ होता है ।

\* पयोधतो न दधनि न पयोति दधिररः । अमोतलपयो गोमे तस्मात्तस्य पयो दधम् ॥ १ ॥

अष्टमरहरी

बिठके दूध पीनेका मत है यह दही नहीं लगता है, बिलके दही लगनेका मत है यह नहीं पीता है, बिठके अमोतल मत है यह दूध दही, दोहीको नहीं धरन कहता है । लम्बे लान पयो कहते हैं ।

+ नैवारिकोने बिल प्रहार मुखमावाको स्वभाव पदार्थ कहना है उस प्रपञ्च केर बिठ १ अभावको स्वभाव मुख नहीं कहना । केर प्रपञ्च केमान लान लान ही पदार्थ के मानने परने अभावको प्रपञ्चमात्र करते हैं । तथा उन्हीं के प्रपञ्च लानने दोहे प्रपञ्चके प्रपञ्चमात्र करते हैं । इसकी दूध पदार्थके लानने प्रपञ्च के प्रपञ्चके प्रपञ्चमात्र करते हैं । और उन्हीं बिठकी पदार्थके प्रपञ्चमात्र करते हैं । यह करते प्रपञ्च १ अभाव पदार्थका है ।

ध्रौव्यका स्वरूप—

ध्रौव्यं सतः कथंचित् पर्यायार्थोच्च केवलं न सतिः ।

उत्पादन्ययवदिदं तच्चैकांशं न सर्वदेशं स्यात् ॥ २०१ ॥

अर्थ—ध्रौव्य भी कथंचित् पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे पदार्थिक होता है। पर्याय-  
टिको छोड़कर केवल पदार्थका ध्रौव्य नहीं होता है, किन्तु उत्पाद और व्ययकी तरह वह भी  
एक अंश स्वरूप है। सौश रूप नहीं है।

भावार्थ—जिस प्रकार उत्पाद और व्यय द्रव्यदृष्टिसे नहीं होते हैं उस प्रकार ध्रौव्य  
भी द्रव्य दृष्टिसे नहीं होता है किन्तु वह भी पर्याय दृष्टिसे होता है, इसीलिये उसका भी वस्तु  
एक अंशरूप कह गया है। यदि तीनोंको द्रव्यदृष्टिसे ही माना जाय तो वस्तु सर्वथा अनित्य  
और सर्वथा नित्य ठहरेगी।

ध्रौव्यका दो स्वरूपान्तर—

तद्भावाव्ययमिति वा ध्रौव्यं तत्रापि सम्यगयमर्थः ।

यः पूर्वं परिणामो भवति स पश्चात् स एव परिणामः ॥ २०२ ॥

अर्थ—ध्रौव्यका लक्षण “तद्भावाव्ययम्” यह भी कहा गया है, उसका भी वही  
उत्तम अर्थ है कि वस्तुके भावका नाश नहीं होता, अर्थात् जो वस्तुका पहले परिणाम है,  
वही परिणाम पीछे भी होता है।

दृष्टान्त—

पुष्पस्य यथा गन्धः परिणामः परिणमश्च गन्धगुणः ।

मापरिणामी गन्धो न च निर्गन्धादि गन्धवत्पुष्पम् ॥ २०३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार पुष्पका गन्ध परिणाम है, और गन्ध गुण भी परिणामी है, वह  
भी प्रतिक्षण परिणमन करता है, वह अपरिणामी नहीं है, परन्तु ऐसा नहीं है कि पहले पुष्प  
गन्ध रहित हो और पीछे गन्ध सहित हुआ हो।

भावार्थ—गन्ध गुण परिणमन शीघ्र होनेपर भी वह पुष्पमें सदा पाया जाता है,  
उपक्रम कभी पुष्पमें अभाव नहीं है, कम इसीका नाम ध्रौव्य है, जो गन्धपरिणाम पहले से  
वही पीछे रहता है।

नित्य और अनित्यका विचार—

मन्त्रमित्यभिदानं ध्वंमोत्पादक्यं मतस्तस्य ।

नित्यनिदानं ध्रुवमिति तन्मध्यमप्यंशभेदः स्यात् ॥ २०४ ॥

अर्थ—ये तीनोंमें उत्पाद और व्यय से दो तो उस परिणामी द्रव्यमें अधिक  
दोष होता है और ध्रुव (ध्रौव्य) निर्गन्ताका कारण है, ये तीनों ही एक ही अंशरूपमें  
हैं।

आशङ्क—

न च सर्वथा हि नित्यं किञ्चित्सत्त्वं गुणो न कश्चिदिति ।

तस्मादतिरिक्तौ यौ परिणतिमात्रौ व्ययोत्पादौ ॥ २०७ ॥

अर्थ—कोई ऐसी आशङ्का न करे कि द्रव्यमें सत्त्व तो सर्वथा नित्य है शरीर का कोई गुण नित्य नहीं है, और उसमें सर्वथा भिन्न परिणतिमात्र उत्पाद, व्यय दोनों हैं । क्योंकि—

उत्तर—

सर्वं विप्रतिपक्षं भवति तथा सति गुणो न परिणामः ।

नापि द्रव्यं न सदिनि पृथक्त्वदंष्ट्रानुपपत्त्याम् ॥ २०८ ॥

अर्थ—उत्तर कहा हुई आशङ्काके अनुसार माननेपर सभी विवादाशङ्कें भाजायगी । भेद भेद माननेमें न गुणकी मिद्धि होगी न पर्यायकी मिद्धि होगी । न द्रव्यकी, और न सत्त्व की ही मिद्धि होगी । क्योंकि भिन्न २ स्वीकार करनेमें एक भी (कल भी) मिद्धि नहीं होगा ।

दूष्य दोष—

अपि तददृष्टमिह यमित्यं तद्धि नित्यमेव तथा ।

यदनित्यं तदनित्यं नैकस्यानेकधर्मस्यम् ॥ २०९ ॥

अर्थ—उत्पाद, व्ययको सर्वथा भिन्न पर्यायमात्र माननेमें और द्रव्यको उत्पन्न भिन्न सर्वथा नित्य माननेमें यह भी दुष्टण आता है कि जो नित्य है वह सदा नित्य ही रहेगा, और जो अनित्य है वह सदा अनित्य ही रहेगा क्योंकि एकके अनेक धर्म नहीं हो सकते ।

भाषार्थ—उत्पन्नको अनेक धर्मात्मक माननेपर तो बर्णबिन्नित्य और बर्णबिन्न अनित्यकी व्यवस्था बन जाती है और सर्वथा नित्यतामें वस्तुको एक धर्मात्मक स्वीकार करने पर सम्पूर्ण व्यवस्था विपरित हो जाती है ।

सोमस दोष—

अपि चैकमिदं द्रव्यं गुणोपमेवेति पर्यायोऽयं स्यात् ।

इति कान्त्यनिको भेदो न स्याददृष्ट्यान्तरव्यवस्थित्यमात् ॥ २१० ॥

अर्थ—नित्यतामें यह द्रव्य है, यह गुण है यह पर्याय है, ऐसा कान्त्यनिक भेद में होगा है वह भी उक्त जायगा, क्योंकि नित्यतामें द्रव्यद्रव्यकी तरह सर्वथा भिन्न २ द्रव्य व्यवस्था होगी ।

सहस्य—

ननु भवतु वस्तु नित्यं गुणाश्च नित्या भवन्तु चार्थिणि ।

भाषाः काद्रोमादिवदुत्पत्त्यर्थमिनो भवन्ति चेत् ॥ २११ ॥

अर्थ—द्रव्य और गुण समुद्रकी तरह निम्न हैं और पर्याय तर्गोंकी होती हैं और नष्ट होती हैं ऐसा माननेमें क्या दोष है ?

उत्तर—

तत्र यतो दृष्टान्तः प्रकृतार्थस्यैव बाधको भवति ।

अपि तदनुक्तस्यास्य प्रकृतविषयस्य साधकत्वाच्च ॥

अर्थ—शास्त्राकारकी यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि जो दृष्टान्त समुद्र उमने दिया है वह उसके प्रकृत अर्थका बाधक हो जाता है और उसके अभिन्न (विषय) अर्थका साधक हो जाता है । किम प्रकार ? मो नीचे कहा जाता है—

अर्थान्तरं हि न सतः परिणामेभ्यो गुणस्य कस्यापि

एकत्वाज्जलधेरिव कलितस्य तरङ्गमालाभ्यः ॥ २१३

जिस प्रकार तरंग मालाओंसे लक्षित समुद्र एक ही है ऐसा ही नहीं समुद्रसे भिन्न हों और समुद्र-जलसे भिन्न हो, किन्तु तरंगोंसे डोलायमान हो अभिन्न है, उसी प्रकार सत् (द्रव्य) से भिन्न गुण और पर्याय पदार्थान्तर नहीं

स्पष्ट अर्थ—

किन्तु य एव समुद्रस्तरङ्गमाला भवन्ति ता एव ।

यस्मात्स्वयं स जलधिस्तरङ्गरूपेण परिणमति ॥ २१४

अर्थ—किन्तु ऐसा है कि जो समुद्र है वे ही तरङ्गमालाएँ हैं क्योंकि स्व ही तरंगरूप परिणाम धारण करता है ।

दृष्टान्त

तस्मात्स्वयमुत्पादः सदिति ध्रौव्यं व्ययोपि वा सदिति

न सतोऽतिरिक्त एव हि व्युत्पादो वा व्ययोपि वा ध्रौव्यम्

अर्थ—इमल्लिङ्ग ( अथवा इसी प्रकार ) स्वयं सत् ही उत्पाद है, स्वयं ही है, और नहीं स्वयं ध्रौव्य है । मन्त्रे भिन्न न कोई उत्पाद है, न व्यय न ध्रौव्य है ।

अथवा—

यदि वा शुद्धस्वयनयात्राप्युत्पादो व्ययोपि न ध्रौव्यम् ।

गुणश्च परम्य इति वा न स्याच्च केवलं सदिति ॥ २१५

अर्थ—अथवा भेद विरक्त निरपेक्ष-शुद्धद्रव्याधिक नयमेव न कोई उत्पाद है, न ध्रौव्य है, न गुण है और न पर्याय है । केवल सदिति ही है ।

कारण—

अयमर्थो यदि भेदः स्यादुन्मज्जति तदा हि मनुग्रिनयम् ।

अपि तत्प्रितयं निमज्जति यदा निमज्जति ममूलनो भेदः ॥ २१७ ॥

अर्थ—उपयुक्त कथनका यही भागंदा है कि यदि भेदबुद्धि रखी जाती है तब तो द, व्यय, धौन्य नीनों ही मन् के अंगरूपमें प्रगट हो जाते हैं, और यदि मूलमें भेद को ही दूर कर दिया जाय, तब नीनोंही मन्मात्र बन्नुमें लीन हो जाते हैं ।

भावार्थ—भेद विरल्यमापेक्ष—अशुद्ध द्वयार्थिक नयमें यही मन् उत्पाद, व्यय, धौन्य परितमन करता है और भेद विरल्य निगंक्ष—शुद्धद्वयार्थिकनयमें यही मन् ब्रह्म ही प्रतीत होता है ।

उदाहरण—

ननु सांत्पादध्यंभौ छावप्यंशात्मकां भवेतां हि ।

धौन्यं त्रिकालपियं तत्कथमभेदात्मकं भवेदिति चेत् ॥ २१८ ॥

अर्थ—शंकाकार कहना है कि उत्पाद और व्यय ये दोनों ही अद्वय-स्वरूप हों, परन्तु धौन्य तो मत्ता रहता है वह किस प्रकार भेदात्मक हो सकता है ?

उत्तर—

नैवं धनस्त्रयंशाः स्वयं स्वदेयेति यस्तुतो न ह्यनः ।

नैवार्थान्तरयदिदं प्रत्येकमनेकमिह वादिति ॥ २१९ ॥

अर्थ—उत्तर की हुई शंका ठीक नहीं है, क्योंकि ये तीनों ही भेदात्मक मन् स्वरूप वास्तवमें मन् के नहीं हैं और न धौन्यार्थिकही मन् ही भेदात्मक हैं । किन्तु स्वयं ही प्रत्येक भेदात्मक हैं ।

भावार्थ—उत्पाद, व्यय, धौन्य तीनों ही मन्के उभयस्वरूप भेदात्मक हैं, किन्तु स्वयं मन् ही उत्पादार्थिक स्वरूप हैं ।

उदाहरण—

तत्रैतदुदाहरणं यत्तत्पादेन लक्ष्यमाणो ह्यनः ।

उत्पादेन परिणामं केवलमुत्पादमात्रमिह यस्तु ॥ २२० ॥

अर्थ—इस स्थितिमें यह उदाहरण है कि यदि मन् उत्पादार्थिक स्वरूप ब्रह्म है तो वह उत्पाद स्वरूप परिणाम भवेत्, ब्रह्म है तो वह केवल उत्पाद स्वरूप है ।

उदाहरण—

दि या स्वयमेव निवेनं केवलमिह वादिति लक्ष्यमाणो ह्यनः ।

ययपरिणामं न वादिति लक्ष्यमाणो ह्यनः ॥ २२१ ॥

अर्थ—अथवा यदि वह सत् केवल व्ययका लक्ष्य बनाया जाता है, अर्थात् वह सत् परिणामकी धारण करता है तो वह सत् केवल व्यय मान ही है ।

अथवा—

ध्रौव्येण परिणतं सद्यदि वा ध्रौव्येण लक्ष्यमाणं स्यात् ।

उत्पादव्ययवदिदं स्यादिनि नद् ध्रौव्यमात्रे सत् ॥ २२२ ॥

अर्थ—यदि सत् ध्रौव्य परिणामता भाग्य करता है अथवा वह ध्रौव्यका लक्ष्य बनाया जाता है, तब उत्पाद व्यय के समान वह सत् ध्रौव्य मात्र है ।

भावार्थ—उपरोक्त तीनों श्लोकोंमें हम जानना निश्चय किया गया है कि व्यय, ध्रौव्य सत्में भिन्न हैं अथवा सत्के एक २ भागमें होना शक्य अंश हैं । साथ ही बताया गया है कि तीनों ही सत् स्वरूप हैं और तीनोंही एक माय होते हैं । जिसकी विवक्षा की जाय अथवा जिसका लक्ष्य बनाया जाय सत् उसी स्वरूप है । सत् स्वयं उत्पाद स्वरूप है, सत् ही व्यय स्वरूप है और सत् ही ध्रौव्य स्वरूप है ।

दृष्टान्त—

संदष्टिर्मुद्वृत्तं सता घटेनेह लक्ष्यमाणं सत् ।

केवलमिह घटमात्रमसता पिण्डेन पिण्डमात्रं स्यात् ॥ २२३ ॥

अर्थ—दृष्टान्त के लिये मिट्टी द्रव्य है । जिस  $\times$  समय वह मिट्टी सत् स्वरूप धारण करती है । उस समय वह केवल घट मात्र है और जिस समय वह अम्ल स्वरूप धारण का लक्ष्य होती है, तब पिण्ड मात्र है ।

यदि वा तु लक्ष्यमाणं केवलमिह सूत्र मृत्तिकात्वेन ।

एवं चैकस्य सतो व्युत्पादादित्रयश्च तत्रांशाः ॥ २२४ ॥

अर्थ—यदि वह मिट्टी मिट्टीपनका ही केवल लक्ष्य बनाई जाती है तब वह केवल मिट्टी मात्र है । इस प्रकार एक ही सत् (द्रव्य) के उत्पाद व्यय ध्रौव्य, ऐसे तीन अंश होते हैं ।

न पुनः सतो हि सर्गः केनचिदंशैकभागमात्रेण ।

संहारो वा ध्रौव्ये वृक्षे फलपुष्पपत्रवत् स्यात् ॥ २२५ ॥

अर्थ—हम नहीं हैं कि सत् (द्रव्य) का ही किसी एक भागसे उत्पाद हो, और उसीका विभीषण भागसे व्यय हो, और उसीका एक भागसे ध्रौव्य रहता हो । जिस प्रकार वृक्षके एक भागमें फल हैं तथा एक भागमें पुष्प हैं और उसके एक भागमें पत्ते हैं । किंवा हमें कि सत् ही उत्पाद रूप है, सत् ही व्यय रूप है, और सत् ही ध्रौव्य स्वरूप है ।

$\times$  यद्यपि 'जिस समय' से आशय केवल विवक्षासे है । जैसी विवक्षा होती है मिट्टी उसी स्वरूप समझी जाती है । सामान्यमें तीनोंका समयभेद नहीं है ।

इहाकार—

ननु चोत्पादादित्रयमंशानामय किमंशिनो वा स्यात् ।

अपि किं सदंशमात्रं किमथांशमसदस्ति पृथगिनि चेत् ॥२६॥

अर्थ—क्या उत्पादादिक तीनों ही अंशोंके होते हैं / अथवा अंशोंके होते हैं / अथवा सन्तके अंश मात्र हैं / अथवा अमन्-अंश रूप भिन्न २ हैं ।

उत्तर—

तत्र यतोऽनेकान्तो यल्लयानिह स्वन्तु न सपर्ययान्तः ।

सर्वं स्यादविरुद्धं तत्पूर्वं तद्धिना विरुद्धं स्यात् ॥ २६७ ॥

अर्थ—उपयुक्त शांति ठीक नहीं है । क्योंकि यहाँ पर 'नेन दर्शनमे नियममे अनेकान्त ही बल्ल्यात् है । सर्वथा एकान्त नहीं । यदि उत्तर सिधे हुए प्रत्येक अनेकान्त दृष्टिमें किये गये हैं तो सभी कथन अविरुद्ध है । किसी दृष्टिमें वृद्धि की कथा मात्र उत्तमे स्थिति नहीं आसक्त । और अनेकान्तको छोड़कर केवल एकान्त रूपमे ही उपयुक्त प्रत्येक सिधे है तो अवश्य ही एक दूसरेके विरोधी हैं । इसलिये अनेकान्त पक्ष सभी कथन अविरुद्ध है । और वही कथन उत्तमे बिना विरुद्ध है ।

भाषार्थ—नेन दर्शन प्रमाणन्याय्यक है । जिस किसी वस्तुका किसी रूप सिधे बन क्यों न किया जाय, नयदृष्टिमें सभी संगत हो जाता है । वही कथन अनेकान्तदृष्टिमें तोड़कर किया जाय तो असंगत हो जाता है । यहाँ पर कोई यह शक्य न कर सके कि सभी किसी वस्तुका किसी किसी रूप बदनेसे और सभी किसी रूप बदनेसे नेन दर्शन किसी वस्तुका निर्णय नहीं है किन्तु संगत्यात्मक है । ऐसा बदनेवालोंको छोड़ा मृगदृष्टिमें विचार करना चाहिये । नेन दर्शन संगत्यात्मक नहीं किन्तु स्वन्तु के यथार्थ स्वरूपका बदनेवाला है । ननु हुए धर्मात्मक नहीं है, किन्तु अनेक धर्मात्मक है । इसलिये वह अनेक रूपमे ही बड़ी जाती है । एक रूपमें बदना उत्तमे स्वरूपको बिगाड़ना है । संगत्ये उपयुक्तोक्तिमें समान ज्ञान होनेमें होता है । यहाँ पर उपयुक्तोक्तिमें समान ज्ञान नहीं है । यद्यपि एक ही वस्तुको अनेक धर्मों द्वारा वह ज्ञान है पान्नु जिस दृष्टिमें जो धर्म कहा जाता है उस दृष्टिमें वह संगत बना ही है । उस दृष्टिमें वह संगत एक धर्मात्मक ही है । इहान्तके सिधे पुनरावृत्ति ही से संगतमे । पुनरावृत्ति रूप संग भी है और अभावरूप भी है । अपने स्वरूपको अनेकान्तमे जो वह रूप रूप है और वास्तविकी अंशानाम वह अभावरूप है । ऐसा नहीं है कि सभी अपने स्वरूपको अनेकान्तमे ही वह अभावरूप बड़ी जाय । अथवा पर-वस्तुओंको अनेकान्तमे जो सभी धर्मात्मक बनें संगत अभाव नय समुदाय-प्रमाणमे तो वस्तु धर्मात्मक भी है, अभावरूप भी है । वस्तु नय दृष्टिमें संग रूपमे धर्मात्मक है उस रूपमे संग रूपरूप ही है और जिस दृष्टिमें अभावरूप है उस रूप





उपर भी दुरे पट्टाका गुलाब उतर—

केवलमंशानामिह नाप्युत्पादो व्यप्योपि न ध्रौव्यम् ।

नाप्यंशिनस्त्रयं स्यात् किमुतांशेनांशिनो हि तन्त्रितयम् ॥ २२८ ॥

अर्थ—केवल अंशोंके ही उत्पाद, व्यप्य, ध्रौव्य नहीं होते हैं और न केवल अंशोंके ही तीनों होते हैं । किन्तु अंशों के अंश रूपमें उत्पादादिक तीनों होते हैं ।

शङ्काहर—

ननु योत्पादध्वंसा स्यातामन्यर्थतोऽथ वाहमात्रात् ।

दृष्टयिगुह्यत्वादिह ध्रुवत्वमपि कैकस्य कथमिति चेत् ॥ २२९ ॥

अर्थ—एक पदार्थ के उत्पाद और ध्वंस भन्ने ही हों; परन्तु उसी पदार्थ के ध्रौव्य भी होता है, यह बात बचन मात्र है, और प्रत्यक्ष वाचिन है । एक ही पदार्थ के उत्पाद व्यप्य और ध्रौव्य ये तीनों किम प्रकार हो सकते हैं ।

उपर—

मत्पुं भवति विगुह्यं शणभेदो यदि भवेत्प्रयाणां हि ।

अथवा स्वयं सदेव हि नश्यत्युत्पन्नते स्वयं सदिति ॥ २३० ॥

अर्थ—शङ्काकारका उपरुक्त कहना अभी ठीक हो सकता है अथवा उत्पाद, व्यप्य, ध्रौव्य, इन तीनोंका एक पदार्थमें सभी विराज आसक्त है जब कि इन तीनोंका शण भेद होता है । भयं यदि स्वयं मत् ही नष्ट होता हो, और मत् ही उत्पन्न होता हो तब भी इन तीनोंमें विरोध आ सकता है ।

क्यापि कुताश्चिन् किञ्चिन् कस्यापि कथञ्चनापि तन्न स्यात् ।

नत्साधकप्रमाणाभावादिह सोप्यदृष्टान्तात् ॥ २३१ ॥

अर्थ—परन्तु ऐसा कहीं किसी कारणसे किसीके किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र भी नहीं होता है । उत्पाद भिन्न समयमें होता हो, व्यप्य भिन्न समयमें होता हो, और ध्रौव्य भिन्न समयमें होता हो इस प्रकार तीनोंके शण भेदको सिद्ध करनेवाला न तो कोई प्रमाण ही है, और न कोई उदाहरण मात्रक दृष्टान्त ही है ।

शङ्काहर—

ननु य स्यावसरे किल सर्गः सर्गकलक्षणत्वात् स्यात् ।

मंहारः स्यावसरे स्यादिति मंहारलक्षणत्वादा ॥ २३२ ॥

ध्रौव्यं चात्मावसरे भवति ध्रौव्यकलक्षणात्तस्य ।

एवं लक्षणभेदः स्याद्विजाडुरपादपत्त्ववस्थितिचेत् ॥ २३३ ॥

अर्थ—उत्पाद अपने समयमें होता है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति होना ही एक लक्षण है । व्यय अपने समयमें होता है, क्योंकि संहार होना ही उसका लक्षण है । इसी प्रकार प्रेत भी अपने समयमें होता है, क्योंकि उसका धुन रहना ही स्वरूप है । जिस प्रकार बीज अन्न और वृक्ष, इनका भिन्न २ लक्षण है उसी प्रकार उत्पाद, व्यय, धौव्यका भी भिन्न २ लक्षण है ।  
भावार्थ—भिन्न २ लक्षण होनेसे तीनोंका भिन्न २ समय है ?

उत्तर—

ननु यतः क्षणभेदा न स्यादेकसमयमात्रं तत् ।

उत्पादादित्रयमपि हेतोः संदृष्टिनोपि सिद्धत्वात् ॥ २३४ ॥

अर्थ—लक्षणभेद होनेसे तीनोंको भिन्न २ समयमें मानना ठीक नहीं है क्योंकि उत्पाद, व्यय और धौव्य तीनोंका समयभेद नहीं है । तीनों एक ही समयमें होते हैं । पतन हेतु और स्थानमें कभी बांति सिद्ध है । इसीका खुलामा नीचे किया जाता है—

अथ तद्यथा हि बीजं बीजावसरे सदेव नासदिति ।

तत्र व्ययो न सत्याद्व्ययश्च तस्मात्सदङ्कुरावसरे ॥ २३५ ॥

अर्थ—बीज अपनी पर्यायके समयमें है । बीज पर्यायके समय बीजका अभाव नहीं कहा जा सकता । बीज पर्यायके समय बीज पर्यायका व्यय भी नहीं कहा जा सकता निःसङ्कल्पभेदे उत्पाद—समयमें बीज पर्यायका व्यय कहा जा सकता है ।

बीजावस्थायामपि न स्यादङ्कुरमयोस्ति वाऽसदिति ।

तस्मादुत्पादः स्यात्स्यावसरे चाङ्कुरस्य नान्यत्र ॥ २३६ ॥

अर्थ—जो समय बीज पर्यायका है, वह अङ्कुरकी उत्पत्तिको नहीं कह सकते । बीज पर्यायके समय अङ्कुरके उत्पादका अभाव ही है । इस लिये अङ्कुर उत्पाद की अवस्था ही समयमें होगा, अन्य समयमें नहीं ।

यदि चार्थाङ्कुरयोर्विज्ञेयान् पादपत्नमिति वाच्यम् ।

नष्टोत्पत्तौ न तदिति नष्टोत्पत्तौ च वर्गवाच्यां हि ॥ २३७ ॥

अर्थ—जब बीज और अङ्कुर इन दोनों की सामान्य स्थितिमें यदि वृक्ष कहा जाय तो वे उत्पन्न हुआ, और न वृक्ष नष्ट हुआ, किन्तु बीज पर्यायमें नष्ट हुआ है, और अङ्कुरके उत्पन्न हुआ है ।

अथ—

आद्यानि न्यायक्यादेनवाप्रिनयमेककालं ग्यात् ।

इत्यत्रमङ्कुरा न तद्वत् बीजिन पादपत्नं ननु ॥ २३८ ॥



निर भी सुगता—

अपि चाङ्कुरसृष्टेरिह य एव समयः स वीजनाशस्य ।

उभयोरप्यात्मत्वात् स एव कालश्च पादपस्यस्य ॥ २३० ॥

अर्थ—जो अङ्कुरों की उत्पत्ति का समय है । वही समय बीजों के नाश का है, और अङ्कुर उगने का बीज का नाश दोनों ही वृक्ष स्वभाव हैं । इस लिये जो समय बीजों के नाश के अङ्कुरों के उगने का है वही समय वृक्षों के धीयका है ।

भाषा—

सम्मादनवयमिदं प्रकृतं तत्त्वस्य पैकममये स्यात् ।

उत्पादादिप्रयमपि पर्यायार्थानि सर्वथापि सतः ॥ २४० ॥

अर्थ—इसमें जो बातें प्रकृत में मिली हैं वे सब किन्हीं पर्यायों के एक समय में ही उत्पत्ति के लिये होते हैं वे भी वृक्षों के पर्यायार्थों में होते हैं, पर्यायों के लिये पर्यायों के नहीं होते ।

शिरोष लोभाजना—

अहनि विरक्तं हि तदा यदा सतः कथं तस्य तत्त्वमयम् ।

पर्यायार्थानि सतः सतः सतः सतः सतः सतः ॥ २४१ ॥

अर्थ—जिस समय उत्पत्ति आदि तीनों, पर्यायार्थों में से एक वृक्षों के ही माने जाते हैं वे सब स्वभाव में ही होते हैं वे सब भाग में ही होते हैं, और अभी समय उनके समय में ही होते हैं ।

॥ २४१ ॥

अहनि विरक्तं हि तदा यदा सतः कथं तस्य तत्त्वमयम् ।

पर्यायार्थानि सतः सतः सतः सतः सतः सतः ॥ २४२ ॥

अर्थ—जिस समय उत्पत्ति आदि तीनों, पर्यायार्थों में से एक वृक्षों के ही माने जाते हैं वे सब स्वभाव में ही होते हैं वे सब भाग में ही होते हैं, और अभी समय उनके समय में ही होते हैं ।

॥ २४२ ॥

अहनि विरक्तं हि तदा यदा सतः कथं तस्य तत्त्वमयम् ।

पर्यायार्थानि सतः सतः सतः सतः सतः सतः ॥ २४३ ॥

अर्थ—जिस समय उत्पत्ति आदि तीनों, पर्यायार्थों में से एक वृक्षों के ही माने जाते हैं वे सब स्वभाव में ही होते हैं वे सब भाग में ही होते हैं, और अभी समय उनके समय में ही होते हैं ।

॥ २४३ ॥

अहनि विरक्तं हि तदा यदा सतः कथं तस्य तत्त्वमयम् ।

पर्यायार्थानि सतः सतः सतः सतः सतः सतः ॥ २४४ ॥



इलीका गुलावा —

अथ तद्यथा विनाशः प्रादुर्भावं विना न भावीति ।

नियतमभावस्य पुनर्भावेन पुरस्सरत्वाच्च ॥ २५१ ॥

अर्थ—तीनोंका परस्पर अविनाभाव है, इसी बातको स्पष्ट किया जाता है कि विनाश (व्यय) विना उत्पादके नहीं हो सका । क्योंकि किसी पर्यायका अभाव नियमसे भाव पूर्वक ही होता है ।

उत्पादोपि न भावी व्ययं विना वा तथा प्रतीतत्वात् ।

प्रत्यग्रजन्मनः किल भावस्याभावतः कृतार्थत्वात् ॥ २५२ ॥

अर्थ—उत्पाद भी विना व्ययके नहीं हो सका, क्योंकि ऐसी प्रतीति है कि जन्म लेनेवाला भाव अभावसे ही कृतार्थ होता है ।

भावार्थ—किसी पर्यायका नाश होने पर ही तो दूसरी पर्याय हो सकती है । वहाँ तो किसी न किसी अवस्थामें सदा रहता ही है । इस लिये यह आवश्यक है कि पहले अवस्थाका नाश होने पर ही कोई नवीन अवस्था हो ।

उत्पादव्यंसां वा द्वावपि न स्तो विनापि तदधौव्यम् ।

भावस्याऽभावस्य च वस्तुत्वे सति तदाश्रयत्वाद्वा ॥ २५३ ॥

अर्थ—अथवा विना धौव्यके उत्पाद, व्यय भी नहीं होसके, क्योंकि वस्तुकी उत्पत्ति होने पर ही उसके आश्रयसे भाव और अभाव (उत्पाद और व्यय) रह सके हैं ।

अपि च धौव्यं न स्यादुत्पादव्ययद्वयं विना नियमात् ।

पदिह विशेषाभावे सामान्यस्य च सतोऽप्यभावत्वात् ॥ २५४ ॥

अर्थ—अथवा विना उत्पाद और व्यय दोनोंके धौव्य भी नियमसे नहीं रह सका है, क्योंकि विशेषके अभावमें सामान्य सत्ता भी अभाव ही है ।

भावार्थ—वस्तु सामान्य विशेषात्मक है । विना सामान्यके विशेष नहीं हो सका, और विना विशेषके सामान्य भी नहीं हो सका । उत्पाद, व्यय विशेष हैं, धौव्य सामान्य है । इस लिये विना उत्पाद, व्यय विशेषके धौव्य सामान्य नहीं बन सकता है और इसी प्रकार विना धौव्य सामान्यके उत्पाद व्यय विशेष भी नहीं बन सके हैं ।

सारांश—

एवं चात्पादादित्रयस्य भागीयसी व्यवस्थेह ।

नैवान्यथाऽन्यनिन्द्यवदनः स्वस्यापि घानकत्वाच्च ॥ २५५ ॥

• अत्रापि विशेषणा तदर्थे विवक्षितम् ।

• अत्र विवक्षितं हि सामान्य भावेऽप्युक्तमित्यतः । निम्नामाम्नाय विशेषश्च भवेत्तदवस्थितम् ॥

अर्थ—इस प्रकार मनुमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यही व्यवस्था पटित करना चाहिये । अन्य किसी प्रकार उनकी व्यवस्था नहीं पटित की जा सकती है । क्योंकि दूसरेका विनाश करनेमें अपना ही विनाश हो जाता है ।

भावार्थ—उपर कही हुई व्यवस्था ही ठीक व्यवस्था है और तीनोंको एक साथ माननेमें ही यह व्यवस्था बन सकती है तीनोंमेंसे किसी एकका अथवा दोका अभाव माननेसे बाकीके दो अथवा एक भी नहीं टहर सका है ।

केवल उत्पादके माननेमें दोष—

अथ मद्यथा हि सर्गं केवलमेकं हि मृगयमाणस्य ।

असदुत्पादो वा स्यादुत्पादो वा न कारणाभावात् ॥ २५३ ॥

अर्थ—जो केवल एक उत्पादको ही मानता है उसके मनमें अमत्का उत्पाद होने लगेगा, अथवा कारणका अभाव होनेमें उत्पाद ही न होगा ।

केवल व्ययके माननेमें दोष—

अप्यथ लोकयतः किल संहारं सर्गपक्षनिरपेक्षम् ।

भयति निरन्वयनाशः सतो न नाशोऽप्यवाप्यहेतुत्वात् ॥ २५४ ॥

अर्थ—उत्पादपक्षनिरपेक्ष केवल व्ययको ही जो मानता है, उसके यहो सत्का निरन्वय सर्वथा नाश हो जायगा । अथवा विना कारण उसका नाश भी नहीं हो सका ।

केवल ध्रौव्यके माननेमें दोष—

अथ च ध्रौव्यं केवलमेकं किल पक्षमध्यवसतश्च ।

द्रव्यमपरिणामि स्यात्तदपरिणामाच्च नापि तद्ध्रौव्यम् ॥ २५५ ॥

अर्थ—इसी प्रकार जो उत्पादव्ययनिरपेक्ष केवल ध्रौव्य पक्षको ही स्वीकार करने हैं, उनके मनमें द्रव्य अपरिणामी रहेगा और द्रव्यके अपरिणामी होनेसे उसके ध्रौव्य भी नहीं बन सका है ।

ध्रौव्य निरपेक्ष उत्पाद व्ययके माननेमें दोष—

अथ च ध्रौव्योपेक्षितमुत्पादादिद्रव्ये प्रमाणयतः ।

सर्व क्षणिकमिदं तत् सदभावे वा व्ययो न सर्गश्च ॥ २५६ ॥

अर्थ—ध्रौव्य निरपेक्ष केवल उत्पाद और व्यय इन दोहों ही जो प्रमाणभूत मानता है, उसके यहां सभी क्षणिकही तरह हो जायगा । अथवा सत् पक्षके अभावमें न तो व्यय ही बन सका है और न उत्पाद ही बन सका है ।

सारांश—

एतद्दोषमयादिह प्रकृतं चास्तिक्यमिच्छता पुंसा ।

उत्पादादीनामयमविनाभावोऽगमन्यः ॥ २५७ ॥



अर्थ—ऊपर वहे हुए दोषोंके भयमे आत्मिक्यके चारनेवाले पुरुषको प्रकृतमें लज्जा आदिक तीनोंका ही अविनाभाव मानना चाहिये ।

भावार्थ—तीनों एक साथ परस्पर सापेक्ष हैं, यही निर्दोष सिद्ध है ।

नवी प्रतिज्ञा—

उक्तं गुणपर्यायवद्द्रव्यं यत्तद्व्ययादियुक्तं सत् ।

अथ वस्तुस्थितिः किल वाच्याऽनेकान्तयोगशुद्ध्यर्थम् ॥२३१॥

अर्थ—द्रव्य गुणपर्यायका समूह है और वह उत्पाद, व्यय, धौन्यवाला है, यह बात तो कही जा चुकी । अब अनेकान्त (स्याद्वाद)का बोध होनेके लिये वस्तुका विचार करने है—

अनेकान्त चतुष्टय—

स्यादस्ति च नास्तीति च नित्यमानित्यं त्वनेकमेकं च ।

तदतद्येति चतुष्टययुग्मैरिव गुम्फितं वस्तु ॥ २३२ ॥

अर्थ—स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य, स्यात् एक, स्यात् अनेक, स्यात् तत्, स्यात् अतत्, इस प्रकार इन चार गुणोंकी तरह वस्तु अनेक धर्मोंसे गुंथी हुई है ।

चतुष्टय होनेमें कारण—

अथ तद्यथा यदस्ति हि तदेव नास्तीति तच्चतुष्कं च ।

द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेन तथापि वाऽपि भावेन ॥ २३३ ॥

अर्थ—उसीका खलासा करते हैं कि जो कथंचित् (किसी स्वरूपसे) है वही कथंचित् नहीं भी है । इसी प्रकार जो कथंचित् नित्य है वही कथंचित् अनित्य भी है । जो कथंचित् एक है वही कथंचित् अनेक भी है । जो कथंचित् वही है, वह कथंचित् वह नहीं भी है । इस प्रकार ये चारों ही कथंचित् वाद (स्याद्वाद) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी ओर होते हैं ।

द्रव्यकी अपेक्षासे कथन ।

एका हि महासत्ता सत्ता वा स्याद्वान्तराख्या च ।

न पृथक्प्रदेशावत्यं स्वरूपभेदोऽपि नानयोरेव ॥ २३४ ॥

अर्थ—एक तो महासत्ता है । दूसरी अग्रान्तर सत्ता है । इन दोनों सत्ता वस्तुमें भिन्न प्रदेश नहीं हैं अर्थात् सत्ता स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है तथा दोनोंमें स्वरूप भेद नहीं है । दोनोंका एक ही स्वरूप है केवल अपेक्षा—स्थान भेद है ।

\* इन दोनों सत्ताओंका स्वरूप विस्तृत विवेचन पहले भी कहा जा चुका है ।  
उत्तरार्धके प्रारम्भमें भी कहा गया है ।

महासत्ताका स्वरूप—

किन्तु सदित्यभिधानं यत्स्यात्सर्वार्थसार्थसंस्पर्शः ।

सामान्यग्राहकत्वात् प्रोक्ता मन्मात्रतो महासत्ता ॥ २६५ ॥

अर्थ—किन्तु जो सत् सम्पूर्ण पदार्थों का समूहको स्पर्श करनेवाला है उसे ही सामान्यग्राहक नामसे कहते हैं । वह सामान्यका ग्रहण करनेवाला है और उसहीकी अपेक्षासे वस्तु मन्मात्र है ।

भावार्थ—हर एक पदार्थका अस्तित्व गुण जुदा जुदा है, उसी अस्तित्व गुणको 'सत्' इस नामसे भी कहते हैं, क्योंकि उसीसे वस्तुकी सत्ता कायम रहती है । वह सत्गुण समान रीतिमें सब वस्तुओंमें एक सतीका है । एक सतीका होनेसे ही उसे एक भी कह देते हैं और उसीका नाम महासत्ता रखते हैं । वास्तवमें 'महामत्ता' नामका कोई एक पदार्थ नहीं है । केवल समानताकी अपेक्षामें इनको एक-व सत्ता मिली है ।

अवान्तर सत्ताका स्वरूप—

अपिऽद्याद्यान्तरसत्ता सद्द्रव्यं सत्गुणश्च पर्यायः ।

सत्तोत्पादध्वंसः सदिति शब्दं किलेति विस्तारः ॥ २६६ ॥

अर्थ—अवान्तर सत्ता एगुरुकी जुदी जुदी है । वह भिन्न २ रीतिमें ही कही जाती है । जैसे—सद्द्रव्य, सत्गुण, सत्पर्याय, सत्उत्पाद, सत्वंश, सत्धौत्य इस प्रकार और भी आगे लेना चाहिये ।

भावार्थ—जब जगह ध्यान कर रहनेवाली सत्ताको महासत्ता कहते हैं और उस महासत्ताकी अपेक्षा जो थोड़ी जगहमें रहती है उसे अवान्तर सत्ता कहते हैं महासत्ता सामान्य रीतिमें सब पदार्थोंमें रहती है इसलिये उसकी अपेक्षामें पदार्थोंमें भेद नहीं है, किन्तु सभी एक कहलाते हैं । परन्तु अवान्तर सत्ता सब पदार्थोंमें भेद करती है । जैसे—महासत्ताकी अपेक्षा द्रव्य, गुण, पर्याय आदि सभी मन्स्वरूप कहलाते हैं, वैसे ही अवान्तर सत्ताकी अपेक्षा भिन्न २ कहलाते हैं । अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे द्रव्यका सत् जुदा है, गुणका जुदा है और पर्यायका जुदा है । द्रव्यमें भी घटीका सत् जुदा है, टेबिलका जुदा है तथा कुर्सीका जुदा है । गुणोंमें भी ज्ञानका जुदा है दर्शनका जुदा है और सुम्भका जुदा है । पर्यायोंमें भी वर्तमान पर्यायका जुदा है भूत पर्यायका जुदा है और भविष्यका जुदा है । इस प्रकार अवान्तर सत्ताके अनेक भेद होते हैं ।

अभि नास्ति कथम्

अयमर्थो वस्तु यदा सदिति महासत्तावधार्येत ।

स्यात्तदवान्तरसत्तारूपेणाभाव एव ननु मृलात् ॥ २६७ ॥

अर्थ—द्रव्यकी अपेक्षा स्यात् अग्नि और स्यात् नास्तिता अर्थात् यह है कि जिस समय महासत्ताकी अपेक्षामें कथंचिन् है, उस समय अवान्तर सत्ताकी अपेक्षामें कथंचिन् नहीं भी है। वस्तुमें अवान्तर सत्ताकी अपेक्षामें ही अभाव आता है। वस्तुमें वह अभावामक नहीं है।

अपि चाऽवान्तरसत्तारूपेण यदावधार्येन वस्तु ।

अपरेण महासत्तारूपेणाभाव एव भवति तदा ॥ २६८ ॥

अर्थ—इसी प्रकार जिस समय अवान्तर सत्ताकी अपेक्षामें वस्तु कही जाती है, उस समय उसकी अपेक्षासे तो वह कथंचिन् है। परन्तु प्रतिपक्षी महामत्ता की अपेक्षामें वस्तु चित नहीं भी है।

भावार्थ—वास्तवमें वस्तु तो ऐसी है, वह वैसी ही है। उसमेंसे न तो कुछ कहा जाता है और न उसमें कुछ कभी आता है। केवल कथन शैलीसे उसमें भेद हो जाता है जिस समय वस्तुको महासत्ताकी दृष्टिसे देखते हैं, उस समय वह सत्त्वरूप ही दीखती है उस समय वह द्रव्य नहीं कही जा सकती, गुण भी नहीं कही जा सकती, और पर्यायभी नहीं जा सकती। इस लिये उस समय यह कहा जा सकता है कि वस्तु मन् रूपसे तो है, परन्तु द्रव्य, गुण, पर्याय आदि रूपसे नहीं है। इसी प्रकार जिस समय अवान्तर सत्ताकी दृष्टिसे वस्तु देखी जाती है उस समय वह द्रव्य अथवा पर्याय आदि विशेष मन् रूपसे बो है, सामान्य मन् रूपसे नहीं हैं। इस प्रकार वस्तुमें कथंचिन् अस्तित्व और कथंचिन् नास्तिता सुयुक्ति होता है। वस्तुमें नास्तिता केवल अपेक्षा दृष्टिसे ही आता है। वास्तवमें वस्तु स्वस्वरूप नहीं है।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तः स्पष्टोऽयं यथा पटो द्रव्यमस्ति नास्तीति ।

पटशुक्लत्वादीनामन्यतमस्याविवक्षितत्वाच्च ॥ २६९ ॥

अर्थ—कथंचिन् अस्तित्व और कथंचिन् नास्तिताका दृष्टान्त भी स्पष्ट ही है जिस प्रकार पट (वस्त्र) द्रव्य पटकी अपेक्षासे तो है परन्तु वही पट द्रव्य पटके शुक्लादि विविधताकी अपेक्षासे नहीं है।

भावार्थ—शुक्लादि गुणोंका समूह ही पट कहलाता है। जिस समय पटको स्तितामें कहते हैं उस समय उसके गुण नहीं कि बराबर समझे जाते हैं और जिस समय पटको शुक्लतामें कहते हैं, उस समय पट भी नहीं के बराबर समझा जाता है। अपेक्षामें ही वस्तुमें मुख्य और गौणकी व्यवस्था होती है, तथा उसी व्यवस्थासे वस्तु कि अग्निवाद और कथंचिन् नास्तिवाद आता है इसीका नाम स्यादाद है।

क्षेत्री अपेक्षाम् अस्ति नास्ति कथन—

क्षेत्रं द्विधा प्रधानात् सामान्यमथ च विशेषमात्रं स्यात् ।

तत्र प्रदेशमात्रं प्रथमं प्रथमेतरं तदंशमयम् ॥ २७० ॥

अर्थ—यस्तुका क्षेत्र भी दो प्रकारसे कहा जाता है । एक सामान्य, दूसरा विशेष ।  
जैसे किन्ने प्रदेश हैं उन प्रदेशोंके मनुष्यात्मक देशों तो सामान्य क्षेत्र कहते हैं और  
मैंने अंशोंको विशेष क्षेत्र कहते हैं ।

अथ केवलं प्रदेशात् प्रदेशमात्रं यदेव्यमे वस्तु ।

अस्ति स्वक्षेत्रतया तदंशमात्राऽपि यद्विशिष्टतया ॥ २७१ ॥

अर्थ—जिम समय केवल प्रदेशोंके मनुष्यात्मी अपेक्षामें देश रूप बन्य जाती जाती  
उम समय वह देश रूप स्वक्षेत्री अपेक्षामें तो है पण्ठु उम देशोंके अंशोंकी अवस्था  
जैसे अंशोंकी अपेक्षासे नहीं है ।

अथ केवलं तदंशात्तायन्मात्राण्यदेव्यमे वस्तु ।

अस्त्यंशविशिष्टतया नास्ति च देशापि यद्विशिष्टतया ॥ २७२ ॥

अर्थ—अथवा जिम समय केवल देशोंके अंशोंकी अपेक्षामें बन्य जाती जाती है उम  
समय वह अंशोंकी अपेक्षासे तो है, पण्ठु देशोंकी विस्था न होनेसे देशोंकी अपेक्षामें नहीं है ।

एवम्—

संहतिः पटदेशः क्षेत्रप्रधानीय एव नास्म्यस्ति ।

शुभादितन्तुमात्रादन्यतरस्यापि यद्विशिष्टतया ॥ २७३ ॥

अर्थ—क्षेत्रके लिये एतान्न पट रूप देश है । नर द्वाविंशतिभाष्य—यन्तु समस्तार्थी  
क्षेत्रों तथा भिन्न भिन्न अंशोंकी अपेक्षामें कार्यन्वि अस्ति नास्ति रूप है । जिम समय  
जमी विस्था ( कर्तव्यकी इच्छा ) की जाती है वह तो उम समय मनुष्य होनेसे अस्ति रूप  
और इतक अवस्थित होनेसे उम समय भीण है इत्यन्तिरे वह नास्ति रूप है । उम द्वाविं  
क्षेत्री अपेक्षामें कार्यन्वि अस्ति और नास्ति वस्तुना कार्यन्वि ।

काली अपेक्षाम् अस्ति नास्ति कथन—

कालो वर्तनमिति या परिणामनं वस्तुनः स्वभावेन ।

सोपि पूर्णवदस्यमिह सामान्यविशेषरूपस्यात् ॥ २७४ ॥

अर्थ—काल नाम वर्तनरा है । अथवा वस्तुना स्वभावसे वर्तनमान होनेसे है ।  
काल भी वर्तव्यी तरह सामान्य और विशेष रूपसे दो प्रकार है ।

सामान्यता वर्तमानता दृष्टान्त निम्नरूपेः

वर्तनावरणावस्थे मर्ते हेतुवर्तनस्य ॥ २ ॥

कायका सामान्य और विशेष रूप—

सामान्यं विधिरूपं प्रतिषेधात्मा भवति विशेषम् ।

उभयोरन्यतरस्यायमप्रोन्मसत्त्वादस्ति नास्तीति ॥ २३५ ॥

इति—सामान्य विधिरूप है, विशेष प्रतिषेधरूप है । उन दोनोंमें से विशेष का उल्लेख—यह प्रतिषेध होनेसे भविष्य और नाभविष्य आता है ।

विधि और प्रतिषेधका सामान्य—

सर्व विदेशो विधिरिति स यथा स्वयं सर्वेयेति ।

अत्रिह विभाग विभागः प्रतिषेधमांशकल्पने तस्य ॥ २३६ ॥

इति—सर्व विदेशो विधिरिति (विधि) यथा स्वयं सर्वेयेति । अत्रिह विभाग विभागः प्रतिषेधमांशकल्पने तस्य ॥ २३६ ॥  
इति—सर्व विदेशो विधिरिति (विधि) यथा स्वयं सर्वेयेति । अत्रिह विभाग विभागः प्रतिषेधमांशकल्पने तस्य ॥ २३६ ॥

अत्रिह विभाग विभागः प्रतिषेधमांशकल्पने तस्य ॥ २३६ ॥  
इति—सर्व विदेशो विधिरिति (विधि) यथा स्वयं सर्वेयेति । अत्रिह विभाग विभागः प्रतिषेधमांशकल्पने तस्य ॥ २३६ ॥

उदाहरण—

अत्रिह विभाग विभागः प्रतिषेधमांशकल्पने तस्य ॥ २३६ ॥

अत्रिह विभाग विभागः प्रतिषेधमांशकल्पने तस्य ॥ २३६ ॥

अत्रिह विभाग विभागः प्रतिषेधमांशकल्पने तस्य ॥ २३६ ॥  
अत्रिह विभाग विभागः प्रतिषेधमांशकल्पने तस्य ॥ २३६ ॥

अत्रिह विभाग विभागः प्रतिषेधमांशकल्पने तस्य ॥ २३६ ॥

अत्रिह विभाग विभागः प्रतिषेधमांशकल्पने तस्य ॥ २३६ ॥

अत्रिह विभाग विभागः प्रतिषेधमांशकल्पने तस्य ॥ २३६ ॥

अत्रिह विभाग विभागः प्रतिषेधमांशकल्पने तस्य ॥ २३६ ॥

अत्रिह विभाग विभागः प्रतिषेधमांशकल्पने तस्य ॥ २३६ ॥

अत्रिह विभाग विभागः प्रतिषेधमांशकल्पने तस्य ॥ २३६ ॥  
अत्रिह विभाग विभागः प्रतिषेधमांशकल्पने तस्य ॥ २३६ ॥  
अत्रिह विभाग विभागः प्रतिषेधमांशकल्पने तस्य ॥ २३६ ॥  
अत्रिह विभाग विभागः प्रतिषेधमांशकल्पने तस्य ॥ २३६ ॥  
अत्रिह विभाग विभागः प्रतिषेधमांशकल्पने तस्य ॥ २३६ ॥

दृष्टान्त—

संदष्टिः पटपरिणतिमात्रं कालापतस्त्रकालतया ।

अस्ति च सावन्मात्रास्ति पटस्तन्तुशुक्लरूपतया ॥ २७८ ॥

अर्थ—दृष्टान्तके लिये पट है । सामान्य परिणमनसे घाटन करनेवाला पट, मध्यम-  
स्वभावकी अपेक्षासे तो है, परन्तु वही पट तन्तु और शुक्लरूप विशेष परिणमन (पराकाय)  
की अपेक्षासे नहीं है ।

भावही अंगशेष अस्ति नास्ति वचन—

भायः परिणामः किल नैव तत्त्वस्वरूपनिष्पत्तिः ।

अथवा शक्तिममूहो यदि या सर्वस्वभावः स्यात् ॥ २७९ ॥

अर्थ—भाव नाम परिणामका है और वही तत्त्वके स्वरूपकी प्राप्ति है, अथवा  
शक्तियोंके समूहका नाम भी भाव है, अथवा कल्पके माया नाम ही भाव है ।

स विभक्तो द्विविधः स्वात्मामान्यात्मविशेषरूपधः ।

तत्र विषयस्य मुख्यः स्वात्मभाषोऽथ गुणोऽपि परभाषः ॥ २८० ॥

अर्थ—वह भाव भी सामान्यात्मक और विशेषात्मक ऐसे दो भेदवाला है । इन  
दोनोंमें जो भाव विवक्षित होता है वह मुख्य होजाता है और जो अविवक्षित भाव  
है वह गौण होजाता है ।

भावका सामान्य और विशेष रूप—

सामान्यं विधिरूप हि शुद्धः प्रतिषेधकश्च निरपेक्षः ।

प्रतिषेधो हि विशेषः प्रतिषेध्यः संशयाच्च सापेक्षः ॥ २८१ ॥

अर्थ—सामान्य विधिरूप ही है । वह शुद्ध है, प्रतिषेधक है और निरपेक्ष है ।  
विशेष प्रतिषेध रूप है, प्रतिषेध्य है अंश गति है और सापेक्ष है ।

इसीका सब अर्थ—

अपमर्षो पस्तुनया सत्सामान्यं निरुदाहं यावत् ।

भक्तो तदिह विद्वान्पद्व्याप्योक्त्यने विरोधधः ॥ २८२ ॥

अर्थ—उपरके श्लोकका अर्थ यही है कि मनु (वदार्थ) जब सब अपमर्ष  
कल्पनामें सामान्यवर्तितमें स्थित है, और जब सब उपायों में सब कल्पना करने के अर्थों में सब  
भाव तो वह मनु शुद्ध अवस्था है, और जब वह द्वय, गुण, वर्णन आदि भेदोंमें विवक्षित  
विधा जाता है, तब वही मनु विशेष-मध्यम कहलाता है ।

भावार्थ—कल्पमें जब सब भेद बुद्धि नहीं होती है तब तब वह शुद्ध अवस्था  
मपरी अपेक्षासे शुद्ध है, और इसी अवस्थामें वह निरपेक्ष है । कल्प जब उपायों में  
द्वयविध मपरी अपेक्षासे भेद कायम हो जाता है, तब वह द्वय कल्प कहलाता है ।

है और उसी आत्मामें वह प्रतिबिम्ब भी है । जो मत्ता अन्य रूपमें रहे वह  
है उसे सिद्ध करने है और जो व्यतिरेक रूपमें रहे उसे प्रतिबिम्ब कहें  
हैं । मत्ता अन्य आत्मामें ही मत्ता अन्य रूपमें रह सकती है, परन्तु भेद विधानसे  
व्यतिरेकता प्रमाण करनी है । इसी लिये सत् सामान्यता विधि रूप और सा विशेषता  
बेद बना रहा गया है । वस्तुही विशेष आत्मामें ही प्रतिबिम्ब बनना ही नहीं है ।

नारायण—

गर्भादिदमनयनं सर्वं सामान्यतां गदाप्यस्ति ।

गोत्रविशेषविशेषाभावादिह तदैव सत्तास्ति ॥ २८३ ॥

अर्थ—गर्भों में गर्भ का विशेष रीतिमें मिल हो चुकी कि सम्पूर्ण पदार्थों में  
गोत्र, जाति, विशेष विधानों में उन समय के सामान्यतामें तो हैं, परन्तु विशेष  
विशेषता में नहीं हैं ।

अथ—

गर्भे वा गर्भेभ्यः पार्थिवक्षिप्राद्यादिष्वेततोऽस्ति गदा ।

गर्भविशेषतामात्राणां नयनं सत्तास्ति नयनं गदा ॥ २८४ ॥

अर्थ—गर्भों में पदार्थों में विशेषता में विशेषता में विशेषता में विशेषता में  
गर्भों में विशेषता में विशेषता में विशेषता में विशेषता में विशेषता में  
गर्भों में विशेषता में विशेषता में विशेषता में विशेषता में विशेषता में

अथ—

गर्भे वा गर्भेभ्यः पार्थिवक्षिप्राद्यादिष्वेततोऽस्ति गदा ।

गर्भविशेषतामात्राणां नयनं सत्तास्ति नयनं गदा ॥ २८५ ॥

अर्थ—गर्भों में पदार्थों में विशेषता में विशेषता में विशेषता में विशेषता में  
गर्भों में विशेषता में विशेषता में विशेषता में विशेषता में विशेषता में  
गर्भों में विशेषता में विशेषता में विशेषता में विशेषता में विशेषता में  
गर्भों में विशेषता में विशेषता में विशेषता में विशेषता में विशेषता में  
गर्भों में विशेषता में विशेषता में विशेषता में विशेषता में विशेषता में

अथ—

गर्भे वा गर्भेभ्यः पार्थिवक्षिप्राद्यादिष्वेततोऽस्ति गदा ।

गर्भविशेषतामात्राणां नयनं सत्तास्ति नयनं गदा ॥ २८६ ॥

अर्थ—मार्ग गरी ( ऊपर कहा हुआ ) वस्तु ल्या लेना चाहिये अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, रस और भाव, चारों ही जगह अनुकूलता और प्रतिकूलताके अनुसार विवक्षित भाव है वही मुख्य समझा जाना है । यहां पर “च” में भावार्थ ग्रहण किया गया है ।

टिप्पणी—

मंदष्टिः पटभावाः पटसारो वा पटस्य निष्पत्तिः ।

अस्यान्मना च तदितरघटादिभावाऽविवक्षया नास्ति ॥२८७॥

अर्थ—पटका भाव, पटका मात्र, पटके स्वरूपकी प्राप्ति, ये तीनों ही बातें एक अर्थवाली हैं । पटका भाव अपने स्वरूपकी अपेक्षामें है परन्तु उसके इतर घट आदि भावोंकी अविवक्षा होनेमें यह नहीं है । क्योंकि विवक्षित भावको छोड़कर बाकी सभी भाव अविवक्षित हैं ।

बाकीके पांच भेदोंके लिये कहा सङ्केत—

अपि चैवं प्रक्रियया नेनव्याः पञ्चशेषमङ्गलम् ।

घर्णयदुक्ताऽप्यभिह पटवच्छेपास्तु तयोंगात् ॥ २८८ ॥

अर्थ—इसी प्रक्रियाके अनुसार बाकीके पांच भेद भी वस्तुमें घटित कर लेना चाहिये । ‘स्यान् अस्ति’ और ‘स्यान् नास्ति’ ये दो भेद वर्णकी तरह बड़े दिये गये हैं । बाकीके भेद पटकी तरह उन्हीं दो भेदोंके योगमें घटित करना चाहिये ।

भावार्थ—निम्न प्रकार प्रकार और प्रकार इन दो अक्षरोंके योगसे पट शब्द बन जाता है, इसी प्रकार और भी अक्षरोंके योगमें वाक्य तथा वस्त्र बन जाते हैं । उसी प्रकार ‘स्यान् अस्ति’ और ‘स्यान् नास्ति’ इन दो भेदोंके योगमें बाकीके पांच भेद भी बन जाते हैं । वस्तुमें, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वरूप, और स्वभावकी अपेक्षासे अस्तित्व और परद्रव्य, परक्षेत्र परकाल और परभावकी अपेक्षामें नास्तित्व अथवा विवक्षित भावकी अपेक्षासे अस्तित्व और अविवक्षित भावकी अपेक्षामें नास्तित्व, ऐसे दो भेद तो ऊपर स्पष्टतासे बड़े ही गये हैं । ये दोनों तो स्वरूप और पररूपकी अपेक्षासे स्वनस्त्र बड़े गये हैं । यदि इन्हीं दोनोंको स्वरूप और पररूपकी अपेक्षामें एकतार ही क्रमसे कहा जाय तो तीसरा भेद ‘स्यान् अस्ति नास्ति’ होनाता है । परन्तु यदि इन्हीं दोनोंको स्वरूप, पररूप की विवक्षा रखते हुए क्रमको छोड़कर एक साथ ही कहा जाय तो ‘स्यान् अस्ति नास्ति’ का मिला हुआ चौथा ‘अवक्तव्य’ भेद होनाता है । तीसरे भेदमें तो एकतार कहते हुए भी क्रम रक्खा गया था । इसलिये बचन द्वारा क्रमसे ‘स्यान् अस्ति नास्ति’ कहा जाता है परन्तु यदि एकतार कहते हुए क्रम न रखकर दोनोंका एक साथ ही बचन किया जाय तो वह बचन बचनमें नहीं आसक्त है, क्योंकि बचन द्वारा एकतार एक ही बात बड़ी जासक्ती है, दो नहीं, इसलिये दोनोंका मिला हुआ चौथा ‘अवक्तव्य’ भेद रहनाता है । और यदि स्वरूप, पररूप दोनोंको



एक मूल विवक्षित किये हुए उस अवक्तव्य भङ्गमें फिर स्वभाव की मुख्य विवक्षा की  
 दो बातें “ स्यात् अस्ति अवक्तव्य ” भङ्ग हो जाता है । और उसी अवक्तव्य  
 स्वभावको गौण और परभावको मुख्य रीतिसे विवक्षित किया जाय तो छा ‘ स्यात्  
 अवक्तव्य ’ भङ्ग हो जाता है । इसी प्रकार उस अवक्तव्यमें स्वभाव और परभाव  
 दोनों एकत्र ही मुख्य विवक्षा रखी जाय तो बातें ‘ स्यात् अस्ति नास्ति ’ अवक्तव्य  
 भङ्ग हो जाता है ।

दो बातें ही यत्र स्वभाव, परभावकी मुख्यता और गौणतासे होने वाले  
 भङ्ग, जैसे ‘ स्यात् अस्ति ’ इन्हीं दोनोंके विरोध हैं, इस लिये प्रत्यक्षरने इन्हीं दोनोंका  
 विरोध न करीके भङ्गोंको विरक्तोंके लिये मंजूर कर दिया है ।

आशङ्क्य—

अनु चान्यनरेण कृते किमथ प्रायः प्रयासभारेण ।

अथ नारायणमंगादनुपादिपाठ्य याग्यलसितस्यात् ॥

अथर्नाति न वक्तव्ये यदि या नास्तीति तस्यसंसिद्धौ ।

मंतादने यगिह गन्तं तदनर्थकादिति नेत् ॥ ६०० ॥

ही टीका है । दोनोंका अन्त्या २ ग्रहण करना शक्ति संगत नहीं है, दोनोंका ग्रहण व्यर्थ ही पड़ता है !

उत्तर—

तत्र यतः सर्वं स्वं तदुभयभावाध्यवसितमेवेति ।

अन्यतरस्य विलोपे तदितरभावस्य निह्वापत्तेः ॥ २९१ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ 'अस्ति नास्ति' स्वरूप उभय (दोनों) भावोंको लिये हुए हैं । यदि इन दोनों भावोंमेंसे किसी एकका भी लोप कर दिया जाय, तो शारीका दूसरा भाव भी हल हो जायगा ।

स पथा केवलमन्वयमात्रं वस्तु प्रतीयमानोपि ।

व्यतिरेकाभावे किल कथमन्वयसाधकश्च स्यात् ॥ २९२ ॥

अर्थ—यदि केवल 'अस्ति' रूप वस्तुको माना जावे तो वह सदा अन्यवमात्र ही प्रतीत होगी, व्यतिरेक रूप नहीं होगी और बिना व्यतिरेकभावके स्वीकार किये वह अन्यवसी माधक भी नहीं रहेगी ।

भावार्थ—वस्तुमें एक अनुगत प्रतीति होती है, और दूसरी व्यावृत्त प्रतीति होती है । जो वस्तुमें सदा एकसा ही भाव जनाती रहे उसे अनुगत प्रतीति अथवा अन्वयभाव कहते हैं और जो वस्तुमें अवस्था भेदको प्रगट करे उसे व्यावृत्त प्रतीति अथवा व्यतिरेक कहते हैं । वस्तुका पूर्ण स्वरूप दोनों \*भावोंको मिलकर ही होता है । इसी लिये दोनों परस्पर मापसंग हैं । यदि इन दोनोंमेंसे एकको भी न माना जाय तो दूसरा भी नहीं ठहर सकता है । किं

\* सामान्यविशेषाकारोत्प्रेक्ष्यनुवृत्तमात्रवर्गोपरभाषितो बाधाप्यात्मिकप्रमेयोऽर्थः, न केवलमन्यो नो अनुवृत्तस्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् स तदात्मा, अपि नु पूर्वोत्प्रेक्ष्यकारपरिहासवाति स्थितिकल्प-विनाशेनाऽर्थवैयर्थ्येऽप्येव । सामान्यविशेषयोर्द्विभेदस्य प्रतीतिविद्वत्त्वात् स्वरसोदस्तत्त्वकाल्प-मिश्राभयवर्तनोन्मत्तदृश भेदप्रसिद्धः । एकेन्द्रियाप्यवशेयत्वाग्राह्यत्वस्योपरभेदे बाधातत्पदावप्यभे-दमवच्छः । सामान्यप्रतिभाषो अनुवृत्ताकारो विशेषप्रतिभाषस्तु व्यावृत्ताकारोऽनुवृत्तः ।

प्रमेयवृत्तमात्रवर्ग

अर्थात् पदार्थ प्रकाशको छोड़ता है उत्पत्तिकारको ग्रहण करता है और स्व-स्वरूपकी प्रति रखता है, इसी वित्यात्मपरिणामके पदार्थमें सामान्यविशेषात्मक अर्थविद्या होती है । सामान्य, विशेषकी प्रतीति भी पदार्थमें होती है—रूप रसादिक यद्यपि अभिन्न बाल तथा अ-भिन्न ध्वजवर्ती हैं तथापि उनका भिन्न २ प्रतीति होती ही है । एकेन्द्रियादिक जीवोंने कति-रूपनिर्माणमें सर्वथा अभेद ही मान लिखा जाय तो बात आगम आदिमें भी अभेदका प्रसंग पड़ेगा । सामान्यका प्रतिभाष अनुगतरूपसे होता है जैसे कि कानिका । विशेषका प्रतिभाष अनुवृत्तरूपसे होता है जैसे कि ध्वजिका ।

ऐसी अवस्थामें वस्तु भी अपनी मत्ता नहीं रंग सकी है । इमलिये अस्ति नस्ति, अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही वस्तुमें एक साथ मानना ठीक है ।

शङ्काकार—

ननु का नो हानिः स्यादस्तु व्यतिरेक एव तदपि ।

किन्त्यन्वयो यथाऽस्ति व्यतिरेकोऽप्यस्ति चिदचिदिव ॥२०३॥

यदि वा स्यान्मतं ते व्यतिरेके नान्वयः कदाप्यस्ति ।

न तथा पक्षच्युतिरिह व्यतिरेकोऽप्यन्वये यतो न स्यात् ॥२०४॥

तस्मादिदमनवयं केवलमयमन्वयो यथास्ति तथा ।

व्यतिरेकोऽप्यविशेषादेकोक्त्या वैकशः समानतया ॥ २०५ ॥

दृष्टान्तोऽप्यस्ति घटो यथा तथा स्वस्वरूपतोऽस्ति पटः ।

न घटः पटेऽथ न पटो घटेऽपि भवतोऽथ घटपटाविह हि ॥२०६॥

न पटाभावो हि घटो न पटाभावे घटस्य निष्पत्तिः ।

न घटाभावो हि पटः पटसर्गां वा घटव्ययादिति चेत् ॥२०७॥

तत्किं व्यतिरेकस्यभावेन विनाऽन्वयोऽपि नास्तीति ।

अस्त्यन्वयः स्वरूपादिति वक्तुं शक्यते यतस्त्विति चेत् ॥२०८॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि यदि व्यतिरेकमें अभावमें अन्वय भी नहीं बनता, तो व्यतिरेक भी उमी तरह मानो, इसमें हमारी कौनसी हानि है ? किन्तु इतना अल्प मानना चाहिये कि अन्वय स्वतन्त्र है, और व्यतिरेक स्वतन्त्र है । वे दोनों ऐसे ही स्वतन्त्र हैं जैसे कि जीव और अजीव । यदि कदाचित् तुम्हारा ऐसा मिथ्यान्त हो कि व्यतिरेकमें अन्वय कभी नहीं रहता है तो भी हमारे पक्षका खण्डन नहीं होता है, क्योंकि जिस प्रकार व्यतिरेकमें अन्वय नहीं रहता है, उमी प्रकार अन्वयमें व्यतिरेक भी नहीं रहता है । इसलिये यह बात निर्दोष सिद्ध है कि जिस प्रकार केवल अन्वय है, उमी प्रकार व्यतिरेक भी है । सामान्य दृष्टिमें दोनों ही समान हैं । जैसे अन्वय कहा जाता है, वैसे ही व्यतिरेक भी कहा जाता है । दृष्टान्त भी इस विषयमें घट पटका से लीजिये । जिस प्रकार घट अपने स्वरूपसे निर्दोष मुदा है, उमी प्रकार अपने स्वरूपको लिये हुए पट भी मुदा है । पटमें घट नहीं रहता और न पटमें पट ही रहता है, किन्तु घट और पट दोनों मुदर हैं । जिसप्रकार पटका अन्वय पट नहीं है, और न पटके अभावमें पटकी उत्पत्ति ही होती है । उमी प्रकार पटकी उत्पत्ति अन्वय नहीं है, और न पटके अभावमें पटकी उत्पत्ति ही होती है । ऐसी अवस्थामें अगर

(मन्व्यन्तराका- यह कहना कि व्यतिरेक अन्वय भी नहीं होता है, ठीक नहीं है, क्योंकि यह पट्टकी तरह हम यह कह सकते हैं कि अन्वय अपने स्वरूपसे शुद्ध है और व्यतिरेक अपने स्वरूपसे शुद्ध है, ऐसी भ्रम्यामें बिना व्यतिरेक के भी अन्वय हो सकता है । भावार्थ—उपर कहे हुए कथनके अनुपात शङ्काकार अन्वयको स्वान्वय मानना है और व्यतिरेकको स्वतन्त्र मानना है । वास्तुमें वह सापेक्ष उभय धर्मात्मक नहीं मानना है ।

उपर—

तत्र घनः सदिति स्यादद्वैतं यैतन्मायभागपि च ।

तत्र विधौ विधिमात्रं तदिह निषेधे निषेधमात्रं स्यात् ॥२७९॥

अर्थ—शङ्काकारकी उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है । क्योंकि सत् (द्रव्य) कथंविद् द्वैत भी है, और कथंविद् द्वैत भी है । उन दोनोंमें विधिते विवक्षित होनेपर वह सत् कथंविद् माय है, और वही सत् निषेधक विवक्षित होनेपर निरेव माय है । भावार्थ—पदार्थ सामान्य विशेषात्मक अथवा विधि निषेधात्मक है, जिस समय जो माय विवक्षित किया जाता है, उस समय वह पदार्थ उसी माय स्वल्प है ।

वास्तव अन्वय और व्यतिरेक स्वतन्त्र नहीं हैं—

नहिं किंचिद्विधिरूपं किञ्चित्स्वच्छेपतो निषेधांशम् ।

आस्तां साधनमस्मिन्नाम यतं न निर्योपपत्त्यात् । २८० ॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि द्रव्यका कुछ भाग तो विविध है, और कुछ माय निरेव रूप है । इसमें द्वैत-हेतु भी नहीं हो सकता है, क्योंकि द्रव्य केवल विशेषात्मक ही नहीं है । भावार्थ—शङ्काकारने अन्वय और व्यतिरेक असा विधि और निषेधको स्वतन्त्र समझाया, इस स्थिति द्वारा उमीका समझ किया गया है । यदि विधि और निषेधको स्वतन्त्र ही वस्तुमें माना जाय तो अवश्य ही उन दोनोंमें विशेष आवेगा । “ नैव हि तत्रासात् ” अर्थात् एक पदार्थमें दो विशेषी धर्म नहीं रह सकते हैं, यह दोष वस्तुमें नहीं आता है जब कि उनमें दोनों धर्मोंको स्वतन्त्र माना जाता है, वास्तव मायत्वमें दोनों ही धर्म अविरुद्ध हैं । २७ लिये जो विधि निषेधको स्वतन्त्र रहते हैं वे उपर्युक्त दोषमें आनेको अवश्य नहीं कर सकते हैं और वे स्वतन्त्रादिके परिणाममें मंजूर अवस्थिति हैं ।

विधि, निषेध स्वतन्त्र नान्वयक नहीं हैं—

य पुनर्नान्वयान्वयत्वांशा निरेव्यपत्तिर्वापत्ति ।

माय विधौ विधिमात्राच्छेपविशेषादित्यस्याभावात् । २८१ ॥



अर्थ—तथा नित्त समय पदार्थपर दृष्टि नहीं रखती जाती केवल उसके परिणामपर ही दृष्टि रखती जाती है उस समय वस्तुमें नवीन भाव और पुराने भावकी प्राप्ति अप्राप्ति होनेसे वस्तु अनित्यरूप प्रतीत होती है । यहांपर केवल वस्तुके परिणाम अंशको ग्रहण किया गया है, उपर उसके द्रव्य अंशको ग्रहण किया गया है । वस्तुके एक देशको ग्रहण करने काल ही नय है । यहां पर शब्दांकार १८ श्लोकों द्वारा सत् और परिणामके विषयमें अपनी नाना कल्पनाओं द्वारा शङ्का करता है ।

ननु कैके सदिति यथा तथा च परिणाम एव तदुक्तम् ।

वस्तुतः क्षममन्यतरं क्रमतो हि समं न सदिति कुतः ॥ ४४१ ॥

अर्थ—नित्त प्रकार एक सत् है उभी प्रकार एक परिणाम भी है, इन दोनोंमें एक सत्त्व रीतिसे द्वैत भाव है । फिर क्या कारण है कि उन दोनोंमेंमें एकका क्रमसे ही कथन किया जाय, दोनोंका कथन समानतासे एक साथ क्यों नहीं किया जाता । भावार्थ—यह सत् और परिणाम दोनों ही समान हैं तो फिर वे क्रमसे क्यों कहे जाने हैं, एकत्र रीतिसे एक साथ क्यों नहीं ?

क्या सत् और परिणाम दोनोंकी स्थिति समान है—

अथ किं फल्गादिवर्णाः सन्नि यथा युगयदेश तुल्यतया ।

पक्षपन्ते क्रमतस्ते क्रमवर्तित्वाद्युच्येतेरिति न्यायात् ॥ ४४२ ॥

अर्थ—सत् और परिणाम क्या क, स आदि वर्णोंके समान दोनों परापर हैं । जिस प्रकार क, स आदि सभी वर्ण एक समान हैं परन्तु वे क्रमसे बोले जाने हैं, क्योंकि अक्षर आगत क्रमसे ही होता है अर्थात् एक साथ दो वर्णोंका उच्चारण हो नहीं सता । क्या हम पहले सत् और परिणाम भी समानता रखने हैं और वे क्रमसे बोले जाने हैं ?

क्या विपक्ष विषयके समान है—

अथ किं खरतरदृष्ट्या विन्ध्यहिमाच्छतयुगं यथास्ति तथा

भवतु विषययो मुग्यो विषयतुरिच्छावशाद्भूयोऽन्यतरः ॥ ४४३ ॥

अर्थ—अथवा निम्न प्रकार विन्ध्य पर्वत और हिमालय पर्वत दोनों ही एकत्र हैं ननु दोनोंमें यथा की इच्छामें जो तीक्ष्णदृष्टिसे विवक्षित होता है वर सुख प्राप्त होता है और दूसरा अविवक्षित गौण समझा जाता है । क्या सत् और परिणाम भी इसी प्रकार एकत्र हैं, और उन दोनोंमें जो विवक्षित होता है वर सुख प्राप्त होता है तथा दूसरा गौण समझा जाता है ?

क्या विषय वस्तु विच्छेदके समान है—

अथ कैतः कोपि यथा सिंहः साधुर्विवक्षितो ज्ञेया ।

सत्परिणामोपि तथा भवति विद्वद्वत्विद्वत्परवत् विवक्षितः ॥ ४४४ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार कोई पुरुष शूरा, पराक्रम आदि गुणोंके धारण करनेसे कभी सिंह कहलाता है और सज्जनता, नम्रता आदि गुणोंके धारण करनेसे कभी साधु कहलाता है । एक ही पुरुष विवक्षाके अनुसार दो विशेषणोंवाला हो जाता है, अथवा उन दोनोंमें विवक्षित विशेषण कोटिमें आजाता है और अविवक्षित विशेष्य कोटिमें चला जाता है । क्या उसी प्रकार सत् और परिणाम भी विवक्षाके अनुसार कहे हुए किसी पदार्थके विशेषण हैं ? अर्थात् क्या इनका भी कोई विशेष्य और है ?

क्या दो नाम और सव्येतर गोविषाणके समान है—

अथ किमनेकार्थस्थादेकं नामद्वयाङ्गित्वं किञ्चित् ।

अग्निर्वैश्वानर इव सव्येतरगोविषाणयन् किमथ ॥ ३४५ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार एक ही पदार्थ अनेक नामोंकी अपेक्षा रखनेसे अग्निर्वैश्वानरके समान दो नामोंसे कहा जाता है अर्थात् अग्निर्वैश्वानर आदि भेदोंसे एक ही अग्निके दो नाम (अनेक) हो जाते हैं उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम एक ही पदार्थके दो नाम हैं ? अथवा जिस प्रकार गौके दूँये बाँये (एक साथ) दो सींग होते हैं, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी किसी वस्तुके समान कालमें होनेवाले दो धर्म हैं ?

क्या कच्ची और पकी हुई पृथ्वीके समान है—

अथ किं कालविशेषादेकः पूर्वं ततोऽपरः पश्चात् ।

आमानामविशिष्टं पृथिवीत्वं तद्यथा तथा किमिति ॥ ३४६ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार कच्ची पृथ्वी ( कच्चा घड़ा ) पहले होती है, पीछे अग्निमें देनेसे वह पकी हुई हो जाती है । उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी काल विशेषसे आगे पीछे होनेवाले हैं ? अर्थात् क्या इन दोनोंमेंसे कोई एक पहले होता है और दूसरा पीछे ?

क्या दो सपत्नियोंके समान है—

अथ किं कालक्रमतोऽप्युत्पन्नं वर्तमानमिव चास्ति ।

भवति सपत्नीद्वयमिह यथा मिथः प्रत्यनीकतया ॥ ३४७ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार किसी पुरुषकी आगे पीछे परणी हुई दो स्त्रियाँ (सौते) एक कालमें परस्पर विरुद्धरूपसे रहती हैं । उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम काल क्रमसे आगे पीछे उत्पन्न होने हुए भी एक कालमें—वर्तमानकालमें परस्पर विरुद्धरूपसे रहते हैं ? अर्थात् भिन्न कालमें उत्पन्न होकर भी दोनों एक कालमें समान अधिकारी बनकर परस्पर विरुद्धता धारण करने हैं ?

क्या छोटे बड़े भाइयों तथा भतीजों समान हैं—

अथ किं ज्येष्ठकनिष्ठभ्रातृमयमिव मिथः सपक्षतया ।

किमथोपसुन्दसुन्दमह्यन्यायात्किलेतरैतरस्मान् ॥ ३४८ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार बड़े छोटे दो भाई परस्पर प्रेमाने रहते हैं, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम आगे पीछे उत्पन्न होकर वर्तमानकालमें परस्पर अविच्छिन्न रहते हैं ? अथवा जिस प्रकार \* उपसुन्द और सुन्द नामके दो मछ पम्पर एक दूसरेमें मय अपनय प्राप्त करते हुए अन्तमें मर गये उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी पम्पर प्रतिवृत्तिना रहते हुए अन्तमें नष्ट हो जाते हैं ?

क्या परस्परतया तथा पूर्वोपर दिशाओंके समान हैं—

केवल सुपचारादिह भवति परस्व्यापरस्वयत्किमथ ।

पूर्वोपरदिग्दर्शनं यथा तथा द्यौर्मिदमपेक्षतया ॥ ३४९ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार दो छोटे बड़े पुरुषोंमें परस्पर व्यवहार केवल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी उपचाराएँ बड़े जाते हैं । अथवा जिस प्रकार पूर्व दिशा, पश्चिम दिशा आदि व्यवहार होता है, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी केवल अपेक्षा मात्रसे होते जाते हैं । भावार्थ—बड़े की अपेक्षा छोटा, छोटेकी अपेक्षा बड़ा, यह केवल आपेक्षिक व्यवहार है । यदि छोटाबड़ापन वास्तविक हो तो छोटा छोटा रहना चाहिये और बड़ा बड़ा ही रहना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं है, जो छोटा बड़ा होता है वह भी अपनेसे छोटेकी अपेक्षासे बड़ा बड़ा होता है, अथवा जो बड़ा बड़ा होता है वह भी अपनेसे बड़ेकी अपेक्षासे छोटा बड़ा होता है । इसलिये वास्तवमें छोटापन अथवा बड़ापन कोई वस्तु नहीं है केवल व्यवहार काव्युत्पन्न अपेक्षासे होनेवाला व्यवहार है । इसी प्रकार क्षेत्रज्ञ परस्पर व्यवहार होता है । जैसे—यह निकट है, वह दूर है इत्यादि । वह निकट और दूरका व्यवहार भी केवल परस्परकी अपेक्षासे होता है । वास्तवमें निकटता और दूरता कोई वस्तुत्पन्न नहीं है । पम्पर परस्परके समान दिशाएँ भी काव्यनिक है । सुषोदयकी अपेक्षासे पूर्व दिशा और सूर्यके छिनेकी अपेक्षासे पश्चिम दिशाका व्यवहार होता है । इसी प्रकार सूर्यको दक्षिण

\* हिन्दोपदेशमें देखी कथा यह है कि सुन्द उपसुन्द नामके दो बालक मरकर आवाचना की, मरारव उनपर प्रलय हो गये, दोनोंने मरारवसे उनको जो दर्शन का वही माँगा । मरारवने जो वस्तुएँ उले उनको दे दिया । फिर दोनों ही दर्शनदे मित्र बन गये मरारवने बूढ़ मरारव का एक श्वर उनसे कहा कि जो सुन्द उपसुन्द के मित्र बन कर आवाचना की । दोनों ही ने इस बातको स्मृत किया और दक्षिण पुत्र होनेके दोनों ही बड़े गये । दोनों दक्षिण श्वरने वे इस मित्रे मरारव दोनों ही मर गये ।



और रखकर खड़े होनेसे सामने उत्तर और पीछे पीछे दक्षिणका व्यवहार होता है, तथा ऊर्ध्व और नीचे अधोदिशाका व्यवहार होता है । यह व्यवहार केवल आकाशमें किया है । क्योंकि सूर्योदयकी ओरके आकाशको ही पूर्व दिशा कहा जाता है, उस ओरके आकाशको छोड़कर पूर्वे दिशा और कोई पदार्थ नहीं है । इसलिये दिशा कोई पदार्थ नहीं है केवल काल्पनिक व्यवहार है\* उसी प्रकार सत् और परिणाम भी क्या काल्पनिक हैं ।

क्या कारक द्वैतके समान हैं—

**किमधाधाराधेयन्यायादिह कारकादि द्वैतमिव ।**

**स यथा घटे जलं स्यान्न स्यादिह जले घटः कश्चित् ॥ १५० ॥**

अर्थ—अथवा यह कहा जाय कि घड़ेमें जल है, तो यह कथन दो कारकोंको प्रकट करता है । घड़ेमें, यह वाक्य अधिकरण कारक रूप है, और जल है, यह वाक्य कर्ता कारक रूप है । क्योंकि घड़ा जलका आधार है, और जल स्वतन्त्र है इसलिये कर्ता कारक है । वाक्योंमें ऐसा भी कहा जा सकता है कि सप्तमी विभक्त्यन्त पद अधिकरण का होता है, और प्रथमा विभक्त्यन्त पद कर्ता कारक होता है । अधिकरण आधाररूप होता है और उसमें रहनेवाला आधेय होता है ऐसा विपरीत नहीं होता है कि आधेय तो आधार होना चाहिए और आधार आधेय होना चाहिए, क्योंकि घड़ेमें जल रहता है परन्तु जलमें घट नहीं रहता । जिस प्रकार घट और जलमें आधार आधेय भावरूप दो कारक हैं, क्या उसी प्रकार सत् और परिणाम भी हैं ? अर्थात् उनमें भी मूलके समान एक आधेय रूप और दूसरा पदार्थ आधार रूप है !

क्या बीजाक्षुरके समान हैं—

**अथ किं बीजाक्षुरयस्कारणकार्यद्वयं यथास्ति तथा ।**

**न यथा योनीभूमं तद्वैकं योनिजं तदुन्यतरम् ॥ १५१ ॥**

अर्थ—अथवा जिस प्रकार बीज और अक्षुरमें कारणकारण भाव है । बीज अक्षुरके कारण है, योनि है, और अक्षुर उसमें उत्पन्न-योनिज है । उसी प्रकार सत् और परिणाम भी, क्या कार्य कारण भाव है !

क्या कनकोपलपनके समान हैं—

**अथ किं कनकोपलपनं किञ्चित्स्थं किञ्चिदस्थमेव पतः ।**

**प्रागं सत् सारतया तदितामसं नु द्वेयमतारतया ॥ १५२ ॥**

अर्थ—अथवा कनकोपलपन के समान किञ्चित्स्थ और किञ्चिदस्थ के समान पतः के समान प्रागं सत् सारतया तदितामसं नु द्वेयमतारतया के समान ।

अर्थ—अथवा जिस प्रकार एक कनक पाषाण नामका पत्थर होता है उसमें कदा भी सोनेका अंश रहता है, और कुछ पाषाणका अंश रहता है । उन दोनोंमें स्वभाव का भेद होनेसे ग्रहण करने योग्य होता है ? और दूसरा पाषाणांश अमाश्रुत होनेसे ही ग्रहण होता है । उसी प्रकार क्या मनु और परिणाममें भी एक ग्रहण करने योग्य है और दूसरा छोड़ने योग्य है ?

कदा वाच्य वाचकके समान है—

अथ किं पदार्थप्रत्ययसिद्धिः स्वस्मृताः स्वद्वयमेविकर्तव्यम् ।

पानकपानसिद्धमादधीभिर्व्यञ्जकैः संज्ञात् ॥ १५१ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार कनक और अर्थ दोनों मिले हुए ही पदार्थक वाच्य पदार्थके साधक हैं उसी प्रकार क्या मनु और परिणाम भी मिले हुए पदार्थक वाच्य हैं ? पदार्थ—घड़ी शब्दके बहनेसे उस गोल पदार्थका बोध होता है जो कि घण्टाकार बतलाता है, इसलिये घड़ी शब्द उस गोल घड़ीरूप अर्थका वाचक है तथा वह ही पदार्थ उस शब्दका वाच्य है । इसी प्रकार जितने भी शब्द हैं वे पदार्थोंके सम्बन्धक हैं । शब्दोंका वाच्य वाचक सम्बन्ध कहने हैं । वाच्य वाचकका सम्बन्ध होनेसे ही पदार्थक वाच्य पदार्थका बोध होता है । लवंग, इलाह्वी, लोठ, कालीमिश्र इन मिली हुई वस्तुओंका ही मनु मनु विशेष तैयार होता है उसीको पानक कहने हैं । जिस प्रकार पानक वाच्य वाचक सम्बन्ध होनेसे ही पानक वाचक सम्बन्ध होनेसे वाचक अपने सविनियम वाच्यका बोध कराता है, उसी प्रकार क्या मनु और परिणाम भी पदार्थके बोधक हैं ? अर्थात् जिस प्रकार वाच्यमें वाचक मिले हैं उसी प्रकार क्या मनु और परिणाम भी पदार्थमें मिले हैं ?

कदा वाच्य वाचकके समान है

अथ किमप्यद्वयतया लक्षणतया स्थाद्वयन्यपर्यायत्वः ।

भेदी दृष्टपदभूतयोः संयोगादिय विवक्षितः निरूप्यते ॥ १५२ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार भेदी और दृष्टके संयोगसे ही दृष्ट होता है और भेदी (महात्मा) से भी दृष्ट नहीं हो जाता और न वेदक दृष्टमहात्मा ही दृष्ट है । दोनोंके संयोगसे ही होता है, इसलिये दोनोंका ही दृष्ट कहा जाता है । तथा मनु और परिणामके संयोगसे पदार्थकी सिद्धि होती है । क्या दोनोंका बतला दृष्ट कहा जा सकता है ? अर्थात् जिस प्रकार भेदी और दृष्ट दोनों ही मिले हैं दृष्ट होता है वैसे ही दोनोंके संयोगसे वाच्य होता है, उसी प्रकार क्या मनु और परिणाम भी मिले हैं वैसे ही पदार्थकी सिद्धि होती है ।

क्या अपूर्ण न्यायके समान है—

अथ किमुदासीनतया यत्कृत्यं वा यथाकचित्त्वाम् ।

यदपूर्णन्यायादप्यन्यतरेणेह साध्यसंसिद्धेः । ३५५ ।

अर्थ—अथवा जिस प्रकार अपूर्ण न्यायसे एकका मुख्यतासे ग्रहण होता है और दूसरेका गौणरीतिसे ग्रहण होता है। गौणरीतिसे ग्रहण होनेवालेका विवेचन रुचिपूर्वक नहीं होता है किन्तु उदासीनतासे होता है। उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम हैं ? अथवा जिस प्रकार अपूर्ण न्यायसे पुकारे हुए दो नामोंमेंसे किसी एकसे ही साध्यकी सिद्धि हो जाती है, उसी प्रकार क्या सत् और परिणाममेंसे किसी एकसे ही साध्यकी (पदार्थकी) सिद्धि होती है ?

क्या मित्रोंके समान है—

अथ किमुपादानतयां स्वार्थं सृजीत कश्चिदन्यतमः ।

अपरः सहकारितया प्रकृतं पुष्पाति मित्रवत्तदिति ॥ ३५६ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार एक पुरुष किसी कार्यको स्वयं करता है, उसका मित्र उसे उसके कार्यमें सहायता पहुंचाता है, मित्रकी सहायतासे वह पुरुष अपने कार्यमें सफलता कर लेता है\* उसी प्रकार क्या सत् और परिणाममें एक उपादान होकर कार्य करता है, दूसरा उसका सहायक बनकर पदार्थ सिद्धि करता है ?

क्या आदेशके समान है—

शत्रु वदादेशः स्यात्तद्वत्तद्वैतमेव किमिति यथा ।

एकं विनाश्य भूलादन्यतमः स्वयमुदेति निरपेक्षः ॥ ३५७ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार शत्रुके समान आदेश होता है जो कि पहलेको सर्वथा हटाकर उसके स्थानमें स्वयं ठहरता है\* उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी हैं ? सत् को सर्वथा नष्ट कर कभी स्वयं परिणाम होता है और परिणामको सर्वथा नष्ट कर कभी स्वयं सत् उदित होता है ?

क्या दो रज्जुओंके समान है—

अथ किं वैमुख्यतया विसन्धिरूपं द्वयं तदर्थकृते ।

वामेतरकरवर्तितरज्जू युग्मं यथास्वमिदमिति चेत् ॥ ३५८ ॥

अर्थ—अथवा जिस प्रकार छाछ विलोते समय दौंये बाँये हाथमें रहनेवाली दो रस्सियां परस्पर विमुखतासे अनमिल रहती हुई कार्यको करती हैं उसी प्रकार क्या सत् और परिणाम भी परस्पर विमुख रहकर ही पदार्थकी सिद्धि कराते हैं ?

\* जैसे व्याकरणमें बतलाया जाता है कि छ को वृक् हां तो यदि वृक् आदेशरूपसे होगा तब छ के स्थानमें होगा। यदि आगत्यरूपसे होगा तो छ के स्थानमें (पाठमें) होगा। इसलिये आदेश शत्रुके समान और आगत्य मित्रके समान होता है।

अथ अन्वयः एतेक शेषात् उत्तर देते हैं—

नैवमदृष्टान्तरवात् स्वेतरपक्षोभयस्य घातिस्थान् ।

नाचरते मन्त्रोपि च स्वस्य विनाशाय कश्चिदप्येव गतः ॥३६९॥

अर्थ—शेकाकरणे उपरके दोनों द्वारा जो जो शंकाएँ की हैं, तथा जो जो दृष्टान्त दिये हैं वे ठीक नहीं हैं। जो दृष्टान्त दिये हैं वे दृष्टान्त नहीं किन्तु उदात्ताभावात् हैं। क्योंकि उन दृष्टान्तोंने एक पक्षको भी मिटि नहीं होती है। न तो उन दृष्टान्तोंसे शेका-कायका ही अनिराग सिद्ध होता है। और न जैन सिद्धान्त ही सिद्ध होता है। इसलिये दोनों पक्षोंके घातक होनेसे वे दृष्टान्त, दृष्टान्त कोटिमें ही नहीं आ सकते हैं। कोई मन्त्रपुष्टिवाला पुरुष भी तो ऐसा प्रयोग नहीं करता है जिससे कि स्वयं उसका ही विघात होता हो।

अथ परिणामके विषयमपि न च वक्तव्यं दृष्टान्त ठीक नहीं है—

तत्र मिथस्सापेक्षपरमव्ययदेशितप्रमाणस्य ।

माभूदभाष्य इति नहि दृष्टान्तो वर्णपंक्तिरित्यत्र ॥३७०॥

अर्थ—सत् और परिणाम इन परस्पर सापेक्ष दोनों भगवत्को विषय करनेवाला प्रमाण होता है। उस प्रमाणका अभाव न हो इसलिये इस विषयमें वर्णपंक्तिका दृष्टान्त ठीक नहीं है। आशय—वर्णपंक्ति स्वयन्त्र है। क, ख, ग, घ आदि वर्ण परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा रखने हुए सिद्ध नहीं हैं किन्तु एक २ सिद्ध हैं। परन्तु सत् और परिणाम परस्पर सापेक्ष हैं इसलिये वर्णपंक्तिका दृष्टान्त इस विषयमें विषय पड़ता है, इन्हीं परस्पर सापेक्ष दोनों भगवत्को प्रमाण निरूपण करता है। प्रमाणका अभाव हो नहीं सक्त, कारण वस्तुका स्वरूप ही उसमें धर्मात्मक है। उसीको विषय करनेवाला प्रमाण है इसलिये प्रमाण व्यवस्था अनिवार्य है।

प्रमाणाभावेऽपि न च ईदं दृष्टान्तः—

अपि च प्रमाणाभावे नहि नयपक्षः क्षमः स्वरक्षायः ।

पाक्षयविराजनाय पक्षपक्षः काश्चापि नार्थक्यं ॥३७१॥

अर्थ—पहले तो प्रमाणका अभाव किसी दृष्टान्तमें सिद्ध हो नहीं होता, दूसरे प्रमाणके अभावमें नय पक्ष भी अपनी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं रह सकता है तथा पाक्षय विषयोंके बिना पक्षपक्ष और पक्षपक्षों भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। भाषा—यदि 'भीका पक्षा जाओ' इस वाक्यकी विवक्षानरूपी भाषा, और केवल भीका, पक्षा, इन मिश्र २ पक्षोंका बिना साक्ष्यपक्ष स्वयन्त्र प्रयोग किया जाय तो इन पक्षोंमें तथा पक्षों और पक्षोंमें कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, वे निरर्थक ही हैं। इसी प्रकार यदि पाक्षय सापेक्ष अभाव भगवत्की विषय पक्षोंके बिना जाना जाय तो पक्षपक्षोंके अभावको बिना प्रमाणके नय भी नहीं रह सकता है। तत्पूर्ण पक्षोंको विषय करनेसे ही प्रमाणके अभाव ही प्रमाण नहीं होता है, अभाव ही प्रमाण ही होता है, अभाव ही प्रमाण ही होता है।

आशङ्क्य—

संस्कारस्य वशादिह पदेषु वाक्यप्रतीतिरि-  
वाच्यं प्रमाणमात्रं न नया लुक्तस्य दुर्निवा-  
अथ चैवं सति नियमाद् दुर्वारं दूषणद्वयं भ-  
नयपक्षच्युतिरिति वा कम्पनिताद्वयनेरहेतु-  
मर्थ—ऊपर यह कहा गया है कि बिना प्रमाणके स्वीकार  
ठहर सकता है जैसे—बिना वाक्य विवक्षाके पदपक्ष अर्थकारी नहीं ठहरा  
यदि यह आशङ्का उठाई जाय कि संस्कारके वशासे पदोंमें ही वाक्यकी  
तो अर्थात् नयोंमें ही प्रमाणकी कल्पना करली जाय तो ? उत्तरमें कहा  
नयोंमें ही वाक्य प्रतीति स्वीकार की जायगी तो प्रमाण मात्र ही कल्पना  
सिद्ध नहीं होते हैं। वही दूषण—नय पक्षका अभाव होना बना रहता है  
वाक्य विवक्षाके समान नयोंमें ही प्रमाण पक्ष स्वीकार करनेसे दो दूषण आते  
पक्षका अभाव होजायगा। क्योंकि नयोंके स्थानमें तो उन्हें प्रमाणरूप माना ग-  
होने वाली जो ध्वनि है उसे शब्दबोधमें कारणता नहीं रहेगी। (१) क्योंकि न-  
वाक्यकी प्रतीति हो जायगी तो एक पदमें ही अथवा एक अक्षरमें ही समस्त वा-  
होमायगा, ऐसी अवस्थामें ध्वनिको अर्थ प्रतीतिमें हेतुता नहीं आसकेगी।

इदञ्च हिमाचल भी दृष्टा त.भाव है—

विन्ध्यहिमाचलयुग्मं दृष्टान्तो नेष्टसाधनायालम् ।  
तदनेकत्वे नियमादिच्छानर्थक्यतां अविवक्ष्य ॥ ३३४ ॥

अर्थ—विन्ध्याचल और हिमाचल दोनों ही स्वतन्त्र सिद्ध हैं इसलिये एकमें  
विवक्षा दूसरेमें गौण—अविवक्षा हो नहीं सकती है। दूसरी बात यह है कि जब दोनों  
स्वतन्त्र सिद्ध हैं तो एकमें मुख्य और दूसरेमें गौण विवक्षाकी इच्छाका होना ही निरर्थक  
इसलिये विन्ध्याचल और हिमाचल पर्वतोंका दृष्टान्त भी इष्ट पदार्थको सिद्ध करनेके लिये  
समर्थ नहीं है। भावार्थ—विन्ध्याचल और हिमाचल दोनों ही जब स्वतन्त्र हैं तो एकमें  
प्रमाणता दूसरेमें अनप्रमाणता कैसे आसकती है ? क्योंकि मुख्य गौण विवक्षाका कारण अनिष्ट  
पदार्थमें दृष्टिभेद है, तथा मरुपर एक धर्म दूसरे धर्मकी अपेक्षा रखता हो, अथवा बिना  
अपेक्षाके वह भी सिद्ध न हो सकता हो। वहां पर विवक्षित धर्म मुख्य और अविवक्षित धर्म  
गौण होता है विन्ध्यहिमाचलमें कोई किसीकी अपेक्षा नहीं रखता है और  
किसीकी अपेक्षा ही होती है। यदि विन्ध्याचल विवक्षित धर्म  
बिना विन्ध्याचलके न हो सके तब तो

विवक्षित दूसरेको अविवक्षित बनाया जाय, परन्तु ऐसा नहीं है। दोनों ही सर्वथा स्वतन्त्र हैं इसलिये बिना एक दूसरेकी अपेक्षाके सिद्ध नहीं होनेवाले सत् और परिणामके विषयमें उक्त दोनों पदोंका दृष्टान्त ठीक नहीं है।

सिंह साधु भी दृष्टान्ताभास है—

नालमसौ दृष्टान्तः सिद्धः साधुर्यपेक्ष कोपि नरः ।

दोषादपि स्वरूपसिद्धत्वात्किल यथा जलं सुरभि ॥ ३३७ ॥

नासिद्धं हि स्वरूपसिद्धत्वं तस्य साध्यशून्यत्वान् ।

केवलमिहलुब्धिशानुपेक्ष धर्मस्यैव पक्षेच्छतान् ॥ ३३६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी पुरुषके सिंह, साधु विशेषण बना दिये जाने हैं, उसी प्रकार सत् और परिणाम भी पदार्थके विशेषण हैं ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँपर सत् परिणामात्मक पदार्थ साध्य है, उस साध्यकी निम्ति हम दृष्टान्तमें नहीं देखते हैं, इसलिये सिंह साधुका दृष्टान्त दृष्टान्ताभास है। इस दृष्टान्त में स्वरूपामिद्ध दोष जाता है यहाँपर स्वरूपसिद्ध दोष असिद्ध नहीं है किन्तु साध्यशून्य होनेमें गुणगति ही है। अर्थ—किसी पुरुषके लुब्धिकात्रसे इच्छानुसार सिंह और साधु ऐसे दो नाम रख दिये जाने हैं, उनमें सिंहत्व साधुत्व धर्मोंकी कुछ भी अपेक्षा नहीं की जाती है। केवल दो नामोंकी वापसना कर दी जाती है, परन्तु सत्परिणाम कान्यनिक नहीं है किन्तु वाग्यनिक है, इसलिये यह दृष्टान्त उभयधर्मात्मक साध्यसे शून्य है। जिस प्रकार नैयायिकोंके यहाँ कर्ममें गुणगति सिद्ध करना असिद्ध है क्योंकि कर्ममें गुणगति स्वरूपसे ही असिद्ध है इसी प्रकार हम दृष्टान्तमें साध्य स्वरूपसे ही असिद्ध है। भाषार्थ—स्वरूपामिद्ध दोषमें करीपर हेतुका स्वरूप असिद्ध होता है यहाँ पर साध्यका स्वरूप असिद्ध होता है। उपर्युक्त दृष्टान्तमें आश्रयामिद्ध दोष भी जाता है, क्योंकि सत्परिणामका कोई आश्रय नहीं है।

अभि रैवानर भी दृष्टान्ताभास है—

अग्निर्वदवानर इय नामयैतं च नेष्टमिद्वर्षम् ।

साध्यपिदृष्टतादिह संदृष्टेयं च साध्यशून्यत्वान् ॥ ३३५ ॥

नामस्यैव किमर्थादुपेक्ष धर्मस्यैव च किमपेक्षम् ।

प्रथमे धर्माभावेऽपि च विचार्येण धर्मिणोऽभावात् ॥ ३३८ ॥

प्रथमेतरपक्षेऽपि च निमित्तमिति किमन्यथास्तदि

मित्तं नेदपिनेवातुकारमनो हि किं विधा-

० २६२१००० ३३५ ३३६ ३३७ ३३८ ३३९ ३४० ३४१ ३४२ ३४३ ३४४ ३४५ ३४६ ३४७ ३४८ ३४९ ३५०

३५१ ३५२ ३५३ ३५४ ३५५ ३५६ ३५७ ३५८ ३५९ ३६०

३६१ ३६२ ३६३ ३६४ ३६५ ३६६ ३६७ ३६८ ३६९ ३७०

अग्रेषु नमिद्वत्वात्तन्निष्पत्तिर्द्वयोः पृथक्तेरेपि ।

सर्वस्य सर्वयोगात् सर्वः सर्वोऽपि दुर्निवारः स्यात् ॥ ३७० ॥

चेदन्वयादभित्तं धर्मद्वैतं किलेति नयपक्षः ।

रूपपटादिवदिति किं किमथ क्षारद्रव्यवयेति ॥ ३७१ ॥

क्षारद्रव्यवदिदं चेदनुपादेयं मिथोनपेक्षत्वात् ।

वर्णतत्तेरविशेषन्यायात् नगाः प्रमाणं वा ॥ ३७२ ॥

रूपपदादियदिति चेत्सत्यं प्रकृतस्य सानुकूलत्वात् ।

एकं नामद्वयाद्भूमिति पक्षस्य स्वयं विपक्षत्वात् ॥ ३७३ ॥

अर्थ—अग्नि और बैरवानरके समान सब और परिणाम ये दो नाम ही माने जाय  
ने भी इष्ट सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि ये साध्यसे विरुद्ध पड़ते हैं। दृष्टान्त भी साध्य  
इतना है, अर्थात् हमारा साध्य—परस्पर सापेक्ष उभय धर्मात्मक पदार्थरूप है उस उभय  
धर्मात्मक पदार्थरूप साध्यकी सिद्धि दो नामोंसे नहीं होती है। तथा अग्नि और बैरवानर  
ये दो नाम भिन्न गृह्य एक अग्निके वाचक हैं, इसलिये यह दृष्टान्त भी साध्य रहित है।  
वर्हि अन्य द्रव्यका दृष्टान्त साध्य विरुद्ध नहीं है तो हम पूछते हैं कि नाम दो धर्मोंकी उपेक्षा  
रखने है अथवा अनेक रखने है? यदि पशु पक्ष स्वीकार किया जाय, अर्थात् दो नाम दो  
धर्मोंकी उपेक्षा नहीं रखने केवल एक पदार्थके दो नाम हैं तो धर्मोंका अभाव ही हुआ जाता  
है, क्योंकि अन्तर्गत धर्म भी नहीं उत्पन्न होता है, फिर तो विचार करना ही व्यर्थ है।  
वर्हि विशेष रूप स्वीकार किया जाय अर्थात् दो नाम दो धर्मोंकी उपेक्षा नहीं करने किन्तु  
अनेक रखने है तो वे दोनों धर्म द्रव्यमे भिन्न हैं अथवा अभिन्न हैं? यदि द्रव्यमे भिन्न हैं तो  
वे दोनों स्वतन्त्र हैं, फिर भी कुछ विशेषता नहीं हुई, जो धर्म द्रव्यमे सम्बंधा मुदे हैं तो वे  
उभय नहीं हैं जो एक भवते हैं, इसलिये उनका विचार करना ही निरर्थक है। यदि यह कहा  
जाय कि दोनों धर्म द्रव्यमे विलीन होते हैं क्योंकि वे गुणमिद हैं। क्योंकि उन धर्मोंका  
द्रव्यके साथ सम्बन्ध द्रव्य केनेमे कोई दोष नहीं आता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है,  
वर्हि निम्न प्रकार का हम द्रव्य सम्बन्ध मान लिया जाय तो सब पदार्थोंका सब पदार्थोंके साथ  
सम्बन्ध हो जायगा केवल धर्मत्वमे सभी पदार्थ सार हो जायगे अर्थात् वेमे सम्बंधा भिन्न धर्मोंका  
सब द्रव्यके साथ सम्बन्ध द्रव्य द्रव्य है वेमे उनका द्रव्य द्रव्यके साथ सम्बन्ध होजाये,  
क्योंकि वे धर्म द्रव्यमे विलीन होते ही हैं तो वेमे उनका एक द्रव्यमे सम्बन्ध होजाये  
वेमे सब द्रव्यमे विलीन है फिर सभी द्रव्य विलीन हो जायगे। द्रव्यमे सम्बन्ध भेद है

न हो सकेगा । इसलिये द्रव्यसे धर्मोंको जुदा मानना ठीक नहीं है । यदि यह कहा जाय कि दोनों धर्म द्रव्यमे अभिन्न हैं तो प्रश्न होता है कि वे वस्त्र और वस्त्रमें रहनेवाले रूप (रंग) की तरह अभिन्न हैं अथवा आटेमें मिले हुए खारेपनकी तरह अभिन्न हैं ? यदि कहा जाय कि खारे द्रव्यके समान वे धर्म द्रव्यसे अभिन्न हैं तो यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि लवणकी रोटीमें जो खारापन है वह लवणका है, रोटीका नहीं है । रोटीसे खारापन जुदा ही है । इसीके समान धर्म द्रव्य भी द्रव्यसे जुदे पड़ेगे । जुदे होनेसे उनमें परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा भी + नहीं रहेगी । परंतु सत् और परिणाम परस्पर सापेक्ष हैं इसलिये क्षार द्रव्यके समान उनकी अभिन्नता उपादेय (ग्राह्य) नहीं है । क्षार द्रव्यके समान जो अभिन्नता है वह वैसी ही है जैसी कि क, ख, ग, घ आदि वर्णोंकी पंक्ति सर्वथा स्वतन्त्र होती है । \* इस प्रकारकी स्वतन्त्रता माननेसे न तो नय ही सिद्ध होने हैं और न प्रमाण ही सिद्ध होता है । बिना परस्परकी अपेक्षाके एक भी सिद्ध नहीं हो सका है । इसलिये क्षार द्रव्यके समान न मानकर रूप और पदके समान उन धर्मोंकी अभिन्नता यदि मानी जाय तो यह मनुके अनुकूल ही है । अर्थात् जिस प्रकार वस्त्र और उमका रंग अभिन्न है, बिना वस्त्रकी अपेक्षा लिये उसके रंगकी सिद्धि नहीं, और बिना उसके रंगकी अपेक्षा लिये वस्त्रकी सिद्धि नहीं, उसी प्रकार यदि परस्पर सापेक्ष सत् और परिणामकी अभिन्नता भी मानी जाय तो हमारा कथन ही (जैन सिद्धान्त) सिद्ध होता है, फिर दाढ़ाकारका एक पदार्थके ही सत् और परिणाम, दो नाम बहना तथा अभि और वैश्वानरका दृष्टान्त देना निरर्थक ही नहीं किन्तु उसके पक्षका स्वयं विपातक है ।

सम्यक्तर गोविषाण भी दृष्टान्तभाव है ।

**अपि चाकिञ्चित्कर इय सव्येतरगोविषाणदृष्टान्तः ।**

**सुरभि गगनारविन्दमिवाश्रयासिद्धदृष्टान्तात् ॥ ३७४ ॥**

अर्थ—जिस प्रकार गीके दाये बाये दो सींग एक साथ उत्पन्न होने हैं उसी प्रकार सत् और परिणाम भी एक साथ होनेवाले वस्तुके धर्म हैं, ऐसा बहना भी ठीक नहीं है, सत् और परिणामके विषयमें गीके सींगोंका दृष्टान्त अकिञ्चित्कर है अर्थात् इस दृष्टान्तमें कुछ भी सिद्धि नहीं होती है । क्योंकि इस दृष्टान्तमें आश्रयामिद दोष जाता है । मत्ता पर

+ भटे और लवणों के पक्षे स्थायी अपेक्षाने परस्पर अपेक्षा है परन्तु ऐसी अपेक्षा नहीं है कि बिना भटे के लवणकी सिद्धि न हो, अथवा बिना लवणके भटेकी सिद्धि न हो । परन्तु सत् और परिणाममें वैसी ही अपेक्षा अस्ति है कि बिना सत्के परिणाम नहीं दृष्टान्त और बिना परिणामके सत् नहीं दृष्टान्त । दोनोंको एक दूसरेकी अपेक्षामें ही सिद्ध है ।

\* जिस २ ११० हुए सभी वर्ण स्वतन्त्र हैं, ऐसी अवस्थामें हमके किसी वर्णकी एक दूसरे से कभी है ।



हेतुका आश्रय ही असिद्ध होता है वहां आश्रयासिद्ध दोष आता है। जैसे—“गगनाविन्दं  
 सुरभिः अरविन्द्रत्वान् सरोनारविन्द्रवत्” अर्थात् यदि कोई पुरुष ऐसा अनुमान बनावे कि आकाश  
 मकल कमल सुगंधित है, क्योंकि वह कमल है, जो जो कमल होता है वह वह सुगंधित होता  
 है जैसे तालावका कमल, तालावमें कमल होता है वह सुगंधित ही होता है। इसी प्रकार जो  
 आकाशमें कमल है वह भी कमल है इसलिये वह भी सुगंधित है। यहां पर आकाशमय कमल  
 यह पक्ष\* है, सुगंधिवाला है, यह साध्य है\* क्योंकि वह कमल है यह हेतु+ है। यह अनुमान  
 नहीं है किन्तु अनुमानाभास है। क्योंकि हेतुका आश्रय ही असिद्ध है। आकाशमें कमलकी  
 यदि संभावना हो तब तो यहां सुगंधि भी रह सकती है। परन्तु आकाशमें तो कमलका होना  
 ही असंभव है फिर उसकी सुगन्धिका होना तो नितान्त ही असंभव है। जब कमलका  
 हेतु ही आकाशमें नहीं रहता है तब सुगन्धिरूप साध्य भी यहां कैसे रह सकता है? इसीसे  
 निम्न प्रकार यहांपर आश्रय न होनेसे आश्रयासिद्ध दोष आता है उसी प्रकार गीकें वीरे  
 वीरे मीगीकें दृष्टान्तमें भी आश्रयासिद्ध दोष आता है। क्योंकि सीगीका दृष्टान्त दिया गया  
 है, मीग पिना आश्रयके रह नहीं सकते हैं अथवा निम्न प्रकार दोनों सीगीका आश्रय ही  
 है उसी प्रकार यदि सत् और परिणामका आश्रयमूल कोई पदार्थ हो, तब तो दोनोंकी  
 एक बातमें सत्ता मानी जा सकती है, परन्तु सत् परिणामसे अतिरिक्त उनका आश्रय ही  
 अगिष्ट है, क्योंकि सत् परिणामके सिवाय पदार्थका स्वरूप ही कुछ नहीं है। सत् परिणाम  
 उभय समन्वय ही तो पदार्थ है। इसलिये गीकें सीगीका दृष्टान्त ठीक नहीं है।  
 भावार्थ—दुमरी वन इस दृष्टान्तकी विरुद्धतामें यह भी है कि निम्न प्रकार गीकें सीग  
 किसी वन विशेषमें उत्पन्न होते हैं उस प्रकार सत् परिणाम किसी काल विशेषमें उत्पन्न  
 नहीं होते हैं। न ही सत् परिणाममें निम्न इनका कोई आधार ही है, और न इनकी किसी  
 कालविशेषमें उत्पत्ति ही है।

\* जिस आश्रय पर आश्रयसिद्ध किया जाय उस आधारकी वृत्ति कहते हैं। उसका पक्ष  
 तब आश्रय ही है।

× जो सिद्ध किया जाय उसे साध्य कहते हैं।

+ विषय इत्येव कथं सिद्ध किया जाय उसे हेतु कहते हैं।

● वदन्त अनुमान वचन यह है—अनुमानों के द्वारा कारणकी अनुमानितता, वचनकी  
 मूर्तता, दृष्टान्तों के द्वारा वचनकी मूर्तता, लक्ष्योपलब्धि का अर्थ है। निम्न प्रकार गीकें सीगीका  
 दृष्टान्त कथ्य है, है इत्यादि। इनमें सीगीका एक कार्य उत्पन्न होता है, उसी कार्य का  
 परिणामक ही एक पदार्थ उत्पन्न वचन है इत्यादि है जो वचनकी मूर्तता उत्पन्न होने है।  
 यह अनुमान ही नहीं है। वदन्त अनुमान ही वचन है।

रहीरण-

न पतः पृथगिति किञ्चित् सत्परिणामानिरिक्तमिह वस्तु ।

दीपप्रकाशयोरिह गुम्फितमिव तद्वदयोरप्ययात् ॥ ३७५ ॥

अर्थ—गौके सीगोंका दृष्टान्त इसलिये ठीक नहीं है कि उसमें सीगोंका आश्रय भी पदार्थ जुड़ा पड़ता है, परन्तु सत् परिणामसे अतिरिक्त वस्तु पड़ती ही नहीं है । क्योंकि सत् परिणाम स्वरूप ही पदार्थ है, उस उभयात्मक भावसे अनिरिक्त वस्तु कोई जुड़ा पदार्थ नहीं है । उन दोनोंका ऐक्यभाव ही वस्तु है, वह दीप और प्रकाशके समान है । दीपमें प्रकाश मिल नहीं है और प्रकाशसे दीप भिन्न नहीं है ।

कच्ची पत्ती पृष्ठी भी दृष्टान्ताभावे-

आमानामपिशिष्टं पृथिवीत्वं नेह भवति दृष्टान्तः ।

कामयसित्वाद्भयोः स्येतरपक्षद्वयस्य घातित्वात् ॥ ३७६ ॥

परपक्षद्वयस्तायत् कामयसित्वाच्च स्वतः प्रतिज्ञायाः ।

असमर्थसाधनत्वात् स्यगमपि वा बाधकः स्वपक्षस्य ॥ ३७७ ॥

तत्तात्पर्यमनित्यं वा यदि वा नित्यं निसर्गतो वस्तु ।

स्यादिह पृथिवीत्वंतया नित्यमनित्यं स्वपक्षपक्षतया ॥ ३७८ ॥

अर्थ—कच्ची पत्ती पृष्ठी भी सत् परिणामके विषयमें दृष्टान्त नहीं हो सकती है, क्योंकि कच्ची पृष्ठी (कच्चा पड़ा) पहले होती है पक्की पृष्ठी (पका घना) पीछे होती है, दोनों ब्रह्मसे होते हैं, इसलिये यह दृष्टान्त उभयपक्ष (जैन मिहान्त और रंदाकार) का दृष्टान्त है । अर्थात् इस दृष्टान्तसे दोनों ओरकी सिद्धि नहीं होती । जैन मिहान्तकी ओर से नहीं होती कि वह कच्चे पके पड़ेके समान सत् परिणामको आगे पीछे नहीं मानता है और इस दृष्टान्तसे तुम ब्रह्मवर्तित्व, सिद्ध करनेकी प्रतिज्ञा ही कर चुके हो । परन्तु तुम्हारा यह हेतु कि ब्रह्मसे सत् परिणाम होने है, असमर्थ है, क्योंकि सत् परिणामको लेकर नहीं ल सकता है और परिणाम सत्को छोड़कर नहीं रह सकता है । तथा इस दृष्टान्तमें रंदाकार पक्षकी सिद्धि नहीं होता । रंदाकार एक समयमें वस्तुको स्वयंभवे स्थिति ही सिद्ध करता है जबका अनित्य ही सिद्ध करता है, परन्तु ए. समयमें एक सिद्ध ब्रह्म ब्रह्म है क्योंकि दोनों धर्म एक समयमें वस्तुमें सिद्ध होने हैं, जिस समय यदिदीव धर्मकी अस्तिता यदिदीमें निरपेक्षा सिद्ध है उसी समय यह अपररूपकी अस्तिता उसमें अस्तिता ही सिद्ध है । दोनों ही धर्म परस्पर सम्पेक्ष हैं, इसलिये दोनों एक साथ ही रह सकते हैं ब्रह्म पक्षकी भी सिद्धि नहीं हो सकती ।

स्वकीयता भी दृष्टान्त-भावे-

अपि च स्वपक्षीयुग्मं रगादिनि हास्यापदोपमा दृष्टिः ।

इह पदसिद्धयि रज्ज्वात्मिकादिकदोषदृष्ट्याम् ॥ ३७९ ॥



बड़े छोटे भाईका दृष्टान्त भी दृष्टान्ताभाव है—

तद्वज्जपेष्टकनिष्ठभ्रातृद्वैतं विरुद्धदृष्टान्तः ।

\*सति चाऽधर्मिणि नश्ये तथाऽऽश्रयासिद्धदोषत्वात् ॥ ३८१ ॥

अपि कोपि परायत्तः सांपि परः सर्वथा परायत्तान् ।

सोपि परायत्तः स्यादित्यनवस्था प्रसङ्गदोषश्च ॥ ३८२ ॥

अर्थः—छोटे बड़े भाईका दृष्टान्त भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह साध्यसे विरुद्ध है। हमारा साध्य उभय धर्मात्मक पदार्थ है, परन्तु दृष्टान्त तृतीय पदार्थकी सत्ता सिद्ध है। छोटे बड़े भाई बिना मातापिताके नहीं हो सकते हैं, मातापिताके होते हुए ही वे काल विशेषसे अमरसे उत्पन्न हुए हैं। परन्तु यह बात सत् परिणाममें नहीं है, न तो परिणामका उन दोनोंसे अतिरिक्त कोई आश्रय ही है और न उनकी काल विशेषसे उत्पत्ति ही है, इसलिये धर्माका अपाव होनेसे आश्रयासिद्ध दोष आता है \* दूसरी यह भी है कि इस दृष्टान्तसे अनवस्था दोष भी आता है क्योंकि भाई उनके मातापिताके पराधीन होते हैं। ऐसा पराधीनताका सिद्धान्त माननेमें जो कोई भी पर होगा उसे भी मानना पड़ेगा, जिस प्रकार पुत्र पिताके आधीन है, पिता अपने पिताके आधीन वह अपने पिताके आधीन है, इसी प्रकार सत् और परिणामको पराधीन माननेपर अनवस्था दोष आता है + क्योंकि पराधीनतारूपी श्रृंखलाका कहीं अन्त नहीं आवेगा।

... करकद्वय भी दृष्टान्तभाव है—

नार्थत्रिधासंमर्थो दृष्टान्तः कारकादियदि यतः ।

सर्वमिच्छादिगदिह नपक्षरत्तिरिपक्षरत्तिश्च ॥ ३८३ ॥

युक्ते जाग्या हि यथा स्यादकात्मनि तथैव नानात्वे

स्थाल्यां दधीतिहेनोर्व्यभिचारी कारकः कथं न स्यात् ॥ ३८४ ॥

अपि सर्वमिच्छादिहे यथाकथञ्चित्तत्पक्षदक्षधेतुः ।

न यतः परपक्षरिपुण्यां तथारिः स्वयं स्वपक्षस्य ॥ ३८५ ॥

साध्यं देशांशाद्या सत्परिणामद्वयस्य सांशस्यम् ।

तत्स्याम्येकविलोपे कस्यांशा अंशमात्रपक्षांशः ॥ ३८६ ॥

\* 'धर्मिणि नश्ये' तदर्थे, ऐसा समझित पुस्तकमें पाठ है।

\* स. भ. पा. सिद्ध दोषका विवेचन किया आ चुका है।

— 'अश्रयासिद्धदोषः' अर्थात् बिना किसी प्रत्यक्ष के अनन्त पराधीनता का अर्थ है कि जिस अनवस्था है। वह पर प्रमाणपूर्ण है वहां पर दोष नहीं समझा जाता जैसे—मिता पुत्र, कीच दूध आदि कारकात्मा अश्रय है।





सत्का विनाश और असत्की उत्पत्ति माननेमें जो दोष आते हैं उनका पहले (१० श्लोकमें) विवेचन किया जा चुका है ।

कनकोपल भी दृष्टान्तामात्र है—

कनकोपलयदिहैषः क्षमते न परीक्षितः क्षणं स्थातुम् ।

गुणगुणीभावाभावाद्यतः स्वयमसिद्धदोषात्मा ॥ ३९२ ॥

हेयादेयविचारो भवति हि कनकोपलद्वयोरेव ।

तदनेकद्रव्यत्वाच्च स्यात्साध्ये तदैकद्रव्यत्वात् ॥ ३९३ ॥

अर्थ—सत् परिणामके विषयमें कनकोपलका दृष्टान्त भी ठीक नहीं है। यह दृष्टान्त

परीक्षा करनेपर क्षण मात्र भी नहीं ठहर सकता है। सोना और पत्थर इन मिली-हुई

द्रव्योंका नाम ही कनकोपल है। इसलिये कनकोपल दो-द्रव्योंके समुदायका नाम है।

कनकोपलमें गुणगुणीभाव नहीं है, अतः यह दृष्टान्त असिद्ध है। क्योंकि जिस प्रकार

सत् परिणाममें कथञ्चित् गुणगुणीभाव है इस प्रकार इस दृष्टान्तमें नहीं है। दो द्रव्योंके

समुदाय होनेसे ही कनकोपलमें कुछ अंशके ग्रहण करनेका और कुछ अंशके छोड़नेका विचार

हो सकता है। परन्तु सत् परिणाममें इस प्रकार हेय उपादेय विचार नहीं हो सकता है, क्योंकि

वे दोनों एक द्रव्यरूप हैं। जहांपर दो अथवा अनेक द्रव्य होते हैं वहीं पर एक द्रव्य

ग्रहण और एकका त्याग हो सकता है परन्तु जहां पर केवल एक ही द्रव्य है वहां पर ऐसा

होना असंभव ही है। इसलिये कनकोपलका दृष्टान्त सर्वथा विषम है।

वाच्य वाचक भी दृष्टान्तामात्र है—

वागर्थद्रयमिति वा दृष्टान्तो न स्वसाधनायालम् ।

घट इति वर्णद्वैतात् कम्बुग्रीवादिमानिहास्त्यपरः ॥ ३९४ ॥

यदि वा निस्सारतया वागैवार्थः समस्पते सिक्तैः ।

न तथापीष्टसिद्धिः शब्दवदर्थस्याप्यनित्यत्वात् ३९५ ॥

अर्थ—वचन और पदार्थ अर्थात् वाच्य वाचक हेतुका दृष्टान्त भी अपनी सिद्धि

करानेमें समर्थ नहीं है। क्योंकि घट-प्रकार और टकार इन दो वर्णोंसे कम्बुग्रीवादि

घट पदार्थ दूसरा ही है। जिस कम्बु (शंख) ग्रीवावाले घटमें जल स्वस्वा जाता है वह

पदार्थ उन घट-वर्णोंमें सर्वथा जुदा ही है। केवल घट शब्दके उच्चारण करनेसे उस

पदार्थका बोध हो जाता है इतना ही मात्र घट शब्दका घट पदार्थके साथ वाच्य वाचक

सम्बन्ध है। परन्तु सत् परिणाम इस प्रकार भिन्न नहीं है। यदि वागर्थ, शब्दका वचन और

पदार्थ, यह अर्थ न किया जाय और दूसरा कि वचन रूप ही अर्थ किया जाय तो ऐसा

करना पड़े तो निस्सार ही है परन्तु मित्रिके लिये यदि वह माना भी जाय तो भी उस

अभीष्ट सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि दूसरे अर्थका यही आशय निकला कि शब्दके समान  
परिणाम हैं, परन्तु ऐसा माननेसे शब्दके समान सत्-परिणामात्मक पदार्थ भी अनित्य  
मिथ होगा, और ऐसी अनित्यता पदार्थमें अभीष्ट नहीं है इसलिये उक्त दृष्टान्त भी ठीक  
नहीं है ।

मेरी दण्ड भी दृष्टान्ताभास है—

स्यादविचारितरम्या भेरीदण्डवदिहेति सहाष्टेः ।

पक्षार्थमत्येपि च व्याप्यासिद्धत्वदोषदुष्टत्वात् ॥ १९६ ॥

युतसिद्धत्वं स्यादिति सत्परिणामद्वयस्य यदि पक्षः ।

एकस्यापि न सिद्धिर्यदि वा सर्वोपि सर्वधर्मः स्यात् ॥ १९७ ॥

अर्थ—मेरी दण्डका जो दृष्टान्त दिया गया है वह भी सत्-परिणामके विषयमें अ-  
विचारित रम्य है अर्थात् जबतक उसके विषयमें विचार नहीं किया जाता है तभी तक यह  
अच्छा प्रतीत होता है । विचारनेपर निःसार प्रतीत होता है । उसीका अनुमान हम प्रकार  
है—सत्-परिणामी कार्यकारी संयुक्तत्वात् भेरीदण्डवत्, अर्थात् शंकाकारका पक्ष है कि  
सत्-परिणाम मिलकर कार्य करते हैं क्योंकि वे संयुक्त हैं । जिस प्रकार भेरी दण्ड संयुक्त  
होकर कार्यकारी होते हैं । यह शंकाकारका अनुमान ठीक नहीं है । क्योंकि यहाँपर जो  
'संयुक्तत्व' दिया गया है वह सत्-परिणामरूप पक्षमें नहीं रहता है । इसलिये देठ  
व्याप्यासिद्ध\* दोषसे दूषित है । अर्थात् सत्-परिणाम भेरीदण्डके समान मिलकर कार्यकारी  
नहीं है, किन्तु कञ्चित् भिन्नता अथवा तादात्म्यरूपमें कार्यकारी है । यदि सत्-परिणामको  
युतसिद्ध—मित्र २, स्वतन्त्र माना जाय तो दोनोंमेंसे एक भी सिद्ध न हो सकेगा । क्योंकि  
दोनों ही परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षामें आत्मलाभ-स्वरूप सम्पादन करते हैं । यदि इन्हें  
स्वतन्त्र १ मानकर एकका दूसरा धर्म माना जाय तो ऐसी अवस्थामें सभी सबके धर्म हो  
जायेंगे । कारण जब स्वतन्त्र रहनेपर भी एक दूसरेका धर्म माना जायगा तो धर्म धर्मीका  
कुछ नियम नहीं रहेगा । हरकोई हरएकका धर्म धर्म माने इसमें कौन बाधक होगा? भावार्थ—  
सत्-परिणाम न तो भेरीदण्डके समान स्वतन्त्र ही है, और न संयोगी ही । किन्तु परस्पर  
सापेक्ष तादात्म्य सम्बन्धी । इसलिये भेरीदण्डका दृष्टान्त सर्वथा अमिथ है ।

अपूर्ण न्याय भी दृष्टान्ताभास है—

इह पदपूर्णन्यायादस्ति परीक्षाक्षमो न दृष्टान्तः ।

अविशेषत्वापत्तां क्षताभासस्य दुर्निवारत्वात् ॥ १९८ ॥

\* पक्षमें देठकी अतिवृत्ताको व्याप्यासिद्ध दोष कहते हैं अथवा सापेक्षके साथ देठ बराबर  
स्थापन न रहता हो यहाँपर व्याप्यासिद्ध दोष आता है । यहाँपर—सत्-परिणामके न तो दृष्टान्त  
देठ रहता है और न कार्यकारिणके साथ संयुक्तताकी व्याप्ति है ।



अपि चान्यतरेण विना यथेष्टसिद्धिस्तया तदितरेण ।

भवतु विनापि च सिद्धिः स्यादेवं कारणाद्यभावश्च ॥३९९॥

अर्थ—यहांपर अपूर्ण न्यायमें एकका मुख्यतासे दूसरेका उदासीनतासे ग्रहण करने रूप दृष्टान्त भी परीक्षा करने योग्य नहीं है । क्योंकि अपूर्ण न्यायमें जिसका मुख्यतासे ग्रहण किया जायगा वही प्रधान ठहरेगा, दूसरा जो उदासीनतामें कहा जायगा वह नहीं के बराबर सामान्य ठहरेगा, ऐसी अवस्थामें द्वैतका अभाव दुर्निवार ही होगा, अर्थात् जब दूना उदासीन नहीं के तुल्य है तो एक ही समझना चाहिये, इसलिये एककी ही सिद्धि होगी, परन्तु सत् परिणाम दो हैं । अतः अपूर्ण न्यायका दृष्टान्त उनके विषयमें ठीक नहीं है बल्कि यह कहा जाय कि दोनों ही यद्यपि समान हैं तथापि एकको मुख्यतासे कह दिया जाता है तो यह कहना भी विरुद्ध ही पड़ता है, जब दोनोंकी समानतामें भी एकके विना दूसरेकी सिद्धि हो जाती है तो दूसरेकी भी सिद्धि पहलेके विना हो जायगी, अर्थात् दोनों ही निरपेक्ष अथवा एक व्यर्थ सिद्ध होगी, ऐसी अवस्थामें कार्यकारण भाव भी नहीं बन सकेगा । क्योंकि कार्यकारण भाव तो एक दूसरेकी आधीनतामें ही बनता है । इसलिये अपूर्ण न्यायका दृष्टान्त सब तरह विरुद्ध ही पड़ता है ।

मित्रद्वैत भी दृष्टान्ताभाव है—

मित्रद्वैतवादित्यपि दृष्टान्तः स्वप्नसन्निभो हि यतः ।

स्याद्गौरवप्रसंगादेतोरपि हेतु हेतुरनवस्था ॥ ४०० ॥

तदुदाहरणं कश्चित्स्वार्थं सृजतीति मूलहेतुतया ।

अपरः सहकारितया तमनु तदन्योपि दुर्निवारः स्यात् ॥४०१॥

कार्यप्रति नियतत्वाच्चेतुर्द्वैतं न ततोऽतिरिक्तंचेत ।

तत्र यतस्तन्नियमप्राप्तकमिव न प्रमाणमिह ॥ ४०२ ॥

अर्थ—एक अपने कार्यको सिद्ध करता है, दूसरा उसका उसके कार्यमें सहाय होता है, यह मित्रद्वैतका दृष्टान्त भी स्वप्नके समान ही है । जिस प्रकार स्वप्नमें पाये हुए पदार्थसे कार्यसिद्धि नहीं होती है, उसी प्रकार इस दृष्टान्तसे भी कुछ कार्यसिद्धि नहीं होगी, क्योंकि इस दृष्टान्तसे हेतुका हेतु उसका भी फिर हेतु, उस हेतुका भी हेतु मानना पड़ेगा ऐसा माननेसे अनवस्था दोष आवेगा और गौरवका प्रसंग भी आवेगा । उसका दृष्टान्त प्रमाण है कि जेमे कोई मुख्य मुख्यतामें अपने कार्यको सिद्ध करता है और दूसरा उसका मित्र उमके उम कार्यमें सहायक होता है । जिस प्रकार दूसरा पहलेकी सहायता करता है उस प्रकार दूसरेकी सहायताके निमित्त तीसरे सहायककी आवश्यकता है, उसके निमित्त चौथेकी, उस

लेये पांचवेही, इस प्रकार उत्तरोत्तर सहायकोंकी योजना अवश्य ही अनिवार्य (मात्र) होगी\* यदि यह कहा जाय कि एक कार्यके लिये दो कारणोंकी ही आवश्यकता होती है (१) उद्ग-  
गन कारण (२) निमित्त कारण अथवा एक कार्यमें दो ही सहायकमित्र आवश्यक होते हैं ।  
उनमें अतिरिक्त कारणोंकी आवश्यकता ही नहीं होती तो यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि  
एक कार्यमें दो ही कारण होते हैं उनसे अधिक होने ही नहीं, इस नियमका विधायक कोई  
समान नहीं है+ इसलिये सत् परिणामके विषयमें मित्रद्वयका दृष्टान्त भी कुछ कार्यकारी  
नहीं है ।

शत्रुद्वैत भी दृष्टान्ताभास है—

एवं मिथो विपक्षद्वैतवदित्पि न साधुदृष्टान्तः ।

अनवस्थादोषत्यागथाऽरिरस्यापरारिरपि यस्मात् ॥४०१॥

कार्यप्रति नियतत्याच्छत्रुद्वैते न ततोऽतिरिक्तं वेत् ।

तत्र यतस्तन्निधिमप्राप्तकमिष न प्रमाणमिह ॥४०४॥

अर्थ—मित्र प्रकार मित्र द्वैतका दृष्टान्त ठीक नहीं है, उसी प्रकार शत्रु द्वैतका  
दृष्टान्त भी ठीक नहीं है । क्योंकि जिस प्रकार मित्र द्वैतके दृष्टान्तमें अनवस्था दोष आता  
है, उसी प्रकार शत्रुद्वैतके दृष्टान्तमें भी अनवस्था दोष आता है । जैसे एक पुरुष ।  
दूसरा शत्रु है, वैसे दूसरेका भीसरा और तीसरेका चौथा शत्रु भी होगा । इस  
शत्रुताका भी कहीं अन्त नहीं दीरता है । यदि कहा जाय कि एक कार्यके प्रति दो  
शत्रु ही नियत हैं, दोसे अधिक नहीं होते हैं तो यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि एक  
कार्यमें दो ही शत्रु होते हैं, उन शत्रुओंके शत्रु नहीं होते ऐसा नियम करनेमें कोई प्रमाण  
नहीं है । इसलिये दो शत्रुओंका दृष्टान्त भी सत् परिणामके विषयमें विरुद्ध ही है । भावार्थ—  
सत् परिणाम दो शत्रुओंके समान परस्पर विरुद्धरूपमें नहीं रहते हैं किन्तु परस्पर सापेक्ष  
रूपमें ही रहते हैं । परस्पर सापेक्ष रहते हुए भी दो मित्रोंके समान एक मुख्य साधक  
दूसरा सहायक साधक भी उनमें नहीं है किन्तु दोनों मिलकर ही सामानरूपमें स्वयं  
साधक एक पदार्थ सिद्धिमाधक हैं । इसलिये इनके विषयमें शत्रुमित्र दोनोंके दृष्टान्त ही  
विरुद्ध हैं ।

\* भ्रामाणिक अनन्त पदार्थोंकी बहरनामे अन्त न होनेका नाम ही अनवस्था है । यह  
दोष है ।

+ उद्गदान-पैरु-उदानीन आदि कारण एक कार्यमें आवश्यक होते हैं । अथवा है  
एक कार्यमें अनेक मित्रोंकी सहायता आवश्यक हो ।



शुद्धेयुन्द भी दृष्टान्तमात्र है ।

शुद्धोपशुद्धमार्गद्वयं दृष्टान्ततः प्रतिज्ञातम् ।

नदमदसत्यापत्तेरितरेतरनियमदोषत्यान् ॥ ४०७ ॥

यत्तुपशुद्धे शुद्धो भवति च शुद्धे किलोपशुद्धोपि ।

एकस्यापि न सिद्धिः क्रियाफलं वा नदात्ममुखदोषात् ॥ ४०८ ॥

अर्थ—शुद्ध और उपशुद्ध इन दो मन्वोंका जो दृष्टान्त दिया गया है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस दृष्टान्तमें अन्योन्याश्रय दोषके साथ ही पदार्थके अभावका प्रसंग आता है । जैसे—अब उपशुद्ध है तब उसका प्रतिपक्षी शुद्ध सिद्ध होता है, और अब शुद्ध है तब उसका प्रतिपक्षी उपशुद्ध सिद्ध होता है । ये दोनों ही एक दूसरेके आश्रित सिद्ध होते हैं । इसीका नाम अन्योन्याश्रय दोष है । \* अन्तमें दोनोंमेंसे एकही भी सिद्धि नहीं हो पाती अर्थात् दोनों ही सत्य होते हैं । इसलिये उनमें कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं हो पाता । यह दोष शुद्ध-कारमें अपने गुणमें ही कदा दृष्टा है । भावार्थ—शुद्ध, उपशुद्ध मन्वोंके समान सत्, परिणामको यदि माना जाय तो उनकी अभिद्धि और उनका अभाव सिद्ध होगा ।

बाद उन्हें अनादि सिद्ध माना जाय तां—

अथ चेदनादिसिद्धं गृह्यतस्यापन्ध्यात्तदेवेह ।

तदपि न तद्दर्शनं किल त्वत्तदोपास्पर्धं यद्वैततत् ॥ ४०९ ॥

अर्थ—यदि यह कहा जाय कि सत्, परिणाम दोनों अनादि सिद्ध हैं । वे किसीके किये हुए नहीं हैं । उनमें सदा ये ये ही हैं ऐसी नित्यताकी प्रतीति भी होती रहती है तो ऐसा कहना भी निर्दोष मिष्ट नहीं होगा है कारण कि इस प्रकारकी नित्यतामें परिणाम नहीं बन सका है । परिणामकी सिद्धि बरी पर होसकी है जहां पर कि कथंचित् अनित्यता है । मरेशा नित्यमें परिणाम नहीं बन सका है । इसलिये उपर्युक्त रीतिके अनुसार मानने पर भी सत्, परिणामके द्वयमें निर्दोषता नहीं सिद्ध होती है । भावार्थ—अनादि सिद्ध माननेमें दोषकारने सत्, परिणाममें अन्योन्याश्रय दोषको हटाना चाहा था, परन्तु उसकी ऐसी अनादि सिद्धतामें द्वयभाव ही हट जाता है । इसलिये कथंचित् (पर्यायकी अपेक्षासे) अनित्यताको नित्य हुए ही पदार्थ अनादि सिद्ध है ।

\* जहाँ पर दो पदार्थों का एक ही सिद्ध दूसरे पर अवलम्बित रहती है वहाँ पर अन्योन्याश्रय दोष होता है । जैसे वैदिक ईश्वरके पास उपकरण—नामासी हो तो वह स्थिर रहे, और जब वह स्थिर रहे तब उसके पास उपकरण—नामासी हो । इन दोनोंमें एक दूसरेके आश्रित होनेसे एक भी सिद्ध नहीं होता है ।

उपर्युक्त दृष्टान्त प्रशंसनीय नहीं है—

दृष्टान्ताभासा इति निक्षिप्ताः स्वेष्टसाध्यशून्यत्वात् ।

लक्ष्योन्मुखेपय इव दृष्टान्तास्त्वथ यथा प्रज्ञास्यन्ते ॥४१०॥

अर्थ—ऊपर जो दृष्टान्त दिये गये हैं वे सब दृष्टान्ताभास + हैं उनसे उनके साध्यकी सिद्धि नहीं होती है । जो दृष्टान्त लक्ष्यके सन्मुखवाणोंके समान स्व साध्यकी सिद्धि कराने हैं वे ही दृष्टान्त प्रशंसनीय कहे जाते हैं ।

सत् परिणाम कथंचित् भिन्न अभिन्न है—

सत्परिणामाद्वैतं स्यादविभिन्नप्रदेशायत्ताम् ।

सत्परिणाममैतं स्यादपि दीपप्रकाशपोरेव ॥ ४११ ॥

अर्थ—सत् परिणामके भिन्न प्रदेश नहीं हैं किन्तु अभिन्न हैं, इसलिये उन दोनोंमें वैन भाव नहीं है, अर्थात् दोनों एक ही अद्वैत हैं । तथा कथंचित् सत् और परिणाममें वैन भी है, अर्थात् कथंचित् सत् भिन्न है और परिणाम भिन्न है । सत् परिणाममें कथंचित् भिन्नता और कथंचित् अभिन्नता ऐसी ही है जैसी कि दीप और प्रकाशमें होती है । दीपसे प्रकाश कथंचित् भिन्न भी है और कथंचित् अभिन्न भी है ।

और भी—

अपरा जगत्कद्रोल उदयैतं वैतमपि थ तद्वैतम् ।

उन्मज्जथ निमज्जन्नाप्युन्मज्जिमज्जदेवेति ॥ ४१२ ॥

अर्थ—अपरा सत् परिणाममें जल और उसकी तरंगोंके समान कथंचित् भिन्नता और अभिन्नता है । जलमें एक तरंग उठती है दूसरी क्षान्त होती है, फिर तीसरी उठती है चौथी क्षान्त होती है । इस तरंगोंके प्रवाहसे तो प्रतीत होता है कि जलमें वैन है । किन्तु वास्तव दृष्टिमें विचार किया जाय तो न कोई तरंग उठती है और न वैन होता है । ऐसा ही सत् और परिणाम भी प्रतीत होता है । विचार करने पर तरंगों भी उठते ही क्षान्त होते जाते हैं, इसी प्रकार सत् और परिणाम कथंचित् भिन्न भी प्रतीत होता है, क्योंकि जो एक क्षणमें परिणाम है, वह दूसरे समयमें नहीं है । जो दूसरे समयमें है वह क्षणमें नहीं है । यदि उक्त दृष्टिमें विचार किया जाय तो उन प्रतिशब्दों होनेवाले स्थितिमें—अपरा जल की तरंग है । अनदि-अनन्तकालके परिणाममयूरी होनेवाले सत् की वैन क्षणमें नहीं है, इसलिये सत्में परिणाम भिन्न भी नहीं है । यावाप्य-विदुषां मतम् ।

अपरा जल की तरंग उठती है, क्षण में क्षणकी क्षिति ही नहीं है, अनन्तकाल में ही वह क्षण उठती है ।

और भी—

घटमृत्तिकयोरिव वा दैतं तद्गृहीतमददत्तम् ।

नित्यं मृण्मात्रतया गङ्गानित्यं घटत्वात्मात्रतया ॥ ४१३ ॥

अर्थ—अथवा सत् परिणाममें घट और मिट्टीके समान द्वैतभाव और अद्वैतभाव है मृत्तिका रूपसे तो उस पदार्थमें नित्यता आती है और घटरूप पर्यायकी अपेक्षामें उन्मेष अनित्यता आती है । उसी प्रकार द्रव्य दृष्टिमें सत् कहा जाता है और पर्याय दृष्टिमें परिणाम कहा जाता है ।

उपनिषद् श्रुति—

अयमर्थः सन्नित्यं तदभिज्ञप्तेर्यथा तदेवेदम् ।

न तदेवेदं नियमादिति प्रतीतेश्च सन्न नित्यं स्यात् ॥ ४१४ ॥

अर्थ—उपपुक्त कथनका तात्पर्य यह है कि सत् कथंविन् नित्य भी है और कथंविन् अनित्य भी है । किसी पुरुषको १० वर्ष पहले देखनेके पीछे दुबारा जब देखने है तब उसका वही स्वरूप पाते हैं जो कि १० वर्ष पहले हमने देखा था, इसलिये हम यह कह देते हैं कि यह वही पुरुष है जिसे हमने पहले देखा है, इस अत्यभिज्ञानरूप प्रतीतिमें तो सत् नित्य सिद्ध होता है, और उस पुरुषकी १० वर्ष पहले जो अवस्था थी वह १० वर्ष पीछे नहीं रहती । १० वर्ष पीछे एक प्रकारसे वह पुरुष ही बदल जाता है । फिर उसमें वह प्रतीति होने लगती है कि यह वैसा नहीं है, इस प्रतीतिसे सत् अनित्य सिद्ध होगा है ।

और भी—

अप्युभयं युक्तिवशादेकं सधैककालमेवोक्तं ।

अप्यनुभयं सदेतत्प्रथममाणादिषादशुल्कस्यात् ॥ ४१५ ॥

अर्थ—युक्तिवशा—विवक्षावशा सत् उभय दो रूप भी है, और एवही विवक्षा करनेमें एक कालमें एक ही कहा जाता है, इसलिये वह एक है, अर्थात् विवक्षावशा सत् कथंविन् एक रूप है और कथंविन् उभयरूप है तथा वही सत् अनुभयरूप भी प्रतीत होने लगता है जबकि नय प्रमाणादि बादमें वह रहित होगा है, अर्थात् विवक्षानुसार अवस्थामें वह सत् न एक है न दो है, किन्तु अनुभयरूप प्रतीत होता है ।

और भी—

व्यस्तं सन्नपयोगान्नित्यं नित्यत्वमात्रतस्तस्य ।

अपि च समस्तं सदिति प्रमाणसापेक्षानो विषयतायाः ॥ ४१६ ॥

अर्थ—नयकी विवक्षा करनेमें सत् एवम् २ (द्वय) है । नित्यवर्ती विवक्षा करने पर वह नित्य मात्र ही है, और प्रमाणकी विवक्षा करनेमें वही सत् एवम् (द्वय) नित्यनित्य ) है ।

उभयथा-अविच्छेद है—

न विरुद्धं क्रमवर्ति च सदिति तथाऽनादितोपि परिणामि ।

अक्रमवर्ति सदित्यपि न विरुद्धं सदैकरूपत्वात् ॥ ४१७ ॥

अर्थ—सत् क्रमवर्ती-क्रमसे परिवर्तनशील है, यह बात भी विरुद्ध नहीं है। क्योंकि वह अनादिकालसे परिणमन करता आया है तथा वह सत् अक्रमवर्ती है, यह बात भी विरुद्ध नहीं है क्योंकि परिवर्तनशील होने पर भी वह सदा एकरूप ही रहता है। भावार्थ—द्रव्य अनन्त गुणोंका समूह है, उन सब गुणोंके कार्य भी भिन्न २ हैं। उनमें एक द्रव्यत्व गुण भी है उस गुणका यह कार्य है कि द्रव्य सदा परिणमन करता रहे, कभी भी परिणान रहित न हो। द्रव्यत्व गुणके निमित्तसे द्रव्य सदा परिणमन करता रहता है, परन्तु परिणमन करते हुए भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप कभी नहीं हो सका, अर्थात् जीव द्रव्य पुद्गलरूप अथवा पुद्गल द्रव्य जीवरूप कभी नहीं हो सका, ऐसा क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि उन्हीं गुणोंमें एक अगुरुलघु नामा भी गुण है उसका यह कार्य है कि कोई भी द्रव्य परिणमन अपने स्वरूपमें ही करे, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप कभी न हो, एक गुण भी दूसरे गुणरूप न हो, तथा एक द्रव्यके अनन्त गुण जुड़े २ न बिखर जाय किन्तु तादात्म्यरूपसे बने रहें। इसप्रकार द्रव्य क्रमवर्ती-अक्रमवर्ती, नित्य-अनित्य, भिन्न-अभिन्न, एक-अनेक, उभय-अनुभय, एतद्-अएतद् आदि अनेक धर्मवाला विवक्षासे सिद्ध होता है।

शङ्काकार—

ननु किमिह जगदशरणं विरुद्धधर्मद्रवाधिरोपत्वात् ।

स्वयमपि संशयदोलान्दोलित इव चलितप्रतीतिः स्यात् ॥ ४१८ ॥

इह कश्चिज्जिज्ञासुर्नित्यं सदिति प्रतीयमानोपि ।

सदनित्यमिति विपक्षे सति शल्ये स्यात्कथं हि निःशल्यः ॥ ४१९ ॥

इच्छन्नपि सदनित्यं भवति न निश्चितमना जनः कश्चित् ।

जीवदयस्थत्वादिह सन्नित्यं तद्विरोधिनोऽध्यक्षात् ॥ ४२० ॥

सत एव दुरधिगम्यो न श्रेयान् श्रेयसे ह्यनेकान्तः ।

अप्यात्ममुखदोषात् सव्यभिचारो यतो चिरादिति चेत् ॥ ४२१ ॥

अर्थ—क्या एक द्रव्यमें दो विरोधी धर्म रह सके हैं ? यदि ऊपरके कथनानुसार रह सके हैं तब तो इस अगममें कोई भी शरण नहीं रहेगा। सर्वत्र ही विरुद्ध धर्म उपस्थित रहेंगे। ऐसी विरुद्धतामें कोई भी पदार्थोंके समझनेकी इच्छा रखनेवाला-जिज्ञासु कुछनिश्चय नहीं कर सकेगा किन्तु वह स्वयं संशयरूपी-झूठेमें, झूठे लगेगा, क्योंकि वह जिस समय सत्-वस्तुको निम्न समझेगा उन्हीं समय उसको नित्यताकी विरोधिनी अनित्यता भी उसमें

प्रतीत होगी, ऐसी अवस्थामें वह न तो बन्धुमें नित्यता ही स्थिर कर सकेगा और न अनित्यता ही स्थिर कर सकेगा किन्तु तदा सदास्य-मंत्रायानु बना रहेगा। इसी प्रकार यदि वह यह समझने लगें कि बन्धु अनित्य ही होनी है, तो भी वह निश्चित विचारवान् नि मंशरी नहीं बन सकेगा, क्योंकि उसी समय अनित्यता विरोधी नित्यरूप-मन्त्र बन्धुको निमग्न ही बन्धुमें उसे प्रत्यक्षदीप्तने लगेगा। इन बातोंमें जाना जाता है कि अनेकान्त-मन्त्राद् बन्धु ही कहिये, अर्थात् सब कोई इस प्रकार नहीं पासके हैं, इसीलिये यह अच्छा नहीं है, क्योंकि मामा इससे ब्रह्मज्ञ नहीं होता है, दूसरी बात यह भी है कि सा अनेकान्त स्वयं ही श्रेष्ठ बन जाता है, क्योंकि जो कुछ भी यह कहता है उसी समय उसका स्वयिचार-निरोध रहा हो जाता है, इसलिये यह अनेकान्त ठीक नहीं है।

**उत्तर—**

तत्र पतस्तदभाषे पल्लवानस्तीह सर्वथैकान्तः ।

सोपि च सदनिर्त्यं या मरिर्त्यं या न श्राधनायात् ॥ ४३६ ॥

अर्थ—संकाकारका उपर्युक्त कदना ठीक नहीं है क्योंकि यदि अनेकानेक कदम मान लिया जाय तो उस समय एकान्त ही सर्वथा बलवान् भिन्न होगा, वह वा स्मृत्योत्पत्ति सर्वथा नित्य ही कहेगा अथवा सर्वथा उसे अनित्य ही कहेगा, परन्तु सर्वथा एकान्तकल्पने परार्थमें न तो नित्यता ही भिन्न होती है और न अनित्यता ही भिन्न होती है । इसलिये एकान्त पक्षो कुछ भी सिद्धि नहीं होती है । हमी बातको निम्न अनित्य पक्षो द्वारा ऊँचे दिखाने हैं—

समिप्यं सपेस्मादिति पक्षे विक्रिया कुलो ग्यापात् ।

तदभाषेपि न तस्य क्रियाफलं स्मरन्नापि वाच्यमिति ॥ ४५१ ॥

परिणामः तदपरथाकर्मत्वादिति चेति निर्देष्टाः ।

नदभापे सदभाषो नासिद्धः सुप्रसिद्धस्तान्ताम् ॥ ४६४ ॥

अर्थ—मर्त्यों का मनु नियम ही है, ऐसा पक्ष स्वीकार करने पर हमें दो विचार किए जायेंगे तो पक्की है ! अर्थात् मर्त्यों को मर्त्य, यदि पदार्थों के विचार ही न करें, जब वे उनके अभावमें पदार्थ ही मिट नहीं होता है, न ब्रिद्ध ही मिट होता है, न उन्माद वगैरे मिट होता है और न उसके कण ही मिट होते हैं । क्योंकि मनु पदार्थों के अभावमें ही वगैरे ही परिलक्ष्य है, और उन्मादों के विचारमें हमने कहा है । उस दृष्टिकोण से ही हमें हमारी अस्वाभाविक अभाव करने पर सतृप्त ही अभाव हो जाता है वह हम नहीं देखती है, किन्तु दुर्लभ मिट पदार्थों में मिट है ।



दृष्टान्त—

अथ तद्यथा पटस्य क्रिया प्रसिद्धेति तन्तुसंयोगः ।

भवति पटभावाः किल तदभावे यथा तदनन्यात् ॥ ४२२ ॥

अर्थ—यह जगत् प्रसिद्ध है कि अनेक तन्तुओंका संयोग ही पटकी क्रिया है। वही वह तन्तु संयोगरूप पटक्रिया न मानी जाय तो पट ही कुछ नहीं ठहरता है। क्योंकि तन्तु संयोगसे अतिरिक्त पट कोई पदार्थ नहीं है। भावार्थ—तन्तु संयोगरूप क्रियाके मानने पर ही पटकी सत्ता और उससे शीत निवारण आदि कार्य सिद्ध होते हैं, यदि तन्तु संयोगरूप क्रिया न मानी जाय तो भिन्न २ तन्तुओंसे न तो पटोत्पत्ति कार्य ही सिद्ध होता है और न उन स्वतन्त्र तन्तुओंसे शीत निवारणादि कार्य ही सिद्ध होते हैं। इसलिये तन्तु संयोगरूपा क्रिया पटकी अवश्य माननी पड़ती है।

विक्रियाके अभावमें और भी दोष—

अपि साधने क्रिया स्यादपवर्गस्तत्फलं प्रमाणत्वात् ।

तत्कर्त्ता ना कारकमेतत् सर्वं न विक्रियाभावात् ॥ ४२३ ॥

अर्थ—यदि विक्रिया मानी जाती है तब तो मोक्ष प्राप्ति का ओ साधन—उत्पत्ति किया जाता है वह तो क्रिया पड़ती है, और उसका फल मोक्ष भी प्रमाण सिद्ध है। तब उसका करनेवाला—कर्त्ता पुरुषार्थी पुरुष होता है। यदि पदार्थमें विक्रिया ही न मानी जाय तो इनमेंसे एक भी कारक सिद्ध नहीं होता है। भावार्थ—पदार्थमें विक्रिया मानने पर। इस जीवके मोक्ष प्राप्ति और उसके साधनभूत तप आदि उत्तम कार्य सिद्ध होते हैं। अन्य कुछ भी नहीं बनता।

शङ्काकार—

ननु का नो हानिः स्याद्भवतु तथा कारकाद्यभावश्च ।

अर्थात् सन्नित्यं किल नष्टौपधमातुरे तमनुवर्त्ति ॥ ४२४ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि ग्रन्थकारने विक्रियाके अभावमें जो कारकादिष्वपि धनना आदि दोष मतलाये हैं वे हों, अर्थात् कारकादि भले ही सिद्ध न हों, ऐसा माननेमें भी हमारी कोई हानि नहीं है। हम तो पदार्थको सर्वथा नित्य ही मानेंगे। नित्य मानने पर उसमें मोक्ष प्राप्ति आदि कुछ भी न सिद्ध हो, इसकी हमें परवाह नहीं है, क्योंकि औषधि रोगीका रोग दूर करनेके लिये दी जाती है। यह आवश्यक नहीं है कि वह रोगीको अच्छी लगे या बुरी लगे? भावार्थ—औषधि देने पर विचार नहीं किया जाता है कि रोगी इसे बहुत बुरा समझेगा या नहीं, उसके समझने न समझने पर औषधिका देना अवलम्बित नहीं है। उसी प्रकार यहाँ पर बहुत विचार आवश्यक है। उसमें चाहे कोई भी दोष आजो अथर्व विधीका अभाव हो जाओ हममें शङ्काकारकी कुछ हानि नहीं है।

उत्तर—

सत्यं सर्वमनीषितमेतत्तदभाववादिना तावत् ।

परसत्तद्गणिकादिति यावन्नोदेति जलदृष्टान्तः ॥४२८॥

अर्थ—अन्यकार कहते हैं कि शंकाकारके पदार्थको सर्वथा नित्य मानना आदि विचार भी तब ठहर सकते हैं जब तक कि उसके सामने मेघका दृष्टान्त नहीं आया है। निमित्त उससे सामने यह अनुमान रहता जाना है कि जो सत् है वह क्षणिक भी है। जैसे लकड़े देनेवाले मेघ। उसी समय उसके नित्यताके विचार भाग जाने हैं, अर्थात् जो मेघ भी आने हुए दीखने हैं वे ही मेघ स्रुत ही नष्ट—विनीत होते हुए भी दीखते हैं, ऐसी अवस्थामें कौन साक्ष्य कर सकता है कि वह पदार्थको सर्वथा नित्य कहे !

उक्तो सर्वथा अनित्य माननेसे दोष—

अयमप्यात्मरिपुः स्यात्सदनित्यं सर्वथेति किल पक्षः ।

प्रागेव सतो नाशादपि प्रमाणं क तत्फलं यस्मात् ॥ ४२९ ॥

अर्थ—सत्-पदार्थ सर्वथा अनित्य है ऐसा पक्ष भी उनका (सत्को अनित्य मान-वालोंका) स्वयं शत्रु है। क्योंकि जब सत् अनित्य है तो पहले ही उसका नाश हो जगता, फिर प्रमाण और उसका फल किस प्रकार बन सकता है ! अर्थात् नहीं बन सकता ।

और भी दोष—

अपि परसत्तदिति पक्षो भवति च निमग्नकृते स्वतन्त्रस्य ।

परस्मारब्धदिति कुनः स्यात्स्मिन् तत्तद्व्युत्पत्त्यादिनामिह हि ॥ ४३० ॥

अर्थ—जो दार्शनिक (बौद्धादि) पदार्थको सर्वथा अनित्य मानते हैं उनके ही उनका यवन ही स्वयं उनका सङ्गठन करता है, क्योंकि जो पदार्थको सर्वथा विनाशक माननेवाले—व्युत्पत्त्यादी हैं वे जो सत् है तो अनित्य है ऐसा वाक्य ही नहीं कर सकते हैं। उनके न करनेका कारण भी यही है, कि, जब वे वाक्य बोलते हैं उस समय सत् तो नष्ट हो जाता है अथवा सर्वथा अनित्य पक्षवालोंके यहां पूरा वाक्य ही नहीं बोलना सम्भव, बल्कि जब तक वे 'जो सत् है' इस वाक्यका 'सत्' पर बोलेंगे तब तक 'जो' उ हो जायगा। जब 'है' पर बोलेंगे तब तक 'सत्' पर भी नष्ट हो जायगा। जब उत्तरार्थ 'जो अनित्य है' बोलेंगे तब तक पूर्वार्थ और उत्तरार्थके

जैसे यदि कहें 'सत्' है, जो सत् है वह तब क्षणिक ही है। इस अर्थसे अन्तर्मानने से ही पदार्थके लक्षितता सिद्ध करते हैं, परन्तु वे एवमन्तरूपसे करते हैं, वह बात अत्यन्त कठिन है। क्योंकि पदार्थोंके 'वर' वही है, देखी भी प्रतीति होती है।

पहलेके वर्ण भी नष्ट हो जायेंगे । इसलिये शून्य वादियोंके यहां पदार्थकी सिद्धि तो दूर तो उसका प्रतिवादक वाक्य भी नहीं बनता है ।

**अपि च सदमन्यमानः कथमिव तद्भावसाधनायालम् ।  
वन्ध्यासुतं हिनस्मीत्यध्यवसायादिवद्व्यलीकत्वान् ॥४३॥**

अर्थ—यदि सन्का अभाव स्वीकार करते हुए ही किसी प्रकार पदार्थमें नित्यत्व अभाव सिद्ध किया जाता है तो यह सिद्ध करना उसी प्रकार मिथ्या ( झूठा ) है जिनका किसीका यह कहना कि मैं बाँस स्त्रीके पुत्रको मारता हूँ, मिथ्या है । भावार्थ—जब स्त्रीके पुत्र ही नहीं होता तो फिर माँ को कैसे जायगा । उसी प्रकार जब सन्का अभाव सर्वथा अनित्यवादियोंने स्वीकार कर लिया है तो वे नित्यताका अभाव किसमें सिद्ध करे

**अपि यत्सत्त्वन्नित्यं तत्साधनमिह यथा तदेवेदम् ।**

**तदभिज्ञानसमक्षात् क्षणिकैकान्तस्य बाधकं च स्यात् ॥४४॥**

अर्थ—दूसरी बात यह भी है कि लोकमें ऐसी प्रतीति भी होती है जो कि एकैकैकान्तकी सर्वथा बाधक है । वह प्रतीति इस प्रकार है—जो सत् है वह नित्य है, जैसे—वही वस्तु है जिसे पहले हमने देखा था ऐसा प्रत्यभिज्ञान । प्रत्यभिज्ञान प्रतीति यहाँ क्योंकि उससे लोक यथार्थ बोध और इष्ट वस्तुकी प्राप्ति करता है, प्रत्यभिज्ञानकी बाध पदार्थ भी नित्य सिद्ध हो जाता है । बिना कथंचित् नित्यताके पदार्थमें प्रत्यभिज्ञान प्रतीति ही नहीं । इसलिये यह प्रतीति ही क्षणिकैकान्तकी बाधक है ।

सर्वथा नित्य माननेमें दोष—

**क्षणिकैकान्तवदित्यपि नित्यैकान्ते न तत्त्वसिद्धिः स्यात् ।  
तत्मान्यायागतमिति नित्यानित्यात्मकं स्वतस्तरयम् ॥४५॥**

अर्थ—जिस प्रकार क्षणिकैकान्तसे पदार्थकी सिद्धि नहीं होती है उसी प्रकार एकैकान्तमें भी पदार्थकी सिद्धि नहीं होती है । इसलिये यह बात न्यायमें सिद्ध है । पदार्थ कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य भी है, उभयात्मक है । भावार्थ—सर्वथा क्षणिक असिद्ध है वैसे सर्वथा नित्य भी असिद्ध है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान जैसे अनित्यमें नहीं हो सक्ता है वैसे वह सर्वथा नित्यमें भी नहीं हो सक्ता है । इसका भी यह है कि प्रत्यभिज्ञानमें पूर्व और वर्तमान ऐसी दो प्रकारकी प्रतीति होती है । नित्यमें वैसी प्रतीति नहीं हो सकती है । इसलिये पदार्थ नित्यानित्यात्मक ही युक्ति, मर, अमरमें सुनिश्चित है ।

अत्राचार—

**ननु यैकं मदिति स्यात्किमनेकं स्यादपोभयं चेतत् ।  
अनुमयमिति किं तस्य शेषं पूर्ववदधान्यथा किमिति ॥४६॥**

अर्थ—यना स. एक है. अनेक अनेक है यना उभय है या अनुभय है अथवा यदि एक एक भेदका है । अथवा और ही प्रकार है ।

उत्तर—

सत्यं सन्देकमिति वा सन्देकं योभयं च नययोगात् ।

न च स्वयं सन्देकं सन्देकं वा मध्यमावयवात् ॥ ४३५ ॥

अर्थ—टीका है, सत्य नय दृष्टिसे एक भी है अनेक भी है उभय भी है और अनुभय भी है + एतन्नु सत्य वा नयविशेषों की वननी है, नय विशिष्टी अपेक्षाको छोड़कर यथा सत्यो एक वदना भी टीका नहीं है, अनेक वदना भी टीका नहीं है \* और उभय वदना भी टीका नहीं, अनुभय वदना भी टीका नहीं है, क्योंकि सर्वथा एकान्तरूपसे एक नैव सत्य अवयव ही है ।

एतत् सत्य एव है—

अथ मध्यमा सन्देकं स्यादपि भिन्नप्रदेशावयवात् ।

गुणपर्यायान्तरपि निरन्तरादेशादप्यण्डसामान्यात् ॥ ४३६ ॥

अर्थ—गुण पर्याय रूप अन्तोंको अभिन्न प्रदेशों होनेसे सत्य एक है अथवा अलग्ग समान्यकी अपेक्षासे निरन्तर—अन्तर रहित देश होनेसे सत्य एक है । अनार्य—द्रव्यमें गुण पर्यायों की प्रकार है निम्न प्रकार कि जन्में करनेमें होती हैं । निम्नप्रकार जन्मे कल्लोलोंकी तथा भिन्न नहीं है उसी प्रकार द्रव्यमें गुण पर्यायोंकी सत्ता भी भिन्न नहीं है । केवल विव-  
हासे द्रव्य गुणपर्यायोंकी कल्पना की जाती है, कुछ दृष्टिसे जो द्रव्य है सोई गुण पर्याय है, जो गुण है सोई द्रव्य पर्याय है, अथवा जो पर्याय है सोई द्रव्य गुण है, इसलिये जब तीनों एक ही है तो न उनकी भिन्न सत्ता है, और न उनके भिन्न प्रदेश ही हैं । तथा कुछ दृष्टिसे न उनमें भेद कल्पना ही है किन्तु निरन्तर—अलग्ग देशात्मक एक ही सत्य है ।

तथा—

द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेनापीह बाधभावेन ।

सदस्त्वप्यं नियमादिति यथाधुना यद्यपि हि तद्वक्ष्यते ॥ ४३७ ॥

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे नियमसे सत्य अलग्ग है, अब इन चारोंकी अपेक्षासे ही सत्य अलग्गता क्रमसे सिद्ध की जाती है ।

हृदय-विचार—

गुणपर्यायद्रव्यं तद्गुणपर्यायधनुः सन्देकं स्यात् ।

नहि विधिद्रव्यरूपं पर्यायरूपं च किञ्चिदंशोः ॥ ४३८ ॥

\* च हृदये अनुभवादिना ग्रहण किया जाता है ।

\* यहाँ 'वा' हृदये उभयादिका ग्रहण कर लेना चाहिये ।

अर्थ—गुण पर्यायवाला द्रव्य है, अर्थात् गुणपर्याय ही द्रव्यका शरीर है, गुण स्वतः स्वरूप ही द्रव्य है, इसलिये सत् एक है। ऐसा नहीं है कि उसके कुछ अंश तो गुणका हों, कुछ पर्यायरूप हों।

इत्यान्त—

रूपादितन्तुमानिह यथा पटः स्यात्स्वयं हि तद्वैतम् ।

नहि किञ्चिद्रूपमयं तन्तुमयं स्यात्तदंशगर्भीशः ॥ ४१९ ॥

अर्थ—रूपादि विशिष्ट तन्तुवाला पट कहलाता है, इस कथनकी अपेक्षासे वह स्वतः वैतभाव धारण करता है, परन्तु ऐसा नहीं है कि पटमें कुछ अंश तो रूपमय हों, और कुछ तन्तुमय हों। किन्तु रूप तन्तु पट तीनों एक ही पदार्थ है। केवल विवक्षासे उन्हें वैतभाव है।

न पुनर्गोरसवदिदं नानासत्त्वैकसत्त्वसामान्यम् ।

सम्मिलितावस्थायामपि घृतरूपं च जलमयं किञ्चित् ॥ ४४० ॥

अर्थ—सत्त्वमें जो एकत्व है, वह गोरसके समान अनेक सत्ताओंके सम्मेलनसे एक सामान्य सत्त्वरूप नहीं है। जैसे—गोरस (दुग्धादि) की मिली हुई अवस्थामें कुछ घृतमान है, और कुछ जलभाग है, परन्तु सम्मेलन होनेके कारण उन्हें एक ही गोरससे पुकारते हैं, वैसे सत्त्वमें एकत्व नहीं है। भावार्थ—जैसे गोरसमें कई पदार्थोंकी भिन्न २ सत्ता हैं परन्तु मिलापके कारण एक गोरसकी ही सत्ता कही जाती है। वैसे सत्त्व एक नहीं कहा जाता किन्तु एक सत्ता होनेसे वह एक कहा जाता है।

अपि षडशक्यविवेचनमिह न स्यादा प्रयोजकं यस्मात् ।

षड्विदश्मनि तद्वायान्माभूत्कनकोपलक्ष्यमैतम् ॥ ४४१ ॥

अर्थ—अथवा ऐसा भी नहीं कहा जासکتा कि यद्यपि सत्त्वमें भिन्न २ सत्ता हैं परन्तु उनका भिन्न २ विवेचन नहीं किया जासکتा है इसलिये सत्त्वको एक अथवा एक सत्तावाला कह दिया जाता है। जैसे क स्वर्ण पाषाणमें स्वर्ण और पाषाण दो पदार्थ हैं परन्तु उनका भिन्न २ विवेचन अशक्य है इसलिये उसे एक ही पत्थरके नामसे पुकारा जाता है। ऐसा करनेमें जिस प्रकार कनकोपलक्ष्य—स्वर्ण पाषाणमें द्वैतभाव है उसी प्रकार सत्त्वमें भी द्वैत भाव मिट होगा, परन्तु स्वर्णपाषाणमें जिस प्रकार भिन्न २ दो पदार्थ हैं उस प्रकार सत्त्व नहीं है। सत्त्वान्त्वने एक सत्तावाला एक ही है।

म गी०—

नानासत्त्वमिति प्रयोजकं स्यादग्रण्यवस्तुत्वम् ।

प्रकृतं यथा नदेकं द्रव्येणान्वष्टितं मतं तावत् ॥ ४४२ ॥

अर्थ—इसलिये एकत्व सिद्ध करनेके लिये न तो भित्त २ अनेक सत्ताओंका सम्मेलन ही प्रयोजक है और न अशक्य विवेचन ही एकत्वका प्रयोजक है किन्तु अखण्ड वस्तुत्व ही उसका प्रयोजक है । अर्थात् जो अखण्ड प्रदेशी—एक सत्तात्मक पदार्थ है वही एक है । प्रकृतमें द्रव्यकी अपेक्षाने भी ऐसा ही अखण्ड प्रदेशी एकत्व सत्में माना गया है ।

उदाहरण—

ननु यदि सदेव तत्त्वं स्वयं गुणः पर्ययः स्वयं सदिति ।

शेषः स्यादन्यतरस्तदितरलोपस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ४४३ ॥

न च भवति तथापद्यम्भावात्तत्समुदयस्य निर्देशात् ।

तस्मादनवधमिदं छायादर्शवदनेकहेतुः स्यात् ॥ ४४४ ॥

अर्थ—यदि स्वयं सत् ही द्रव्य है, स्वयं ही गुण है, स्वयं ही पर्याय है तो एक शेष रहना चाहिये । अर्थात् जब द्रव्य गुण पर्याय तीनों एक ही हैं तो तीनोंमेंसे कोई एक कहा जा सकता है बाकीके दोनोंका लोप होना अवश्यम्भावी है, परन्तु ऐसा होता नहीं है, द्रव्य गुण पर्याय, तीनोंका कहना ही आवश्यक प्रतीत होता है, इसलिये यह बात ही निर्देश सिद्ध होती है कि सत् छाया और दर्पणके समान अनेक कारणजन्य है । भाग्यार्थ—यदि द्रव्य गुण पर्याय तीनों एक ही बात है तब तो एक शेष रहना चाहिये, दोका लोप हो जाना चाहिये । यदि तीनों ही तीन बातें हैं तो वे अवश्य ही सत्में अनेक हेतुक सिद्ध करती हैं, और अनेक हेतुक होनेसे सत्में अनेकत्व भी सिद्ध होगा ।

उत्तर—

सत्यं सदनेकं स्यादपि तद्धेतुश्च यथा प्रतीतत्वात् ।

न च भवति यथेच्छं तच्छायादर्शवदसिद्धदृष्टान्तात् ॥ ४४५ ॥

अर्थ—ठीक है, कथंचिद् सत् अनेक भी है तथा यथायोग्य अनेक हेतुक भी है । परन्तु उसमें अनेक हेतुता छाया और दर्पणके समान इच्छानुसार नहीं है किन्तु प्रतीतिके अनुसार है । सत्के विषयमें छायादर्शका दृष्टान्त असिद्ध है । क्यों असिद्ध है ? उसीका उत्तर नीचे दिया जाता है ।

प्रतिबिम्बः किल छाया वदनादर्शादिसन्निकर्षार्थं ।

आदर्शस्य सा स्यादिति पक्षे सदसदिय वाऽन्वयाभावात् ॥ ४४६ ॥

पदि वा सा वदनस्य स्यादिति पक्षोऽसमीक्ष्यकारिण्यत् ।

व्यतिरेकाभावात् किल भवति तदास्यस्य सतोऽप्यच्छायत्वात् ॥ ४४७ ॥

अर्थ—नियमसे प्रतिबिम्बका नाम ही छाया है । पर वदन (मुख) और आदर्श (दर्पण)के सम्बन्धसे होती है । यदि उभय छायाको केवल दर्पणही ही कहा जाय तो ऐसा पक्ष

त्र्यणुक चतुरणुक+ शताणुक लक्षाणुक आदि पुद्गल स्कन्ध होसकते हैं। उन्हे क्यों छोड़ दिया गया ? परंतु उपर्युक्त आशङ्काठीक नहीं है, क्योंकि यहां शुद्ध नयकी अपेक्षासे शुद्ध द्रव्यों का है, उपचरित द्रव्यों का कथन नहीं है। भावार्थ—संख्यात प्रदेशी कोई द्रव्य नहीं है कि कोई पुद्गल द्रव्यों के मेलसे होनेवाला स्कन्ध है। वह यहां पर विवक्षित नहीं है। पतञ्जल के काल द्रव्यको संख्यात प्रदेशी नहीं कहा गया है किन्तु निरंश—एक देश मात्र कहा गया है।

प्रकाशान्तर—

**अयमर्थः समेधा यथैकदेशीत्यनेकदेशीति ।**

**एकमनेकं च स्यात्प्रत्येकं तस्यैकस्यान्यायात् × ॥४५२॥**

अर्थ—तात्पर्य यह है कि सत्के दो भेद हैं (१) एक देशी (२) अनेक देशी। दोनोंमें प्रत्येक ही दो नयोंकी विवक्षासे एक और अनेक रूप है। भावार्थ—इस श्लोक के प्रदेशोंके भेद तीनके स्थानमें दो ही बतलाये गये हैं, और असंख्यात तथा अनन्त प्रदेश अनेकमें गर्भित किये गये हैं। जो एक प्रदेशी है वह द्रव्य भी नय सामान्यकी अपेक्षासे एक प्रकार और नय विशेषकी अपेक्षासे अनेक प्रकार है। इसी प्रकार अनेक प्रदेशी द्रव्य समक्षता चाहिये।

**अथ यस्य यदा घावद्यदेकदेशो यथा स्थितं सदिति ।\***

**तत्तावत्तस्य तदा तथा समुदितं च सर्वदेशेषु ॥४५३॥**

अर्थ—जिस समय जिस द्रव्यके एक देशमें जैसे सत् रहता है वैसे उस द्रव्यके समस्त सर्व देशोंमें सत् समुदित रहता है। भावार्थ—द्रव्यके एक प्रदेशमें जो सत् है उसके सर्व प्रदेशोंमें है। यहां पर तिर्यक अंश कल्पना द्वारा वस्तुमें क्षेत्रका विचार किया है। जैसे—कोई वस्तु एक अंगुल चौड़ी दो अंगुल लम्बी और उतनी ही मोटी है, यदि वस्तुमें तिर्यंगता कल्पना की जाय तो वह वस्तु प्रदेशोंके विभागकी अपेक्षासे उतनी लम्बी चौड़ी मोटी समझी जायगी ? और उसके प्रदेश उतने ही क्षेत्रमें समस्त क्षेत्र स्मरण रहे कि यह क्षेत्र उस द्रव्यका आधारभूत आकाशरूप नहीं है किन्तु उसी द्रव्य प्रदेशरूप है। तथा वे एक अंगुल चौड़े दो अंगुल लम्बे मोटे प्रदेश अवगट—एक सत्ता

+ दो अणुओंका भिन्न हुआ स्कन्ध द्व्यणुक और तीनका भिन्न हुआ त्र्यणुक कहते हैं। इसी प्रकार दो अणुओंका स्कन्ध शताणुक कहते हैं। परन्तु नैयायिक त्र्यणुक द्व्यणुकका भिन्न हुआ एक अणुक मानते हैं। चार अणुओंका भिन्न हुआ चतुरणुक कहते हैं।

× “एव लक्षणावयवम्” ऐसा मूल पुस्तकमें पाठ है वह अशुद्ध प्रतीत होता है।

• “वचनेकदेशे” ऐसा मूल पुस्तकमें पाठ है वह भी अशुद्ध प्रतीत होता है।

है, इसलिये उन सब प्रदेशोंमें एक ही सत्त्व है अथवा वे सब प्रदेश एक सत्त्व एक द्रव्यके नामसे कहे जाते हैं ।

इत्थनयथाभिदं स्याद्व्युत्पन्नमुद्देशि तस्य तत्र यथा ।

क्षेत्रेणाखण्डित्वात् सदेकमित्यत्र नयविभागोऽयम् ॥ ४५४ ॥

अर्थ—इस प्रकार उस सत्त्वा यह निर्देश लक्षण क्षेत्रकी अपेक्षामें कदा गया । एक सत्त्वे सर्व ही प्रदेश अखण्ड हैं इस लिये वे सब एक ही सत्त्व कहे जाते हैं यही एकत्र विचक्षणों नय विभाग है ।

न पुनर्भेदापघरकसञ्चरितानेकदीपवत्सदिति ।

हि यथा दीपसमूहो प्रकाशावृद्धिस्तथा न सद्गृह्णति ॥ ४५५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी मकानके भीतर एक दीप फिर दूसरा दीप फिर तीसरा फिर चौथा इसी क्रमसे अनेक दीप लाये जायें तो नितनी२ दीपोंकी संख्या बढ़ती जायगी वतनी१ ही प्रकाशकी वृद्धि भी होती जायगी । उस प्रकार सत्त्व नहीं है । सत्त्वी वृद्धि अनेक दीपोंके प्रकाशके समान नहीं होती है ।

तथा—

अपि तत्र दीपक्षामनेकस्मिन्निक्षिप्तप्रकाशाहानिः स्यात् ।

न तथा स्याद्विवक्षितदेशो तज्जानिरेकरूपस्यात् ॥ ४५६ ॥

अर्थ—यैसा भी नहीं है कि जिस प्रकार मकानमें रखे हुए अनेक दीपोंमेंसे किसी दीपके पुला देनेपर उस मकानमें कुछ प्रकाशकी कमी हो जाती है, उस प्रकार सत्त्वी भी कमी हो जाती है, किन्तु अविवक्षित देशमें सत्त्वी हानि नहीं होती है, वह सरा परब्रह्म ही रहता है । भावार्थ—उपर्युक्त दोनों श्लोकोंमें सत्त्वे विचक्षणों अनेक दीपोंका दृष्टान्त विषम है । क्योंकि अनेक दीपक अनेक द्रव्य है । अनेक द्रव्योंका दृष्टान्त एक द्रव्यके लिये किम प्रकार उपयुक्त (टीका) हो सका है । भिन्न १ दीपकका भिन्न २ ही प्रकाश होता है, सब दीपोंका समुदाय ही बहु प्रकाशका दण्ड है । इसलिये किसी दीपके छानेसे प्रकाशकी वृद्धि होना और किसी दीपके बराने से छाने पर प्रकाशकी हानिका होना आवश्यक है परन्तु एक सत्त्वे विचक्षणों बहु द्रव्योंका दृष्टान्त टीका नहीं है, हाँ यदि एक ही दीपकका दृष्टान्त उसके विचक्षणों दिया जाय तो सब है । जैसे एक दीपकको किसी बड़े कमरेमें रखने हैं तो उसका प्रकाश उस विस्तृत कमरेमें फैल जाता है, यदि उसको छोटी कोठरीमें रखने हैं तो उसका प्रकाश उगीने रह जाता है, यदि उसे एक घरेमें रखने हैं तो उसका वह बड़े कमरेमें फैलनेवाला प्रकाश उगी घरेमें रह जाता है । यहाँ पर विचारनेकी बात इतनी ही है कि जिस समय दीपकको बड़े कमरेमें रखने प्रकाश



है, उस समय दीपकके प्रदेश कुछ बढ़ नहीं गये हैं और जिस सनप कोठी और सो भीतर उसे रखता है तो उसके प्रदेश क्रमसे घट नहीं गये हैं, किन्तु वे जितने हैं उतने हैं, दीपकके जितने भी प्रकाश परमाणु हैं वे सब उतने ही हैं। छोटे बड़े कमरोंमें और सो दीपकको रखते वे किञ्चित् भी घटे बढ़े नहीं हैं, केवल आवरण (प्रकाशको रोक्ने का पदार्थ—कमरा, घड़ा आदि)के भेदसे वे संकुचित और विस्तृत होगये हैं। यदि उन्होंने छेद क्षेत्र पाया है तो उतनेमें ही वे संकुच कर समा गये हैं यदि बड़ा क्षेत्र उन्होंने पाया है तो वहां पर वे फैलकर समा गये हैं\* इसी दृष्टान्तको स्फुट करनेके लिये दूसरे दृष्टान्त उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। जैसे—एक मन रुई धुनने पर एक बोरे में थोड़े कोठेमें आसकी है, परन्तु वही रुई जब पेचमें दबकर गांठके रूपमें जानती है तो बहुत ही थोड़े स्थानमें (दो फीट लम्बे और उतने ही चौड़े मोटे स्थानमें भी प्रायः कम क्षेत्रमें) समा जाती है। यहाँपर विचार करनेका यही सवाल है कि रुईके प्रदेश धुनते समय क्या कहींसे आकार बढ़ जाते हैं? अथवा गांठ बांधते समय उसके कुछ प्रदेश कहीं चले जाते हैं? वास्तव दृष्टिसे इन दोनोंमेंसे एक भी बात नहीं है। क्योंकि दोनों ही अवस्थाओंमें रुई तोलने पर एक ही मन \* निकलती है। यदि उनके कुछ भाग कहीं चले जाते तो अवश्य उसकी तोलमें घटी होना चाहिये अथवा बृद्धि होने पर उसकी तोलमें बृद्धि होना चाहिये, परन्तु रुईमें घटी बढ़ी थोड़ी भी नहीं होती, रुईमें बढ़ कम जानती ही पड़ती है कि रुईके अथवा दीपकके प्रदेश जितने हैं वे उतने ही सन् रहते हैं केवल निमित्तकारणोंमें उनमें संकोच और विस्तार होता है। वस्तुस्थिति इसी दृष्टान्तोंकी तुलना दृष्टान्त—सन् रहता है। सन् जितने प्रदेशोंमें विभाजित है वह सदा उतने ही प्रदेशोंमें रहता है। उसके प्रदेशोंमें अथवा उसमें कभी कभी अधिक या ग्युदना नहीं हो सकी है, केवल द्रव्यान्तरके निमित्तसे उनमें अथवा उसमें संकोच और विस्तार हो सका है। यदि पदार्थमें ग्युनाधिक्य होने लगे तो मनुका विनाश और अथवा उन्नाद भी स्वयं निश्च होगा फिर वस्तुओंमें कार्य कारण आकाश अभाव होनेसे संकर स्थिति

\* यहाँ एक ही बात भी समझ लेनी चाहिये। वस्तु होनेसे अनेक दृष्टियों से हमारे स्पर्श दृष्टिसे उसे दृष्टान्त—सन् एक ही समझना चाहिये। इसीलिए उनके अथवा अथवा केवल कार्यकारण पर जोर दिया है। जो सन्ती है। जिस दृष्टिसे दृष्टान्तका प्रदेश विभाजित होता है उतने दृष्टिसे उतना उतना ही अथवा उतने केना सन्ती है।

\* रुई धुनते समय जो उतनेमें कुछ घुस (हिलोहिली) निश्च करनेसे वही वा सन्ती है दृष्टान्त केवल दृष्टान्त—सन् वही सदा जानना। यदि उतने भी जो केना सन्ती है वे घुसने के कारण केवल ही रुई केना सन्ती है दृष्टान्त सन्ती है।

कर अनवस्था शून्यता आदि अनेक दोष भी स्वयं पक्षित हो जायेंगे जो कि वदार्थमात्रको इस नमोमण्डलमें नहीं टट्टरने देंगे ।

‘ सर्वथा अभिलक्ष्य भी प्रयत्नक नहीं है—

नाप्र प्रयोजकं स्यान्नियननिजामोगदेशमाप्रत्वम् ।

तदनन्यथात्वसिद्धौ सद्नेकां क्षेत्रमः कथं स्याद्वा ॥ ४६७ ॥

अर्थ—यहाँ पर यह भी प्रयोग नही है कि सब मिलने देश (यहाँ पर देशने तात्पर्य आकाशकी अपेक्षासे है ।) में रहता है उमका नियमित खना ही देश पदा भाय, यदि ऐसा ही कहा जाय और सत्में जन्ययापना न माना जाय तो क्षत्री अपेक्षाने सब अनेक किसमकार सिद्ध होगा ?

ਸਾਹਿਬਾ ਅੰਗ ਉਸਦੀ ਉਸਤ -

सदनेकं देशानामुपनंतात्प्रत्यर्पणा इति ६.५ ।

न पनो निश्चयि पुनः ॥ ५५ ॥ न तस्मिन् न तस्मिन् न तस्मिन् ॥ ५५ ॥

अपि परमाणोरिति वा - इच्छायां, त्वेदेजम (प्रस्थात्) ।

कथमित्यसद्वैतं स्यादुपसंहार्यसर्पणाभावात् ॥ ४५९ ॥

अर्थ—सबके प्रदेशोंका संकीर्ण विस्तार होता है। इसीसे सब अनेक हैं, ऐसी आकांक्षा ठीक नहीं है, यदि सबके प्रदेशोंका संकीर्ण और भिन्ना होनेसे ही हमें अनेक कहा जाय तो आकाश आदि निम्न-विभू नहीं कहेंगे। पृथ्वीमें अनेकत्व नहीं था सकेगा, क्योंकि आकाश, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्यके प्रदेशका संगेय विस्तार ही नहीं होता है तथा परमाणु और कालाणु ये दो द्रव्य एक ही प्रदेश मात्र हैं। इनमें संकीर्ण विस्तार हो ही नहीं सकता है, फिर इनमें अनेकत्व किस प्रकार निम्न होगा ! आकाश—सबके विस्तारसे ही सबमें अनेकत्व मानना ठीक नहीं है।

常野人氏

मनु य मदेकं देनामि मेष्टा एवऽपितुम्कथनः ॥

अपि गदनेन वेदाग्निं संगतां नृणां तन्मन्त्रं वेत्त ॥ ४५० ॥

भी—परेकोपे स्थान सदा ही संस्थापक रहने लगे हैं, क्योंकि  
 जो सब एक ही भीत परेकोपे स्थान पर ही रहने लगे हैं, जो सब एक ही हैं।

भी हमारे प्रदेशों की सेवा कर रहे हैं। हमारे प्रदेशों की सेवा करने वाले हैं।

हम इसीलिए इस दस्तावेज़ को तैयार करने में बहुत समय लगा है, जो इसीलिए तैयार है, जो इसीलिए तैयार है।



उत्तर-॥

ननु तत्र निदानमिदं पण्डितनाने यद्वक्तव्यं ।

येणोरिव पर्यस्तु किल परिणमनं सर्वदेहोषु ॥ ४५४ ॥

अर्थ—एक पदार्थमें अलगहनाका यह निदान—सूचक है कि उसके एक देशमें परिणमन होने पर सर्व देशमें परिणमन होता है। निम्न प्रकार किन्हीं दोषोंको एक धाममें क्रियाने पर उसके सभी पर्वों (गोष्ठों) में अर्थात् समस्त धाममें परिणमन (दिश्या) होता है। भावार्थ—वांछायां ह्यहन्त देनेसे विदित है कि दोषाकार अनेक मत्तावाले पदार्थोंको एक ही समस्तता है।

**अथरः—**

तत्र यतस्तद्भेदादकामिव प्रमाणं च नास्ति दृष्टान्तात् ।

केवलमन्यपमात्रादपि वा व्यतिरेकिणश्च तदभिज्ञः ॥ ४६५ ॥

अर्थ—एक देशमें परिणमन होनेसे सर्व देशोंमें परिणमन होगा एक बगुनी कागजतामें निदान नहीं होसकता है। क्योंकि इस बातको सिद्ध करनेवाला य तो बंई प्रमाण ही है और न कोई उसका साधक दृष्टान्त ही है। यदि उपर्युक्त कथन (एक देशमें परिणमन होनेसे सर्व देशमें परिणमन होता है) में अन्यथा व्यतिरेक दोनों परिण होने ही लभ हो उगई सिद्धि हो सकती है, अन्यथा केवल अन्यथाभावसे अथवा केवल व्यतिरेक काव्रता उस बगुनी सिद्धि नहीं हो सकती है। यहां पर सदृश परिणमनकी अपेक्षासे अन्यथा क्या कहेबिबू बन भी जाता है पान्नु व्यतिरेक सर्वथा ही नहीं बनता।

open—

मनु चकारिभन् देशे कश्चिन्मिच्छन्त्यन्यतरेषु हेतुयुक्तान् ।

परिणमति परिणमन्ति हि देवता. सर्वे सदेकनास्तपनिधेन ॥ ४६ ॥

कथं—आजकल किसी अन्यतर एक देशमें परिणमन होने पर सब देशमें ही  
न होला ही है, क्योंकि उन सब मदेशोंकी एक ही मता है। भाष्य—इसका अर्थ  
अन्यतर देशों में है।

354—

५ पनः सव्यभिचारः एतानैवान्निवृत्तदोषद्वयम् ।

परिणमन्ति सम्यग्देशं महंशाः परिणमन्ति चेति यथा ॥४१७॥

अर्थ—तब भी आदेश बलवत्ता बरता है वह हीन नहीं है अतोहे होना समस्त  
अर्थव्यवस्था होर अर्थोसे बलवत्तरी (होरी) है। वह होर समस्त बल है



बाँसका दण्डाल देकर एक देशके परिणमनसे सब देशोंके परिणमन द्वारा दण्डकारने  
ने अलग्ग प्रदेशिता बन्नुमें मिट्ट की भी बड़ हम अन्वय ध्यतिरेकके न करनेमें  
मिट्ट न हो सकी, इसलिये एक सत्ता ही एक बन्नुकी अलग्ग प्रदेशिता की नियमक है ।

एवं यद्यपि दूरादपनेनव्या हि लक्षणाभामाः ।

यद्विशिष्टकारित्वाद्यन्तानधिकारिणोऽनुज्ञाः ॥ ४३० ॥

अर्थ—इसीप्रकार और भी जो लक्षणाभामा हैं उन्हें भी दूरीही छोड़ देना चाहिये ।  
योंकि उनमें किसी कार्यकी सिद्धि नहीं हो पाती, ऐसे विशिष्टकारित्वाद्यन्तानधिकारिणों का  
ए उल्लेख भी नहीं करने हैं । उनका प्रयोग करना अधिकारमें बाहर है ।

काव-विद्या—

कालः समयो यदि या तद्देशं परानावृत्तिभार्याम् ।

तेनाप्यावच्छिन्नतस्याद्भ्यति अदेकं तदेकमप्यंगानाम् ॥ ४३१ ॥

अर्थ—काल, समय अथवा उस देश (बन्नु) में वर्तनाकर आकाशा होना के लीये  
। काले एक हैं । उस कालमें भी बन्नु अवच्छिन्न है । बन्नुमें वह अवच्छिन्न द्रव्यविशेष  
पेशामें कार्य जाती है । भावार्थ—यहां पर कालमें सापेक्ष बाल द्रव्यका मटी है कि-उ  
। तमें है, अथवा प्रायेक बन्नुके कालमें है । जो बाल द्रव्य है वह तो हर एक बन्नुमें  
परिणमनमें उदासीन कारण है बन्नु हर एक द्रव्यके परिणमनमें उदासीन कारण  
होती है । उसी परिणमनशील द्रव्यका यहां सब-बालकी अवस्थामें विचार किया जाना  
। प्रायेक बन्नुके प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है । ऐसे अवस्थाओंमें अवस्था का  
विशेष परिणमनके समुदायका नाम ही द्रव्य है । बन्नुकी एक समयकी अवस्था एक बन्नुमें  
भिन्न है । वह प्रायेक समयमें होनेवाली अवस्था ही एक बन्नुका कारण है । उस कालमें  
पेशामें भी बन्नु अवच्छिन्न और एक है ।

श्लोका ११८ कथन—

अथमर्थः अन्मात्राभिह संस्थाप्य प्रवाहरूपेण ।

मामनो व्यस्तसमस्तमहितस्वतो या विचारयन्नु कृपाः ॥ ४३२ ॥

तद्विचारयन्त्यस्य यथायथाहगतिं सत्त्वमर्थम् ।

सर्वोपररसमुद्दिष्टं तत्तापसाहगतिं सत्त्वमर्थम् ॥ ४३३ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका स्पष्ट अर्थ यह है कि एक पदार्थ के लक्षणोंमें अन्मात्र  
। (मनः) सर्वान् रसोंमें ही प्रवेश करता रहता है । इसलिये सर्वान् रसों में  
प्रवेश करने के लिये ही है । उन पदार्थों के लक्षणों में प्रवेश करने के लिये ही है ।

करें तो वे यह बात समझ लेंगे कि प्रवाहरूपसे होनेवाली क्रमसे भिन्न-भिन्न अवस्था तक पर्याय पदार्थरूप ही है अथवा पदार्थ ही प्रवाहसे होनेवाली उन पर्यायोंस्वरूप है- किसी रूपसे भी पदार्थके ऊपर विचार किया जाय तो यही बात सिद्ध होती है कि पदार्थ एक समयमें होनेवाली अवस्थारूप है- वैसा सम्पूर्ण समयमें होनेवाली अवस्थाओंरूप भी वही है, अथवा वह नितना एक समयमें होनेवाली अवस्थारूप है, उतना ही वह सम्पूर्ण समयमें होनेवाली अवस्थाओंरूप है।

\* न पुनः कालसमृद्धौ यथा शरीरादिवृद्धिरिति वृद्धौ ।

अपि तज्ज्ञानौ हानिर्न तथा वृद्धिर्न हानिरेव सतः ॥ ४७४ ॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि जिसप्रकार कालकी वृद्धि होनेपर शरीरादिकी वृद्धि होती है और कालकी हानि होनेपर शरीरादिकी हानि होती है, उस प्रकार सत्त्वकी भी हानि वृद्धि होनी हो। शरीरादिकी हानि वृद्धिके समान न तो पदार्थकी वृद्धि ही होती है और न हानि ही होती है। भावार्थ जिस प्रकार थोड़े कालका बालक लघु शरीरवाला होता है परन्तु अधिक कालका होनेपर वही बालक हृष्ट पुष्ट-सम्ये चौड़े शरीरवाला युवा-पुरुष होता है। वृद्ध बनस्पतियोंमें भी यही बात देखी जाती है, कालानुसार वे भी अंकुरावस्थासे बढ़कर लम्बे वृक्ष और मत्तमोक्ष हो जाती हैं, उसप्रकार एक पदार्थकी हानिवृद्धि नहीं होती है। उनके स्थितिमें शरीरादि का हस्तान्त विषय है। शरीरादि पुद्गल द्रव्यकी स्थूल पर्याय है और वह अनेक द्रव्योंका समूह है। अनेक परमाणुओंके योजसे बना हुआ स्कन्ध ही जीवशरीर है। उन परमाणुओंकी स्थूलतासे वह स्थूल और उनकी अधिकतासे वह अधिक हो जाता है, परन्तु एक द्रव्यमें ऐसी स्थूलता, अधिकता नहीं होगी है। वह नितना है उतना ही रहता है। पुद्गल द्रव्यमें एक परमाणु भी नितना है वह बढ़ा उतना ही बना रहेगा, उसमें न्यूनापिता कभी कुछ नहीं होगी। उसमें कमिजन किसी प्रकारका भी होता रहे। \*

टीकाकार—

\* ननु भवति पूर्वपूर्वभावस्थैस्तान्नु हानिरेव सतः ।

स्यादपि तदुत्पत्तौ न तदभावात्प्रादेन वृद्धिरेव सतः ॥ ४७५ ॥

० 'न पुनः', के स्थानमें 'न पुनः, वाट लघोविण पुनःकर्म है। वही हीन गती। होगा है। कर्मण एव कर्मणोरे एक कर्म ही प्रतीय होता है।

० 'नेन केवली' अनेकमें वस्तुमें विभक्तिकर्मने विचार देता है देने कावकी भावने उक्त विचार नहीं होता है। केवली भावने तो उनके प्रवेष्टोंका विचार होता है। वस्तुका एक प्रवेष्ट कर्मके कर्म वेदने नहीं रहता है वस्तु कावकी भावने एक द्वायक उक्त वस्तुके कर्म केवले पद है अनेक कर्मोंके एक द्वायक ही कर्मका हीन है उक्त ही द्वायक जो है।

\* ननु पुनःकर्म है-नेके स्थानमें वृद्धि और वृद्धिने स्थानमें वृद्धि एव है न हीन गती है।

होता है । अर्थात् उसमें न तो कोई गुण कहीं चला जाता है और न कोई कहींसे आता है । यह नितना है सदा उतना ही रहता है ।

सप्त विवेचन—

अयमर्थो वस्तु यदा तद्वरेण विवक्षितकभावेन ।

तन्मात्रं सदिति स्यात्सन्मात्रः स च विवक्षितो भावः ॥४८४॥

यदि पुनरन्यतरेण हि भावेन विवक्षितं सदैव स्यात् ।

तन्मात्रं सदिति स्यात्सन्मात्रः स च विवक्षितो भावः ॥४८५॥

अर्थ—जिस समय जिस विवक्षित भावसे वस्तु कही जाती है, उस समय वह उसी समय प्रतीत होती है, और वह विवक्षित भाव भी सत्स्वरूप प्रतीत होता है, यदि किसी और भावसे वस्तु विवक्षित की जाती है तो वह उसी भावमय प्रतीत होती है और वह विवक्षित भाव भी उसी रूप ( सत्स्वरूप ) प्रतीत होता है । भावार्थ—जिस समय जिस वस्तु की विवक्षा की जाती है, उस समय सम्पूर्ण वस्तु उसी भावरूप प्रतीत होती है बाकीके सब गुण उसीके अंतर्गत् हो जाते हैं । इसका कारण भी उनका तादात्म्य भाव है ।

इष्टम्—

अत्रापि च संदृष्टिः कनकः पीतादिमानिहास्ति यथा ।

पीतेन पीतमात्रो भवति गुरुतादिना च तन्मात्रः ॥४८६॥

न च विविधत्वात् किञ्चित्स्निग्धत्वमास्ति गुरुता च ।

तेषामिह समवायादस्ति सुपर्णस्त्रिमस्यसत्तातः ॥४८७॥

इदमत्र तु तात्पर्यं यत्प्रतीतत्वं गुणः सुपर्णस्य ।

अन्तर्लानगुस्त्वदि पश्यते तद्गुरुत्वेन ॥४८८॥

अर्थ—वस्तु जिस भावसे विवक्षित की जाती है उसी भावमय प्रतीत होती है, इस विषयमें कनक ( सोना ) का दृष्टान्त भी है । सुपर्णमें पीलापन भारीपन, चमकीलापन आदि अनेक गुण हैं । उस समय वह पीत गुणसे विवक्षित किया जाता है उस समय वह पीत मात्र ही प्रतीत होता है । उसी समय वह सुपर्ण गुरुत्व गुणसे विवक्षित किया जाता है उस समय वह गुरु रूप ही प्रतीत होता है । ऐसा नहीं है कि उस सोनेमें कुछ तो पीतमा हो, कुछ स्निग्धमा हो, और कुछ गुरुमा हो, और उन सबके स्मवायसे तीन सत्ताओवाला एक सोना बहलता हो । \*

\* स्मवायार्थेन, गुण गुणिका सत्ता केद मानता है । सोनेमें वा चमकान, भारीपन और गुण है उन्हें वह सोनेसे सर्वथा कुछ ही मानता है, और तादात्म्य गुणही विवक्षित भी मानता है, ' वस्तु देवा उसका मानना सर्वथा सत्य है । और तादात्म्य ही विवक्षित सत्ता है जो गुण इत्य बहलाना चाहिये । क्योंकि इत्य



अर्थ—भाव, परिणाम, शक्ति, विशेष, स्वभाव, प्रकृति, स्वरूप, लक्षण, गुण, धर्म ये सब भावके ही पर्यायवाचक हैं ।

तेनाखण्डतया स्यादेकं सच्चैकदेशनययोगात् ।

तद्वक्षणाभिदमधुना विधीयते सावधानतया ॥ ४८० ॥

अर्थ—उस भावसे सत् अखण्ड है । इसलिये एक देश नयसे (गुणोंकी अखण्डताके कारण) वह कथंचित् एक है । भावकी अपेक्षासे सत् एक है । इस विषयका लक्षण (स्वरूप) सावधानीसे इस समय कहा जाता है—

सर्वं सदिति यथा स्यादिह संस्थाप्य गुणपंक्तिरूपेण ।

पश्यन्तु भावसादिह निःशेषं सन्नशेषमिह किञ्चित् ॥ ४८१ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण सत्को गुणोंकी पंक्तिरूपसे यदि स्थापित किया जाय तो उस सम्पूर्ण सत्को आप भावरूप ही देखेंगे, भावों (गुणों) को छोड़कर सत्में और कुछ भी आपकी दृष्टिमें न आवेगा । भावार्थ—सत् गुणका समुदाय रूप है, इसलिये उसे यदि गुणोंकी दृष्टिमें देखा जाय तो वह गुण-भावरूप ही प्रतीत होगा । उस समय गुणोंके सिवा उसका भिन्न रूप कुछ नहीं प्रतीत होगा । जैसे स्कन्ध, शाखा, डाली, गुच्छा, पते, फल, फूलभारि वृक्षके अवयवोंको अवयव रूपसे देखा जाय तो फिर समग्र वृक्ष अवयव स्वरूप ही प्रतीत होता है । अवयवोंने भिन्न वृक्ष कोई वस्तु नहीं ठहरता है । क्योंकि अवयवसमुदाय ही तो वृक्ष है । वैसे ही एक द्रव्यके-द्रव्यत्व, यस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशवत्त्व, अगुरुत्व, अस्तित्व, ज्ञान, दर्शन, श्रुति, धीर्घ, रूप, रस, अमूर्तित्व आदि गुणोंको गुण रूपमें देखा जाय तो फिर उनमें भिन्न द्रव्य कोई पदार्थ शेष नहीं रह जाता है । क्योंकि गुणसमुदाय ही तो द्रव्य है इसलिये भावकी विवशतामें पदार्थ भावमय ही है ।

एकं तत्रान्यतरं भावं समपेक्ष्य यायदिह सदिति ।

मयानिपि भावानिह व्यस्तसमस्तानपेक्ष्य मरतायत् ॥ ४८२ ॥

अर्थ—उन सम्पूर्ण भावों (गुणों) में से अब किसी एक भावकी विवशता की मानी है तो संतुलन सत् उन्मीकृत (तन्मय) प्रतीत होता है । इसी प्रकार भिन्न २ भावोंकी अपेक्षा समग्र भावोंकी विवशता करनेमें सत् भी तनता ही प्रतीत होता है ।

न पुनर्द्वन्द्वकादिरिति स्कन्धः पुद्गलमयोऽस्त्यणूनां हि ।

अपुरवि भवति अपुन्ये सानि न महत्ये महानिहास्ति यथा ॥ ४८३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार पुद्गलमय द्रव्यपुद्गलदि स्कन्ध परमाणुओंके सम होनेमें द्रव्य और द्रव्य के द्वन्द्व होनेमें बढ़ा हो जाता है, उस प्रकार सत्में छोटीयत और बड़ीयत नहीं

होता है । अर्थात् हमने न तो कोई गुण बर्णित किया जाता है और न कोई कर्त्तृत्वे आनाता है । यह निश्चय है कि उनका ही रत्ना है ।

॥४८८॥ विवेचन—

अथमर्थो यन्मु यदा तदायेन विवक्षितं तन्मायेन ।

तन्मायेन नदिति स्यात्तन्मायेन स च विवक्षितो भावः ॥४८८॥

यदि पुनस्तन्मायेन हि भावेन विवक्षितं सदेव स्यात् ।

तन्मायेन नदिति स्यात्तन्मायेन स च विवक्षितो भावः ॥४८९॥

अर्थ—जिस समय जिस विवक्षित भावमें यन्मु कही जाती है, उस समय वह उसी भावमय प्रतीत होती है, और यह विवक्षित भाव भी सामान्य प्रतीत होता है, यदि किसी हमने भावमें यन्मु विवक्षित की जाती है तो वह उसी भावमय प्रतीत होती है और वह विवक्षित भाव भी उसी रूप (सामान्य रूप) प्रतीत होता है । भावार्थ—जिस समय जिस भावकी विवक्षा की जाती है, उस समय यन्मुमें यन्मु उसी भावरूप प्रतीत होती है बाकीके सब गुण उसीके अनर्थान् हो जाते हैं । इसका कारण भी उनका तादात्म्य भाव है ।

॥४९०॥

अथापि च संहतिः कनकाः पीतादिमानिहास्ति यथा ।

पीतेन पीतमात्रो भवति गुणस्तदिना च तन्मात्रः ॥४९०॥

न च किञ्चित्पीतत्वं किञ्चित्स्निग्धत्वमस्ति गुरुता च ।

नैवामिह समवायादस्ति गुणोन्निमित्तस्य सत्ताकः ॥४९१॥

इदमत्र तु तात्पर्यं यन्पीतत्वं गुणः गुणोत्पत्तिः ।

अन्तर्धानगुणत्वादि पक्षयते तद्गुणत्वेन ॥४९२॥

अर्थ—यन्मु जिस भावमें विवक्षित की जाती है उसी भावमय प्रतीत होती है, इस विषयमें गुणों (सोना)का दृष्टान्त भी है । गुणोंमें पीलापन भारीपन, चमकीलापन आदि अनेक गुण हैं । जिस समय वह पीत गुणमें विवक्षित किया जाता है उस समय वह पीत मात्र ही प्रतीत होता है । तथा जिस समय वह गुरु गुणमें विवक्षित किया जाता है उस समय वह गुरु रूप ही प्रतीत होता है । ऐसा नहीं है कि उस सोनेमें कुछ तो पीतमा हो, कुछ स्निग्धता हो, और कुछ गुरुता हो, और उन सबके समवायमें तीन सत्ताओंवाला एक सोना कहलाता हो । \*

\* व्याख्यान—गुण गुणीका सत्ता कह मन्ता है । सोनेमें जा पीलापन, भारीपन आदि गुण हैं और वह सोनेमें सर्वथा जुड़ा हो मन्ता है, और प्रत्येक गुणकी भिन्न २ सत्ता भी मन्ता है, यन्मु ऐसा उसका मानना सर्वथा बाधित न है । प्रत्येक गुणकी भिन्न भिन्न सत्ता है जो गुण द्वारा कहलाना चाहिए ।

यहां पर इतना ही तात्पर्य है कि जो सोनेका पीत गुण है उसके गुरुत्व आदिक गुण अन्तर्भूत हैं इसलिये सोना केवल गुरुत्वगुणके द्वारा भी कहा जाता है। भावार्थ—सोनेके पीतत्व, गुरुत्व, स्निग्धत्व, आदि सभी गुणोंमें तादात्म्य है। वे सब अभिन्न हैं, इसलिये विवक्षित गुण प्रधान हो जाता है बाकीके सब उसीके अन्तर्लीन हो जाने हैं। सोना उस समय विवक्षित गुणरूप ही सब ओरसे प्रतीत होता है।

**ज्ञानत्वं जीवगुणस्तादिह विवक्षावशात्सुखत्वं स्यात् ।**

**अन्तर्लीनत्वादिह तदेकसत्त्वं तदात्मकत्वाच्च ॥ ४८९ ॥**

अर्थ—जीवका जो ज्ञान गुण है, वही विवक्षावश सुस्वरूप हो जाता है, क्योंकि सुख गुण ज्ञान गुणके अन्तर्लीन (भीतर छिपा हुआ) रहता है। इसलिये विवक्षा करने पर ज्ञान सुस्वरूप ही प्रतीत होने लगता है। जिस समय जीवको सुख गुणसे विवक्षित किया जाता है, उस समय वह सुखस्वरूप ही प्रतीत होता है। उस समय जीवके ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य आदि सभी गुणोंकी सुख स्वरूप ही एक सत्ता प्रतीत होती है।

शंकाकार—

**ननु निर्गुणा गुणा इति सूत्रे सूक्तं प्रमाणतो वृद्धैः ।**

**तत्किं ज्ञानं गुण इति विवक्षितं स्यात्सुखत्वेन ॥ ४९० ॥**

अर्थ—सूत्रकार—पूर्वमहर्षियोंने गुणोंका लक्षण बतलाते हुए उन्हें निर्गुण बतलाया है, ऐसा सूत्रभी है—‘द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः’ और यह बात सप्रमाण सिद्ध की गई है, फिर किस प्रकार जीवका ज्ञान गुण सुख रूपसे विवक्षित किया जा सकता है।

भावार्थ—जब एक गुणमें दूसरा गुण रहता ही नहीं है ऐसा सिद्धान्त है तब ज्ञानमें सुखकी अंतर्लीनता अथवा सुखमें ज्ञानकी अन्तर्लीनता यहां पर क्यों बतलाई गई है।

उत्तर—

**सत्यं लक्षणभेदाद्गुणभेदो निर्घिलक्षणः स स्यात् ।**

**तेषां तदेकसत्त्वादखण्डितत्वं प्रमाणतोऽध्यक्षात् ॥ ४९१ ॥**

अर्थ—ठीक है, परन्तु बात यह है कि गुणोंमें जो भेद है वह उनके लक्षणोंके भेदमें है। वह ऐसा भेद नहीं है कि गुणोंको सर्वथा जुदा २ सिद्ध करनेवाला हो। उन

जैसे मित्र सत्तावाला स्वतन्त्र है वैसे गुण भी मित्र सत्तावाला स्वतन्त्र होना चाहिये। वह दोनों ही स्वतन्त्र हैं तो एक गुण दूसरा गुणों पर व्यवहार कैसे होसकता है। दूसरी बात यह भी है कि जब गुण द्रव्यके सर्वथा जुदा हैं तो वे जिन प्रकार समवाय सम्बन्धमें एक द्रव्यके साथ रहते हैं उस प्रकार किसी अन्य द्रव्यके साथ भी रह सकते हैं, फिर अमुक द्रव्यका ही अमुक गुण है अथवा अमुक गुण अमुक द्रव्यमें ही रहता है, इस प्रतीतिका सर्वथा कोई उदाहरण। इन दृष्टान्तोंके विषय और भी अनेक दृष्टान्त गुण गुणोंको सर्वथा भेद माननेमें आते हैं।

सम्पूर्ण गुणोंकी एक ही सत्ता है इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाणसे उनमें असङ्गता—अभेद सिद्ध है ।  
 भाषार्थ—जो पूर्वमहर्षियोंने 'द्रव्याभ्रयानिर्गुणा गुणाः' इस सूत्र द्वारा बतलाया है, उसका  
 और इस कथनका एक ही आशय है । शंकाकारको जो उन दोनोंमें विरुद्धता प्रतीत होती  
 है उसका कारण उसकी असमझ है । उसने अपेक्षाको नहीं समझा है । अपेक्षाके समझनेपर  
 भिन्न बानोंमें विरोध प्रतीत होता है, उन्हींमें अविरोध प्रतीत होने लगता है । सूत्रकारोने  
 गुणोंमें लक्षण भेदसे भेद बतलाया है । लक्षणकी अपेक्षासे सभी गुण परस्पर भेद रखते हैं ।  
 जो ज्ञान है वह दर्शन नहीं है, जो दर्शन है वह चारित्र्य नहीं है, जो चारित्र्य है वह वीर्य  
 नहीं है, जो वीर्य है वह सुख नहीं है, क्योंकि सभी गुणोंके भिन्न २ कार्य प्रतीत होते हैं ।  
 इसलिये लक्षण भेदसे सभी गुण भिन्न हैं । एक गुण दूसरे गुणमें नहीं रह सकता है । ज्ञानका  
 लक्षण वस्तुको जानना है । सुखका लक्षण आनन्द है । जानना आनन्द नहीं हो सकता है ।  
 आनन्द बात दूसरी है, जानना बात दूसरी है । ऐसा भेद देखा भी जाता है कि जिस समय  
 कोई विद्वान् किसी ग्रन्थको समझने लगता है तो उसे उसके समझनेपर आनन्द आता है \*  
 हमने यह बात सिद्ध होती है कि ज्ञान दूसरा है, सुख दूसरा है । इसी प्रकार चारित्र्य, वीर्य  
 आदि सभी गुणोंके भिन्न २ कार्य होनेसे सभी भिन्न हैं । इसलिये निर्गुणा गुणाः, इस सूत्रका  
 आशय गुणोंमें गुणवैत ही है । साथ ही दूसरी दृष्टिसे विचारने पर ये सभी गुण एक रूप  
 ही प्रतीत होने हैं । क्योंकि सब गुणोंको एक ही सत्ता है । भिन्नकी एक सत्ता है वे किसी  
 प्रकार भिन्न नहीं कहे जासकते हैं । यदि सत्ताके अभेदमें भी भेद माना जाय तो किसी  
 वस्तुमें अभिन्नता और स्वतन्त्रता आदी नहीं सकी है । ज्ञान दर्शन सुख आदि अभिन्न  
 हैं, ऐसी प्रतीति भी होती है, जिस समय जीवको ज्ञानी कहा जाता है उस समय विचार  
 करने पर सम्पूर्ण जीव ज्ञानमय ही प्रतीत होता है । दृष्टा कहने पर वह दर्शनमय ही  
 प्रतीत होता है । सुखी कहने पर वह सुखमय ही प्रतीत होता है । ऐसा नहीं है कि ज्ञानी  
 कहने पर जीवमें कुछ अंश तो ज्ञानमय प्रती होता हो, कुछ दर्शनमय होता हो और कुछ  
 अंश सुखमय प्रतीत होता हो । किन्तु सर्वांश ज्ञानमय ही प्रतीत होता है । सुखी कहने पर  
 सर्वांशरूपसे जीव सुखमय ही प्रतीत होता है, यदि ऐसा न माना जाय तो ज्ञानी कहनेसे  
 सम्पूर्ण जीवका बोध नहीं होना चाहिये अथवा दृष्टा और सुखी कहनेसे भी सम्पूर्ण जीवका

\* किसी ग्रन्थके समझने पर जो आनन्द आता है वह सदा सुख नहीं कहा जा सकता ।  
 क्योंकि उसमें रागभाव है । उसे सुख गुणका वैनायक परमाण्व कहनेमें कोई हानि नहीं होसकती ।  
 वह ज्ञान गुणका भेद साधक बहुत स्थूल दृष्टा-उ हे टी० दृष्टान्त सम्यग्दृष्टिके स्वानुभव और सुखका  
 है । जिस समय आत्मा निजका अनुभव करता है उसी समय उसे अचोकेक आनन्द आता  
 है । वही आनन्द सच्चा सुख है । परन्तु वह अनुभव-ज्ञानसे भ्रष्ट है ।

बोध नहीं होता कहिये। किन्तु उसके एक अंशका ही बोध होता कहिये। यन्तु ऐसा ही नहीं होता है। इत्यदिने किसी वस्तु पर विचार करनेमें यह यन्तु अभिन्न गुणों का ही प्रतीति होती है। ऐसी प्रतीतिमें गुणोंमें अत्यन्तता अभिजाती होती है। गुणों ही अभिजातमें विचरित गुणोंके अन्तर्गत इतर सा गुणोंका होना भी माने गिर।

साधक—

तस्मादनवयमिदं भावेनाप्यपिदं सदेकं स्यात् ।

तदपि विवक्षावशात् स्यादिति सत्यं न सत्यं चेति नाना ॥ ४९ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनमें यह बात निरीक्षण रीतिमें सिद्ध हो चुकी कि भावोंके अनेक अर्थोंमें एक है। इतना निरीक्षण समझना चाहिये कि यह भावोंकी एकता सिद्ध होती है। सत्यता एकता उभयमें अभिन्न ही है, क्योंकि यन्तुमें एकता और अनेकता का अन्तर्गत सिद्ध हो ही है।

एते भावनि सदेकं भवन्ति न तदपि न निरेकतांति ॥

तद्विषये स्यादिति सिद्धं सत्यनिर्वादे नाना प्रमाणात् ॥ ५० ॥

अर्थ—उपर्युक्त के अनुसार यह भावोंका एक नहीं है। उभयका प्रमाण ही यह है। इतना ही निरीक्षणमें अनेक ही है।

अपि न तद्विषये सदेकं तद्विषये विवक्षावशात् ॥

तद्विषये विवक्षावशात् सत्यनिर्वादे नाना प्रमाणात् ॥ ५१ ॥

अर्थ—उपर्युक्त के अनुसार यह भावोंका अनेक ही है। उभयका प्रमाण ही यह है। इतना ही निरीक्षणमें अनेक ही है।

साधक—

तस्मादनवयमिदं भावेनाप्यपिदं सदेकं स्यात् ।

तदपि विवक्षावशात् स्यादिति सत्यं न सत्यं चेति नाना ॥ ५२ ॥

अर्थ—उपर्युक्त के अनुसार यह भावोंका अनेक ही है। उभयका प्रमाण ही यह है। इतना ही निरीक्षणमें अनेक ही है।

धन विचार—

यत्सप्तदेकदेशो तद्देशो न तद्वितीयेषु ।

अपि तद्वितीयदेशो सदनेकं क्षेत्रतश्च को नेच्छेत् ॥ ४९६ ॥

अर्थ—जो सत् एक देशमें है वह उसी देशमें है । वह दूसरे देशोंमें नहीं है । और जो दूसरे देशमें है वह उसीमें है, वह अन्यमें नहीं है । इसलिये क्षेत्रकी अपेक्षासे सत् अनेक है, इस बातको कौन नहीं चाहेगा ?

काल विचार—

यत्सप्तदेककाले तत्तत्काले न तदितरत्र पुनः ।

अपि सप्तदितरकाले सदनेकं कालतोपि तदवश्यम् ॥ ४९७ ॥

अर्थ—जो सत् एक कालमें है, वह उसी कालमें है, वह दूसरे कालमें नहीं है, और जो सत् दूसरे कालमें है वह पहलेमें अथवा तीसरे आदि कालोंमें नहीं है इसलिये कालकी अपेक्षासे भी सत् अनेक अवश्य है ।

भाव विचार—

तन्मात्रत्वादेको भावो यः स न तदन्यभायः स्यात् ।

अयति च तदन्यभायः सदनेकं भावतो भवेन्नियतम् ॥ ४९८ ॥

अर्थ—जो एक भाव है वह अपने स्वरूपमें उसी प्रकार है, वह अन्यभावरूप नहीं हो सका है, और जो अन्यभाव है वह अन्यरूप ही है वह दूसरे भाव रूप नहीं हो सका है, इसलिये भावकी अपेक्षासे भी नियमसे सत् अनेक है ।

क्षोपो विधिरुक्तत्वादत्र न निर्दिष्ट एव दृष्टान्तः ।

अपि गौरवप्रसङ्गाद्यदि वा पुनरुक्तदोषभयात् ॥ ४९९ ॥

अर्थ—भाकीकी विधि (सत् नित्य अनित्य भिन्न आदिरूप) पहले ही कही जा चुकी है, इसलिये वह नहीं बड़ी जाती है । गौरवके प्रसंगसे अथवा पुनरुक्त दोषके भयमें उस विषयमें दृष्टान्त भी नहीं कहा जाता है ।

कारण—

तस्माद्यदिह भदेकं सदनेकं स्यात्तदेव युक्तियशात् ।

अन्यतरस्य पिलोपे शोषविलोपस्य दुर्निवारत्वात् ॥ ५०० ॥

अर्थ—इसलिये जो सत् एक है वही युक्तिवशसे अनेक भी सिद्ध होता है । यदि एक और अनेक इन दोनोंमेंसे किसी एकका लोप कर दिया जाय तो दूसरेका लोप भी दुर्निवार—अवश्यम्भावी है, अर्थात् एक दूसरेकी अपेक्षा रखता है । दोनोंकी सिद्धिमें दोनोंकी सापेक्षता ही कारण है । एक की असिद्धिमें दूसरेकी जमिद्वि स्वयं सिद्ध है ।

सर्वथा एक माननेमें दोष—

अपि सर्वथा सदेकं स्यादिति पक्षो न साधनायालम् ।

इह तदवयवाभावे नियमात्सदवयविनोप्यभावस्यात् ॥५०१॥

अर्थ—सत् सर्वथा एक है, यह पक्ष भी वस्तुकी सिद्धि करानेमें समर्थ नहीं है। वस्तुके अवयवोंके अभावमें वस्तुरूप अवयवी भी नियमसे सिद्ध नहीं होता है।

सर्वथा अनेक माननेमें दोष—

अपि सद्नेकं स्यादिति पक्षः कुशलो न सर्वथेति यतः ।

एकमनेकं स्यादिति नानेकं स्यादनेकमेकैकात् ॥ ५०२ ॥

अर्थ—सत् सर्वथा अनेक है यह पक्ष भी सर्वथा ठीक नहीं है। क्योंकि एक एक मिलकर ही अनेक कहलाता है। अनेक ही अनेक नहीं कहलाता। किन्तु एक एक संख्याके जोड़से ही अनेक सिद्ध होता है। भावार्थ—ऊपरके श्लोकोंद्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत्में अनेकत्व सिद्ध किया गया है। उनसे पहलेके श्लोकोंद्वारा सत्में एकत्व—अखण्डता सिद्ध की गई है। अखण्डताके विषयमें ऊपर स्पष्ट विवेचन किया जा चुका है। यहां पर संशेषसे भेदपक्ष—अनेकत्व दिखला देना अयुक्त न होगा। वस्तुमें लक्षण भेदसे द्रव्य शुद्धा, गुण शुद्धा—पर्याय जुड़ी प्रतीत होती है। इसलिये द्रव्यकी अपेक्षासे वस्तु अनेक है। वस्तु जितने प्रदेशोंमें विष्कम्भ क्रमसे विस्तृत है उन प्रदेशोंमें जो प्रदेश निम्न क्षेत्रमें हैं वह वहीं हैं और दूसरे, दूसरे क्षेत्रोंमें जहाँकें तहाँ हैं, वस्तुका एक प्रदेश दूसरे प्रदेशपर नहीं जाता है, यदि एक प्रदेश दूसरे प्रदेश पर चला जाय तो वस्तु एक प्रदेश मात्र ठहरेगी। इसलिये प्रदेश भेदसे वस्तु क्षेत्रकी अपेक्षासे अनेक है। तथा जो वस्तुकी एक समयकी अवस्था है वह दूसरे समयकी नहीं कही जा सकती, जो दूसरे समयकी अवस्था है वह उसी समयकी कहलायगी वह उससे भिन्न समयकी नहीं कही जायगी। इसलिये वस्तु कालकी अपेक्षासे अनेक है और जो वस्तुका एक गुण है वह दूसरा नहीं कहा जा सकता, जो पुद्गल (मड़) का रूप गुण है वह गन्ध अथवा रस नहीं कहा जा सकता। जितने गुण हैं सभी लक्षण भेदसे भिन्न हैं। इसलिये भावकी अपेक्षासे वस्तु अनेक है। इसप्रकार अपेक्षा भेदसे वस्तु कथञ्चित् एक और कथञ्चित् अनेक है। जो विद्वान् एक अनेक, भेद—अभेद, नित्य—अनित्य आदि धर्मोंको परस्पर विरोधी बनाने हुए उनमें संशय विरोध, वैयधिकरण, संकर, व्यतिकर आदि दोष सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं, उनकी ऐसी अप्रामाण्य चेष्टा मूर्खोंमें अन्धकार सिद्ध करनेके समान प्रत्यक्ष बाधित है, उन्हें वस्तुस्वरूप पर दृष्टि डालकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेकी चेष्टा करना चाहिये।





अर्थ—अथवा ज्ञान विकल्पका नाम ही नय है । अर्थात् विकल्पात्मक ज्ञानको नय कहते हैं—और जितना विकल्प है वह सब अपरमार्थ—अयथार्थ है क्योंकि शुद्ध ज्ञान नय नहीं कहा जाता है, और न शुद्ध ज्ञेय ही नय कहा जाता है । किंतु ज्ञान और ज्ञेय, इन दोनोंके योग—सम्बन्धसे ही नय कहा जाता है । इसीलिये वह अयथार्थ है ।

स्पष्ट विवेचन—

**ज्ञानविकल्पो नय इति तद्वेयं प्रक्रियापि संयोज्या ।**

**ज्ञानं ज्ञानं न नयो नयोपि न ज्ञानमिह विकल्पत्वात् ॥५०७॥**

अर्थ—ज्ञान विकल्प नय है इस विषयमें यह प्रक्रिया (शैली) लगानी चाहिये कि ज्ञान तो ज्ञानरूप ही है, ज्ञान नयरूप नहीं है । जो नय है वह ज्ञानरूप नहीं है, क्योंकि नय विकल्प स्वरूप है । भावार्थ—शुद्ध ज्ञान नयरूप नहीं है । किंतु विकल्पात्मक ज्ञान नय है ।

**उन्मज्जति नयपक्षो भवति विकल्पो विवक्षितो हि यदा ।**

**न विवक्षितो विकल्पः स्वयं निमज्जति तदा हि नयपक्षः ॥५०८॥**

अर्थ—जिस समय विकल्प विवक्षित होता है उस समय नय पक्ष भी प्रकट होता है । जिस समय विकल्प विवक्षित नहीं होता है, उस समय नय पक्ष भी स्वयं छिप जाता है । अर्थात् जहाँ पक्षमें किसी अपेक्षा विशेषसे विवक्षित होता है वहींपर नय पक्ष स्वकार्यदर्श होता है ।

दृष्टान्त—

**मंदष्टिः स्पष्टेयं स्यादुपचाराशया घटज्ञानम् ।**

**ज्ञानं ज्ञानं न घटो घटोपि न ज्ञानमस्ति स इति घटः ॥५०९॥**

अर्थ—यह दृष्टान्त स्पष्ट ही है कि जैसे उपचारसे घटको विषय करनेवाले ज्ञानको घटज्ञान कहा जाता है । वास्तवमें ज्ञान घट रूप नहीं हो जाता, और न घट ही ज्ञान रूप हो जाता है । ज्ञान ज्ञान ही रहता है तथा घट घट ही रहता है । भावार्थ—ज्ञानका स्वभाव जानना है । दृष्टांत बम्बु उमका ज्ञेय पड़नी है । फिर घटको विषय करनेवाले ज्ञानको घट ज्ञान क्यों कह दिया जाता है, ? उत्तर—उपचारसे । उपचारका कारण भी विकल्प है । यद्यपि घटसे ज्ञान भविका मिश्र है, तथापि ज्ञानमें घट, यह विकल्प अवश्य पड़ा है । इसीसे उस ज्ञानको घटज्ञान कह दिया जाता है ।

दृष्टान्त—

**इदमथ तु तात्पर्यं हेतुः मर्या नयो विकल्पात्मका ।**

**वस्तुनानिव दुर्यारः प्रयत्नने किल तथापि घटान् ॥ ५१० ॥**

अर्थ—जबकि विषयमें बड़ी मर्याद है कि जितना भी विकल्पात्मक नय है मर्याद

त्याग्य (छोड़ने योग्य) है । यहाँपर संशय होसकती है कि जब विकल्पात्मक नय सभी छोड़ने योग्य है फिर क्यों कहा जाता है । उत्तर—यद्यपि यह बात ठीक है तथापि उसका कहना आवश्यक प्रतीत होता है । इसलिये वह बलवान्के समान बलपूर्वक प्रवर्तित होता ही है अर्थात् उसका प्रयोग करना ही पड़ना है । यह यद्यपि त्याग्य है तथापि वह दुर्वार है । भावार्थः—विकल्पात्मक—नय सम्पूर्ण पदार्थके स्वरूपको नहीं कर सकता है । इसका कारण भी यह है कि यह पदार्थको अशंकपसे ग्रहण करता है । इस लिये उपादेय नहीं है । तथापि उसके बिना कहे हुए भी पदार्थव्यवस्था नहीं जानी जासकती है, इसलिये उसका कहना भी आवश्यक ही है ।

नयस्यापि विकल्पात्मक हे—

अथ तद्यथा यथा सत्सन्मात्रं मन्यमान इह कश्चित् ।

न विकल्पमतिक्रामति सन्निति विकल्पस्य दुर्निवारत्वात् ॥६१॥

अर्थः—जितना भी नय है सब विकल्पात्मक है इसी बातको यहाँ पर स्पष्ट करते हैं । जैसे किसी पुरुषने सन्में कोई विकल्प नहीं समझा हो केवल उसे उसने सन्मात्र सत्स्वरूप ही समझा हो तो वहाँ पर भी विकल्पातीत उसका ज्ञान नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि 'सन्' यह विकल्प उसके ज्ञानमें आसुका ही है, वह दुर्निवार है, अर्थात् सन् इस विकल्पको तो कोई उसके ज्ञानसे दूर नहीं कर सकता । भावार्थः—सम्पूर्ण विकल्पमान भेद शान्तको छोड़कर केवल जिसने पदार्थको सन्मात्र ही समझा है उसका ज्ञान भी विकल्पात्मक ही है क्योंकि उसके ज्ञानमें सत्, वह विकल्प आसुका है । सन् भी तो पदार्थका एक अंग ही है ।

स्थूलं वा सूक्ष्मं वा वाक्यान्वर्जस्वमाध्वर्णमयम् ।

ज्ञानं तन्मयमिति वा नयकल्पो वाग्विलासत्वात् ॥६२॥

अर्थ—स्थूल अथवा सूक्ष्म जो वाक्यान्व (स्पष्टबोलना) और अन्तर्नेत्र (मन ही मनमें बोलना) है वह सब वर्णमय है और वह नयरूप है, क्योंकि वह वचन चिन्त्यात्मरूप है । जितना भी वचनात्मक वचन है सब नयात्मक है तथा उन वचनोंका जो बोध है ज्ञान है वह भी नयरूप ही है । क्योंकि वचनोंके समान उसने भी वस्तुके विरहित अंगको ही विषय किया है । भावार्थः—वाक्य तथा वाच्य बोध दोनों ही नयात्मक हैं ।

अथवा -

अवलोक्य पस्तुधर्मं प्रतिनियतं प्रतिविशटमकैकम् ।

संज्ञाकरणं यदि वा तद्विशुद्धचर्यते च नयः ॥ ६३ ॥





अर्थ—पर्यायार्थिक नय कहो अथवा व्यवहार नय कहो दोनोंका एक ही उपाचारमात्र है। भावार्थ व्यवहार नय पार्थक्यार्थ रूपको नहीं कहता है, व पदार्थमें भेद करता है, वास्तव दृष्टिसे पदार्थ वैसा नहीं है, इसलिये व्यवहार नय फलन करता है। पर्यायार्थिक नय भी व्यवहारनयका ही दूसरे नाम है, क्योंकि नय वस्तुके किसी विवक्षित अंशको ही विषय करता है। इसलिये वह भी वस्तुमें करता है। अतः दोनों नयोंका एक ही अर्थ है यह बात सुसिद्ध है।  
व्यवहारनयका स्वरूप—

व्यवहरणं व्यवहारः स्यादिति शब्दार्थतो न परमार्थः ।  
स यथा गुणगुणिनोरिह सदभेदे भेदकरणं स्यात् ॥६२२॥

अर्थ—किसी वस्तुमें भेद करनेका नाम ही व्यवहार है, व्यवहारनय शब्दार्थ—विवक्षाके आधार पर है अथवा शब्द और अर्थ दोनोंहीसे अपरमार्थ है। वास्तवमें वह न वस्तुके यथार्थ रूपको नहीं कहता है इसलिये यह परमार्थभूत नहीं है। जैसे—यद्यपि हर अभिन्न—अखण्ड है तथापि उसमें 'यह गुण है' यह गुणी है, इसप्रकार गुण गुणीका भेद करना ही इस नयका विषय है।

साधारणगुण इति वा यदि याऽसाधारणः सतस्तस्य ।  
भयति विषयो हि यदा व्यवहारनयस्तदा श्रेयान् ॥६२३॥

अर्थ—पदार्थका सामान्य गुण हो अथवा विशेष गुण हो, जो जिस समय विवक्षित होता है उन्ही समय उसे व्यवहारनयका यथार्थ विषय समझना चाहिये। अर्थात् विवक्षित गुण ही गुण गुणीमें भेद सिद्ध करता है, वह व्यवहारनयका विषय है। यहां पर यह शंका की जा सकती है कि जब व्यवहारनय वस्तुमें भेद सिद्ध करता है तथा उसके यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादक नहीं है तो फिर उसके विवेचन ही क्यों किया जाता है, अर्थात् उससे न केही उपयोगी फलही मिले ही नहीं होती तो उसके मानना ही निष्फल है। इस कारणमें व्यवहारनयका फल नीचेके श्लोकसे प्पष्ट होता है—  
फलमास्तिक्यमितिः स्यादन्नन्तर्धर्मकधर्मिणस्तस्य ।

अर्थ—व्यवहारनयका फल पदार्थमें आन्तरिकगुणोंका होना है, व्यवहारनय वस्तुमें गुणोंका पुत्र है, वह बात मानी जाती है। क्योंकि गुणोंकी वस्तुमें गुणोंका मन्त्राव मिट होता है और गुणोंके मन्त्रावमें गुणी द्रव्यका मन्त्राव न अनुमाने जाता है। यथार्थ—व्यवहार नयके बिना पदार्थ विवक्षित होना ही नहीं संभव है अतः ही व्यवहार नयमें पदार्थका गुण ही फल है।

किया जाता है, कभी दर्शनगुण, कभी चारित्र्य, कभी सुख, कभी वीर्य, कभी सम्यक्त्व, कभी अस्तित्व, कभी वस्तुत्व, कभी द्रव्यत्व इत्यादि सब गुणोंको क्रमशः विवक्षित करनेसे यह बात ध्यानमें आनाती है कि नीच द्रव्य अनन्त गुणोंका पुत्र है । साथ ही इस बातका भी परिशान (व्यवहार नयमें) होनाता है कि ज्ञान, दर्शन, सुख, चारित्र्य, सम्यक्त्व, ये जीवके विशेष गुण हैं, क्योंकि ये गुण जीवके सिवा अन्य किसी द्रव्यमें नहीं पाये जाते हैं, और अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व आदि सामान्य गुण हैं, क्योंकि ये गुण जीव द्रव्यके सिवा अन्य सभी द्रव्योंमें भी पाये जाते हैं, तथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पुद्गलके सिवा अन्य किसी द्रव्यमें नहीं पाये जाते हैं, इसलिये ये पुद्गलके विशेष गुण हैं । इसप्रकार वस्तुमें अनन्त गुणोंके परिशानके साथ ही उसके सामान्य विशेष गुणोंका परिशान भी व्यवहार नयसे होता है । गुण गुणी और सामान्य विशेष गुणोंका परिशान होनेपर ही पदार्थमें आस्तित्व भाव होता है । इसलिये बिना व्यवहार नयके माने क्रम नहीं चल सकता । क्योंकि पदार्थका स्वरूप बिना समझाये जा नहीं सकता और जो कुछ समझाया जायगा वह अंशरूपसे कहा जायगा और इसीको पदार्थमें भेद बुद्धि कहते हैं । अभिन्न अखण्ड पदार्थमें भेद बुद्धिको उपचरित कहा गया है । परन्तु व्यवहार नय निश्चय नयकी अपेक्षा रखनेसे यथार्थ है । निरपेक्ष निष्ठा है ।

व्यवहार नयके भेद—

व्यवहारनयो द्वेषा सद्भूतस्त्वथ भवेदसद्भूतः ।

सद्भूतस्तद्गुण इति व्यवहारस्तत्प्रवृत्तिमाश्रित्यात् ॥ ५२५ ॥

अर्थ—व्यवहार नयके दो भेद हैं । (१) सद्भूतव्यवहार नय (२) असद्भूत व्यवहार नय । सद्भूत उस वस्तुके गुणोंका नाम है, और व्यवहार उनकी प्रवृत्तिका नाम है । भावार्थ—किसी द्रव्यके गुण उसी द्रव्यमें विवक्षित करनेका नाम ही सद्भूत व्यवहार नय है । यह नय उसी वस्तुके गुणोंका विवेचन करता है इसलिये यथार्थ है । इस नयमें अवयवार्थ-पना केवल इतना है कि यह अखण्ड वस्तुमेंसे गुण गुणीका भेद करता है ।

सद्भूत व्यवहारनयकी प्रवृत्तिका हेतु—

अथ निदानं च यथा सदसाधारणगुणो विवक्ष्यः स्यात् ।

अविचक्षितोऽप्यवापि च सदसाधारणगुणो न चान्यतरात् ॥ ५२६ ॥

अर्थ—सद्भूत व्यवहार नयकी प्रवृत्तिका हेतु यह है कि पदार्थके असाधारण गुण ही इस नय द्वारा विवक्षित किये जाते हैं अथवा पदार्थके साधारण गुण इस नय द्वारा विवक्षित नहीं किये जाते हैं । ऐसा नहीं है कि हम नय द्वारा कभी कोई और कभी कोई गुण विवक्षित और अविवक्षित किया जाय । भावार्थ—सद्भूत व्यवहार नय वस्तुके सा-

होता है । बिना पर निमित्तके उसका स्वामाविक परिणमन होता है । + उसी केनैति शक्तिके बिनाव परिणमनसे असद्भूत व्यवहार नयके विषयभूत जीवके क्रोधादिक भाव बनने ।

इसका फल—

**फलमागन्तुकभावादुपाधिमात्रं विहाय चावदिह ।**

**शेषस्तच्छुद्धगुणः स्यादिति मत्वा सुदृष्टिरिह कश्चित् ॥५३१॥**

अर्थ—जीवमें क्रोधादिक उपाधि है । वह आगन्तुक भावों—कर्मोंसे हुई है । उसीसे दूर कर देनेसे जीव शुद्ध गुणोंवाला प्रतीत होता है, अर्थात् जीवके गुणोंसे परितोष होनेवाली उपाधिको हटा देनेसे बाकी उसके चरित्र आदि शुद्ध गुण प्रतीत होने लगते हैं । ऐसा समझ कर जीवके स्वरूपको पहचान कर कोई (मिथ्यादृष्टि अथवा विचलितज्ञान से भी) सम्यग्दृष्टि हो सकता है । वस यही इस नयका फल है ।

इसका फल—

**अत्रापि च संहतिः परगुणयोगाच्च पाण्डुरः कनकः ।**

**द्वित्वा परगुणयोगं स एव शुद्धोऽनुभूयते कैश्चित् ॥५३२॥**

अर्थ—इस विषयमें दृष्टान्त भी स्पष्ट ही है कि सोना दूसरे पदार्थके गुणके लय गमने कुछ सफेदीको लिये हुए पीला हो जाता है, परगुणके बिना यही सोना किन्हीं शुद्ध (तेजोमय पीला) अनुभवमें आता है ।

उद्भूत, अमद्भूत नयोंक मर—

**सद्भूतव्यवहारोऽनुपचरितोऽस्ति च तथोपचरितश्च ।**

**अपि चाऽसद्भूतः सोऽनुपचरितोऽस्ति च तथोपचरितश्च ॥५३३॥**

अर्थ—सद्भूत व्यवहार नय अनुपचरित भी होता है और उपचरित होता है । तथा अमद्भूत व्यवहार नय भी अनुपचरित और उपचरित होता है ।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नयका स्वरूप—

**व्यादादिभ्यो मयान्मर्त्यानां वा शक्तिरस्ति यस्य ज्ञातः ।**

**तज्ज्ञानमात्रान्यतया निरूप्यते चेद्विद्योपनिषद्व्याज ॥५३४॥**

अर्थ—जिस पदार्थके भीतर जो शक्ति है, वह ज्ञानेय ही अनेकानेक दृष्टि में समझा जायेगी उसकी निरूपण ही कनी है । यही अनुपचरित सद्भूतव्यवहार नयका स्वरूप है ।

इसका फल—

**इदमत्रोदाहरणं ज्ञानं जीवोपजीवि जीवगुणः ।**

**ज्ञानमव्ययकालं च तथा जीवोपजीवि स्यात् ॥५३५॥**

+ अत्र उदाहरण के द्वारा ज्ञान ही नयका स्वरूप है । इसका फल उदाहरण के द्वारा बताया गया है ।

अर्थ—अनुपचरित-मदूतव्यवहारनयके विषयमें यह उदाहरण है कि ज्ञान जीवका अनुनीवी गुण है। वह ज्ञेयके अवयम्बन कालमें ज्ञेयका उपनीवी गुण नहीं होता है। भाषार्थ—किमी पदार्थको विषय करने समय ज्ञान सदा जीवका अनुनीवी गुण रहेगा। यही अनुपचरित-मदूत व्यवहार नयना विग्रह है।

उक्तं वा सुधत्वा—

घटसद्भावे हि यथा घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः ।

अग्नि घटाभावेऽपि च घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः ॥ ५३७ ॥

अर्थ—जैसे ज्ञान घटके सद्भाव (घटको विषय करते समय) में घटनिरपेक्ष जीवका गुण है। वैसे घटाभावे भी वह घट निरपेक्ष जीवका ही गुण है। भाषार्थ—जिम समय ज्ञानमें घट विषय पड़ा है उस समय भी वह घटाकर ज्ञान ही है। घटाकर (घटको विषय करनेसे) होनेसे वह ज्ञान घटरूप अथवा घटका ही होता है। घटाकर होना केवल ज्ञानका ही स्वरूप है। जैसे दर्पणमें किसी चीजका प्रतिबिम्ब पड़नेसे वह दर्पण पदार्थाकार हो जाता है। दर्पणका पदार्थाकार होना ही पर्याय है। दर्पण उस प्रतिबिम्बमूलक पदार्थरूप नहीं हो जाता है, तथा जैसा पदार्थाकार होनेपर भी वह अपने स्वरूपमें है वैसे पदार्थाकार न होनेपर भी वह अपने स्वरूपमें है। ऐसा नहीं है कि पदार्थाकार होने समय पदार्थके कुछ गुण दर्पणमें आ जाते हैं। घटाकर कुछ गुण पदार्थमें चले जाते हैं उमी प्रकार ज्ञान भी जैसा पदार्थाकार होता है वैसे पदार्थाकारके बिना भी जीवका चेतन्य गुण है। दोनों एतेन निरस्तं यन्मतमेतत्सति घटे घटज्ञानम् ।

असति घटे न ज्ञानं न घटज्ञानं प्रमाणशून्यव्याप्तम् ॥ ५३८ ॥

—जो सिद्धान्त ऐसा मानता है कि घटके होनेपर ही घटज्ञान हो सकता है, पर घटज्ञान भी नहीं हो सकता और ज्ञान भी नहीं हो सकता है। वह कथनसे खण्डित हो चुका, क्योंकि ऐसा सिद्धान्त माननेमें कोई प्रमाण नहीं हो सकता है, साथ ही ज्ञानमात्र भी नहीं हो सकता है क्योंकि जो भी पदार्थमें ही उत्पन्न होगा, अर्थात् पदार्थके रहने हुए ही होगा। पदार्थका ज्ञानमें बनना होता है कि यदि पदार्थके ज्ञानमें पदार्थकारण नहो तो जिम समय घटज्ञान समय उस ज्ञानमें घट ही विषय क्यों पड़ता है, घटादि अन्य पदार्थ क्यों उसके यहां तो घटज्ञानमें घट कारण है इसलिये घट ही विषय पड़ता है,



होता है । बिना पर निमित्तके उमका स्वाभाविक परिणमन होता शक्तिके विभाव परिणमनसे असद्रुत व्यवहार नयके विद्यमून नीवके म-

इत्यन्त—

**फलमागन्तुकभायानुपाधिमात्रं विहाय पावदिर**  
**शेषस्तच्छुद्धगुणः स्यादिति मस्या सुदृष्टिरिह क**  
 अय—नीवमें कोपादिक उपाधि है । वह आगन्तुक भावों—कर्मोंसे दूर कर देनेसे नीव शुद्ध गुणोंवाला मतीत होता है, अर्थात् नीवके गुणों होनेवाली उपाधिको हटा देनेसे बाकी उसके चारित्र आदि शुद्ध गुण मतीत हो ऐसा समझ कर नीवके स्वरूपको पदचान कर कोई (मिथ्यादृष्टि जयना विचलि भी) सम्यग्दृष्टि हो सकता है । वस यही इस नयका फल है ।

इत्यन्त—

**अथापि च संदृष्टिः परगुणयोगाच्च पाण्डुरः कनकः ।**  
**द्वित्वा परगुणयोगं स एव शुद्धोऽनुभूयते कैश्चित् ॥ ५३३ ॥**  
 अर्थ—इस विषयमें दृष्टान्त भी स्पष्ट ही है कि सोना दूसरे पदार्थके गुणों न्यसे कुछ सफेदीको लिये हुए पीला हो जाता है, परगुणके बिना वही सोना फिर शुद्ध (तेजोमय पीला) अनुभवमें आता है ।

वद्भूत, असद्भूत नवोंक मंद—

**सद्भूतव्यवहारोऽनुपचरितोस्ति च तथोपचरितश्च ।**  
**अपि चाऽसद्भूतः सोनुपचरितोस्ति च तथोपचरितश्च ॥ ५३४ ॥**  
 अर्थ—सद्भूत व्यवहार नय अनुपचरित भी होता है और उपचरित होता है । तथा असद्भूत व्यवहार नय भी अनुपचरित और उपचरित होता है ।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नयका स्वरूप—

**स्यादादिभो यथान्तर्लीना या शक्तिरस्ति यस्य सतः ।**  
**तत्तत्सामान्यतया निरूप्यते चेद्विशेषनिरपेक्षम् ॥ ५३५ ॥**  
 अर्थ—जिस पदार्थके भीतर जो शक्ति है, वह विशेषकी अपेक्षासे रहित सामान्य रीतिमें उसीकी निरूपण की जाती है । यही अनुपचरित सद्भूतव्यवहार नयका स्वरूप है ।

इत्यन्त—

**इदमत्रोदाहरणं ज्ञानं जीवोपजीवि जीवगुणः ।**  
**ज्ञेयालम्बनकाले न तथा ज्ञेयोपजीवी स्यात् ॥ ५३६ ॥**

+ पञ्चाङ्गापीके द्वितीयभागमें कथ्य प्रकरणमें इन शब्दिका विषय विशेषन किया गया है ।

अर्थ—अनुपचरित-सद्वृत्त व्यवहारनयनके विषयमें यह उदाहरण है कि ज्ञान जीवका अनुनीवी गुण है। वह ज्ञेयके अवलम्बन कालमें ज्ञेयका उपनीवी गुण नहीं होता है। भावार्थ—किमी पदार्थको विषय करते समय ज्ञान सदा जीवका अनुनीवी गुण रहेगा। यही अनुपचरित-सद्रूप व्यवहार नयन विषय है।

उदाहरण—

घटसद्भावे चि—

उत्तरीय सुलका—

असि घटाभावेपि च घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः ।  
—जेने शान प्रत्ये

अस्ति घटाभावेऽपि च घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः ॥ ५३७ ॥

अर्थ—जैसे ज्ञान पटके सद्भाव (पटको विषय करते समय) में घटनिरपेक्ष जीवका गुण है। वैसे पदाभावे भी वह घट निरपेक्ष जीवका ही गुण है। पटाकार (पटको विषय पड़ा है उस समय भी वह पटाकार ज्ञान नहीं हो जाता है। पटाकार होना केवल ज्ञानका ही स्वरूप है। जैसे दर्पणमें किसी वस्तुका प्रतिबिम्ब पड़नेसे वह दर्पण पदार्थाकार हो जाता है। दर्पणका पदार्थाकार होना ही पर्याय है। दर्पण उस प्रतिबिम्बमूलक पदार्थरूप नहीं हो जाता है, तथा जैसा पदार्थाकार होनेपर भी वह अपने स्वरूपमें है वैसा पदार्थाकार न होनेपर भी वह अपने स्वरूपमें है। ऐसा नहीं है कि पदार्थाकार होने समय पदार्थके कुछ गुण दर्पणमें आ जाते हैं। ऐसा नहीं है कि पदार्थाकार होने समय पदार्थके कुछ गुण दर्पणमें आ जाते हैं। पदार्थके कुछ गुण पदार्थमें चले जाते हैं उसी प्रकार ज्ञान भी जैसा पदार्थाकार होते ही वह जीवका ही गुण है। पदार्थाकारके बिना भी जीवका चैतन्य गुण है। दोनों पक्षों में निरस्त पक्षमें प्रमाण है। असत्त्व में प्रमाण है।

एतन्न निरस्तं यन्मतमेतत्सति घटे घटज्ञानम् ।  
—नो सिद्धान्तः येषां न ज्ञानं न घटज्ञानं ।

—नो सिद्धान्त ऐसा मानता है कि घटके होनेपर ही घटज्ञान ॥ ५३८ ॥

पर पटज्ञान भी नहीं हो सकता और ज्ञान भी नहीं हो सकता है। बह-  
म-बौद्ध सिद्धान्त है कि पदार्थज्ञानमें पदार्थ ही कारण है, विना पदार्थके  
ही हो सकता है, साथ ही ज्ञानमात्र भी नहीं हो सकता है क्योंकि जो भी  
पदार्थमें ही उत्पन्न होगा, अर्थात् पदार्थके रहने हुए ही होगा। पदार्थका ज्ञानमें  
बतलाता है कि यदि पदार्थके ज्ञानमें पदार्थकारण नहो तो जिस समय पटज्ञान  
समय उभ ज्ञानमें पट ही विषय क्यों पड़ता है, पटादि अन्य पदार्थ क्यों  
सके यहां तो पटज्ञानमें पट कारण है इसलिये पट ही विषय पड़ता है,

होता है । बिना पर निमित्तके उसका स्वभाविक परिणमन होता है । + उसी वैनीत शक्तिके विभाव परिणमनसे असद्भूत व्यवहार नयके विषयभूत जीवके क्रोधादिक्रमावयवने है ।

इसका प्रत्यक्ष—

**फलमागन्तुकभावाद्युपाधिमात्रं विहाय यावदिह ।**

**शेषस्तच्छुद्धगुणः स्यादिति मत्वा सुदृष्टिरिह कश्चित् ॥ ५३१ ॥**

अर्थ—जीवमें क्रोधादिक उपाधि है । वह आगन्तुक भावों—कर्मोंसे हुई है । उपाधिके दूर कर देनेसे जीव शुद्ध गुणोंवाला प्रतीत होता है, अर्थात् जीवके गुणोंसे परिनिमित्त होनेवाली उपाधिको हटा देनेसे बाकी उसके चरित्र आदि शुद्ध गुण प्रतीत होने लगते हैं । ऐसा समझ कर जीवके स्वरूपको पहचान कर कोई (मिम्यादृष्टि अथवा विचलितवृत्ति जीव भी) सम्यग्दृष्टि हो सकता है । वस यही इस नयका फल है ।

दृष्टान्त—

**अत्रापि च संदृष्टिः परगुणयोगाच्च पाण्डुरा कनकः ।**

**दृष्ट्वा परगुणयोगं स एव शुद्धोऽनुभूयते कैश्चित् ॥ ५३२ ॥**

अर्थ—इस विषयमें दृष्टान्त भी स्पष्ट ही है कि सोना दूसरे पदार्थके गुणोंके सम्बन्धसे कुछ सफेदीको लिये हुए पीला हो जाता है, परगुणके बिना वही सोना किन्तीने शुद्ध (तेजोमय पीला) अनुभवमें आता है ।

सदभूत, असदभूत नयोंके भेद—

**सद्भूतव्यवहारोऽनुपचरितोस्ति च तथोपचरितश्च ।**

**अपि चाऽसद्भूतः सोऽनुपचरितोस्ति च तथोपचरितश्च ॥ ५३३ ॥**

अर्थ—सद्भूत व्यवहार नय अनुपचरित भी होता है और उपचरित होता है । तब असद्भूत व्यवहार नय भी अनुपचरित और उपचरित होता है ।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नयका स्वरूप—

**स्यादादिमो यथान्तर्लीना या शक्तिरस्ति यस्य सतः ।**

**तत्तरसामान्यतया निरूप्यते चेद्विशेषनिरपेक्षम् ॥ ५३४ ॥**

अर्थ—जिस पदार्थके भीतर जो शक्ति है, वह विशेषकी अपेक्षाने रहित सामान्य रीतिमें उसीकी निरूपण की जाती है । यही अनुपचरित सद्भूतव्यवहार नयका स्वरूप है ।

दृष्टान्त—

**इदमत्रोदाहरणं ज्ञानं जीवोपजीवि जीवगुणः ।**

**शेयालम्यनकाले न तथा शेयोपजीवी स्यात् ॥ ५३५ ॥**

+ पञ्चान्यायीके द्वितीयपादमें वक्ष्य प्रकरणमें इस दृष्टिको विषयविषयन किया गया है ।



तस्मादनन्यशरणं सदपि ज्ञानं स्वरूपसिद्धांत्वात् ।

उपचरितं हेतुवशात् तदिह ज्ञानं तदन्यशरणमिव ॥१४३॥

अर्थ—इसलिये ज्ञान अपने स्वरूपसे स्वयं सिद्ध है अतएव वह अनन्य शरण (अन्य का बही अवलम्बन) है तो भी हेतु वश वह ज्ञान अन्य शरणके समान उपचरित होता है ।

ऐसा होनेमें हेतु—

हेतुः स्वरूपसिद्धिं विना न परसिद्धिरप्रमाणत्वात् ।

तदपि च शक्तिविशेषाद् द्रव्यविशेषे यथा प्रमाणं स्यात् ॥१४४॥

अर्थ—ऐसा होनेमें कारण भी यह है कि स्वरूप सिद्धिके विना परसे सिद्धि अप्रमाण ही है, अर्थात् ज्ञान स्वरूपसे सिद्ध है तभी वह परसे भी सिद्ध माना जाता है । ज्ञान स्वरूपसे सिद्ध है इस विषयमें भी यही कहा जा सकता है कि वह द्रव्य विशेष (जीव द्रव्य) का गुण विशेष है । यह बात प्रमाण पूर्वक सिद्ध है । भाषार्थ—अर्थ विज्ञान ज्ञान प्रमाणम्, अर्थात् स्व-पर पदार्थका बोध ही प्रमाण है । ऐसा ऊपर कहा गया है । इस कथनसे ज्ञानमें प्रमाणता परसे लाई गई है । परन्तु परसे प्रमाणता ज्ञानमें तभी आसकती है जब कि वह अपने स्वरूपसे सिद्ध हो, इसी बातको यहां पर स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान अपने स्वरूपसे स्वयं सिद्ध है । कारण कि वह जीवद्रव्यका विशेष गुण है स्वयं सिद्ध होकर ही वह परसे उपचरित कहा जाता है ।

इसका फल ।

अर्थो ज्ञेयज्ञायकसङ्करदोषभ्रमक्षयो यदि वा ।

अविनाभायात् साध्यं सामान्यं साधको विशेषः स्यात् ॥१४५॥

अर्थ—उपचरित-सङ्गत व्यवहार नयका यह फल है कि ज्ञेय और ज्ञायकमें अर्थात् ज्ञान और पदार्थमें संकर दोष न उत्पन्न हो, तथा किसी प्रकारका भ्रम भी इनमें न उत्पन्न हो । यदि पहले ज्ञेय और ज्ञायकमें संकर दोष अथवा दोनोंमें भ्रम हुआ हो तो इस नयके मानने पर वह दोष तथा वह भ्रम दूर हो जाता है । यहां पर अविनाभाव होनेसे सामान्य साध्य है तथा विशेष उसका साधक है अर्थात् ज्ञान साध्य है और पदज्ञान पदज्ञानी उसके साधक हैं । दोनोंका ही अविनाभाव है । कारण कि पदार्थ प्रमेय है इसलिये वह किसी न किसीके ज्ञानका विषय होता ही है और ज्ञान भी ज्ञेयका अवलम्बन करता ही है निर्विषय वह भी नहीं होता । भाषार्थ—कोई पदार्थके रहना नहीं मन्त्रनेवाले ज्ञानको यह पदार्थ पदार्थोंका धर्म बनाने हैं, कोई २ ज्ञेयके धर्म ज्ञायकमें बनाने हैं । अथवा विषय-विषयीके सम्बन्धमें किसीको भ्रम हो रहा है उन मगधा भ्रमन दूर करता ही इस नयका फल है । इस नय द्वारा यही बात बनवाई गई है कि विद्वत्



असद्भूत व्यवहारनय प्रवृत्त होता है, अर्थात् किसी वस्तुके गुणका व्यवहार प्रतीत न होना ही इस नयका प्रवृत्ति है ।

इस नयका पद—

फलमागन्तुकभावाः स्वपरनिमित्ता भवन्ति यावन्तः ।

क्षणिकत्वान्नादेया इति बुद्धिः स्याद्नात्मधर्मत्वान् ॥ ५४८ ॥

अर्थ—अपने और परके निमित्तसे होनेवाले जिनके भी आगन्तुक पद-वैभाविकभाव है । वे सब आत्माके धर्म नहीं हैं । इनजिये वे क्षणिक हैं । क्षणिक होनेसे अथवा आत्मिक धर्म न होनेसे वे माद्य-मदम करने योग्य नहीं हैं ऐसा बुद्धि होना ही इस नयका फल है । भावार्थ—अनुपचरित-असद्भूत व्यवहार नय वैभाविक भावों प्रवृत्त होता है । उसका फल यह निकलता है कि ये भाव परके निमित्तसे होते हैं इसविषे अग्राह्य हैं ।

उपचरित-असद्भूत व्यवहार नय—

उपचरितोऽसद्भूतो व्यवहाराख्यो नयः स भवति यथा ।

क्रोधाद्याः औदयिकाश्चित्तश्रेहबुद्धिजा विवक्षाः स्युः ॥ ५४९ ॥

अर्थ—औदयिक क्रोधादिक भाव यदि बुद्धिपूर्वक हों, फिर उन्हें जीवके समझना या कहना उपचरित-असद्भूत व्यवहार नय है । भावार्थ—बुद्धिपूर्वक क्रोधादि भाव उन्हें कहने हैं कि जिनके विषयमें यह ज्ञात हो कि ये क्रोधादि भाव हैं । जैसे कोई पुरुष क्रोध करता है अथवा लोभ करता है और जानता भी है कि वह क्रोध कर रहा है अथवा लोभ कर रहा है, फिर भी वह अपने उस क्रोध भावको अथवा लोभभावको अपना निमित्त समझे या कहे तो उसका वह समझना या कहना उपचरित-असद्भूत व्यवहार नयका विषय है अथवा वह नय है । क्रोधादिक भाव केवल जीवके नहीं हैं । उन्हें जीवके कहना इतना अंश तो असद्भूतका है जो कि पहले ही कहा जा चुका है । क्रोधादिकोंको क्रोधादि समझा फाँके भी उन्हें जीवके समझना इतना अंश उपचरित है । बुद्धिपूर्वक क्रोधादिक भाव छोटे गुणस्थान तक होते हैं । उससे ऊपर नहीं ।

इसका कारण—

पाजं विभावभावाः स्वपरोभयहेतवस्तथा नियमात् ।

सत्यपि शक्तिविशेषे न परनिमित्तादिना भवन्ति यतः ॥ ५५० ॥

अर्थ—जिनके भी वैभाविक भाव हैं वे नियमसे अपने और परके निमित्तसे होते हैं । यद्यपि वे शक्ति विशेष हैं अर्थात् किसी द्रव्यके निज गुण हैं तथापि वे परके निमित्त बिना नहीं होते हैं । भावार्थ—आत्माके गुणोंका पुनः कर्मके निमित्तसे वैभाविक-

दोनों ज्ञानोंका स्वरूप—

तत्रापि यथायस्तु ज्ञानं सम्पत्तिविशेषहेतुः स्यात् ।

अथ चेदयथायस्तु ज्ञानं मिथ्याविशेषहेतुः स्यात् ॥ ५५९ ॥

अर्थ—उन दोनों ज्ञानोंमें सम्पत्तिज्ञानका कारण वस्तुका यथार्थ ज्ञान है तथा मिथ्या-ज्ञानका कारण वस्तुका अयथार्थ ज्ञान है। भावार्थ—जो वस्तु ज्ञानमें विषय पड़ी है उस वस्तुका वैसा ही ज्ञान होना जैसी कि वह है, उसे सम्पत्तिज्ञान कहते हैं। जैसे—किसीके ज्ञानमें चांदी विषय पड़ी हो तो चांदीको चांदी ही वह समझे तब तो उसका वह ज्ञान सम्पत्तिज्ञान है और यदि चांदीको वह ज्ञान सीप समझे तो वह मिथ्याज्ञान है जिस ज्ञानमें वस्तु तो कुछ और ही पड़ी हो और ज्ञान दूसरी ही वस्तुका हो उसे मिथ्याज्ञान कहते हैं। इसप्रकार विषयके भेदने ज्ञानके भी सम्पत्ति और मिथ्या ऐसे दो भेद हो जाते हैं।

नयके भी दो भेद हैं—

ज्ञानं यथा तथासौ नयोस्ति सर्वो विरूपमात्रत्वात् ।

तत्रापि नयः सम्पत्तिरितरथा स्यान्नयाभासः ॥ ५६० ॥

अर्थ—जिस प्रकार ज्ञान है उसी प्रकार नय भी है, अर्थात् जैसे सामान्य ज्ञान एक है वैसे सम्पूर्ण नय भी विरूपमात्र होनेसे (विरुप्तात्मक ज्ञानको ही नय कहते हैं) सामान्य-रूपसे एक है और विशेषकी अपेक्षामें ज्ञानके समान नय भी सम्पत्ति नय, मिथ्या नय ऐसे दो भेद बाने हैं। जो सम्पत्ति नय हैं उन्हें नय कहते हैं जो मिथ्या नय हैं उन्हें नयाभास कहते हैं।

दोनोंका स्वरूप—

तद्गुणसंविज्ञानः सोदाहरणः सहेतुरथ फलान् ।

यो हि नयः स नयः स्याद्विपरीतो नयो नयाभासः ॥ ५६१ ॥

अर्थ—जो तद्गुणसंविज्ञान हो अर्थात् गुण गुणीके भेद पूर्वक किसी वस्तुके विशेष गुणोंको उसीमें बतलानेवाला हो, उदाहरण सहित हो, हेतु पूर्वक हो, फल सहित हो, वही नय, नय कहलाता है। उपर्युक्त बातोंसे जो विपरीत हो, वह नय नयाभास कहलाता है।

फलवत्त्वेन नयानां भाव्यमवश्यं प्रमाणवद्भि यतः ।

स्यादवयवविप्रमाणं स्युस्तदवयवा नयास्तदंशत्वात् ॥ ५६२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रमाण फल सहित होता है उस प्रकार नयोंका भी फल सहित होना परम आवश्यक है कारण आवयवी प्रमाण कहलाता है, उसीके अवयव नय कहलाते हैं। नय प्रमाणके ही अंश रूप हैं। भावार्थ—नयोंकी उत्पत्तिमें प्रमाण योनिमूल—मूल कारण है। प्रमाणमें जो पदार्थ बढ़ा जाता है उसके एक अंशको



लेकर अर्थात् पर्याय विशेषके द्वारा जो पदार्थका विवेचन किया जाता है उसे ही नय कहते हैं अथवा सम्पूर्ण पदार्थको प्रमाण विषय करता है और उसके एक देशको नय विषय करता है । इस प्रकार अंश अंशीरूप होनेसे प्रमाणके समान नय भी फलविशिष्ट ही होता है ।

सारांश—

तस्मादनुपादेयो व्यवहारोऽतद्वृत्ते तदारोपः ।

इष्टफलाभावादिह न नयो वर्णादिमान् यथा जीवः ॥५६३॥

अर्थ—जिस वस्तुमें जो गुण नहीं हैं, दूसरी वस्तुके गुण उसमें आरोपित—विवक्षित किये जाते हैं; जहांपर ऐसा व्यवहार किया जाता है वह व्यवहार ग्राह्य नहीं है । क्योंकि ऐसे व्यवहारसे इष्ट फलकी प्राप्ति नहीं होती है । इसलिये जीवको वर्णादिवाला कहना, यह नय नहीं है किन्तु नयामास है । भावार्थ—शंकाकारने ऊपर कहा था कि जीवको वर्णादिमान् कहना इसको असद्भूत व्यवहार नय कहना चाहिये । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह नय नहीं किन्तु नयामास है । क्योंकि जीवके वर्णादि गुण नहीं हैं फिर भी उन्हें जीवके कहनेसे जीव और पुद्गलमें एकत्वबुद्धि होने लगेगी । यही इष्ट फलकी हानि है ।

शंकाकार—

ननु यैवं मति नियमादुक्तासद्भूतलक्षणो न नयः ।

भवति नयाभासः किल क्रोधादीनामतद्वृत्तारोपात् ॥ ५६४ ॥

अर्थ—यदि एक वस्तुके गुण दूसरी वस्तुमें आरोपित करनेका नाम नयामास है तो ऐसा माननेसे जो ऊपर अमद्भूत व्यवहार नय कहा गया है उसे भी नय नहीं कहना चाहिये किन्तु नयामास कहना चाहिये । कारण क्रोधादिक जीवके गुण नहीं हैं फिर भी उन्हें जीवके कहा गया है । यह भी तो अतद्वृत्तारोप ही है, इसलिये ग्रन्थकारका क्या हुआ भी अमद्भूत व्यवहार नय नयामास ही है ?

उत्तर—

नैवं यतो यथा ते क्रोधाद्या जीवसंभवा भावाः ।

न तथा पुद्गलवपुषः सन्ति च वर्णादयो हि जीवस्य ॥ ५६५ ॥

अर्थ—शंकाकारका उपयुक्त कहना ठीक नहीं है । क्योंकि जिस प्रकार क्रोधादिक मात्र जीवमें उत्पन्न हैं अथवा जीवके हैं । उस प्रकार पुद्गलमें वर्णादिक जीवके मात्र नहीं हैं । भावार्थ—पुद्गल करनेके निमित्तमे आत्माके चारित्र्य गुणका जो विचार है उसे ही क्रोध, मत्सर, मोहादिक नामसे कहा जाता है । इसलिये क्रोधादिक आत्माके ही वैमर्शिक नय है । अतः जीवमें उनको आरोप करना अमद्भूतारोप नहीं कहा जायगा किन्तु त-

गुणारोप ही है । वे भाव शुद्धात्माके नहीं हैं किन्तु परके निमित्तसे होते हैं इसलिये उन्हें असद्गत नयका विषय कहा जाता है । चाहे सद्गत हो अथवा असद्गत हो, तद्गुणारोपी ही नय है अन्यथा वह नयाभास है । रूप, रस, गन्धादिक पुद्गलके ही गुण हैं, वे जीवके किसी प्रकार नहीं बदे जासके हैं । रूप रसादिको जीवके भाव कहना, यह अतद्गुणारोप है इसलिये वह नयाभास है ।

कुछ नयाभासोंका उल्लेख—

अथ सन्ति नयाभासा यथोपचारात्पदेतुदृष्टान्ताः ।

अत्रोच्यन्ते केचिदप्यतया या नयादिशुद्ध्यर्थम् ॥ ५६६ ॥

अर्थ—उपचार नामवाले (उपचार पूर्वक) हेतु दृष्टान्तोंको ही नयाभास कहने हैं । यहाँपर कुछ नयाभासोंका उल्लेख किया जाता है । वह इसलिये कि उन नयाभासोंका समझकर उन्हें छोड़ दिया जाय अथवा उन नयाभासोंके देखनेसे शुद्ध नयोंका परिज्ञान हो जाय ।

लोक व्यवहार—

अस्ति व्यवहारः किल लोकानामयमलब्धबुद्धित्वात् ।

यौऽप्यं मनुजादियुर्मयति सजीवस्ततोऽप्यनन्तत्वात् ॥ ५६७ ॥

अर्थ—बुद्धिका अभाव होनेसे लोकोंका यह व्यवहार होता है कि जो यह मनुष्यादि का शरीर है वह जीव है क्योंकि यह जीवसे अभित है ।

यह व्यवहार भ्रम्य है ।

सौऽप्यं व्यवहारः स्यादप्यवहारो यथापसिद्धान्तात् ।

अप्यपसिद्धान्तस्य नास्ति स्यादनेकपक्षमिस्थान्तात् ॥ ५६८ ॥

अर्थ—शरीरमें जीवका व्यवहार जो लोकमें होता है वह व्यवहार अयोग्य व्यवहार है, अथवा व्यवहारके अयोग्य व्यवहार है । कारण यह सिद्धान्त विरुद्ध है । सिद्धान्त विरुद्धता ॥ व्यवहारमें भ्रमिष्ठ नहीं है, किन्तु शरीर और जीवको भिन्न २ पक्षों होनेसे भ्रमिष्ठ ही है । भावार्थ—शरीर पुद्गल द्रव्य भिन्न पदार्थ है और जीव द्रव्य भिन्न पदार्थ है, फिर भी जो लोग शरीरमें जीव व्यवहार करते हैं वे अवश्य सिद्धान्त विरुद्ध करते हैं ।

नाश्राङ्ग्य कारणमिदं कक्षेत्राद्यगादिमात्रं यत् ।

सर्वद्रव्येषु यन्तथाप्यगाद्याद्भवेदतिष्यासिः ॥ ५६९ ॥

अर्थ—शरीर और जीव दोनोंका एक क्षेत्रमें अवगाहन (गिरति) है इसी कारण लोकमें ऐसा व्यवहार होता है ऐसी भावोंका भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि एक क्षेत्र में संपूर्ण द्रव्योंका अवगाहन हो रहा है, यदि एक क्षेत्रमें अवगाहन

तो सभी पदार्थोंमें अतिव्याप्ति दोष उत्पन्न होगा । भावार्थ—परम, पुद्गल ये छहों द्रव्य एक क्षेत्रमें रहते हैं परन्तु छहोंके लक्षण जुड़े ही एकताका कारण हो तो छहोंमें अतिव्याप्ति दोष आवेगा, अथवा अपि भवति घन्ध्यबन्धकभावो यदिवानयोः तदनेकत्वे नियमात्तद्वन्धस्य स्वतोप्यसिद्धत्वा

अर्थ—कदाचित् यह कहा जाय कि जीव और शरीरमें परस्पर है इसलिये वेसा व्यवहार होता है, ऐसी आशंका भी नहीं करना है । भावार्थ—पुद्गलको बाँधनेवाला आत्मा है, आत्मामे बाँधनेवाला पुद्गल है । शरीर बन्ध्य है, आत्मा उसका बन्धक है । ऐसा बन्ध्य बन्धक सम्बन्ध होने व्यवहार किया जाता है ऐसी आशंका भी निर्मूल है, क्योंकि बन्ध तभी कि दो पदार्थ प्रसिद्ध हों अर्थात् बन्ध्यबन्धक भावमें तो द्वैत ही प्रतीत होता है । अथ चेदवश्यमेतन्निमित्तनैमित्तिकत्वमस्ति मिथः ।

न पतः स्वयं स्वतो वा परिणममानस्य किं निमित्ततया ।  
अर्थ—कदाचित् मनुष्यादि शरीरमें जीवत्व बुद्धिका कारण शरीर और निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, कारण जो अपने आ मनशील है उसके लिये निमित्तपनेसे क्या प्रयोजन ? अर्थात् जीवस्वरूपमें निमित्त कुछ नहीं कर सकता । भावार्थ—जीव और शरीरमे निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध शरीरमें सता और जीवमें नैमित्तिकताका ही सूचक होगा, वह सम्बन्ध दोनोंमें एकत्व बुद्धिका नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जीव अपने स्वरूपसे ही परिणमन करता है, निमित्त कारण निमित्तसे उसमें पररूपता नहीं आती । इसलिये मनुष्यादि शरीरमें जीव व्यवहार क नयाभास है ।

दूषय नयाभास—

अपरापि नयाभासो भवति यथा मूर्तस्य तस्य सतः ।  
कर्त्ता भोक्ता जीवः स्यादपि नोऽकर्मकर्मकृतेः ॥ ५७२ ॥

अर्थ—आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, तेनमवर्गणा, मनोवर्गणा ये चार वर्गणायें जब आत्मासे सम्बन्धित होती हैं, तब वे नोऽकर्मके नामसे कहीं नाहीं हैं, और कार्माणवर्गणा जब आत्मामे सम्बन्धित होकर कर्मरूप-शानावरणादिरूप परिणत होती हैं तब वह कर्मके नामसे कही जाती हैं । ये कर्म और नोऽकर्म पुद्गलकी पर्यायें हैं, अतएव वे मूर्त हैं । उन मूर्त कर्म नोऽकर्मका जीव कर्त्ता तथा भोक्ता है ऐसा कहना दूसरा नयाभास है ।

रूपमाना है, वह अपने ज्ञानादिभावोंका ही कर्ता भोक्ता हो सका है, उसको ज्ञानादि-  
का कर्ता भोक्ता करना भी व्यवहार ही है। परन्तु जो उसे मूर्ते पदार्थोंका कर्ता भोक्ता  
नयने बनाने हैं उस विषयमें आचार्य कहते हैं कि वह नय नहीं किन्तु न्याभास है।

न्यायाल्ल खों २—

नाभासश्चमसिद्धं स्यादपसिद्धान्ततो नयस्यास्य ।

सदनेकस्ये मति किल गुणसंक्रातिः कुतः प्रमाणाद्वा ॥५७३॥

गुणसंक्रातिमृते यदि कर्ता स्यात्कर्मणश्च भोक्तात्मा ।

सर्वस्य सर्वसंकरदोषः स्यात् सर्वशून्यदोषश्च ॥ ५७४ ॥

अर्थ—गुणकर्मोंका जीवको कर्ता भोक्ता बतलानेवाला व्यवहार नय न्याभास है यह  
मिथ्या नहीं है। कारण ऐसा व्यवहार नय सिद्धान्तविरुद्ध है। सिद्धान्तविरुद्धताका भी  
यह है कि जब कर्म और जीव दोनों भिन्न २ पदार्थ हैं तब उनमें गुणसंक्रमण किस  
में होगा ! अर्थात् नहीं होगा तथा बिना गुणोंके परिवर्तन हुए जीव, कर्मका कर्ता  
नहीं होसका, यदि बिना गुणोंकी संक्रातिके ही जीव कर्मका कर्ता भोक्ता होमात्र  
पदार्थोंमें सर्वसंकर दोष उत्पन्न होगा। तथा सर्वशून्य दोष भी उत्पन्न होगा।  
यदि जीवके गुण पुद्गलमें चले जायें तभी जीव पुद्गलका कर्ता भोक्ता हो सका है।  
जुननेवालेके कुछ गुण या सब गुण उस कपड़ेमें आवें तभी वह जुननेवाला उस कप-  
ड़ेका कर्ता कहा जासका है। अन्यथा कपड़ेमें उसकी कृतता क्या आई ! कुछ भी नहीं  
निमित्तता है। यदि बिना गुणोंका संक्रमण हुए ही जीवमें पुद्गलका कर्तृत्व माना जाय  
तो पदार्थ एक दूसरेके कर्ता होसके हैं। ऐसी अवस्थामें धर्मादि द्रव्योंका भी जीवमें  
सिद्ध होगा।

भ्रमका कारण—

अस्त्यत्र भ्रमहेतुर्जीवस्याशुद्धपरणतिं प्राप्य ।

कर्मस्य परिणमते स्वयमपि मूर्तिमयतो द्रव्यम् ॥ ५७५ ॥

अर्थ—जीव कर्मोंका कर्ता है, इस भ्रमका कारण भी यह है कि जीवकी अशुद्ध  
वैके निमित्तमे पुद्गलद्रव्य—कार्माण बर्गणा स्वयं (उपादान) कर्मरूप परिणत होजाती है।  
जीवके रागद्वेष भावोंके निमित्तमे कार्माण बर्गणा कर्म पर्यायको धारण करती है।  
ये उभमें जीवकर्तृताका भ्रम होता है।

समाधान—

इदमत्र समाधानं कर्ता यः कोपि सः स्वभावस्य ।

परभावस्य न कर्ता भोक्ता वा तन्निमित्तमात्रेण ॥५७६॥

अर्थ—उस ध्रमका समाधान यह है कि जो कोई भी कर्ता होगा वह अपने स्वभाव ही कर्ता होगा । उसका निमित्त कारण मात्र होनेपर भी कोई परभावका कर्ता अथवा भोक्ता नहीं होसका है ।

इष्टान्त—

भवति स यथा कुलालः कर्त्ता भोक्ता यथात्मभावस्य ।

न तथा परभावस्य च कर्त्ता भोक्ता कदापि कलशस्य ॥५७॥

अर्थ—कुम्हार सदा अपने स्वभावका ही कर्ता भोक्ता होता है वह परभाव-कलश कर्ता भोक्ता कभी नहीं होता, अर्थात् कलशके बनानेमें वह केवल निमित्त कारण है । निमित्त मात्र होनेसे वह उसका कर्ता भोक्ता नहीं कहा जासका ।

उदाहरण उल्लेख—

तद्भिज्ञानं च यथा भवति घटो मृत्तिकास्वभावेन ।

अपि, मृण्मयो, घटः स्यान्न स्यादिह घटः कुलालमयः ॥५८॥

अर्थ—कुम्हार कलशका कर्ता क्यों नहीं है इस विषयमें यह दृष्टान्त प्रत्यक्ष है कि घट मिट्टीके स्वभाववाला होता है, अथवा मिट्टी स्वरूप ही वह होता है, परन्तु घट कभी कुम्हारके स्वभाववाला अथवा कुम्हारस्वरूप नहीं होता है । भावार्थ—जब घटके भीतर कुम्हारका एक भी गुण नहीं पाया जाता है तब कुम्हारने घटका क्या किया ? अर्थात् कुछ नहीं किया, केवल वह उसका निमित्त मात्र है ।

लोक व्यवहार मिथ्या है—

अथ चेद्धटकर्त्तासौ घटकारो जनपदोक्तिलेशोयम् ।

दुर्यारो भवतु तदा कानो हानिर्यदा नयामासः ॥५९॥

अर्थ—यदि यह कहानाय कि लोकमें यह व्यवहार होता है कि घटकार-कुम्हार घटका बनानेवाला है; सो क्यों ? आचार्य कहते हैं कि उस व्यवहारको होने दो, उससे हमारी कोई हानि नहीं है परन्तु उसे नयामास समझो, अर्थात् उसे नयामास समझते हुए बराबर व्यवहार करो इससे हमारे कथनमें कोई बाधा नहीं आती है । परन्तु यदि उसे नय समझने वाला लोकव्यवहार है तो वह मिथ्या है ।

धीरस नयामास—

अपरे घहिरात्मानो मिथ्यावादं घदन्ति दुर्मतयः ।

यदयद्धेपि परस्मिन् कर्त्ता भोक्ता परोपि भवति यथा ॥६०॥

अर्थ—और भी सोटी बुद्धिके धारण करनेवाले मिथ्यादृष्टी पुरुष मिथ्या बातें कहते हैं । जैसे—मो पर पदार्थ सर्वथा दूर है, जीवके माथ जो बँधा हुआ भी नहीं है उसका भी

जीव कर्ता भोक्ता होता है । ऐसा वे कहते हैं ।

सर्वेषोदयभावान् गृहधनधान्यं कलत्रपुत्रौक्ष ।

स्वयमिह करोति जीवो भुनक्ति वा स एव जीवश्च ॥५८१॥

अर्थ—सामान्येदनीय कर्मके उदयमे होनेवाले जो घर धन, धान्य, स्त्री, पुत्र आदि सभी निर्जीव पदार्थ ( स्थावर अंगम सम्पत्ति ) हैं उनका जीव ही स्वयं कर्ता है और वही जीव उनका भोक्ता है ।

उपकार—

ननु सति गृहवनितादौ भयति सुखं प्राणिनामिहाध्यक्षात् ।

असति च तत्र न तदिदं तत्तत्कर्ता स एव तद्भोक्ता ॥ ५८२ ॥

अर्थ—यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि घर, स्त्री आदिके होने पर ही जीवोंको सुख होता है उनके अभावमें उन्हें सुख भी नहीं होता । इसलिये जीव ही उनका कर्ता है और वही उनका भोक्ता है । अर्थात् अपनी सुख सामग्रीको यह जीव स्वयं संग्रह करता है और स्वयं उसको भोगता है ।

उत्तर—

सत्यं वैषयिकमिदं परमिह तदपि न परत्र सापेक्षम् ।

सति बहिरर्थेपि यतः किल केपाश्चिदसुखादिहेतुत्वात् ॥५८३॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि घर वनितादिके संयोगमे यह संसारी जीव सुख समझने लगता है परन्तु उसका यह सुख केवल वैषयिक-विषयजन्य है । वास्तविक नहीं है । सो भी घर, स्त्री आदि पदार्थोंकी अपेक्षा नहीं रखता है । कारण पर स्त्री आदि बाह्य पदार्थोंके होने पर भी किन्हीं पुरुषोंको सुखके बदले दुःख होता है, उनके लिये वही सामग्री दुःखका कारण होती है ।

शारीर—

इदमत्र तात्पर्यं भवतु स कर्त्तार्यथा वा स मा भवतु ।

भोक्ता स्वस्य परस्य च यथाकथञ्चिदिदमको जीवः ॥५८४॥

अर्थ—यहां पर सारांश इतना ही है कि जीव अपना और परका यथा कंचित् कर्ता हो अथवा भोक्ता हो अथवा मत हो परन्तु वह चिदात्मक-चेतन्य स्वरूप है । भाषार्थ—जीव सदा अपने भावोंका ही कर्ता भोक्ता है । परका नहीं ।

श्रीधर नमभाव—

अपमपि च नयामासो भवति मिथो योध्ययोधसन्मन्यः ।

ज्ञानं ज्ञेयगतं वा ज्ञानगतं ज्ञेयमेतदेव यथा ॥५८५॥

अर्थ—परस्पर ज्ञान और ज्ञेयका जो बोध्यबोधरूप सम्बन्ध है, उसके कान इत्ये ज्ञेयगत-ज्ञेयका धर्म मानना अथवा ज्ञेयको ज्ञानगत मानना यह भी न्यायास है। भाष्य-ज्ञानका स्वभाव है कि वह हरएक पदार्थको जाने परन्तु किसी पदार्थको मानना हुआ है वह सदा अपने ही स्वरूपमें स्थिर रहता है, वह पदार्थमें नहीं चला जाता है और न वह उसका धर्म ही हो जाता है। तथा न पदार्थका कुछ अंश ही ज्ञानमें आता है, जो ही इसके विरुद्ध मानने हैं ये न्यायास मिथ्याज्ञानसे प्रसिद्ध हैं।

दृष्टान्त—

अक्षरूपं पश्यति रूपगतं तत्र यधुरेव यथा ।

ज्ञानं ज्ञेयमथैति च ज्ञेयगतं या न भवति तज्ज्ञानम् ॥१८१॥

अर्थ—जिस प्रकार चक्षु रूपको देखता है, परन्तु वह रूपमें चला नहीं जाता है। अथवा रूपका वह धर्म नहीं हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेयपदार्थको जानता है परन्तु वह ज्ञान ज्ञेयमें नहीं आता है अथवा उसका धर्म नहीं हो जाता है।

इत्यादिकाश्च यद्यः सन्ति यथाश्लक्षणा न्यायाभासाः ।

न्यायानुपपत्तौ भवति विलक्षणो न्यायान्यासाः ॥१८२॥

अर्थ—वृत्त न्यायानुपपत्तौ ऊपर उल्लेख किया गया है, उनके विना और भी बहुत से न्यायास हैं जो कि वे ही लक्षणोंवाले हैं। उन सब न्यायानुपपत्तौ का ही उद्देश्य-अर्थ-वचन है। इसीलिए वे न्यायास होते माने हैं। भाष्यार्थ-न्यायोंका जो शब्दों का अर्थ है। इसमें न्यायानुपपत्तौ का अर्थ है। इसीलिए जो लक्षणोंवाले न्याय हैं जो न्याय कहते हैं और निष्कर्ष न्यायों न्यायानुपपत्तौ कहते हैं।

उदाहरण—

अन्तर्गतं न्यायानुपपत्तौ किं न्यायानुपपत्तौ या किमन्यथा ।

अर्थ—अन्तर्गत न्यायानुपपत्तौ किं न्यायानुपपत्तौ या किमन्यथा ॥१८३॥

अर्थ—अन्तर्गत न्यायानुपपत्तौ किं न्यायानुपपत्तौ या किमन्यथा ॥१८३॥ अर्थ—अन्तर्गत न्यायानुपपत्तौ किं न्यायानुपपत्तौ या किमन्यथा ॥१८३॥ अर्थ—अन्तर्गत न्यायानुपपत्तौ किं न्यायानुपपत्तौ या किमन्यथा ॥१८३॥

उदाहरण—

अन्तर्गतं न्यायानुपपत्तौ किं न्यायानुपपत्तौ या किमन्यथा ।

अर्थ—अन्तर्गत न्यायानुपपत्तौ किं न्यायानुपपत्तौ या किमन्यथा ॥१८४॥

अर्थ—अन्तर्गत न्यायानुपपत्तौ किं न्यायानुपपत्तौ या किमन्यथा ॥१८४॥

अर्थ—अन्तर्गत न्यायानुपपत्तौ किं न्यायानुपपत्तौ या किमन्यथा ॥१८४॥







द्रव्यार्थिक नयका स्वरूप ।

**व्यवहारः प्रतिषेधस्तस्य प्रतिषेधकश्च परमार्थः ।**

**व्यवहारप्रतिषेधः स एव निश्चयनयस्य वाच्यः स्यात् ॥६९८॥**

अर्थ—व्यवहार प्रतिषेध्य है अर्थात् निषेध करने योग्य है, उसका निषेध करनेवाला निश्चय है । इसलिये व्यवहारका निषेध ही निश्चय नयका वाच्य-अर्थ है । भावार्थ—जो कुछ भी व्यवहार नयसे कहा जाता है वह सब हेय-छोड़ने योग्य है । कारण जो कुछ व्यवहार नय कहता है वह पदार्थका स्वरूप नहीं है, पदार्थ अभिन्न-अखण्ड-अवक्तव्यरूप है । व्यवहार नय उसका भेद बतलाता है । पदार्थ अनन्त गुणात्मक है, व्यवहार नय उसे किसी विवक्षित गुणसे विवेचित करता है । पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है, व्यवहार नय उसे स्वरूपमे ग्रहण करता है, इसलिये जो कुछ भी व्यवहार नयका विषय है वह सब निषेध करने योग्य है वह निषेध ही निश्चय नयका विषय है । जैसे—व्यवहार नय गुणगुणीमें भेद बतलाता है निश्चय नय कहता है कि 'ऐसा नहीं है' । व्यवहार नयमें जो कुछ विषय पड़ता उसका निषेध करना ही निश्चय नयका वाच्यार्थ है ।

उदाहरण—

**व्यवहारः स यथा स्यात्सद्द्रव्यं ज्ञानवाञ्छ जीवो वा ।**

**नेत्रयेतावन्मात्रो भवति स निश्चयनयो नयाधिपतिः ॥६९९॥**

अर्थ—व्यवहार नय विवेचन करता है अथवा जानता है कि द्रव्य सत्स्वरूप है, निश्चय नय बतलाता है कि नहीं । व्यवहार नय बतलाता है कि जीव ज्ञानवान् है, निश्चय नय बतलाता है कि नहीं । इस प्रकार न-निषेधको विषय करनेवाला ही निश्चय नय है, जो बड़ी सब नयोंका शिरोमणि है । भावार्थ—व्यवहार नयने द्रव्यको सत्स्वरूप बतलाया परन्तु निश्चय नय इसका निषेध करता है कि नहीं, अर्थात् पदार्थ ऐसा नहीं है । का-सत्ताम अस्तित्व गुणका है, पदार्थ केवल अस्तित्व गुण स्वरूप तो नहीं है किन्तु अ-गुणात्मक है इसलिये पदार्थको सदात्मक बतलाना ठीक नहीं है । इसीलिये निश्चय उसका निषेध करता है । इसी प्रकार जीवको ज्ञानवान् कहना यह भी व्यवहार नयका विषय है । निश्चय नय इसका निषेध करता है कि नहीं, अर्थात् जीव ऐसा नहीं है, क्योंकि वह अनन्तगुणोंका अखण्ड पिण्ड है, इसलिये वे अनन्तगुण अभिन्न प्रदेरी हैं । अभिन्नानमें गुणोंका भेद करना ही मिथ्या है इसलिये निश्चय नय उसका निषेध करता है । निश्चय नय व्यवहारके समान किसी पदार्थका विवेचन नहीं करता है किन्तु जो कुछ व्यवहार से विवेचन किया जाता है अथवा भेदरूप जाना जाता है उसका निषेध करता है । यदि भी किसी विषयका विवेचन करे तो वह भी मिथ्या दृष्टरेगा । कारण—निश्चय भी विवे-

चन है वह सब अंशरूप है इसलिये वह गिख्या है । अतएव निश्चय नय कुछ न कह  
केवल निषेध करता है । शङ्का हो सकती है कि जब निश्चय नय केवल निषेध ही करता है  
तो फिर इसने कहा क्या ? शङ्का विषय क्या समझा जाय ? उत्तर—न-निषेध ही इसका वि  
षय है । इस निषेधसे यही ध्वनि निकलती है कि पदार्थ अवक्तव्य स्वरूप है । परन्तु उममें  
अवक्तव्यताका प्रतिपादन करना भी वक्तव्य ही है । इसलिये प्रतिपादन मात्रका निषेध  
करना ही उसकी अवक्तव्यताका सूचक है । अतएव निश्चय नय न्याधिपति है ।

शङ्काकार—

ननु चोक्ते लक्षणमिह नयोस्ति सर्वोपि किल विकल्पात्मा ।

तदिह विकल्पाभावात् नयमस्य नयत्वमिदमिति चेत् ॥ ६०० ॥

अर्थ—यह बात पहले कही जा चुकी है कि सभी नय विकल्पात्मक ही होते हैं ।  
नयका लक्षण ही विकल्प है । फिर इस द्रव्यार्थिक नय-निश्चय नयमें विकल्प तो कुछ पड़  
ही नहीं है । क्योंकि उक्त नय केवल निषेधात्मक है । इसलिये विकल्पका अभाव होनेसे  
नयको नयपना ही कैसे आवेगा ? अर्थात् इस नयमें नयका लक्षण ही नहीं जाता है ।

द्रव्यार्थिक नय भी विकल्पात्मक है—

तत्र यतोस्ति नयस्य नेति यथा लक्षितस्य पक्षस्यात् ।

पक्षमाही च नयः पक्षस्य विकल्पाभावात् ॥ ६०१ ॥

अर्थ—उपयुक्त शङ्का ठीक नहीं है । क्योंकि द्रव्यार्थिक नयमें भी न (निषेधात्मक)  
बहु पक्ष आता ही है । यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि द्रव्यार्थिक नयका वाच्य अ  
है अर्थात् निषेध है । यह निषेध ही उसके एक पक्ष है और पक्षका सादक ही नय होना  
है, तथा पक्ष ही विध्यत्मक होता है । अर्थ—नयका लक्षण विकल्प बननाया गया है ।  
द्रव्यार्थिक नयमें निषेधकृप विध्य बनता ही है, अथवा किसी एक पक्षके ग्रहण करनेसे  
शङ्का अथवा उममें वाचक वाच्यको भी नय कहने से । द्रव्यार्थिक-निश्चय नयमें निषेध  
कृप पक्ष ही ग्रहण होता है । निम्न प्रकार व्याख्यान नय किसी धर्मका प्रतिपादन करनेसे  
विध्यत्मक है उमी प्रकार व्याख्यान नयके विषयमूल पक्षार्थका निषेध करने से पक्षका प्रति  
पादन करनेसे निश्चय नय भी विध्यत्मक ही है । इसलिये नयका लक्षण निश्चय नयसे  
सूचित हो है ।

ननु—

प्रतिषेधो विधिप्रसंगे भवति विकल्पः इत्यं निरुपपन्नम् ।

प्रतिषेधो विध्यः अतः नयः इत्यं निषेधात्मा ॥ ६०२ ॥

अर्थ—यह बात द्रव्यार्थिक विध्य है और नय विध्यकृप होनेसे विध्यत्मक

है। उसी प्रकार प्रतिषेधक भी निषेधात्मक विकल्पात्मक है। अर्थात्—जिसे प्रतिषेध्यमें वि-  
धिरूप पड़ा होनेसे वह विकल्पात्मक है वैसे प्रतिषेधकमें निषेधात्मक पड़ा होनेसे वह भी  
विकल्पात्मक है।

इदन्त—

तद्वक्ष्यमाणमपि च यथा स्यादनुपयोगो निषेधात्मक इति ।

अर्थानुपयोगः कित्वा यावत् इह निर्दिष्टः स्यात् ॥ ३०३ ॥

अर्थाकृतिपरिणमनं ज्ञानस्य स्यात् निषेधात्मक इति ।

नार्थाकृतिपरिणमनं तस्य स्यादनुपयोगः इति ॥ ३०४ ॥

नेति निषेधात्मकः यो नानुपयोगः ॥ ३०५ ॥

अर्थाकारेण विना नेतिनिषेधात्मकः स्यात् ॥ ३०६ ॥

अर्थ—प्रतिषेधक भी विकल्पात्मक है इस बातको ही हम पदार्थों की दृष्टि से समझना चाहते हैं।  
जाना है। पदार्थोंका उपयोग ही तो विकल्प पड़ा जाता है। अतः अनुपयोग निषे-  
धक पड़ा जाना है, तथा ज्ञानका पदार्थाकार परिणमन ही अनुपयोग पड़ना है,  
उसका अर्थाकार परिणमन न होना अनुपयोग पड़ना है। अतः अनुपयोगकी ऐसी  
व्यवस्था है तब द्रव्याधिक नयमें 'न' इत्याकारक जो निषेध करने के लिये पड़ा है,  
ज्ञानरूप पक्षमें विनिर्दिष्ट होनेसे अनुपयोग नहीं पड़ा जा सकता। अतः अनुपयोग ही है,  
बसोकि उपयोग उसीको कहते हैं कि जिस ज्ञानमें पदार्थोंका उपयोग होता है। पदार्थों की  
अर्थाकार परिणमनके विना 'न' इत्याकारक निषेधात्मक न पड़ा जा सकता है। पदार्थों द्रव्या-  
धिक नयमें निषेधरूप बोध होता है। इसलिये निषेधक पदार्थोंके द्रव्याधिक नय  
भी उपयोगात्मक है और उपयोगको ही विकल्प कहते हैं।

भादर्थ—किमी पदार्थको ज्ञान विषय में निषेध करने के लिये पड़ा है। वही  
उपयोग विकल्पात्मक बोध पड़ा जाता है। किन्तु निषेधक पदार्थोंके विषयमें  
पदार्थोंको विषय करनेमें वह नय उपयोगात्मक होनेसे निषेधक पदार्थोंका इस  
नयके विषयभूत पदार्थोंका निषेध करने रूप पदार्थोंको निषेध करने के लिये पड़ा है।  
बोधात्मक होनेसे विकल्पात्मक है। व्यवहार नयमें निषेधक पदार्थोंके निषेध  
विषय पड़ा है। विषय बोधसे व्यवहारके समान नय पदार्थोंके निषेध करने के लिये पड़ा  
नयमें नयका लक्षण गुपित ही है।

इदन्त—

जीयो ज्ञानगुणः स्यादर्थानुपयोगो निषेधात्मक इति ।

नेति निषेधात्मकः स्यादर्थानुपयोगो निषेधात्मकः स्यात् ॥ ३०७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जीव ज्ञान गुणवाला है, यह नय (व्यवहार) अर्थात् निमित्त अर्थात् पदार्थको विषय करनेके विना नहीं होता है, उसी प्रकार ऐसा नहीं है, यह न (निश्चय) भी निषेधको विषय करनेसे अर्थात् निमित्तके विना नहीं होता है। विषय बोधसे दोनों ही सहित हैं।

सर्वा करण—

स यथा शक्तिविशेषं समीक्ष्य पक्षश्चिदात्मको जीवः ।

न तथेत्यपि पक्षः स्यादभिप्रेतदेशादिकं समीक्ष्य पुनः ॥ १०७ ॥

अर्थ—जीवकी विशेष शक्तिको देख कर (विचार कर) यह कहना या समझना कि जीव चिदात्मक है जिस प्रकार यह पक्ष है, उसी प्रकार जीवको अभिन्न प्रदेशी समझ कर यह कहना या समझना कि ऐसा नहीं है, यह भी तो पक्ष है। पक्षमाहिता उभयत्र समान हैं, क्योंकि—

अर्थात् लोकविकल्पः स्यादुभयत्राविशेषतोपि यतः ।

न तथेत्यस्य नयत्वं स्यादिह पक्षस्य लक्षकत्वाच्च ॥ १०८ ॥

अर्थ—अर्थका प्रकाश—पदार्थ विषयितारूप विकल्प दोनों ही जगह समान हैं। इसलिये ऐसा नहीं है, इत्याकारक निषेधको विषय करनेसे द्रव्यार्थिक नयमें नयपता है ही। कारण उसने एक निषेध पक्षका अवलम्बन किया है।

एकाग्रग्रहणादिति पक्षस्य स्यादिहांशधर्मत्वम् ।

न तथेति द्रव्यार्थिकनयोस्ति श्रुतं यथा नयत्यस्य ॥ १०९ ॥

अर्थ—पक्ष उसीको कहते हैं जो एक अंगको ग्रहण करता है। इसलिये 'न तथा' इस पक्षमें भी अंश धर्मता है ही। अतएव 'न तथा' को विषय करनेवाला द्रव्यार्थिक नय एक अंशको विषय करनेसे पक्षोत्पन्न है।

एकाग्रग्रहणमसिद्धं न नेति निश्चयनयस्य तस्य पुनः ।

यस्तुनि शक्तिविशेषो यथा तथा तदविशेषशक्तित्वात् ॥ ११० ॥

अर्थ—न, हम निषेधको विषय करनेवाले निश्चयनयमें एकाग्रता अस्ति नहीं है, किन्तु सिद्ध ही है। जिस प्रकार वस्तुमें विशेष शक्ति होती है, उसी प्रकार उसमें सामान्य शक्ति भी होती है।

माद्यर्थ—पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है, वही प्रमाणका विषय है, तथा सामान्य द्रव्यार्थिकनयका विषय है, विशेषात्मक पदार्थार्थिकनयका विषय है। इसलिये विशेषके निषेध रूप सामान्यको विषय करनेवाले निश्चयनय-द्रव्यार्थिकनयमें एकाग्रता सिद्ध ही है।

उदाहरण—

ननु च व्यवहारनयः सोदाहरणो यथा तथाप्यपि ।

अथतु तदा को दोषो मानविकरूपायिदोषतो न्यायान् ॥११॥

स यथा व्यवहारनयः अनेकं स्वाच्छिदात्मको जीवः ।

तदितरनयः स्वपक्षे वदतु सदेकं विदात्मपत्तिनिधेम् ॥१२॥

वर्ण—निम्न प्रकार व्यवहारनय उदाहरण सहित होगा है, उस समय निश्चयनय भी उदाहरण सहित माना जाय तो क्या दोष आता है ? क्योंकि ज्ञान विरूप उदाहरण सहित ज्ञानमें है, वैसा ही ज्ञान विरूप उदाहरण सहित ज्ञान विरूपमें है । इस न्यायसे निश्चय नयको सोदाहरण ही मानना ठीक है । उदाहरण सहित निश्चय नयको करनेसे व्यवहार नयसे देने में भेद होता, ? वह इस प्रकार होता—जैसे व्यवहार नय सगुणो अनेक बनता है, जीवको विदात्मक बनाना है । निश्चय नय वैचन्य करने परका ही विवेचन करे, जैसे सगुण एक है, जीव चिन् ही है । ऐसा करनेसे निश्चय नय उदाहरण सहित भी होना है, तथा व्यवहार नयसे भिन्न भी होना है ?

उत्तर—

न घतः संज्ञादोषो भवति तथा सर्वज्ञान्यदोषश्च ।

स यथा लक्षणमेवाद्भ्युपपिभागोत्पन्नन्यथासिद्धः ॥ १३ ॥

वर्ण—संज्ञाकारकी उपर्युक्त संज्ञा ठीक नहीं है । ऐसी संज्ञाओं का दोष सर्वज्ञान्य दोष आता है । क्योंकि लक्षणके भेदसे लक्ष्यका भेद अवश्यभारी है । साक्षरों का भी एक करने पर भी सगुण लक्ष्य और उसका एक लक्षण सिद्ध होता है । इस प्रकार जीवको विरूपरूप करने पर भी जीव लक्ष्य और उसका चिन् लक्षण सिद्ध होता है । इस लक्ष्य लक्षणरूप भेद व्यवहारनयका ही विषय होसकता है, निश्चयक नहीं, यदि निश्चयक भी भेद, विषय माना जाय तो संज्ञाता और सर्वज्ञान्यता भी स्वयं सिद्ध है ।

लक्षणमेकारस्य वस्तो यथावत्प्रक्षिप्यथा दिष्टाकरणम् ।

व्यवहारस्य तथा स्वास्तदितरथा निश्चयस्य पुनः ॥ १४ ॥

वर्ण—व्यवहार नयका लक्षण यह है कि एक ही सगुण जिस किन् लक्ष्य दोषीयक करता, अर्थात् सगुणों में भेद बनाना व्यवहार नयका लक्षण है, दोष अपने लक्ष्य निश्चय नयका लक्षण है, अर्थात् सगुणों में भेद बनाना निश्चय नयका लक्षण है ।

निश्चय नयको लोचनान्न अनेकसे देव—

अथ येरसदेकमिति वा विदेक जीवोप दिष्टयो वदन्ति ।

व्यवहारान्तर्भासो भवति सदेकस्य तद्विदात्मनः ॥ १५ ॥

अर्थ—यदि संज्ञात्मके नयनानुसार सत्को एक माना जाय अथवा चिरही माना जाय और इनको निरापेक्ष नगले उदाहरण कहा जाय तो व्यवहार नयसे निश्चय कुछ भी भेद नहीं रहेगा, क्योंकि ये दोनों ही उदाहरण व्यवहार नयके ही अन्तर्गत हैं हो जाते हैं। सत्को एक कहनेसे भी सर्वमें भेद ही सिद्ध होता है, अथवा नीचे के रूप कहनेसे भी जीवों में भेद ही सिद्ध होता है। किस प्रकार ? सो नीचे कहते हैं—

एवं बहुधा नै बहुलं लक्षणं तदेकमिति ।

लक्षणतः षड्विधागो भवति व्यवहारतः स नान्यत्र ॥११॥

अथवा निरुद्धाणि यदुदाह्रियतेष्वभेदयुग्मिता ।

उक्तवद्वानि तथा व्यवहारनयो न परमार्थः ॥ ६१७ ॥

अर्थ—आचार्यजीने विनाश नयका उदाहरण यह बतलाया है कि सत्पुरुष है। तब  
आचार्य दोष रिक्त होते हैं। यहाँ पर सत् तो लक्षण ठहरता है और उसका एक  
यह लक्षण ठहरता है। उस परमात्मा लक्षण लक्ष्यका भेद व्यवहार नयमें ही होता है निरा  
नयमें नहीं होता। विनाश नयका सत् और एकमें लक्षण लक्ष्यका भेद होता है, उसी पर  
भीतर और बाह्य भी होता है। जगत् लक्षण और चित् उसका लक्षण सिद्ध होता है। सत्  
बाह्य ब्रह्म ही इस उदाहरण में। और बुद्धिमें बतलाया है, परन्तु विचार करने पर आचार्य  
सत् ही भेदलक्षण बतलाते हैं। अतः ही यह व्याख्या नयका ही रिक्त है, निरायका नहीं।  
बुद्धिमें सिद्धा भी सत् ही है। सत् व्याख्या ही है।

एतः सर्वं न तद्वत्तु गतिः सर्वज्ञान्यदोषः स्यात् ।

निर्दिष्टः - ... तासाद्रूपणाभावात् ॥ १३८ ॥

[illegible]

02 910 -

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

॥ ५१॥

अथ

॥ १०० ॥

...  
...  
...

ही विषय ज्ञाताना है तो निश्चय नयका उदाहरण केवल सत् ही कहना चाहिये, अथवा जीव ही कहना चाहिये । सत्का एकत्र विशेष और जीवका चित् विशेष नहीं कहना चाहिये । सन्मात्र करनेसे अथवा जीव मात्र करनेमे फिर कोई दोष नहीं रहता है । सन्मात्र और जीव मात्र करनेमे भेद बुद्धि भी नहीं रहती है । व्यवहार नयका अवकाश तो भेदमें ही प्रति नियत है जैसे यह कहना कि सत् एक है, सत् अनेक है, जीव निःसंदेह है, जीव आत्मवान है, यह भेदज्ञान ही व्यवहार नयका लक्षण है । निश्चय नयमें केवल सत् अथवा जीव ही उदाहरण मान लेने चाहिये ?

उत्तर—

न घनः स्रदिति विकल्पो जीवः काल्पनिक इति विकल्पश्च ।

तत्तत्कर्मविशिष्टस्तद्वानुपपद्यते स यथा ॥ ६२१ ॥

अर्थ—शंकाकारका उपर्युक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि सत् यह विकल्प और जीव यह विकल्प दोनों ही काल्पनिक हैं । भिन्न २ धर्मोंसे विशिष्ट होनेसे उन धर्म वाले उपकारसे कहे जाने हैं, अर्थात् जिस धर्मकी विवक्षा रहती जाती है उसी धर्मसे विशिष्ट सत् कही जाती है । वह धर्मका उपचार इस प्रकार होता है—

जीवः प्राणादिमतः संज्ञा करणं पदेतदेवेति ।

जीवनगुणसापेक्षो जीवः प्राणादिमानिहास्त्वर्थात् ॥ ६२२ ॥

अर्थ—जो प्राणोंको धारण करनेवाला है उसीको जीव इस नामसे कहा जाता है, अथवा जो जीवन गुणकी अपेक्षा रखनेवाला है उसे ही जीव कहते हैं । इसलिये जीव मात्र करनेसे भी प्राण विशिष्ट और जीवत्वगुण विशिष्टका ही बोध होता है । इसी प्रकार—

यदि वा संदिति स्रसतः स्यात्संज्ञा सत्तागुणस्य सापेक्षात् ।

सर्वं तदनुक्तमपि सद्भावात् स्रदिति वा गुणो द्रव्यम् ॥ ६२३ ॥

अर्थ—अथवा सत् यह नाम सत्तागुणकी अपेक्षा रखनेवाले (अस्तित्व गुण विशिष्ट) सत् पदार्थका है । इसलिये सत् इतना करनेसे ही बिना कहे हुए भी अस्तित्व गुण अथवा अस्तित्व गुण विशिष्ट द्रव्यका बोध होता है । भावार्थ—यद्यपि सत्में यह विकल्प नहीं उठाया गया है कि यह द्रव्य है, अथवा गुण है तथापि वह विकल्प बिना कहे हुए भी सत् करनेसे ही उठ जाता है, और जितना विकल्पात्मक-भेदविज्ञान है सब व्यवहार नयका विषय है ।

यदि च विशेषणशून्यं विशेष्यमात्रं सुनिश्चयस्यार्थः ।

द्रव्यं गुणो न य इति वा व्यवहारलोपदोषः स्यात् ॥ ६२४ ॥



अर्थ—यदि संज्ञाकारके दण्डानुसार सत्को एक माना जाय अथवा चिह्नी माना जाय और इनसे विज्ञान मानने उदाहरण कहा जाय तो व्यवहार नये निश्चय तब कुछ भी भेद नहीं रहेगा, क्योंकि वे दोनों ही उदाहरण व्यवहार नये ही अन्तर्गत-रहित हो जाते हैं। सत्को एक करनेसे भी मनेमें भेद ही सिद्ध होता है, अथवा नौकरके निष्क रूप कहनेसे भी नीचेमें से ही सिद्ध होता है। किस प्रकार ? सो नीचे कहते हैं—

एवं यदुदाहरणे नल्लक्ष्यं लक्षणं तदेकमिति ।

लक्षणलक्ष्यव्यतिरिक्तानां भवन्ति व्यवहारतः स नान्यत्र ॥ १११ ॥

अथवा चित्तेन चित्तो यदुदाह्रियतेऽप्यमेदयुद्धिमता ।

उक्तयद्वानि नाना व्यवहारनयो न परमार्थः ॥ ११२ ॥

अर्थ—संज्ञाकारके विज्ञानानुसार उदाहरण यह बतलाया है कि सत् एक है। एवं वाच्य दोन दिशाओं में— एक सत् है, यहां पर सत् तो लक्ष्य उदाहरण है और उक्त ए यह लक्षण उदाहरण है। उन दोनों का लक्षण लक्ष्यका भेद व्यवहार नये ही होता है निश्चय नये नहीं होता। जिस प्रकार सत् और एकमें लक्षण लक्ष्यका भेद होता है, उसी प्रकार नीचे और चित्तों में भी होता है। नये लक्षण और चित् उक्त लक्षण सिद्ध होता है। कहे करने यद्यपि इन दोनों में भेद दुर्दिन बतलाया है, परन्तु विचार करने पर उक्त सत् ही भेदजनक प्रमाण है। इसीसे यह व्याहार नयका ही नियत है, निश्चयका भी। यद्यपि चित्तो भी सत् ही है, परन्तु व्याहार ही है।

एवं सत् चित् च तदिति त्रयं त्रयं गूण्यदोषः स्यात् ।

निर्गुण्यदोषः सत् चित् च तदिति त्रयं त्रयं गूण्यदोषः स्यात् ॥ ११८ ॥

अर्थ—इस प्रकार सत् चित् च तदिति त्रयं त्रयं गूण्यदोषः स्यात् । संज्ञाका भवने मने लक्षण लक्ष्यका भेद व्यवहार नये ही नहीं जाता, क्योंकि निश्चयता वाच्य लक्षण ही भेदजनक प्रमाण है। इसीसे यह व्याहार नयका ही नियत है, निश्चयका भी। यद्यपि चित्तो भी सत् ही है, परन्तु व्याहार ही है।

एवं सत् चित् च तदिति त्रयं त्रयं गूण्यदोषः स्यात् ।

निर्गुण्यदोषः सत् चित् च तदिति त्रयं त्रयं गूण्यदोषः स्यात् ।

निर्गुण्यदोषः सत् चित् च तदिति त्रयं त्रयं गूण्यदोषः स्यात् ॥ ११९ ॥

निर्गुण्यदोषः सत् चित् च तदिति त्रयं त्रयं गूण्यदोषः स्यात् ।

निर्गुण्यदोषः सत् चित् च तदिति त्रयं त्रयं गूण्यदोषः स्यात् ॥ १२० ॥

ही विषय आमाता हैं सो निश्चय नयका उदाहरण केवन सत् ही कहना चाहिये, अथवा जीव ही कहना चाहिये । सत्का एकत्व विशेष और जीवका चित्त विशेष नहीं कहना चाहिये । सन्मात्र कहनेसे अथवा जीव मात्र कहनेसे फिर कोई दोष नहीं रहता है । सन्मात्र और जीव मात्र कहनेसे भेद बुद्धि भी नहीं रहती है । व्यवहार नयका अवकाश तो भेदमें ही प्रति नियत है जैसे यह कहना कि सत् एक है, सत् अनेक है, जीव चिद्द्रव्य है, जीव भात्मवान् है, यह भेदज्ञान ही व्यवहार नयका लक्षण है । निश्चय नयमें केवल सत् अथवा जीव ही उदाहरण मान लेने चाहिये ?

उत्तर—

न पनः सदिति पिकल्पो जीयः काल्पनिक इति विकल्पश्च ।

तत्तद्वैविध्यविशिष्टस्त्वानुपपद्यते स यथा ॥ ६२१ ॥

अर्थ—संस्कारका उपर्युक्त काल भी ठीक नहीं है, क्योंकि सत् यह विकल्प और जीव यह विकल्प दोनों ही काल्पनिक हैं । भिन्न २ धर्मोंसे विशिष्ट होनेसे उन धर्म वाले उपचारसे कटे जाने हैं, अर्थात् भिन्न धर्मकी विवक्षा रखती जाती है उसी धर्मसे विशिष्ट कटु करी जाती है । वह धर्मका उपचार इस प्रकार होता है—

जीयः प्राणादिमतः संज्ञा करणं यदेतदेवेति ।

जीयनगुणसापेक्षो जीयः प्राणादिमानिहास्त्वर्थात् ॥ ६२२ ॥

अर्थ—जो प्राणोंको धारण करनेवाला है उसीको जीव इस नामसे कहा जाता है, अथवा जो जीवन गुणकी अपेक्षा रखनेवाला है उसे ही जीव कहते हैं । इसलिये जीव मात्र कहनेसे भी प्राण विशिष्ट और जीवत्वगुण विशिष्टका ही बोध होता है । इसी प्रकार—

यदि वा सदिति सत्सतः स्यात्संज्ञा सत्तागुणस्य सापेक्षात् ।

तद्वैविध्यं तदनुत्तमपि सद्भावात् सदिति वा गुणो द्रव्यम् ॥ ६२३ ॥

अर्थ—अथवा सत् यह नाम सत्तागुणकी अपेक्षा रखनेवाले (अस्तित्व गुण विशिष्ट) सत् पदार्थका है । इसलिये सत् इतना कहनेसे ही बिना कटे हुए भी अस्तित्व गुण अथवा अस्तित्व गुण विशिष्ट द्रव्यका बोध होता है । भावार्थ—यद्यपि सत्में यह विकल्प नहीं उठाया गया है कि यह द्रव्य है, अथवा गुण है तथापि वह विकल्प बिना कटे हुए भी सत् कहनेसे ही उठ जाता है, और जितना विशिष्टात्मक—भेदविज्ञान है सब व्यवहार नयका विषय है ।

यदि च विशेषणशून्यं विशेष्यमात्रं सुनिश्चयस्वार्थः ।

द्रव्यं गुणो न य इति वा व्यवहारलोपदोषः स्यात् ॥ ६२४ ॥

अर्थ—यदि निश्चयपूर्वक प्रमाणानुसार सत्को एक माना जाय अथवा चित् ही ले माना जाय और उससे निश्चयपूर्वक उदाहरण कहा जाय तो व्यवहार नयमें निश्चय कब कुछ भी भेद नहीं रहेगा । दोनों ही उदाहरण व्यापार नयके ही अन्तर्गत—(माने) हो जाते हैं । सत्को एक मानने से भी यहाँ भेद ही सिद्ध होता है, अथवा जीवको चित् रूप कहनेसे भी यहाँ भेद ही सिद्ध होता है । किम प्रकार ? सो नीचे कहते हैं—

एवं चक्षुरादौ न भेदः तद्वत्त्वं तदेकमिति ।

लक्षणानुसारं न भेदः भवति व्यवहारतः स नान्यत्र ॥ ६१६ ॥

अथवा निश्चयपूर्वक प्रमाणानुसारं यदुदाहरणं तद्वत्त्वं तदेकमिति ।

उक्तयद्वत्त्वं न भेदः व्यवहारनयो न परमार्थः ॥ ६१७ ॥

अर्थ—शंकाहर्तृने निश्चयपूर्वक उदाहरण यह बतलाया है कि सत् एक है, इसमें आचार्य दोष दिखाने में सफल नहीं हो पाया । यहाँ पर सत् तो लक्ष्य ठहरता है और उदाहरण यह लक्षण ठहरता है । इस प्रकारका लक्षण लक्ष्यका भेद व्यवहार नयमें ही होता है निश्चय नयमें नहीं होता । किम प्रकार सत् और एकमें लक्षण लक्ष्यका भेद होता है, उसी प्रकार जीव और चित् में भी होता है । जब सत् लक्ष्य और चित् उदाहरण लक्षण सिद्ध होता है । शंका करने यद्यपि इन उदाहरणोंसे अभेद बुद्धिमें बतलाया है, परन्तु विचार करने पर उदाहरण मात्र ही भेदजनक पड़ता है । इसलिये यह व्यवहार नयका ही विषय है, निश्चयका नहीं क्योंकि जितना भी भेद व्यवहार है, सत् व्यवहार ही है ।

एवं सुनिश्चिततरदोषे सति सर्वशून्यदोषः स्यात् ।

निरपेक्षास्य तात्पर्याभावात्तद्वत्त्वात् ॥ ६१८ ॥

अर्थ—इस प्रकार दोनों ही नयोंमें संकरता आती है । संकरता आनेसे सर्वशून्य दोष आता है, जो निरपेक्ष है उसमें गणना ही नहीं आता, क्योंकि निरपेक्षता नया लक्षण ही नहीं है । भाषा—निश्चय नयको भी उदाहरण माननेसे व्यवहारसे उसमें कुछ भेद नहीं रहेगा दोनों एक रूपमें आनायेंगे ऐसी अवस्थामें प्रमाण भी आत्मलाभ न कर सके । इसलिये निश्चय नयको उदाहरण सत्ति मानना ठीक नहीं है ।

शङ्काहार—

ननु केवलं सत्त्वं हि यदि वा जीवो विशेषनिरपेक्षः ।

भयति न तादात्म्यं मेदाभावात्तदा हि को दोषः ॥ ६१९ ॥

अपि न भवति निश्चयं व्यवहारस्यापकाश एव यथा ।

सर्वज्ञत्वेन च सत्त्वं जीवोऽधिद्वयमात्मवानिति चेत् ॥ ६२० ॥

अर्थ—यदि सत् ही सत् कहनेसे और जीवको चित् रूप कहनेसे भी व्यवहार नयका

निश्चय नय वधापं हे—

स्वयमपि भूतार्थस्याद्भवति स निश्चयनयो हि सम्पत्त्वम् ।

अधिकल्पवदतिवांगिय स्यादनुभवैकगम्यवाच्यार्थः ॥६२९॥

यदि वा सम्पददृष्टिस्तदृष्टिः कार्यकारी स्यात् ।

तस्मात् स उपादेयोनोपादेय सदन्यनयवादः ॥ ६३० ॥

अर्थ—निश्चय नय वधापं विषयका प्रतिपादन करनेवाला है, इसलिये वह सम्पत्त्वरूप है । यद्यपि निश्चयनय भी विकल्पात्मक है, तो भी वह विकल्प रहितमा प्रतीत होता है । यद्यपि वह 'न' इत्याकारक वचनसे कटा जाता है तो भी वह वचनागोचर ही जैसा प्रतीत होता है । निश्चय नयका क्या वाच्य है वह बात अनुभवगम्य ही है अर्थात् निश्चय नयके विषयका बोध अनुभवसे ही जाना जाता है । वचनसे वह नहीं कटा जाता, क्योंकि जो कुछ वचनसे विवेचन किया जायगा वह सब भेदरूप होनेसे व्यवहार नयक ही विषय हो जाता है । इसलिये वचनसे तो वह 'न' निषेधरूप ही वक्तव्य है । अथवा उस निश्चय नयके विषयपर अज्ञान करनेवाला सम्पददृष्टि है और यही कार्यकारी है । इसलिये निश्चयनय ही उपादेय—मात्र है । अन्य जितना भी नयवाद है सभी अमास—स्याज्य है ।

शंकाकार—

ननु च व्यवहारनयो भवति स सर्वोपि कथमभूतार्थः ।

गुणपर्ययवद्द्रव्यं यथोपदेशास्तथानुभूतेष्व ॥६३१॥

अथ किमभूतार्थत्वं द्रव्याभावोऽथ वा गुणाभावः ।

जमयाभावो वा किल तद्योगस्याप्यभावसादिति चेत् ॥६३२॥

अर्थ—सम्पूर्ण ही व्यवहार नय किसप्रकार मिथ्या हो सक्ता है ? क्योंकि 'गुण-पर्ययवद्द्रव्यम्', गुण पर्यायवाला द्रव्य होता है, ऐसा उपदेश (सर्वज्ञ व महर्षियोंका) भी है तथा अनुभवसे भी यही बात सिद्ध होती है । हम पूछते हैं (शंकाकार) कि यहा पर क्या अभूतार्थपना है, द्रव्याभाव है अथवा गुणाभाव है । अथवा दोनोंका अभाव है, अथवा उन दोनोंके योग (मेट)का अभाव है । किसका अभाव है जिससे कि 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' वह रूपन अभूतार्थ समझा जाय, यदि किसीका अभाव नहीं है तो फिर व्यवहार नय मिथ्या क्यों ?

उत्तर—

सत्यं न गुणाभावो द्रव्याभावो न नोभयाभावः ।

न हि तद्योगाभावो व्यवहारः स्यात्तथाप्यभूतार्थः ॥६३३॥

अर्थ—यदि विशेषण रहित विशेष्य ही केवल निश्चय नयका विषय माना जाय  
द्रव्य और गुणकी ही सिद्धि होगी, पर्यायकी सिद्धि नहीं होगी, अथवा व्यवहारका  
लोप हो जायगा । यह एक बड़ा दोष है ।

धारांश—

तस्मादवसेयमिदं यावदुदाहरणपूर्वको रूपः ।

ताद्यान् व्यवहारनयस्तस्य निषेधात्मकस्तु परमार्थः ॥ ४१५ ॥

अर्थ—इसलिये यह निश्चय करना चाहिये कि मितना भी उदाहरण पूर्वक कम  
उतना सब व्यवहार नय है । उस व्यवहारका निषेधक ही निश्चय नय है ।

शंकाकार—

ननु च व्यवहारनयो भवति च निश्चयनयो विकल्पात्मा ।

कथमाद्यः प्रतिषेधोऽस्त्यन्यः प्रतिषेधकश्च कथमिति चेत् ॥ ४१६ ॥

अर्थ—व्यवहार नय भी विकल्पात्मक है और निश्चय नय भी विकल्पात्मक है  
फिर व्यवहार नय क्यों निषेध करने योग्य है, तथा निश्चय नय क्यों उसका निषेध  
करनेवाला है ? भावार्थ—जब दोनों ही नय विकल्पात्मक हैं तो एक निषेध और दूसरा  
निषेधक उनमें कैसा ?

उत्तर—

न यतो विकल्पमाश्रमर्थाकृतिपरिणतं यथा वस्तु ।

प्रतिषेध्यस्य न हेतुश्चेदयथार्थस्तु हेतुरिह तस्य ॥ ४१७ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि हर एक वस्तुमें उस वस्तुके अनुरूप  
अर्थाकार परिणमन करनेवाले ज्ञानको ही विकल्प कहते हैं । यह विकल्प प्रतिषेध्यका है  
नहीं है, किन्तु उसका कारण अयथार्थता है । भावार्थ—व्यवहार नयके निषेधका कारण  
विकल्पात्मक बोध नहीं है विकल्पात्मक बोध तो निश्चय नयमें भी है किन्तु उसका अयथार्थ  
बोध है, अर्थात् व्यवहार नय मिथ्या है इसी लिये वह निषेध करने योग्य है । इसी बातको  
नीचे स्पष्ट करते हैं ।

व्यवहारः क्लृप्त मिथ्या स्वयमपि मिथ्योपदेशकश्च यतः ।

प्रतिषेध्यस्तस्मादिह मिथ्यादृष्टिस्तदर्थदृष्टिश्च ॥ ४१८ ॥

अर्थ—व्यवहार नय मिथ्या है क्योंकि वह स्वयं ही मिथ्या उपदेश देता है । इस  
लिये वह प्रतिषेध्य निषेध करने योग्य है और उस व्यवहार नयके विषय पर दृष्टि देनेवाला  
अज्ञान करनेवाला भी मिथ्यादृष्टि है ।

संज्ञाकार—

ननु त्वयं परसमयः कथं स निश्चयनयावत्वं स्यात् ।  
अविशेषादपि स यथा व्यवहारनयावत्वं स्यात् ॥ ६४२ ॥

अर्थ—जो व्यवहारनयका अवलम्बन करनेवाला है, वह निम्न प्रकार सामान्यरूपमें निश्चयादिति है उसी प्रकार जो निश्चयनयका अवलम्बन करनेवाला है वह निश्चयादिति क्यों है ! क्योंकि व्यवहारनयके अवलम्बन करनेवालेको निश्चयादिति कहा गया है, तो टीकाकार निश्चयनयावत्वंकी भी निश्चयादिति ही कहा गया है तो क्यों ?

उत्तर—

सत्यं किन्तु विशेषो भवति न सूक्ष्मो गुरूपदेश्यत्वात् ।  
अपि निश्चयनयपदसादपरः स्यात्मानुभूतिमहिमा स्यात् ॥ ६४३ ॥

अर्थ—टीका है, परन्तु निश्चयनयके भी विशेष कोई है, वह सूक्ष्म है, हाश्वदे वद के ही उपदेश योग्य है । सिवा महनीय गुरुके उसका स्वल्प कोई नहीं बतला सकता । विशेष स्यात्मानुभूतिकी महिमा है जोकि निश्चयनयके भी बहुत सूक्ष्म और भिन्न है ।

उभयं त्वयं विभजितं जाणाह त्वयं नु समयं पश्यिष्ये ।  
तदुक्तान्पदादपि तद्विकल्पस्यासथानुभूतेः ॥ १ ॥

अर्थ—नयी पायान् परसमयः सत्यं मयापलब्धी ॥ ६४३ ॥  
है । उसका अर्थ यह है कि जो दो प्रकारके सब करते करते हैं उन्हें सम्यक्दृष्टि है परन्तु किसी भी मयके पक्षको ग्रहण नहीं करता है, वह सब समझे नहीं है ।  
स्वरूप सूत्रमें यह बात सिद्ध हो चुकी कि सम्यक्दृष्टि निश्चय मयका ही अर्थ करता है । दूसरी बात यह है कि निश्चय मयको भी अपवादोंसे सर्वव्यापक और अविनाशिकरूप जानें उसे अमूर्तार्थ बतलाना है अतः कि लक्ष्य है—  
“यदि वा ज्ञानविकारो नयः विश्वरूपेण सौम्यरूपेण” इत्यादि सर्वव्यापक नय भी निश्चय मय निश्चया सिद्ध होता है, तथा अद्वैतमें जो सब कार्य भी सब है मभी पर समय-निश्चय है, तथा उन प्रदेशों में सब कार्य होते हैं ।

संज्ञाकार—

यथा सति तद्विकल्पे भवति न निश्चयनयोः विशेषाका  
रूपो न निषेधो भवति तद्विद्वत्मानुभूतिरूपेण ॥ ६४४ ॥

शंकाकार—

ननु निश्चयस्य वाच्यं किमिति यदालम्ब्य वर्तते ज्ञानम् ।

सर्वविशेषाभावेऽत्यन्ताभावस्य च प्रतीतत्वात् ॥ ६४२ ॥

अर्थ—निश्चय नयका क्या वाच्य (विषय) है कि निसको अवलम्बन करके रहता है ? सम्पूर्ण विशेषके अभावमें निश्चयनयसे अत्यन्ताभाव ही प्रतीत होता है ।  
 भावार्थ—निश्चयनय जब किसी विशेषका अवलम्बन नहीं करता है तो फिर उसका ही विषय नहीं है, वह केवल अभावात्मक ही है ।

उत्तर—

इदमत्र समाधानं व्यवहारस्य च नयस्य यद्वाच्यम् ।

सर्वविकल्पाभावे तदेव निश्चयनयस्य यद्वाच्यम् ॥ ६४३ ॥

अर्थ—ऊपरकी शंकाका यहांपर यह समाधान किया जाता है कि जो कुछ नयका वाच्य है उसमेंसे सम्पूर्ण विकल्पोंको दूर करनेपर जो वाच्य रहता है वही निश्चयनयका वाच्य है ।

दृष्टान्त—

अस्त्यत्र च संहतिस्तृणाम्निरिति वा यदोष्ण एवाग्निः ।

सर्वविकल्पाभावे तत्संस्पर्शादिनाप्यशीतल्यम् ॥ ६४४ ॥

अर्थ—निश्चय नयके वाच्यके विषयमें यहांपर अग्निका दृष्टान्त दिया जाता है ।  
 अग्नि यदि तृणकी अग्नि है तो भी अग्नि ही है, यदि वह कण्डेकी अग्नि है तो भी वह उष्ण अग्नि ही है, यदि वह कोयलेकी अग्नि है तो भी वह उष्ण अग्नि ही है । इसलिये उस अग्नि केने तृण, कण्डा (उरग) कोयला आदिविकल्प दूर कर दिये जायें तो भी वह एतदग्नौ उष्ण ही रहने लगेगी । भावार्थ—तृणकी अग्नि कहना ही वास्तवमें मिथ्या है, जिस समय तृण अग्नि दहन है उस समय वह तृण नहीं किन्तु अग्नि है । जिस समय अग्नि दण्डपर नहीं उष्ण अग्नि वह तृण है अग्नि नहीं है । इसलिये तृणादि विकल्पोंको दूर कर देना ही उचित है । अतः अग्निस्तृण मिथ्य कथनेके लिये पहले तृणादिका व्यवहार होना भी आवश्यक है ।  
 तब वही दृष्टान्त निश्चयनयमें धरित होता है । जो व्यवहारनयका विषय है । निश्चयनय है, उसमेंसे विकल्पोंको दूर कर जो वाच्य रहता है वही निश्चयनयका विषय है । निश्चयनय अतः सर्वविकल्प भेदोंको मिथ्या समझना है । तृणादिक अग्निहीन विषय है । वह अग्नि है नहीं है । इसलिये व्यवहार नयके विषयको निश्चयनय कहना उचित है । जिस कारणसे उसका अन्वयमिथ्य वाच्य नहीं समझना चाहिये किन्तु वह ही वाच्य कहिये ।

जनेबाला हूँ, जबतक उसके ऐमा विकल्पात्मक बोध है तब तक उसके नय पड़ है । बहुत कम एक समय नन्दी ही देववत् यही आत्मा यदि निर्विकल्प होनाय, अर्थात् मैं उपा-  
सक हूँ और मैं ही स्वयं उपास्य हूँ, इस उपास्य उपासक विकल्पको दूर कर स्वयं आत्मा  
निर आत्माने तन्मय होनाय तो उस समय वह आत्मा स्वात्मानुभवन करने लग जाता है ।  
तो स्वात्मानुभवन है यही स्वात्मानुभूति कहलाती है । भावार्थ—बदिवर दौनतगामनीने  
अबालाये इसीका आशय लिया है । ये कहने हैं कि 'जहाँ ध्यान ध्याता ध्येयको न दिक्क  
बन मेद न जहाँ आदि' अर्थात् जिस आत्मानुभूतिमें ध्यान क्या है, ध्याता कौन है, ध्येय  
कौन है यह विकल्प ही नहीं उठता है, और न मियमें घबनका ही विकल्प है । निश्चय  
नयमें भी विकल्प है इसी लिये सम्पद्यष्टि—स्वात्मानुभूतिनिमित्त उनमें भी छोड़ देना है,  
इसीलिये 'णयपयस परिहीणो' अर्थात् सम्पद्यष्टि दोनों नय पक्षोंमें रहित हो देना क्या गया  
है । यहाँ विकल्पातीत, वचनातीत आत्माकी निर्विकल्प अवस्था है यही स्वात्मानुभूति विज्ञान  
है । वह निश्चयनयने भी बहुत ऊपर है, बहुत सूक्ष्म है, उस अर्थविक्र आनन्दमें निमित्त  
महात्माओं द्वारा ही उसका कुछ विवेचन होसका है, उस आनन्दतो वरित पुरुष उक्त  
वर्णन स्वरूप नहीं कह सकते हैं । जिसने मिश्रीको बस लिया है वही कुछ उसका वर्णन  
किन्हीं शब्दोंमें कह सकता है । जिसने मिश्रीको गुना मात्र दे कर बिचारा उसका वर्णन क्या  
करता सकता है, इसी लिये स्वात्मानुभूतिको शुरुपदेश्य कहा गया है ।

उपनिषद्—

तस्मादुप्ययहार इय मृदुनी नाग्यानुभूतिहेतुः । पाणि ।

अपमहमस्य स्वाभी मृदुपद्वयमाविनो विरस्पदात् ५६३४

अर्थ—इसलिये व्यवहारनयके समान निश्चयनय भी आत्मानुभूति का कारण नहीं है ।  
क्योंकि उसमें भी यह आत्मा है, मैं इसका स्वामी हूँ, ऐसा सब वर्णन अस्वच्छन्द ही विकल्प  
रहता ही है ।

उपनिषद्—

अनु केवलमिह निश्चयनयपक्षो यदि विपक्षितो भवति ।

व्यपहाराभिरपेक्षो भवति तदात्मानुभूतिहेतुः सः । ५६४४

अर्थ—यदि वहीपर व्यवहार नयमें निरपेक्ष बरक निश्चयनयका सब ही विकल्प  
बिना रूप तो वह आत्मानुभूति का कारण होगा ?

उपनिषद्—

मैपमसंभपदोपाययो न काश्चित्तो हि निरपेक्षः ।

नानि च विधा प्रतिपेधा प्रतिपेधे नानि विधेः प्रसिद्धात् । ५६५१



अर्थ—यह स्वात्मानुभूतिकी महिमा इसप्रकार है कि सविकल्पज्ञान होनेपर निष्कल नय उस विकल्पका निषेध करता है । परन्तु जहां पर न तो विकल्प ही है और न निषेध ही है वहां पर स्वात्मानुभूति मात्र है ।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तोपि च महिषध्यानाविष्टो यथा हि कोपि नरः ।

महिषोपमहं तस्योपासक इति नयावलम्बी स्यात् ॥ ६४९ ॥

चिरमचिरं वा यावत् स एव देवात् स्वयं हि महिषात्मा ।

महिषस्यैकस्य यथा ह्यनुभवानां महिषानुभूतिमात्रं स्यात् ॥ ६५० ॥

अर्थ—स्वात्मानुभूतिके विषयमें दृष्टान्त भी है, जैसे—कोई पुरुष महिषके ध्यान आरूढ़ है । ध्यान करते हुए वह यह समझता है कि यह महिष (मैंसा) है और मैं उसका उपासना (सेवा—ध्यान) करनेवाला हूं । इसप्रकारके विकल्पको लिये हुए जब तक उसका ध्यान है । तब तक वह नयका अयलम्बन करनेवाला है । बहुत काल तक अथवा जल्दी ही ध्यान करने जिस समय वह देव वश \* स्वयं महिषरूप बन जाता है तो उस समय वह केवल एव महिषका ही अनुभव करता है, वही महिषानुभूति है । भावार्थ—महिषका ध्यान करनेवाले जब तक यह विकल्प करता है कि यह महिष है मैं उसका उपासक हूं तब तक तो वह निष्कल आत्मक नयके अधीन है, परन्तु ध्यान करते २ जिस समय उसके ज्ञानसे यह अर्थ विकल्प दूर हो जाता है केवल महिष रूप अपने आपको अनुभव करने लगता है उस समय उसके महिषानुभूति होती है । इस प्रकारकी अनुभूतिमें फिर उपास्य उपासकत्व में नहीं रहता है आत्मा जिसे पहले ध्येय बना कर स्वयं ध्याता बनता है, अनुभूतिके सत् ध्याता ध्येयका विकल्प नहीं रहता है किंतु ध्याता स्वयं ध्येयरूप होकर तन्मय हो जाता इसीलिये स्वात्मानुभूतिकी अपार महिमा है ।

दाशान्त—

स्वात्मध्यानाविष्टस्तथैह कश्चिन्नरोपि किल यावत् ।

अयमहमात्मा स्वयामिति स्थामनुभविताहमस्यनयपक्षः ॥ ६५१ ॥

चिरमचिरं वा देवात् स एव यदि निर्विकल्पश्च स्यात् ।

स्वप्नमात्रमेतदनुभवनात् स्याद्विद्यमात्मानुभूतिरिह तावत् ॥ ६५२ ॥

अर्थ—उसी प्रकार यदि कोई पुरुष अपने आत्माके ध्यान करनेमें आरूढ़ है, ध्यान करते हुए यह विकल्प उठाना है कि मैं यह आत्मा हूं और मैं ही स्वयं उसका अनुभव

\* देववशका भाषण यह नहीं है कि वह चारणवश महिषकी पर्याप्तको प्राप्त करने हो, किन्तु यह है कि पुष्पोदपक्ष यदि ध्यानही एकामता हो जाय तो ।





विशेषात्मक हो । इसलिये सिद्ध होता है कि पदार्थ उभयात्मक है । (सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः) ऐसा सूत्र भी है, अर्थात् पदार्थके सामान्य धर्मको विषय करनेवाला द्रव्याधिक नय है । उसके विशेषांशको विषय करनेवाला पर्यायार्थिक नय है । दोनों अंशोंको युगपत् (एक साथ) विषय करनेवाला प्रमाण ज्ञान है । उभयात्मक पदार्थ ही प्रमाणका विषय है ।

उदाहरण—

ननु चास्त्येकविकल्पोप्यविरुद्धोभयविकल्प एवास्ति ।

कथमियं तदेकसमये विरुद्धमावद्ययोर्यिकल्पः स्यात् ॥१६७॥

अथ चेदस्ति विकल्पो क्रमेण युगपदा घटाटाक्यः ।

अथ चेत् क्रमेण नय इति भवति न नियमात्प्रमाणमिति दोषः ॥१६८॥

युगपत्पक्षे न मिथो विरोधिनीर्यांगपर्यं स्यात् ।

दृष्टिविरुद्धत्वादपि प्रकाशतमसोर्द्वयोरिति चेत् ॥ १६९ ॥

अर्थ—एक विकल्प भी अविरुद्ध उभय (दो) विकल्पवाला हो जाता है । अर्थात् अविरोधी कई धर्म एक साथ रह सकते हैं । परन्तु एक समयमें विरुद्ध दो बातोंका विचार किम प्रकार होसका है ? यदि एक साथ विरुद्ध दो विकल्प होसके हैं तो क्रमेण हो गये हैं या एक साथ उन दोनोंका दृष्ट पूर्वक प्रयोग किया जासका है ? यदि क्या जब कि विरोधी दो धर्म क्रमसे होसके हैं तो वे क्रमसे होनेवाले धर्म नब ही कहे जायेंगे, प्रमाण वे नियमसे नहीं कहे जासके, यह एक बड़ा दोष उपस्थित होगा । यदि क्या जब कि वे दोनो धर्म एक साथ होसके हैं तो यह बात बनती नहीं, कारण विरोधी धर्म एक साथ हो रह नहीं सके । दो विरोधी धर्म एक साथ रहें इस विषयमें प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरोध आता है । जैसे प्रकाश और अन्धकार दोनों ही विरोधी हैं । वे क्या एक साथ रहने हुए कभी विद्यमान रहेंगे ?

विरोधी धर्म भी एक साथ रह सकते हैं—

न यतो युक्तिविशेषाद्युगपद्वृत्तिर्विरोधिनामस्ति ।

तदसदनेरेयामिह भाषाभाष्यमुवाधुवाणाह ॥ १७० ॥

अर्थ—उपर की हुई चर्चा ठीक नहीं है, कारण युक्ति विशेषसे विरोधी धर्मों को एक साथ वृत्ति रह सकती है । मनु अन्ध, भब लम्बा, निम्न लम्ब, भेद, जनेद, एक अनेक आदि अनेक धर्मोंकी एक पक्षमें एक साथ वृत्ति रहती है । अर्थ—यदि मनु दृष्टिसे मनु अन्ध आदि धर्म विरोधी प्रतीत होने हैं, परन्तु दृष्टि दृष्टिसे अनेक विषय परसेत भी विरोधी धर्म हैं वे भी अविरोधी प्रमाण होने लगे हैं । अन्ध दृष्टि से अन्ध



अस्त्युपयोगि ज्ञानं सामान्यविशेषयोः समं सम्यक् ।

\* आदर्शस्थानीयात् तस्य प्रतिविम्बमात्रतोऽन्यस्य ॥६७॥

अर्थ—एक साथ सामान्यविशेषका उपयोगात्मक ज्ञान मने प्रकार हो सता है। जैसे—दर्पणमे उसमें पड़नेवाला प्रतिबिम्ब यद्यपि (कथंचित्) भिन्न है। तथापि उस प्रतिबिम्ब और दर्पणका एक साथ बोध होता है। भावार्थ—नो अनेक प्रकारका चित्र ज्ञान होता है वह भी अनेकोंका युगपत् ही होता है इसलिये युगपत् सामान्य विशेषका दर्पणकी भाँति होता है यह सर्व सगमत है।

पञ्चाङ्ग-२-

ननु यैषं नययुग्मं व्यस्तं नय एष न प्रमाणं ह्यात् ।

तदिह स्वमस्तं योगात् प्रमाणमिति केवलं न नयः ॥ ६७४ ॥

अर्थ—दोनों ही नय जब मिल २ प्रयुक्त किये जाने हैं तब तो वे नय ही है, प्रमाण नहीं हैं और वे ही दोनों नय जब मिलाकर एक साथ प्रयोगमें लाये जाने हैं तब वह केवल प्रमाण कहलाता है, नय नहीं कहलाता है ? भावार्थ—या तो नय ही सिद्ध होगी या प्रमाण ही सिद्ध होगी । नय प्रमाण दोनोंकी सिद्धि नहीं होसकती है !

प्रमाण नयोंसे मिल रहे—

तत्र यतो नययोगादतिरिक्तस्मान्तरं प्रमाणमिदम् ।

लक्षणपिपयोदाहृतिहेतुपत्राख्यादिभेदभिरन्यान् ॥ १७ ॥

अर्थ—उपर जो शंका की गई है वह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ दोषों का उल्लेख ही नहीं है, मनासका लक्षण, विषय, उदाहरण हेतु, पञ्च, नाम, भेद, अन्तिम लक्षण यहाँ ही है। उसीको नीचे स्पष्ट करने हैं।

तत्रोक्तं लक्षणमिह सर्वत्रमाहकं प्रमाणमिति ।

विषयो पस्तुरमस्तं निरन्तरं दद्यादिभूदशहरणम् ॥१७॥

अर्थ—ममणका लक्षण सम्पूर्णवशार्थको ग्रहण करना । ममणका विषय—ममणका विषय निरुद्धादिकादिमूढविह्वलनाम् ।

संख्या-४८८

तथा—  
विष्णुपुत्रस्योः संदिग्धमाधवा च शास्त्रम् ।

साधर्म्येणैव द्रष्टव्यं ह्यस्मात्प्रत्यक्षवद्वेषेणुक्तमप्य ॥ ६३३ ॥

अर्थ—तावत्तः जगन्नेही हृष्टा जगन्नेवाणा ओ बेई मरिह्य इष कदर दूने दुख  
उमकी एक साथ अनेक दूसरो हाथमें रखे हुए आगेके समय जगन्नेही हृष्टा-  
ना ही बलापन करत है।

\* यह प्रयोग करने वाले को सुरक्षा के लिए ध्यान देना चाहिए।

भी बने रहें तो भी पदार्थका यह स्वभाव है कि वह परस्पर विरुद्ध धर्मोंको भी एक सत्ता में धारण करे, इसका कारण द्रव्य और पर्याय है। द्रव्यदृष्टिसे पदार्थ सदा सत् रूप है, भाव है, नित्य है, अभिन्न है, एक है, परन्तु वही पदार्थ पर्यायदृष्टिसे असत् है, अभावपूर्ण है, अनित्य है, भिन्न है, अनेक है। ग्रन्थान्तरमें कहा भी है—‘समुदेति विजय मृत्प्री भावो नियमेन पर्ययनयेन, नोदेति नो विनश्यति द्रव्यनयालिङ्घितो नित्यम्, अपरं पदार्थं पर्यायदृष्टिसे उत्पन्न भी होता है तथा नष्ट भी होता रहता है, वस्तु द्रव्य दृष्टिसे न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। स्वामी समन्तभद्राचार्यने भी कहा है—“मत्सामान्यात् सर्वैक्यं एषद्रव्यादिभेदतः। भेदभेदविशेषादसामान्यधारणदेवता”। अर्थात् जिस प्रकार असाधारण हेतु पक्षधर्मादि भेदोंकी अपेक्षासे अनेक हैं और हेतु सामान्य की अपेक्षासे वही हेतु एक है। उसी प्रकार पदार्थ भी द्रव्यभेदकी अपेक्षासे भिन्न है—अनेक है, परन्तु वही पदार्थ सत् सामान्यकी अपेक्षासे अभिन्न—एक है। इसलिये पदार्थ केशिका भेदभेद विशिष्टाने एक अनेक भिन्न अभिन्न आदि धर्मोंवाला एक ही समयमें ठहरता है। शिवा अनेकदृष्टिमें ऊर्ध्वी दो धर्मोंमें विरोध दीप्तता है, अपेक्षादृष्टिका परिशान करनेसे ऊर्ध्वीमें अविरोध दीप्तता लगता है।

अथमर्थो जीषादौ प्रकृगपरामर्शपूर्वकं ज्ञानम् ।

यदि वा गदभिज्ञानं यथा हि सोऽयं बलाद्वयामर्शि ॥३१॥

अर्थ—उस जो कुछ कहा गया है उसका यह अर्थ है कि जीवार्थि पक्षधर्मों में सार्वभौम विचारों के विचारपूर्वक जो ज्ञान है वही प्रमाण ज्ञान है। अथवा पदार्थों में जो प्रत्यक्ष-ज्ञान है वह प्रमाण ज्ञान है जेने—यह वही है, हममकारका ज्ञान एक बन्धुकी भावना विवेक सेवों अस्वभावों को एक समयमें ग्रहण करना है।

১৫৮-

सायं ज्ञानविशेषो यः सामान्येन मदिति वस्तुमयः ।

संस्कारस्य वशादिह सामान्यविशेषज्ञं भवेत्ज्ञानम् ॥१३१॥

[illegible]

यदनेकांशप्राप्तमिह प्रमाणं न प्रत्यनीकतया ।

प्रत्युत मंत्रीभावादिति नयभेदाददः प्रभितं स्यात् ॥ ६८२ ॥

अर्थ—कोई ऐसा आशंका करने है कि जब बहुतों के एक अंशको विषय करनेवाला है तो अनेक नवोंका समूह होनेपर उसमें ही अनेक धर्मता प्रमाणमें आनायगी, अर्थात् प्रमाण स्वतन्त्र कोई ज्ञान विशेष न माना जाय, अनेक नवोंके समूहको ही प्रमाण कहा जाय तो क्या हानि है ? आचार्य उत्तर देने है कि यह आशंका किसी प्रकार ठीक सी मानस नहीं है तो भी ठीक नहीं है । क्योंकि अनेक नवोंके संग्रहसे जो अनेक धर्मोंका संग्रह होगा वह विरुद्ध होगा । कारण नय सभी एक दूसरेमें प्रतिपक्ष धर्मोंका विवेचन करते हैं । प्रमाण जो अनेक अंशोंका ग्रहण करता है सो वह विरुद्ध रीतिसे नहीं करता है । किन्तु परस्पर मंत्रीभाव पुनः ही उन धर्मोंको ग्रहण करता है । इसलिये नयभेदसे प्रमाण भिन्न ही । आचार्य—प्रत्येक नय एक २ धर्मको विरुद्ध रीतिसे ग्रहण करता है, परन्तु प्रमाण के सभी अंशोंको अविरुद्धतामें ग्रहण करता है । इसका कारण यह है कि सब अंशोंको विषय करनेवाला एक ही ज्ञान है । भिन्न २ ज्ञान ही प्रत्येक अंशको विवक्षतासे ग्रहण कर के हैं । जैसे एक ज्ञान रूपको ही जानता है, दूसरा रसको जानता है, तीसरा गन्धको जानता है, चौथा स्पर्शको जानता है । ये चारों ही ज्ञान परस्पर विरुद्ध हैं क्योंकि विरुद्ध विषयोंको विषय करने हैं, परन्तु रूप, रस, गन्ध स्पर्श, चारोंका समुदायात्मक जो एक ज्ञान होगा वह विरुद्ध ही होगा । यही दृष्टान्त प्रमाण नयमें सुपटित करलेना चाहिये । तथा पदार्थका नित्यांश उसके अनित्यांशका विरोधी है, उसी प्रकार अनित्यांश उसके नित्यांशका विरोधी परन्तु दोनों मिलकर ही पदार्थस्वरूपके साधक है । इसका कारण यही है कि प्रत्येक अंश स्वतन्त्र ज्ञान द्वितीय पक्षका विरोधी है परन्तु उभय पक्षका समुदायात्मक ज्ञान परस्पर विरुद्ध होता हुआ भी अविरुद्ध है ।

शेकाधार—

ननु युगपदुच्यमानं नययुग्मं तथ्यास्ति नास्तीति ।

एको भङ्गः कथमयमेकांशप्राप्तो नयो नान्यत् ॥ ६८३ ॥

अपि चास्ति न चास्तीति सममेकोक्त्या प्रमाणनाशः स्यात्

अथ च ममेण यदि वा स्वस्य रिपुः स्वयमहो स्वनाशाय ॥ ६८४ ॥

अथवाऽवक्तव्यमयो वक्तुमशक्यतात्समं स चेद्भङ्गः ।

पूर्वापरथाधायाः कृतः प्रमाणात्प्रमाणमिह सिद्ध्येत् ॥ ६८५ ॥

इदमपि वक्तुमयुक्तं यत्ता नय एव न प्रमाणमिह ।

मूलविनाशाय यतोऽवक्तारि किल चेदवाच्यतादोषः ॥ ६८६ ॥



तथा—

फलमस्यानुभवः स्यात्प्रत्यक्षमिव सर्ववस्तु-  
 आख्या प्रमाणमिति किल भेदः प्रत्यक्षमय-  
 अर्थ—सम्पूर्ण वस्तुमात्रका प्रत्यक्षके समान अनुभव होना प्रमाणका नाम प्रमाण है । प्रत्यक्ष और परोक्ष उसके दो भेद हैं । प्रमाण और नयमें अन्तर सिद्ध होगया । प्रमाण वस्तुके सर्व धर्मोंको वस्तुके एक देशको विषय करता है । इसी बातको सर्वार्थसिद्धिकारने के देशः प्रमाणापीनम्, विकलादेशो नयापीनम्” इसी प्रकार प्रमाणका लक्षण गुणके द्वारा समस्त वस्तुके कथनको प्रमाण कहते हैं, प्रमाणसे जाने हुए विशेषके कथनको नय कहते हैं । प्रमाणका फल समस्त वस्तुबोध है । नय एकदेश बोध है । शब्द भेद भी है । प्रमाण और नय ये दो नाम भी गुदे प्रत्यक्ष परोक्ष आदि भेद हैं । नयके द्रव्य, पर्याय आदि भेद हैं । इसलिये दोनोंका ही स्वरूप शुद्ध है । उनमेंसे किसी एकका लोप करना सर्व लोप है । नयके अभावमें प्रमाण व्यवस्था नहीं बन सकती है, और प्रमाणके व्यवस्था भी नहीं बन सकती है ।

प्रमाण नयमें विषय भेदसे भेद २—

ज्ञानविशेषो नय इति ज्ञानविशेषः प्रमाणमिति नियमात्  
 उभयोरन्यत्र भेदो विषयविशेषात् वस्तुतो भेदः ॥ ६७९ ॥

अर्थ—नय भी ज्ञानविशेष है, और प्रमाण भी ज्ञानविशेष है । दोनोंमें वि-  
 शिष्टेही अपेक्षाओं ही भेद हैं, साम्यवर्मे ज्ञानही अपेक्षामे दोनोंमें कुछ भी भेद नहीं  
 भाराय—नय और प्रमाण दोनों ही ज्ञानात्मक हैं परन्तु दोनोंका विषय शुद्ध  
 इसी ठिये उनमें भेद है । अब विषयभेदों ही प्रकट किया जाना है—  
 न यथा विषयविशेषो द्रव्यकांशो नयस्य योऽन्यतमः ।

अर्थ—द्रव्य और नयमें विषयभेद इस प्रकार है—द्रव्यके अनन्त गुणोंमें से  
 का विनिर्दिष्ट अंश ज्ञानका विषय है । वह अंश तथा और भी नय अंश अर्थात् अनन्त  
 गुणोंमें से एक अंश ज्ञानका विषय है ।

अथवा और ७७९—

यदनेकनयसमूहं सप्रवृत्तनादनैकभूमिपम ।  
 तन्मद्वि न मद्वि यन्मद्वि न तन्मद्वि

अर्थ—प्रत्यक्ष दो प्रकारका है (१) सकल प्रत्यक्ष (२) विकल प्रत्यक्ष । जो अक्षय्य अविनाशी ज्ञान है वह सकल प्रत्यक्ष है । दूसरा विकल प्रत्यक्ष अर्थात् देश प्रत्यक्ष कर्मोत्पत्तिनामके होता है । देश प्रत्यक्ष कर्मोंके क्षयसे नहीं होता है, तथा यह विनाशी भी है ।

सकल प्रत्यक्षका स्वरूप—

अपमर्षो यज्ज्ञानं समस्तकर्मक्षयोद्भवं साक्षात् ।

प्रत्यक्षं क्षायिकमिदमक्षय्यं सुखं तदक्षयिकम् ॥ ६९८ ॥

अर्थ—स्पष्ट अर्थ यह है कि जो ज्ञान समस्त कर्मोंके क्षयसे प्रकट होता है तथा जो माहान्—आत्म मात्र सापेक्ष होता है वह सकल प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है । वह प्रत्यक्ष ज्ञान क्षायिक है, इन्द्रियोंसे रहित है, आत्मीय सुख स्वरूप है, तथा अविनाशक है । भावार्थ—आवरण और इन्द्रियों सहित जो ज्ञान होता है वह पूर्ण नहीं होसका, कारण नितने अंशमें उस ज्ञानके माय आवरण लगे हुए हैं उतने अंशमें वह ज्ञान छिपा हुआ ही रहेगा । जैसा कि हम लोगोंका ज्ञान आवरण मिश्रित है इसलिये यह स्वल्प है । इसी प्रकार इन्द्रियों सहित ज्ञान भी पूर्ण नहीं होसका है । क्योंकि इन्द्रिय और मनसे जो ज्ञान होता है वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, मायकी मर्यादाको लिये हुए होता है, साथ ही वह कमसे होता है, इसलिये जो इन्द्रियोंसे रहित तथा आवरणसे रहित ज्ञान है वही पूर्ण ज्ञान है । वह ज्ञान फिर कभी नष्ट भी नहीं होसका है और उन्नी परिपूर्ण ज्ञान—केवल ज्ञानके साथ अनन्त अक्षातीत आत्मीय सुख गुण भी प्रकट होजाता है ।

देश प्रत्यक्षका स्वरूप—

देशप्रत्यक्षमिहाप्यवधिमनःपर्ययं च यज्ज्ञानम् ।

देशो नोऽइन्द्रियमन उत्थात् प्रत्यक्षमितरनिरपेक्षात् ॥ ६९९ ॥

अर्थ—अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान ये दो ज्ञान देश प्रत्यक्ष कहलाने हैं । देश प्रत्यक्ष इन्हें क्यों कहने हैं । देश तो इसलिये कहने हैं कि ये मनसे उत्पन्न होने हैं । प्रत्यक्ष इसलिये कहलाने हैं कि ये इतर इन्द्रियोंकी सहायतासे निरपेक्ष हैं । भावार्थ—अवधि और मन पर्यय ये दो ज्ञान स्पर्शनादि इन्द्रियोंसे उत्पन्न नहीं होते हैं, केवल मनसे उत्पन्न होते हैं इसलिये ये देश प्रत्यक्ष कहलाने हैं ।

\* गोमटविराजे “ इन्द्रियमोहोदयमोहोदयं येनित्तु उज्ज्वली होदि त्रिभेदित्तु विजलमदी ओहि वा होदि त्रिभेदित्तु ” इस वाक्यके अनुसार अहमति मनःपर्यय इन्द्रिय नोऽइन्द्रियकी सहायतासे होता है परन्तु विपुलमति मनःपर्यय और अवधिज्ञान दोनों ही इन्द्रिय मनकी सहायतासे नहीं होते हैं । अहमति ईशानमतिज्ञानपूर्वक ( परम्परा ) होता है । इसलिये उपर्युक्त इन्द्रिय मनकी सहायता समझी गई है । पञ्चाप्यायीकारने अवधि मनःपर्यय दोनोंमें ही मनकी सहायता स्वीकार की है । यह सब सहायता वाक्यापेक्षासे है, वाक्यात् तो आत्ममात्र सहाय ही दोनों है । अतएव चिन्तनीय है ।

तदभिज्ञानं हि यथा वक्तुमशक्यात् समं नयस्य यतः ।

अपि तुर्यो नयभंगस्तत्त्वावक्तव्यतां त्रितस्तस्मात् ॥ ६९३ ॥

अर्थ—उसका कारण यह है कि नय एक साथ दो धर्मोंका प्रतिपादन करनेमें असमर्थ है । इसलिये एक साथ दो धर्मोंक कहनेकी विवक्षामें 'अवक्तव्य' नामक चौथा भंग होता है । यह भंग भी एक अंशात्मक है । जो नहीं बोला जा सके उसे अवक्तव्य कहते हैं एक समयमें एक ही धर्मका विवेचन हो सका है, दो का नहीं ।

परन्तु—

न पुनर्यक्तुमशक्यं युगपद्धर्मद्वयं प्रमाणस्य ।

क्रमवर्ती केवलमिह नयः प्रमाणं न तद्वदिह यस्मात् ॥ ६९४ ॥

अर्थ—परन्तु प्रमाणके विषयभूत दो धर्म एक साथ कहे नहीं जा सकते ऐसा नहीं है, किन्तु एक साथ दोनों धर्म कहे जाते हैं । क्रमवर्ती केवल नय है, नयके समान प्रमाण क्रमवर्ती नहीं है, अर्थात् प्रमाण चतुर्थ नयके समान अवक्तव्य भी नहीं है और तृतीय नयके समान यह क्रममें भी दो धर्मोंका प्रतिपादन नहीं करता है, किन्तु दोनों धर्मोंका समकक्ष ही प्रतिपादन करता है । इसलिये नय युग्मसे प्रमाण भिन्न ही है ।

यत्किञ्च पुनः प्रमाणं वक्तुमलं यस्तु ज्ञातमिह पायत् ।

सदसदनेकैकमथो नित्यानित्पादिकं च युगपदिति ॥ ६९५ ॥

अर्थ—यह प्रमाण निश्चयमें यस्तु मात्रका प्रतिपादन करनेमें समर्थ है, अथवा सत् अमत् एक अनेक, नित्य अनित्य, इत्यादि अनेक धर्मोंका युगपत् प्रतिपादन करनेमें प्रमाण ही समर्थ है ।

प्रमाणके भेद—

अथ तद्विधा प्रमाणं ज्ञानं प्रत्यक्षमथ परोक्षम् ।

अगदायं प्रत्यक्षं भवति परोक्षं महापरापेक्षम् ॥ ६९६ ॥

अर्थ—प्रमाणरूप ज्ञानके दो भेद हैं, (१) प्रत्यक्ष (२) परोक्ष । जो ज्ञान किसीकी महापराकी अपेक्षा नहीं रखता वह प्रत्यक्ष है, और जो ज्ञान दूसरोंकी महापराकी अपेक्षा रखता है वह परोक्ष है । भावार्थ—जो ज्ञान बिना इन्द्रिय, मन आदिक अदि साधनोंके केवल आत्ममें होता है वह प्रत्यक्ष है, और जो ज्ञान इन्द्रियादिकी महापराके अपेक्षा रखता है वह परोक्ष है ।

ज्ञानके भेद—

प्रत्यक्षं द्विविधं तन्मात्रप्रत्यक्षमक्षयं ज्ञानम् ।

ज्ञानां पञ्चमिहमन्तरं देवप्रत्यक्षमक्षयं क्षयि ॥ ६९७ ॥





भी दोनों ज्ञान परोक्ष हैं तथा इन्द्रिय और मनकी महायन्त्रात्मे उन्मत्त होनेके कारण भी मतिभ्रुत परोक्ष है फिर ग्रन्थकार स्वात्मानुभूति कालमें निस्पेश ज्ञानके समान उन्हें प्रत्यक्ष कैसे बनवाने हैं ?

उत्तर—

‘सत्यं वस्तुविचारः स्यादतिशययत्तिनोऽविमंशाज्ञः ।’

साधारणरूपतया भवति परोक्षं तथा प्रतिज्ञायाः ॥ ३१७ ॥

इह सम्प्रदष्टेः किल सिध्यात्प्रोदयधनाज्ञाया दानिः ।

यानिर्दिनिर्यपनीया स्यात्सम्प्रत्ययदामेनर्दाम् तया ॥ ३१८ ॥

अर्थ—टीका है, परन्तु वस्तुका विचार अतिशय गहन होता है, उसमें कोई विचार नहीं रहता। यद्यपि यह बात टीका है और ऐसी ही सुप्रकाशकी प्रतिज्ञा है कि साधारणरूपसे मतिज्ञान, भ्रुतज्ञान परोक्ष है, परन्तु सम्प्रदष्टिके सिध्यात् प्रोदयधनाज्ञाया दानिः होनेसे कोई ऐसी अनिर्वचनीय शक्ति प्रकट होजाती है कि जिसके द्वारा निस्पेश ज्ञान का प्रत्यक्ष ज्ञान मिलता है। भावार्थ—यद्यपि सामान्य रीतिसे मति भ्रुत परोक्ष है तथा प्रोदयधनाज्ञाया दानिः नाश या उपशम या क्षयोपशम होनेसे सम्प्रदष्टिके स्वात्मानुभवको प्रोदयधनाज्ञाया दानिः होजाता है वही प्रत्यक्ष है, परन्तु स्वात्मानुभवको छोड़ कर इस भावार्थके द्वारा ही ज्ञान परोक्ष ही है। इसका कारण—

तदभिज्ञानं हि यथा द्रुष्टव्यात्मानुभूतिरसमयेस्मिन् ।

स्पष्टीकरनप्रमाणं यथुः शीघ्रं च मोक्षयोगि जनन ॥ ३१९ ॥

अर्थ—इसका कारण यह है कि हम कुछ स्वात्मानुभवके माध्यमे से ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और शीघ्र ही मोक्ष योगि जनन के द्वारा ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है। भावार्थ—यद्यपि सामान्य रीतिसे मति भ्रुत परोक्ष है, परन्तु स्वात्मानुभवको छोड़ कर इस भावार्थके द्वारा ही ज्ञान परोक्ष ही है। इसका कारण—

बैयलमुपयोगि मनरक्षणं च भवतीह नम्रमोऽद्वयः ।

द्रव्यमनो भावमनो मोहनिवृत्तनाम किल दशार्थान् ॥ ३२० ॥

अर्थ—बैयल मन ही हम समस्त ज्ञान प्राप्त होता है। यह मन ही ज्ञान है। द्रव्यमन ( १ ) कदमन। मन ही उसके अन्तर्गत हुआ मन ही ज्ञान है। भावमन जिस प्रकार इन्द्रिय वस्तु विचार है और निस्पेश विचारके माध्यमे ही हम ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं तथा निस्पेश विचारके ही ज्ञान प्राप्त होता है। भावार्थ—यद्यपि सामान्य रीतिसे मति भ्रुत परोक्ष है, परन्तु स्वात्मानुभवको छोड़ कर इस भावार्थके द्वारा ही ज्ञान परोक्ष ही है। इसका कारण—

अर्थ—उपकारका कारण भी यह है कि निम्न प्रकार मतिज्ञान नियन्त्रणे इन्द्रिय नन्य ज्ञान है, और उस मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान भी इन्द्रियनन्य है । उस प्रकार मति और मनः पर्यय ज्ञान इन्द्रियनन्य नहीं है इसीलिये अवधि और मनःपर्यय उपकारसे प्रसक्त होते जाते हैं ।

यत्स्यादचग्रहेहावायानतिधारणापरायत्तम् ।

आद्यं ज्ञानं ह्यमिह यथा तथा नैव चान्तिमं दैतम् ॥ ७४ ॥

अर्थ—अवग्रह, ईहा, अवाय धारणाके पराधीन निम्न प्रकार आदिके दो ज्ञान होते हैं उस प्रकार चान्तिमं दैतम् दो नहीं होते ।

दूरस्थानयोनिह समक्षमिव चेत्ति हेलया यस्मात् ।

केयन्मेव मनःसादयभिमतः पर्ययस्य ज्ञानम् ॥ ७५ ॥

अर्थ—मतिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान केयन् मनकी सादयगतो दूरस्थानी पराधीन होते हैं अतः समक्ष ज्ञान होते हैं ।

मतिज्ञान भी मुख्य प्रत्यक्षके समान प्रत्यक्ष है—

अथ किंवाभिनिषोधिकषोभयते तदादिमं यावत् ।

तदात्मानुमुनिगमये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नाग्यम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—किन्ति ज्ञान यह है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में आदिके दो ज्ञान होते हैं अतः समक्ष ज्ञान होते हैं, और सामान्य मतिज्ञान केयन् मनकी सादयगतो दूरस्थानी पराधीन होते हैं अतः समक्ष ज्ञान होते हैं । अतः समक्ष ज्ञान होते हैं । अतः समक्ष ज्ञान होते हैं ।

तदादिह केयन्मिह निगमनादिनिगमनिगमपरिग्रहणे ।

तदात्मानुमुनिगमये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नाग्यम् ॥ ७७ ॥

अर्थ—तदादिह केयन्मिह निगमनादिनिगमनिगमपरिग्रहणे । तदात्मानुमुनिगमये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नाग्यम् ॥ ७७ ॥

अतः समक्ष ज्ञान है—

अथ किंवाभिनिषोधिकषोभयते तदादिमं यावत् ।

तदात्मानुमुनिगमये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नाग्यम् ॥ ७८ ॥

अर्थ—अतः समक्ष ज्ञान है । तदात्मानुमुनिगमये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नाग्यम् ॥ ७८ ॥

नष्ट कर दिया गया है कि यद्यपि मतिश्रुत परोक्ष होते हैं तथापि वे इन्द्रिय और मनमें होने हैं, मन अमूर्तका भी जाननेवाला है । जिस समय वह केवल अमूर्त पदार्थको ही जान रहा है अर्थात् केवल स्वात्माका ही ग्रहण कर रहा है उस समय वह मन रूप ज्ञान भी अमूर्त ही है । इसीलिये यह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है । इन्द्रियां मूर्त पदार्थका ही ग्रहण करती हैं इसलिये स्वात्म प्रत्यक्षमें उनका उपयोग ही नहीं है । इसीको पुन स्पष्ट करने है -

नासिद्धमेतदुक्तं तदिन्द्रियानिन्द्रियोद्धवं सूत्रात् ।

स्यान्मतिज्ञाने यत्तत्पूर्वं किल अवेच्छतज्ञानम् ॥ ७१७ ॥

अयमर्थो भावमनो ज्ञानविशिष्टं सत्यं हि सदमूर्तम् ।

तेनात्मदर्शनामिह प्रत्यक्षमतीन्द्रियं कथं न स्यात् ॥ ७१८ ॥

अर्थ—यह बात असिद्ध भी नहीं है, सूत्रद्वारा यह बतलाया जा चुका है कि मतिज्ञान तथा उस मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान दोनों ही इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होने हैं । इनका विशेष है कि भावमन विशेष (अमूर्त) ज्ञान विशिष्ट जब होता है तब वह स्वयं अमूर्त प्रत्यक्ष प्रमाण है । उस अमूर्त—मनरूप ज्ञानद्वारा आत्माका प्रत्यक्ष होता है इसलिये वह प्रत्यक्ष प्रमाण है । अमूर्त क्यों न हो ? अर्थात् केवल स्वात्माको जाननेवाला जो मानसिक ज्ञान है वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है ।

अपि चात्मसंसिद्धये नियतं हेतु मतिश्रुती ज्ञानं ।

प्रान्त्यद्वयं विना स्यान्मोक्षो न स्यादने मतिहेतुम् ॥ ७१९ ॥

अर्थ—तथा आत्माकी भले प्रकार सिद्धिके लिये मतिश्रुत से ही ही ज्ञान प्रमाण कारण है । कारण इसका यह है कि अवधि और मनःपर्यय ज्ञानोंके विना जो ज्ञान प्रमाण है परन्तु मतिश्रुतके विना कदापि नहीं होता । भाषार्थ—यह नियम यह है कि ज्ञानोंके होनेपर ही केवलज्ञान उत्पन्न हो । किमीके अवधि मनःपर्यय नहीं भी होता है । भी उसके केवलज्ञान हो जाता है । परन्तु मतिश्रुत जो मणीमात्रके नियमसे होने हैं । मतिश्रुति शुभ्रति शुभ्रत से ही आत्माकी मतिमें शुभ्र कारण है । अतएव सिद्धांत यह अनुसंधानमें विशेष मतिज्ञानद्वारा स्वात्माका साक्षात्कार ही ही ज्ञान है ।

इहंकार—

मनु जेतानामेकमन्यने मनेन्द्रेण साधरेषां हि ।

विप्रतिपत्तां बहुयः प्रमाणमिहमन्यथा बहुनि दयः ॥ ७२० ॥

वार्थ—अमूर्त मनमें अतीन्द्रिय कथने ही ज्ञानकी ऐसी प्रमाण है, दूसरे का प्रमाण नहीं है । यह नियम सिद्धांत है, बतोंके बतोंके ही ज्ञान प्रमाण होने हैं ।



द्रव्यमन—

द्रव्यमनो हृत्कमले घनाङ्गुलासंख्यभागमात्रं यत् ।

अचिदपि च भावमनसः स्वार्थग्रहणे सहायतामेति ॥७१३॥

अर्थ—द्रव्यमन हृदय कमलमें होता है, वह घनाङ्गुलके असंख्यात मात्र भाग प्रमाण होता है । यद्यपि वह अचेतन—जड़ है तथापि भाव मन जिस समय पदार्थोंको विचार करता है उस समय द्रव्यमन उसकी सहायता करता है । भावार्थ—पुद्गलकी जिन पाँच वर्णोंमें जीवका सम्बन्ध है उनमें एक मनोवर्णणा भी है । उसी मनोवर्णणाका हृदय स्थानमें कमल वत् द्रव्य मन बनता है । उसी द्रव्य मनमें आत्माका हेयोपरैवरूप विशेष ज्ञान-भाव उत्पन्न होता है । जिस प्रकार रूपका बोध आत्मा चक्षु द्वारा ही करता है उसी प्रकार आत्माके विचारोंकी उत्पत्तिका स्थान द्रव्यमन है ।

भावमन—

भावमनः परिणामो भवति तदात्मोपयोगमात्रं वा ।

लब्ध्युपयोगविशिष्टं स्वावरणस्य क्षयाफामाच्च स्यात् ॥७१४॥

अर्थ—भावमन आत्माका ज्ञानात्मक परिणाम विशेष है । वह अपने प्रतिपक्षी-आवरण कर्मके क्षय होनेसे लब्धि और उपयोग सहित क्रमसे होता है । भावार्थ—कर्मोंके क्षयोपशममे जो आत्मामें विशुद्धि-निर्मलता होती है उसे लब्धि कहते हैं, तथा पदार्थोंकी ज्ञानोन्मुख ( रुच ) होकर उनके जाननेको उपयोग कहते हैं । बिना लब्धिरूप ज्ञानके उपयोगात्मक बोध नहीं हो सक्ता है, परन्तु लब्धिके रहते हुए उपयोगात्मक बोध हो वा न हो नियम नहीं है । मनसे जो बोध होता है वह युगपत् नहीं होता है किन्तु क्रमसे होता है ।

स्पर्शनरसनघ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च पञ्चकं यावत् ।

मूर्तग्राहकमेकं मूर्त्तामूर्तस्य वेदकं च मनः ॥७१५॥

अर्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये जितनी भी पावों ( इंद्रियों ) सभी एक मूर्त पदार्थोंको ग्रहण करनेवाली हैं । परन्तु मन मूर्त और अमूर्त दोनोंको जाननेवाली ।

तस्मादिदमनवयं स्वात्मग्रहणे क्लिप्तोपयोगि मनः ।

किन्तु विशिष्टदशायां भवतीह मनः स्वयं ज्ञानम् ॥७१६॥

अर्थ—इमलिये वह मन निर्दोष रीतिसे सिद्ध होवुंको कि स्वार्थके ग्रहण करने नियमसे मन ही उपयोगी है । किन्तु इतना विशेष है कि वह मन विशेष आत्मार्थके ग्रहण करने पदार्थके ग्रहण करने समय स्वयं भी अमूर्त ज्ञानरूप हो जाता है । भावार्थ—जो कहा गया है कि स्वर्णमातुषुनि ययति मतिज्ञान स्वरूप है अथवा सत्पूर्वक क्षुद्र ज्ञान स्वरूप भी है । तदपि वह निश्चय ज्ञानके समान प्रत्यक्ष ज्ञान रूप है । इसी कारण

कर दिया गया है कि यद्यपि मतिश्रुत परोक्ष होते हैं तथापि वे इन्द्रिय और मनसे होते हैं अमूर्तका भी जाननेवाला है । जिस समय वह केवल अमूर्त पदार्थको ही जान रहा था कि केवल स्वात्माका ही ग्रहण कर रहा है उस समय वह मन रूप ज्ञान भी अमूर्त । इसीलिये वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है । इन्द्रियां मूर्त पदार्थका ही ग्रहण करती हैं ये स्वात्म प्रत्यक्षमें उनका उपयोग ही नहीं है । इसीको पुनः स्पष्ट करते हैं:-

नासिद्धमेतदुक्तं तदिन्द्रियानिन्द्रियोद्भवं सूत्रात् ।

स्यान्मतिज्ञाने यत्तत्पूर्वं किल भवेच्छ्रुतज्ञानम् ॥ ७१७ ॥

अयमर्थो भावमनो ज्ञानविशिष्टं स्वयं हि सदमूर्तम् ।

तेनात्मदर्शनामिह प्रत्यक्षमतीन्द्रियं कथं न स्यात् ॥ ७१८ ॥

अर्थ—यह बात असिद्ध भी नहीं है, सूत्रद्वारा यह बतलाया जा चुका है कि मतिज्ञान मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान दोनों ही इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होते हैं । इतना विशेष भावमन विशेष (अमूर्त) ज्ञान विशिष्ट जब होता है तब वह स्वयं अमूर्त स्वरूप होनाता है अमूर्त—मनरूप ज्ञानद्वारा आत्माका प्रत्यक्ष होता है इसलिये वह प्रत्यक्ष अतीन्द्रियों न हो ? अर्थात् केवल स्वात्माको जाननेवाला जो मानसिक ज्ञान है वह अवश्य प्रत्यक्ष है ।

अपि चारमसंस्तिष्ठये नियतं हेतु मतिश्रुती ज्ञाने ।

प्रान्त्यद्वयं विना स्यान्मोक्षो न स्यादन्ते मतिर्हेतुम् ॥ ७१९ ॥

अर्थ—तथा आत्माकी मते प्रकार सिद्धिके लिये मतिश्रुत ये दो ही ज्ञान नियत । कारण इसका यह है कि अवधि और मनःपर्यय ज्ञानोंके विना तो मोक्ष होनाता मतिश्रुतके विना कदापि नहीं होता । भाषार्थ—यह नियम नहीं है कि सब होनेपर ही केवलज्ञान उत्पन्न हो । किन्हींके अवधि मनःपर्यय नहीं भी होने हे तो केवलज्ञान होनाता है । परन्तु मतिश्रुत तो प्राणीमात्रके नियमसे होने हैं । हम-ति श्रुत ये दो ही आत्माकी प्राप्तिमें मूल कारण हैं । अतएव दिष्ट्यान्वके अनु-पेक्ष मतिज्ञानद्वारा स्वात्माका माशान्कार हो ही जाता है ।

उद्भाषण—

ननु जैनानामेवमनमं मतेष्वेव नापरंपां हि ।

विप्रतिपत्तौ बहुयः प्रमाणमिदमन्यथा वदन्ति यतः ॥ ७२० ॥

अर्थ—सम्पूर्ण मतोंमें जैनियोंके मतमें ही प्रमाणकी ऐसी व्यवस्था है, कि वह विषय वि- कि बहुतेके मत प्रमाण

प्रकार कहते हैं । भावार्थ—जैनियों ने उपर्युक्त कथनानुसार ज्ञानको ही प्रमाण मानकर उसके प्रत्यक्ष परोक्ष दो भेद किये हैं परन्तु अन्य दर्शनवाले ऐसा नहीं मानते हैं ।

कोई वेदको ही प्रमाण मानते हैं—

वेदाः प्रमाणमिति किल वदन्ति वेदान्तिनो विदाभासाः ।

यस्मादपौरुषेयाः सन्ति यथा व्योम ते स्वतः सिद्धाः ॥ ७२१ ॥

अर्थ—ज्ञानाभासी ( मिथ्याज्ञानी ) वेदान्त मतवाले कहते हैं कि वेद ही प्रमाण हैं । और वे पुरुषके बनाये हुए नहीं हैं, किन्तु आकाशके समान स्वतः सिद्ध हैं । अर्थात् निम्न प्रकार आकाश अनादिनिधन स्वयं सिद्ध है किसीने उसे नहीं बनाया है उसी प्रकार वेद भी अनादिनिधन स्वयं सिद्ध हैं ।

कोई प्रमाकरणको प्रमाण मानते हैं—

अपरे प्रमानिदानं प्रमाणमिच्छन्ति पण्डितम्मन्याः ।

समयन्तिसम्यग्गनुभवसाधनमिह यत्प्रमाणमिति केचित् ॥ ७२२ ॥

अर्थ—दूसरे मतवाले ( नैयायिक ) अपने आपको पण्डित मानते हुए प्रमाणका स्वरूप यह कहते हैं कि जो प्रमाका निदान हो वह प्रमाण है अर्थात् प्रमा नाम प्रमाणके फलका है । उस फलका जो साधकतम कारण है वही प्रमाण है ऐसा नैयायिक कहते हैं । दूसरे को ऐसा भी कहते हैं कि जो सम्यग्ज्ञानमें कारण पड़ता हो वही प्रमाण है । ऐसा प्रमाका स्वरूप माननेवालोंमें वैशेषिक बौद्ध आदि कई मतवाले आनाते हैं जो कि आलोक, पराग, सन्निकर्षादिको प्रमाण मानते हैं ।

इत्यादि वादिवृन्दैः प्रमाणमालक्ष्यते यथारुचि तत् ।

आत्माभिमानदग्धैरलब्धमानैरतीन्द्रियं वस्तु ॥ ७२३ ॥

अर्थ—निन्दोने अतीन्द्रिय वस्तुके स्वरूपको नहीं पहचाना है, जो वृथा ही अपने आपको आत्मपनेके अभिमानसे गला रहे हैं ऐसे अनेक वादीगण प्रमाणका स्वरूप अपनी इच्छानुसार कहते हैं ।

वेद-शास्त्रादिव्याजके माने हुए प्रमाणोंमें वृथा—

प्रवृत्तमलक्षणमेतल्लक्षणदोषैरधिष्ठितं यस्मात् ।

स्यादविचारितरम्यं विचार्यमाणं खपुष्पवत्सर्गम् ॥ ७२४ ॥

अर्थ—जिन प्रमाणोंका ऊपर उल्लेख किया गया है वे सब दूषित हैं, कारण जो प्रमाणका लक्षण होना चाहिये वह लक्षण उनमें माला ही नहीं है और जो कुछ उनका लक्षण दिया गया है वह दोषोंमें विगिष्ट (गड़िन्) है तथा अविचारित रम्य है । उन प्रमाणों

विचार किया जाय तो वे आकाशके पुष्पोंके समान मालूम होते हैं।  
ले हैं। क्यों ? मो आगे कहा गया है।—

ज्ञान ही प्रमाण है—

येषा कथञ्चिज्ज्ञानादन्यत्र न प्रमाणत्वम् ।

गादि विना ज्ञानादचेतनं कः प्रमाणमिति ॥ ७२५ ॥

अर्थात् किसी भी प्रकार ज्ञानको छोड़कर अन्य किसी मह पदार्थमें प्रमाणता  
। है। विना ज्ञानके अचेतन करण, सन्निकर्ष इन्द्रिय आदिको कौन प्रमाण  
भावे प्रमाणका फल प्रमा-अज्ञान निवृत्तिरूप है, उसका कारण भी अज्ञान  
। जो आवश्यक है इसलिये प्रमाण भी अज्ञान निवृत्ति ज्ञानस्वरूप होना चाहिये।  
। तब ही वे प्रमाण नहीं हो सकते हैं, अपने आपको जाननेवाला ही प्रमाण  
। कहा है जो स्वयं अज्ञानरूप है वह स्व-पर किसीको नहीं जना सकता है।  
। रण आदि मह हैं वे प्रमाण नहीं हो सकते, किन्तु ज्ञान ही प्रमाण है।

तत्रान्तर्लान्त्याज्ज्ञानसनाथं प्रमाणमिदमिति चेत् ।

ज्ञानं प्रमाणमिति यत्प्रकृतं न कथं प्रतीयेत ॥ ७२६ ॥

अर्थ—यदि यह कहा जाय कि कारण आदि बाह्य कारण हैं उनमें भीतर जाननेवाला  
। है इसलिये ज्ञान सहित कारण आदि प्रमाण हैं, तो ऐसा कहनेसे वही बात सिद्ध  
। । जो प्रकृतमें हम (मैं) कह रहे हैं अर्थात् ज्ञान ही प्रमाण है। यही बात सिद्ध  
। । भावार्थ—प्रमाणमें सहायक सामग्री प्रकाश योग्यदेश, इन्द्रियव्यापार, कारक साफल्य,  
। । तान्निष्य सन्निकर्ष आदि कितने ही क्यों न होनाओं परन्तु पदार्थका बोध करनेवाला  
। । ज्ञान ही पड़ता है उसके बिना सभी कारण सामग्री निरर्थक है।

संज्ञाकार—

ननु फलभूतं ज्ञानं तस्य तु कारणं भवेत्प्रमाणमिति ।

ज्ञानस्य कृतार्थत्वात् फलवत्त्वमसिद्धमिदमिति चेत् ॥ ७२७ ॥

अर्थ—ज्ञानको प्रमाणका फल मानना चाहिये, उसके कारणको प्रमाण मानना चाहिये।  
। । ज्ञानको ही प्रमाण मान लिया जाय तो ज्ञानका प्रयोजन तो हो चुका फिर फल क्या  
। । फिर फल अस्तित्व ही होगा। भावार्थ—संज्ञाकारका यह अभिप्राय है  
। । प्रमाण और प्रमाणका फल दोनों ही जुड़े रहने चाहिये और प्रमाण फल सहित ही  
। । चाहिये। ऐसी अवस्थामें ज्ञानको प्रमाणका फल और उस ज्ञानके कारण (करण-मह)  
। । प्रमाण मानना ही ठीक है, यदि ऐसा नहीं माना जाय और ज्ञानको ही प्रमाण माना  
। । तो फिर प्रमाणका फल क्या ठहरेगा ? उसका समाप्त ही हो जायगा ?

उत्तर—

नैवं यतः प्रमाणं फलं च फलवच्च तत्स्वयं ज्ञानम् ।

दृष्टिर्पथा प्रदीपः स्वयं प्रकाश्यः प्रकाशकश्च स्यात् ॥७२८॥

अर्थ—ऊपर की हुई शंका ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाण, उसका फल, उसका कारण स्वयं ज्ञान ही है । जिस प्रकार दीपक स्वयं अपना भी प्रकाश करता है और दूसरोंका भी प्रकाश करता है, अथवा दीपक स्वयं प्रकाश्य (जिसका प्रकाश किया जाय) भी है और वही प्रकाशक है । भावार्थ—दीपकके दृष्टान्तके समान प्रमाण भी ज्ञान ही है, प्रमाणका कारण भी ज्ञान ही है और प्रमाणका फल भी ज्ञान ही है । ज्ञानसे भिन्न न कोई प्रमाण है और न उसका फल ही है । यहां पर यह शंका अभी सड़ी ही रहती है कि दोनोंको ज्ञानरूप माननेसे दोनों एक ही हो जायेंगे, अथवा फल शून्य प्रमाण और प्रमाणशून्य फल हो जायगा, परन्तु विचार करनेपर यह शंका भी निर्मूल उठरती है, जैन सिद्धान्तमें प्रमाण और प्रमाणका फल सर्वथा भिन्न नहीं है । किन्तु कथञ्चित् भिन्न है, कथञ्चित् भेदमें ज्ञानकी पूर्ण पर्याय प्रमाणरूप पड़ती है उसकी उत्तर पर्याय फलरूप पड़ती है । क्योंकि प्रमाणका फल अज्ञान निवृत्ति माना है तथा हेयोपादेय और उपेक्षा भी प्रमाणका फल है । जो प्रमाणरूप ज्ञान है वही ज्ञान अज्ञानसे निवृत्त होता है और उसीमें हेयोपादेय तथा उपेक्षा रूप बुद्धि होती है । इसलिये ज्ञान ही प्रमाण और ज्ञान ही फल सिद्ध हो चुका । साथ ही प्रमाण और प्रमाणका फल दोनों एक हो जायेंगे अथवा फल शून्य प्रमाण हो जायगा, इस शंकाका परिहार भी हो चुका ।

उक्तं कदाचिदिन्द्रियमथ च तदर्थेन सन्निकर्षयुतम् ।

भवति कदाचिज्ज्ञानं त्रिविधं करणं प्रमायाश्च ॥ ७२९ ॥

पूर्व पूर्व करणं तत्र फलं चोत्तरोत्तरं ज्ञेयम् ।

न्यायारसिद्धमिदं चित्फलं च फलवच्च तत्स्वयं ज्ञानम् ॥ ७३० ॥

अर्थ—कभी इन्द्रियोंको प्रमाण कहा गया है, कभी इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षको प्रमाण कहा गया है, कभी ज्ञानको ही प्रमाण कहा गया है । इस प्रकार तीन प्रकार प्रमाण (प्रमाणका फल)का करण अर्थात् प्रमाणका परम साधक कारण कहा गया है । ये तीनों ही आत्माकी अवस्थाएँ हैं । पहली इन्द्रियरूप अवस्था भी आत्मावस्था है, सन्निकर्ष विशिष्ट अवस्था भी आत्मावस्था है । तथा ज्ञानावस्था भी आत्मावस्था है, अर्थात् तीनों ही ज्ञान रूप हैं । इन तीनोंमें पहला पहला करण पड़ता है और आगे आगेका फल पड़ता है । इसलिये यह बात न्यायसे सिद्ध हो चुकी कि ज्ञान ही फल है और ज्ञान ही प्रमाण है ।

तत्रापि यदा करणं ज्ञानं फलसिद्धिरस्ति नाम तदा ।

अविनाभावेन चित्तो हानोपादानबुद्धिसिद्धित्वात् ॥ ७३१ ॥

अर्थ—उनमें भी निम मग्न ज्ञान करण पड़ता है, उस समय अविनाभावसे आत्माही हान उपादान रूपा बुद्धि उनका फल पड़ता है अर्थात् पूर्व ज्ञान करण और उत्तर ज्ञान फल पड़ता है और वह बात अमिद भी नहीं है ।

माप्येनदमसिद्धं मापनसाध्यव्योः सदृष्टान्तात् ।

न चित्ता ज्ञानाख्यागो भुजगादेर्या खगाद्युपादानम् ॥ ७३२ ॥

अर्थ—मापन भी ज्ञान पड़ता है और माप्य भी ज्ञान पड़ता है यह बात अमिद नहीं है किन्तु दृष्टान्तसे सुमिद है । यह बात अमिद है कि ज्ञानके बिना मर्मादिका त्याग और माला आदि इष्ट पदार्थोंका ग्रहण नहीं होता है ।

वार्ता—प्रमाणका स्वरूप हम प्रकार है—“ हितहितमतिपरिहारमनर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ” हित नाम सुख और सुखके कारणोंका है, अहित नाम दुःख और दुःखके कारणोंका है । जो हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करानेमें सन्धे है वही प्रमाण होता है । ऐसा प्रमाण ज्ञान ही हो सका है । क्योंकि सुख और सुखके कारणोंका परिहार तथा दुःख और दुःखके कारणोंका परिहार बिना ज्ञानके नई पदार्थोंमें नहीं हो सका है, ज्ञानमें ही यह सामर्थ्य है कि वह सर्वादि अनिष्ट पदार्थोंमें ग्रहण रूप बुद्धि करके इन्द्रिये प्रमाण ज्ञान ही हो सका है । तथा फल भी ज्ञान रूप ही होता है यह बात अमिद सर्व मिद है । कारण प्रमाणका फल अज्ञान निवृत्तिरूप होता है । ऐसा फल ज्ञान ही हो सका है, नई नहीं ।

उक्तं प्रमाणलक्षणमिह यदनाहृतं कुर्यादिभिः स्वैरम् ।

तद्विज्ञानदोषत्वात्तत्सर्वं लक्षणामासम् ॥ ७३३ ॥

अर्थ—जो कुछ प्रमाणका लक्षण कुर्यादियेने कहा है वह अर्हत (निर) लक्षण नहीं है, किन्तु इन्द्रिये स्वेच्छा पूर्वक कहा है, उसमें लक्षणके दोष बने हैं इन्द्रिये वह लक्षण नहीं किन्तु लक्षणामास है । वार्ता—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, अनन्वये तीन लक्षण के दोष हैं, जो लक्षण अपने लक्षणके एक देशमें न रहे ऐसे अव्याप्ति दोष कहने हैं, जो लक्षण अपने लक्षणके भिन्न अलक्ष्यमें भी रहे उसे अव्याप्ति दोष कहने हैं जो लक्षण अपने लक्षणमें संशय न रहे ऐसे अनन्वय दोष कहने हैं । इन तीन दोषोंमें रहित लक्षण ही लक्षण कहलाता है, अन्यथा वह लक्षणामास है । प्रमाणका जो लक्षण अन्यत्रदिष्टने किया है वह इन दोषोंमें रहित नहीं है यही बात नीचे कही गयी है—

स यथा चेत्प्रमाणं लक्षणं तल्लक्षणं प्रमाकरणम् ।

“अव्याप्तिको हि दोषः सदेवरे चापि तद्योगात् ॥ ७३४ ॥

अर्थ—यदि प्रमाण लक्ष्य है, उसका प्रमाकरण लक्षण है तो अव्याप्ति दोष आता है,

क्योंकि ईश्वरमें उस लक्षणका सदा अभाव रहता है । भावार्थ—नैयायिक ईश्वरको प्रमाण तो मानते हैं वे कहते हैं ‘तन्मे प्रमाणं शिव इति’ अर्थात् वह ईश्वर मुझे प्रमाण है । परन्तु वे उस ईश्वरको प्रमाका करण नहीं मानते हैं किन्तु उसका उसे अधिकरण मानते हैं । उनके मतसे ईश्वर प्रमाण है तो भी उसमें प्रमाकरण रूप प्रमाणका लक्षण नहीं रहता । इसलिये लक्ष्यके एक देश—ईश्वरमें प्रमाणका लक्षण न जानेसे अव्याप्ति दोष बना रहा ।

तथा—

योगिज्ञानेपि तथा न स्यात्तल्लक्षणं प्रमाकरणम् ।

परमाण्वादिषु नियमान्न स्यात्तत्सन्निकर्षश्च ॥ ७३५ ॥

अर्थ—इसी प्रकार जो लोग प्रमाकरण प्रमाणका लक्षण करते हैं उनके यहां योगियोंके ज्ञानमें भी उक्त लक्षण नहीं आता है, क्योंकि उन्होंने योगियोंके ज्ञानको दिव्य ज्ञान माना है वह सूक्ष्म और अमूर्त पदार्थोंका भी प्रत्यक्ष करता है ऐसा वे स्वीकार करते हैं परन्तु परमाणु आदि पदार्थोंमें इन्द्रिय सन्निकर्ष नियमसे नहीं हो सका है । भावार्थ—इन्द्रियसन्निकर्ष अथवा इन्द्रियव्यापार ही को वे प्रमाकरण बतलाते हैं, वह सन्निकर्ष और व्यापार स्थूल मूर्त पदार्थोंके साथ ही हो सका है, सूक्ष्म परमाणु तथा अमूर्त धर्मधर्म, और दूरवर्ती पदार्थोंका वह नहीं हो सका है, इसलिये सन्निकर्ष अथवा इन्द्रियव्यापार-प्रमाकरणको प्रमाण माननेसे योगीजन सूक्ष्मादि पदार्थोंका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते परन्तु वे करते हैं ऐसा वे मानते हैं इसलिये योगीजनोंमें उनके मतसे ही प्रमाकरण लक्षण नहीं जाता है यदि वे योगियोंको प्रमाका करण स्वयं नहीं मानते हैं तो उनके मतसे ही प्रमाणका लक्षण अव्याप्ति दोषसे दूषित हो गया । क्योंकि उन्होंने योगियोंके ज्ञानको प्रमाण माना है ।

वेद भी प्रमाण नहीं है—

वेदाः प्रमाणमत्र हेतुः केवलमपौरुषेयत्वम् ।

आगमगोचरताया हेतोरन्याश्रितादहेतुत्वम् ॥ ७३६ ॥

अर्थ—वेदको प्रमाण माननेवाले वेदान्ती तो केवल अपौरुषेय हेतु द्वारा उसमें प्रमाणता खाने हैं । दूसरा उनका हेतु आगम है, आगम प्रमाणरूप हेतु अन्योन्याश्रय दोष आनेसे अहेतु हो जाता है । भावार्थ—वेदको अपौरुषेय माननेवाले उसकी अनादितामें प्रवाह नित्यताका हेतु देते हैं, वह प्रवाह नित्यता क्या शङ्कमात्रमें है या विशेष आनुपूर्वीरूप जो शब्द वेदमें उल्लिखित हैं उन्हींमें है ? यदि पूर्व पक्ष स्वीकार किया जाय तब तो

निकने भी शब्द है यही वैदिक हो जायगे, फिर वेद ही क्यों अपौरुषेय (पुरुषका नहीं बनाया हुआ) कहा जाता है ? यदि उत्तर पक्ष स्वीकार किया जाय तो प्रश्न होता है कि उन विशेष आनुपूर्वरूप शब्दोंका अर्थ किसीका समझा हुआ है या नहीं ? यदि नहीं, तब तो बिना ज्ञानके उन वेद वाक्योंमें प्रमाणता नहीं आ सकती है, यदि किसीका समझा हुआ है तो उन वेद वाक्योंके अर्थको समझानेवाला—व्याख्याता सर्वज्ञ है या अल्पज्ञ ? यदि सर्वज्ञ है तो वेदके समान अतीन्द्रिय पदार्थोंके ज्ञाननेवाले सर्वज्ञके वचन भी प्रमाणरूप क्यों न माने जायें, ऐसी अवस्थामें वेदमें सर्वज्ञ पुरुष वृत्त ही प्रमाणता आती है इसलिये उसका अपौरुषेयत्व प्रमाण प्रचक नहीं सिद्ध होता । यदि वेदका व्याख्याता अल्पज्ञ है तो उस वेदके कठिन वाक्योंका उल्ला भी अर्थ कर सकता है, क्योंकि वाक्य स्वयं तो यह कहते नहीं हैं कि हमारा अमुक अर्थ है, अमुक नहीं है, किन्तु पुरुषोंद्वारा उनके अर्थोंका बोध किया जाता है । यदि वे पुरुष अज्ञ और रागादि दोषोंसे विशिष्ट हैं तो वे अवश्य कुछका कुछ निरूपण कर सकते हैं । कदाचित् यह कहा जाय कि उनके व्याख्याता अल्पज्ञ भी हों तो भी वेदोंके अर्थको व्याख्यान परम्परा बराबर टीक चली आनेसे वे उनका यथार्थ निरूपण कर सकते हैं, ऐसा कहना भी टीक नहीं है, क्योंकि टीक परम्परा चली आने पर भी अतीन्द्रिय पदार्थोंमें अल्पज्ञोंकी संशय रहित प्रशुति (व्याख्यानमें) नहीं हो सकती है, दूसरी बात यह है कि यदि वेदार्थ अनादिपरम्परासे टीक चला आता है तो मीमांसकादि भावना, विधि, नियोगरूप भिन्न २ अर्थ प्रतिपत्तिको क्यों प्रमाण मानने हैं ? इसलिये वेदको अनादि परम्परागत—अपौरुषेय मानना प्रमाण सिद्ध नहीं है । वेदको अनादि माननेमें ऐसा भी कहा जाता है कि मिस प्रकार वर्तमान कालमें कोई वेदोंको बनानेवाला नहीं है उस प्रकार भूतकाल और भविष्यत् कालमें भी कोई नहीं हो सकता है । परन्तु यह कोई युक्ति नहीं है, विपक्षमें ऐसा भी कहा जा सकता है कि जैसे वर्तमानमें श्रुतिका बनानेवाला कोई नहीं है वैसे भूत भविष्यत् कालमें भी कोई नहीं हो सकता है, अथवा जैसे वर्तमानकालमें वेदोंका कोई ज्ञानकार नहीं है वैसे उनका ज्ञान-कार भूत भविष्यत् कालमें भी कोई नहीं हो सकता है इसी प्रकार ऐसा कहना भी कि वेदका अध्ययन वेदाध्यायन पूर्वक है वर्तमान अध्ययनके समान, मिथ्या ही है । कारण विपक्षमें भी कहा जा सकता है कि भारनादिका अध्ययन भारताध्यायन पूर्वक है । वर्तमान अध्ययनके समान । इसलिये उपर्युक्त कथनमें भी वेदमें अनादिता सिद्ध नहीं होती है । यदि यह कहा जाय कि वेदके कर्त्ताका स्मरण नहीं होता है इसलिये उनके कर्त्ताका अभाव कट दिया जाता है ऐसा कहना भी बाधित है क्योंकि ऐसी बहुतसी पुरानी श्रुतियाँ हैं जिनके कर्त्ताका स्मरण नहीं होता है, तो क्या वे भी अती- नहीं तो वेद ही क्यों बना माना जाय ? तब वेदके कर्त्ताका





एक बात ही बन सकती है, दोनों नहीं । इस कथनसे यह बात मलीमांति सिद्ध है कि वेदोंकी प्रमाणताकी दोषक एक भी सञ्चुक्ति नहीं है । इन सब बातोंके सिवा वेदविहित अर्थों पर यदि दृष्टि डाली जाय तो वे सब ऐसे ही असम्बद्ध जान पड़ते हैं कि जैसे दशदाड़िमादि वाक्य असम्बद्ध होते हैं । वेदोंका अर्थ पूर्वापर निरुद्ध और असंगत है, वेदोंकी अप्रमाण-ताका विशेष निदर्शन करनेके लिये प्रमेयकमल मार्तण्ड और अट्टसहस्रीको देखना चाहिये ।

एवमनेकविधं स्यादिह मिथ्यामतकदम्भकं यावत् ।

अनुपादेयमसारं पृष्ठैः स्याद्वादघेदिभिः समयात् ॥ ७३७ ॥

अर्थ—इसप्रकार नितना भी अनेक विध प्रचलित मिथ्या मतोंका समूह है वह सब असार है, इनलिये यह शास्त्रानुसार स्याद्वादघेदी—वृद्ध पुरुषों द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है ।

निशेषोंके कहनेकी प्रतीति—

उक्तं प्रमाणलक्षणमनुभवगम्यं यथागमज्ञानात् ।

अधुना निक्षेपपदं संक्षेपाद्भक्ष्यते यथालक्ष्य ॥ ७३८ ॥

अर्थ—आगमज्ञानके अनुसार अनुभवमें आने योग्य प्रमाणका लक्षण कहा गया । अब संक्षेपसे निशेषोंका स्वरूप उनके लक्षणानुसार कहा जाता है ।

चक्राकार—

ननु निक्षेपो न नयो नय प्रमाणं न व्यापकं तस्य ।

पृथगुद्देश्यस्यादपि पृथगपि लक्ष्यं स्वलक्षणादित्येत् ॥ ७३९ ॥

अर्थ—निक्षेप न नय है, और न प्रमाण है, न उत्तरांश है, नय प्रमाणसे निक्षेपका उद्देश्य ही युक्त है । उद्देश्य युक्त होनेसे उसका लक्षण ही युक्त है, इसलिये लक्ष्य भी स्वतन्त्र होना चाहिये । अर्थात् निक्षेप नय प्रमाणसे नय युक्त है तो उनके समान इसका भी स्वतन्त्र ही उल्लेख करना चाहिये ।

निक्षेपका लक्षण ( उत्तर )

स्तत्वं गुणसाक्षेपो सविपक्षः स च नयः स्वपक्षपतिः ।

अ इह गुणाक्षेपः स्यादुपचरितः केवलं स निक्षेपः ॥ ७४० ॥

अर्थ— नय तो गौण और मुख्यकी अपेक्षा रागता है, इसीलिये यह विपक्ष सत्त्वित है । नय सदा अपने ( विवक्षित ) पक्षका सामी है अर्थात् वह विवक्षित पक्ष पर आरुढ़ रहता है और दूसरे प्रतिपक्ष नयकी अपेक्षा भी रखता है, निक्षेपमें यह बात नहीं है, यहां पर तो गौण पदार्थमें मुख्यका आशेष किया जाता है, इसलिये निक्षेप केवल उपचरित है । भाषाये—नय और निक्षेपका स्वरूप कहनेसे ही संज्ञाकारकी संज्ञाका परिहार होनाता है । मयने बड़ा भेद तो इनमें यह है कि नय तो ज्ञान विस्तारक है और निक्षेप पदार्थमें व्यवहारके लिये निवे

हुए संकेतोंका नाम है। वह संकेत कहीं पर तदुप होता है और कहीं पर अनुप होता है। नय और निशेयमें विषय विषयी सम्बन्ध है, नय विषय करनेवाला ज्ञान है, और निशेय सदा विषय भूत पदार्थ है। इसलिये नयेके कहनेसे ही निशेयोंका विवेचन स्पष्ट होकर मनसब इनके स्वतन्त्र उद्दिष्टकी आवश्यकता नहीं है। फिर भी यह सदा होतनी है नय निशेय नयका ही विषय है तो फिर चार निशेयोंका स्वतन्त्र विवेचन मूर्खों द्वारा करनेमें क्यों किया है? इसके उत्तरमें इतना कहना ही पर्याप्त है कि केवल समझनेके विषयमें निशेयोंका निरूपण किया गया है, अन्यथा विषयभूत पदार्थोंमें ही वे भिन्न-भिन्न दृष्टि भिन्न-भिन्न व्यवहार चलायाना ही निशेयोंका प्रयोजन है इसलिये उस प्रयोजनको करनेके लिये ग्रन्थकारोंने उनका निरूपण किया है।

इस श्लोकमें 'गुणाशेष' पद आया है, उसका अर्थ चारों निशेयोंमें हमसकल होता है—नय तीन पदार्थोंमें अर्थात् अनुप पदार्थोंमें केवल व्यवहारार्थ किया हुआ अथवा स्वतन्त्रमें—अनुप पदार्थोंमें किया हुआ गुणोंका आशेष। द्रव्यमें—भारि अथवा भूत तत्त्वोंमें—भारि अथवा भूत तत्त्वोंमें किया हुआ गुणोंका आशेष। भावमें—वर्तमान तदुपमें किया हुआ वर्तमान गुणोंका आशेष। इसप्रकार गौणमें आशेष अथवा गुणोंका आशेष ही निशेय है।

नय, स्थापना, द्रव्य ये तीन निशेय द्रव्यार्थिक नयके विषय हैं। भावनिशेय अर्थवत्त्व के विषय है। अन्तर्भावोंकी अपेक्षामें नाम निशेय समगिरूप नयका विषय है। अन्तर्भावोंका द्रव्य निशेय नेगम नयका विषय है। भाव निशेय अनुप तथा एवम्भाव विषय है।

निशेयः ननु अनुपानाम तत्र स्थापना ततो प्रथमम् ।

मायानन्दप्रकाशमिह भवति तथा लक्षणनिरूपणा भाष्ये ॥ १४ ॥

अर्थ—निशेय का प्रथम है (१) नय निशेय, (२) स्थापना निशेय (३)

निशेय (४) नय निशेय। अब इन चारोंका वर्णन करना करना है।

वस्तुतत्त्वतुल्यं वास्तु गीताकारकी श्रुति तथा साम ।

सोऽपि सम्भवत्येव नदृष्टिः स्थापना तथा प्रविष्टा ॥ १५ ॥

अर्थ—निशेय वस्तुतत्त्वतुल्यं वास्तु गीताकारकी श्रुति तथा साम । सोऽपि सम्भवत्येव नदृष्टिः स्थापना तथा प्रविष्टा ॥ १५ ॥

अर्थ—निशेय वस्तुतत्त्वतुल्यं वास्तु गीताकारकी श्रुति तथा साम । सोऽपि सम्भवत्येव नदृष्टिः स्थापना तथा प्रविष्टा ॥ १५ ॥

पाकार है परन्तु है पापाणकी। उस पापाणकी प्रतिमामें उन पार्श्वनाथ भगवानके जीवकी जो कि अनन्तगुण धारी-अर्हन् हैं (ये) स्थापना करना और व्यवहार करना कि यह प्रतिमा ही पार्श्वनाथ है स्थापना निशेष है। भावार्थ—उपर्युक्त उदाहरण तदाकार स्थापनाका है। चावल आदि में जो पहले अरहन्तकी स्थापना की जाती थी \* वह अतदाकार स्थापना है। अथवा शतरंजके मोहरोंमें जो छोड़े हाथी पयादे आदिकी स्थापना की जाती है वह अतदाकार स्थापना है।

यद्यपि नाम और स्थापना दोनों ही अतद्गुण (गुण रहित) हैं, तथापि दोनोंमें अन्तर है। नाम यदि किसीका जिन रखता गया है तो उसे मनुष्य केवल उस नामसे बुलावेंगे। 'जिन'की जो पूज्यता होनी है, वह पूज्यता वहां पर नहीं है। परन्तु स्थापनामें मिसकी स्थापना की जाती है, उमका जैसा आदर सत्कार अथवा पूज्यता और गुण स्तवन होता है वैसा ही उसकी स्थापनामें किया जाता है। जैसी जिन (अरहन्त) की पूज्यता मूल जिनमें है वैसी ही उनकी स्थापित भूर्तिमें भी है। इस यही अन्तर है।

अनुनयनिरपेक्षनया, सापेक्ष भाविनैगमादिनयैः ।

छद्मस्थो जिनजीयो जिन इय मान्यो यथात्र तद्द्रव्यम् ॥ ७४३ ॥

अर्थ—अनुसूत्र नयकी अपेक्षा नहीं रखनेवाला किन्तु भाविनैगम आदि नयोंकी अपेक्षा रखनेवाला द्रव्य निशेष है। जैसे—छद्मस्थ जिनके श्रीवक्तोसाक्षान् जिनके समान समझना। भावार्थ—द्रव्य निशेष तद्गुण होता है, परन्तु पदार्थमें जो गुण आगे होनेवाले हैं अथवा पहले हो चुके हैं उन गुणोंवाला उसे वर्तमानमें कहना यही द्रव्यनिशेष है जैसे महावीर स्वामी सर्वज्ञ होनेपर जिन कहलाये थे, परन्तु उन्हें अल्पज्ञ अवस्थामें ही जिन कहना, यह भावि द्रव्य निशेष है तथा महावीर स्वामीको मोक्ष गए हुए आज २४७४ वर्ष बीत गये परन्तु दिवालीके दिन यह कहना कि आज ही महावीर स्वामी मोक्ष गये हैं, भूत द्रव्यनिशेष है। द्रव्यनिशेष वर्तमान गुणोंकी अपेक्षा नहीं रखता है, इसलिये यह अनुसूत्र नयका विषय नहीं है किन्तु भूत और भावि नैगम नयका विषय है।

तत्पर्यायो भावो यथा जिनः समवधारणसेस्थितिकः ।

धातिचतुष्टयराहितो ज्ञानचतुष्टययुतो हि दिव्यचतुः ॥ ७४४ ॥

\* परापर रचना और समस्त जेना चाहिये कि हमलोक प्रतिदिन जो पूजाके पदिके आवाहन, स्थापन, अभिषेककरण करते हैं वह स्थापना स्थापनामेखेर नहीं है क्योंकि उसमें 'यह वही है' ऐसा संकल्प नहीं किया जाता वह जो पूजा वा आदरसत्कारका एक अंग है जो कि पूजामें अत्यन्त वर्तमान है यदि ये आवाहन आदि पूजाके समस्त अंग दिये जायें तो पूजाके उसमें ही अंग १५ समझते जाते हैं।



अन्वय नय प्रमाणको निक्षेपों पर पडाने हैं । पहले वे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों प्रकार का विषय बतलावेंगे पीछे प्रमाणका विषय बतलावेंगे ।

द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयोंका विषय ।

तत्त्वमनिर्वचनीयं शुद्धद्रव्यार्थिकस्य भवति मतम् ।

गुणपर्ययवद्द्रव्ये पर्यायार्थिकनयस्य पक्षोऽयम् ॥ ७४७ ॥

अर्थ—तत्त्व अनिर्वचनीय है अर्थात् बचनके अगोचर है । यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का पक्ष है । तत्त्व (द्रव्य) गुण पर्यायवाला है यह पर्यायार्थिक नयका पक्ष है । भावार्थ—तत्त्वमें भेदबुद्धिका होना द्रव्यार्थिक नय और उसमें भेदबुद्धिका होना पर्यायार्थिक नय है ।

प्रमाणका विषय—

यदिदमनिर्वचनीयं गुणपर्ययपक्षदेयं नास्त्यन्यत् ।

गुणपर्ययपक्षदिदे तदेयं तत्त्वं तथा प्रमाणमिति ॥ ७४८ ॥

अर्थ—जो तत्त्व अनिर्वचनीय है वही गुण पर्यायवाला है, अन्य नहीं है तथा जो तत्त्व गुण पर्यायवाला है, वही तत्त्व है, वही प्रमाणका विषय है । भावार्थ—बन्धु सामान्य विशेषणमक है । बन्धुका सामान्यांश द्रव्यार्थिकता विषय है । उसका विशेषांश पर्यायार्थिकता विषय है, तथा सामान्य विशेषणमक—उभयार्थमक बन्धु प्रमाणका विषय है । प्रमाण एक ही समयमें अविरत हीतिसे दोनों धर्मोंको विषय करता है ।

भेद भेद पक्ष—

एवद्रव्ये तस्य गुणो योऽपि गुणस्तस्य द्रव्यमिति सार्थान् ।

पर्यायार्थे यथा स्यादुक्तगुणपक्षः स्वपक्षमाश्रयत् ॥ ७४९ ॥

यदिदे द्रव्यं वा गुणो योऽपि गुणो द्रव्यमेतदेकार्थान् ।

तदुभयपक्षे दत्तोऽपि पक्षिनः प्रमाणपक्षोऽयम् ॥ ७५० ॥

अर्थ—जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है, जो गुण है वह द्रव्य नहीं है, तत्त्व जो द्रव्य है वह पर्याय नहीं है । वह कारणमय नय ( पर्यायार्थिक ) का पक्ष है क्योंकि भेद एक ही पर्यायार्थिक नयका पक्ष है । तथा जो द्रव्य है वही गुण है जो गुण है वही द्रव्य है । गुण द्रव्य दोनोंका एक ही अर्थ है । वह भेदरूपन द्रव्यार्थिक नयका पक्ष है । वह भेद रूप भेदरूप दोनों दोनों धर्मोंके अर्थमें अविरत प्रमाण करता है ।

एवमाश्रयमाश्रितौ निक्षेपोऽप्यविरतश्च द्रव्य द्रव्यान् ।

तदुभयपक्षे द्विगुणार्थे तत्त्वार्थे निक्षेपमाश्रयते ॥ ७५१ ॥

अर्थ—नय और प्रमाणके समान निक्षेपोंका स्वतन्त्र निरूपण करना व्यर्थ है, क्योंकि निक्षेपोंका उदाहरण नयोंके विवेचनमें नियमसे किया गया है ।

एक अनेक पक्ष—

अस्ति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्यायस्तत्त्रयं मिथोऽनेकम् ।

व्यवहारैकविशिष्टो नयः स चाऽनेकसंज्ञको न्यायात् ॥७५२॥

अर्थ—द्रव्य, अथवा गुण अथवा पर्याय, ये तीनों ही अनेक हैं । व्यवहार विशिष्ट यही नय अनेक संज्ञक कहलाता है, अर्थात् व्यवहार नाम पर्यायका है पर्याय विशिष्ट अनेक अनेक पर्यायार्थिक नय कहलाता है ।

एकं सदिति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्यायोऽथवा नाम्ना ।

इतरद्वयमन्यतरं लब्धमनुक्तं स एकनयपक्षः ॥७५३॥

अर्थ—द्रव्य अथवा गुण अथवा पर्याय ये तीनों ही एक नामसे सत् कहे जाते हैं । अर्थात् तीनों ही अभिन्न एक स्वरूप हैं । एकके कहनेसे बाकीके दो का बिना कहे दुर हो ग्रहण हो जाता है । यही एक नयका पक्ष है अर्थात् एक पर्यायार्थिक नयका पक्ष है ।

न द्रव्यं नापि गुणो नच पर्यायो निरंशदेशात्वात् ।

व्यक्तं न विकल्पादपि शुद्धद्रव्यार्थिकस्य मतमेतत् ॥७५४॥

अर्थ—न द्रव्य है, न गुण है, न पर्याय है और न विकल्पद्वारा ही प्रकट है किन्तु निरंश देशात्मक (तत्त्व) है । यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका पक्ष है ।

द्रव्यगुणपर्ययाख्यैर्यदनेकं सविभियते हेतोः ।

तदभेदमनंशत्वादेकं सदिति प्रमाणमतमेतत् ॥७५५॥

अर्थ—कारण वश जो सत् द्रव्यगुण पर्यायोंके द्वारा अनेक रूप भिन्न किया जाता है वही सत् अंश रहित होनेसे अभिन्न एक है । यह एक अनेकात्मक उभयरूपप्रमाणपक्ष है ।

अस्ति नास्ति पक्ष—

अपि चास्ति सामान्यमात्रादथवा विशेषमात्रत्वात् ।

अविशदितो विपक्षो यावदन्यः स तावदस्ति नयः ॥७५६॥

अर्थ—यन्तु सामान्यमात्रसे है, अथवा विशेषमात्रसे है । जब तक निराशय अविशदित (गौण) रहता है तबतक अन्यरूपसे एक अस्ति नय ही प्रयत्न रहता है ।

नास्ति च तदिह विशेषैः सामान्यस्याविशदितत्वात् ।

सामान्यैरितरस्य च गौणतरे सति भवति तदस्ति नयः ॥७५७॥

अर्थ—यन्तु सामान्यही अविशदितमें विशेषरूपसे नहीं है, अथवा विशेषही अविशदितमें सामान्यरूपसे नहीं है यहाँ पर नास्ति नय ही प्रयत्न रहता है ।

द्रव्यार्थिकनयपक्षादस्ति न तत्त्वं स्वरूपतोपि ततः ।

नच नास्ति परस्वरूपात् सर्वविकल्पातिगोपतो यस्तु ॥ ७५८ ॥

अर्थ—द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे वस्तु स्वरूपसे भी अस्तित्व नहीं है, क्योंकि सर्व विकल्पोसे रहित ही वस्तुका स्वरूप है।

यदिदं नास्ति स्वरूपाभावादस्ति स्वरूपसद्भावात् ।

तद्वाच्यात्पपरचितं धातुं सर्वं प्रमाणपक्षस्य ॥ ७५९ ॥

अर्थ—जो वस्तु स्वरूपाभावसे नास्तित्व है और जो स्वरूप सद्भावसे अमिरूप है वही वस्तु विकल्पातीत (अवक्तव्य) है। यह सब प्रमाण पक्ष है, अर्थात् पर्यायार्थिक नयसे अस्तित्व और द्रव्यार्थिक नयसे विकल्पातीत तथा प्रमाणसे उभयात्मक वस्तु है।

निरा अनित्य पक्ष—

उत्पद्यते विनश्यति सद्दिति यथास्त्वं प्रतिक्षणं जायते ।

व्यवहारविशिष्टोऽयं नियतमनित्यो नयः प्रसिद्धः स्यात् ॥ ७६० ॥

अर्थ—सत्-पदार्थ अपने आप प्रतिक्षण उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है। यह निश्चित व्यवहार विशिष्ट अनित्य नय अर्थात् अनित्य व्यवहार (पर्यायार्थिक) नय है।

नोत्पद्यते न नश्यति ध्रुवमिति सत्त्वादनन्यथावृत्तेः ।

व्यवहारान्तर्भूतो नयः स निरवोपनन्यधारणः स्यात् ॥ ७६१ ॥

अर्थ—सत् न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है, किन्तु अन्यथा भाव होनेसे वह नित्य है। यह अनय धारण (स्वयं नियत) नित्य व्यवहार नय है।

न विनश्यति यस्तु यथा यस्तु तथा नैव जायते नियमात् ॥ ७६२ ॥

स्थितिमेति न केवलमिह भवति स निश्चयनयस्य पक्षस्य ।

अर्थ—नियमप्रकार वस्तु नष्ट नहीं होता है, उस प्रकार वह नियमसे उत्पन्न भी नहीं होता है, तथा ध्रुव भी नहीं है। यह केवल निश्चय नयका पक्ष है। आशय—उत्पाद, नश्य, प्रीत्य तीनों ही एक समयमें होनेवाली मनुषी पर्यायें हैं। इसलिये इन पर्यायोंको पर्यायार्थिक नय विषय करता है, वस्तु निश्चय नय सर्व विकल्पोसे रहित वस्तुको विषय करता है।

यदिदं नास्ति विशेषः सामान्यस्याविषयतया तदिदम्

उन्मज्जरसामान्यैरस्ति तद्देतप्रमाणमपिशोषात् ॥ ७६३ ॥

अर्थ—जो वस्तु सामान्यकी अविवक्षामें विद्येतेमें नहीं है, वही वस्तु सामान्यकी विषयतासे ही विद्येतेमें प्रमाण पक्ष है। आशय—विशेष नय पर्यायका है, वस्तु



अनित्य होती हैं । इसलिये विशेषकी अपेक्षासे वस्तु अनित्य है, सामान्यकी अपेक्षा वह नित्य भी है । प्रमाणकी अपेक्षा वह नित्यानित्यात्मक है ।

भाव अभाव पञ्च—

अभिनवभाव परिणनेर्योयं वस्तुन्यपूर्वसमयोयः ।

इति यो वदति स कश्चित् पर्यायार्थिकनयेष्वभावनयः ॥७३४॥

अर्थ—नवीन परिणाम धारण करनेसे वस्तुमें नवीन ही भाव होता है, ऐसा जो कोई कहता है वह पर्यायार्थिक नयेमें अभाव नय है ।

परिणममानेपि तथा भूतैर्भावैर्विनिश्चयमानेपि ।

नायमपूर्वो भावः पर्यायार्थिकविशिष्टभावनयः ॥७३५॥

अर्थ—वस्तुके परिणमन करनेपर भी तथा उसके पूर्व भावोंके विनष्ट होनेपर भी वस्तुमें नवीन भाव नहीं होता है किन्तु जैसेका तैसा ही रहता है, वह पर्यायार्थिक भाव नय है ।

शुद्धद्रव्यादेशादभिनवभावो न सर्वतो वस्तुनि ।

नाप्यनभिनयश्च यतः स्यादभूतपूर्वो न भूतपूर्वो वा ॥७३६॥

अर्थ—शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे वस्तुमें सर्वथा नवीन भाव भी नहीं होता है, तथा प्राचीन भाव भी नहीं रहता है, क्योंकि वस्तु न तो अभूतपूर्व है और न भूतपूर्व है । अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टिमें वस्तु न नवीन है और न पुरानी है किन्तु जैसी है वैसी ही है ।

अभिनवभावैर्यदिदं परिणममानं प्रतिक्षणं यावत् ।

अस्तदुत्पन्नं नहि तत्सन्नष्टं वा न प्रमाणमतमेतत् ॥७३७॥

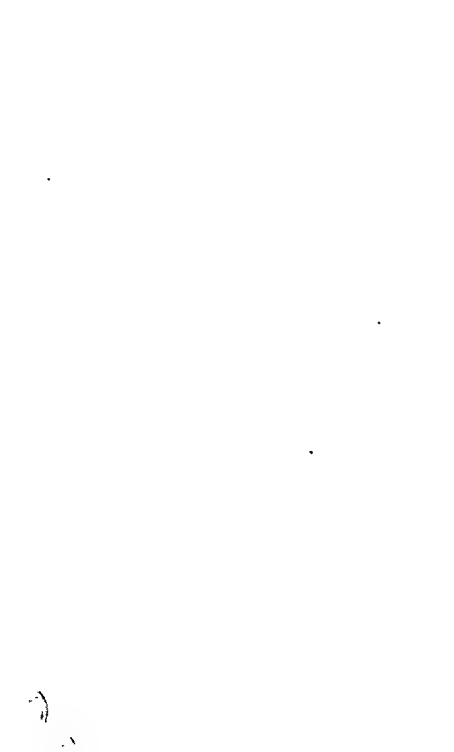
अर्थ—जो सत् प्रतिक्षण नवीन २ भावोंमें परिणमन करता है वह न तो अपा उत्पन्न होता है और न सत् विनष्ट ही होता है यही प्रमाण पञ्च है ।

इत्यादि यथासम्पद्यमुक्तमिवानुक्तमपि च नपयक्रम

भोज्यं यथागमादिह प्रत्येकमनेकभावयुतम् ॥७३८॥

अर्थ—इत्यादि अनेक धर्मोंको धारण करनेवाला और भी नयसमूह जो यत् वा नहीं कहा गया है, उमें भी कहे हुए के तुल्य ही समझना चाहिये, तथा हर एक नयको अलग-अलग ननुमात्र यथायोग्य (जहां जैसी अपेक्षा हो) धरना चाहिये ।







ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।  
सुत्रोपनिषद् हिंदी भाषाटीका सहित  
**पञ्चाध्यायी ।**

**उत्तरार्द्ध या दूसरा अध्याय—**

सामान्य सङ्गुण इत्य पर्यय व्योम्नादक धौमकी,  
व्युत्तर निधय नय कथनानी अनन्तान प्रमाणानी ।  
अतिविशद्व्याख्या हो चुकी पुराईमें अब व्यासों,  
संगणकनी व्याख्या पदों पर हों सत्यमुद्गातन ॥

सिद्धं विज्ञापयच्छस्त्रु सरसामान्यं स्वनां यथा ।  
नासिद्धो धातुसंज्ञोपि काश्चिन् पीनः सिर्नादपरः ॥१॥

अर्थ—मित्र प्रकार कानुका सामान्य धर्म स्वयं सिद्ध है उनी प्रमाण कानुका विशेष धर्म भी स्वतः सिद्ध है । जिसमें सामान्य धर्म पाया जाता है उसीमें विशेष धर्म भी पाया जाता है यह बात अनिश्च नहीं है । मित्र प्रकार किसी कानुकी “धातु” माला समझी जाती है यह तो सामान्य है, चांदी भी धातु कहलाती है, सोना भी धातु कहलाता है । इसीसे धातु शब्द तो सामान्य है धातु कोई धातु पीली है और कोई गेरु है । यह दोरे की संवेदना जो कवन है वह विशेषकी अपेक्षाते है ।

भाषार्थ—संसारमें मित्रों पराई है मर्मीमें सामान्य धर्म भी पाया जाता है और विशेष धर्म भी पाया जाता है । कानुकी केवल सामान्य धर्मशाली शब्दों अथवा केवल विशेष धर्मशाली शब्दों यह क्रियात्मक है । यदि सामान्य तथा विशेष दोनों शब्दों से कानुका स्वल्प माना जाय, धातु विशेष शब्दों माना जाय, तो वह भी सिद्ध हो है । इसीसे व्यासमें एक दुसरेकी अपेक्षा सिद्ध हुए सामान्य विशेषात्मक उभयवचन ही कानु है । इसी कारणसे प्रमाणनी शिष्ट कथनसे हुए स्वयं धर्मशाली आचार्योंने भी कहा है कि “सामान्यविशेषात्का लक्षणे विद ” इत्यादि शब्दों पर है कि इत्य पर्याय स्वल्प उभयवचन ( सामान्य विशेषात्मक ) ही कानु प्रमाण सिद्ध है केवल इत्य रूप का केवल पर्याय रूप मयता सिद्ध है और वह मय कानुसे एक लेखने विदय बना है । प्रमाण कानुकी कानुकी विदय बना है, इसीसे कानुका रूप का एक पर्यायवचन है । इसी कारण इ व हस्तिसे कानु कानु कानु है उभयवचन मय मय विद







इति हेतुसनाथेन प्रत्यक्षेणावधारितः ।

साध्या जीवस्वसिद्ध्यर्थमजीवश्च ततोऽन्यथा ॥ ६ ॥

अर्थ—जीवः अस्ति स्वमेवेदप्रत्यक्षत्वात् ” पूर्वाक्त श्लोकेके अनुमान इम अनुमानसे जीवकी सिद्धि होती है । उपरके अनुमान वाक्यमें स्वमेवेदन हेतु प्रत्यक्षरूप है । जीवका अस्तित्व (मत्ता) साध्य है । निमित्तमें पूर्वाक्त स्वमेवेदन प्रत्यक्ष रूप हेतु नहीं है वह जीवसे भिन्न अर्थात् पदार्थ ॥ ।

मूर्त तथा अमूर्त द्रव्यका विवेचन—

मूर्तामूर्तविशेषश्च द्रव्याणां स्यान्निसर्गतः ।

मूर्त स्यादिन्द्रियग्राह्यं तद्ग्राह्यममूर्तिमत् ॥ ७ ॥

अर्थ—उहाँ द्रव्योंमें कुछ द्रव्य तो मूर्त हैं और कुछ अमूर्त हैं द्रव्योंमें यह मूर्त और अमूर्तका भेद स्वभावसे ही है किसी निमित्तसे किया हुआ नहीं है । जो इन्द्रियोंसे जाना जाय उसे मूर्त कहते हैं और जो इन्द्रियोंके गोचर न हो उमें अमूर्त कहते हैं ।

भाषार्थ—द्रव्योंमें मूर्त और अमूर्त व्यवस्था स्वाभाविक है । जिसमें रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श पाया जावे उसे ही मूर्त कहते हैं । इसी लिये दूसरी रीतिसे मूर्तका लक्षण यह बननाया है कि जो इन्द्रियोंसे ग्रहण हो सके वही मूर्त है मूर्तद्रव्यके उपर्युक्त दोनों लक्षण अविरुद्ध हैं । वास्तवमें वही इन्द्रियोंसे ग्रहण हो सकता है जिसमें कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पाया जाता है । क्योंकि इन्द्रियोंके ही विषय, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पड़ते हैं । पशुका रूप विषय है, रसनाका रस विषय है, नाकका गन्ध विषय है, स्पर्शान्द्रियका स्पर्श विषय है । कर्णेंद्रियका विषय शब्द भी रूप रस गन्ध स्पर्शात्मक ही है । इसलिये विषय विषयीकी अपेक्षासे ही मूर्तका लक्षण इन्द्रिय विषय कहा गया है । जो इन्द्रियगोचर है वह तो मूर्त अवश्य है परन्तु जो इन्द्रियगोचर नहीं है वह भी मूर्त है जैसे कि पुद्गलका एक परमाणु । इन्द्रियगोचर होनेमें स्पृष्टता कारण है परमाणु सूक्ष्म है इसलिये वह इन्द्रियगोचर नहीं है । परन्तु वही परमाणु स्पृष्ट स्वभावमें मिल जानेमें स्पृष्ट रूपमें परिणत होकर इन्द्रियगोचर होने लगता है । हां स्पर्श-नादि प्रत्यक्ष परमाणु अवस्थाओं भी हो सकता है । इसलिये इन्द्रियगोचरता मूर्तमात्रमें व्यापक है जो इन्द्रियगोचर नहीं है वह अमूर्त है ।

मूर्तकी तरह अमूर्त भी यथार्थ है—

न पुनर्वास्तव्यं मूर्तममूर्तं स्यादवास्तवम् ।

सर्वशून्यादिदोषाणां सान्निपातात्तथा सति ॥ ८ ॥

अर्थ—मूर्त पदार्थ ही वास्तविक है अमूर्त पदार्थ वास्तविक नहीं है यह बात भी नहीं है क्योंकि ऐसा माननेसे सब पदार्थोंकी शून्यताका प्रमंग भा जायगा ।

भाषार्थ—कितने ही प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष होनेवाले पदार्थोंको ही मानते हैं ।



नहीं मानते । परंतु परोक्ष पदार्थोंके स्वीकार किये बिना पदार्थोंकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती परोक्ष पदार्थोंकी सत्ता अनुमान और आगमसे मानी जाती है । अविनाभायी हेतुसे अनुमान प्रमाण माना जाता है और स्वानुमान, अश्वंडयुक्ति तथा अवाधकपनेसे आगम प्रमाण माना जाता है ।

मूर्तका लक्षण—

स्पर्शो रसश्च गन्धश्च वर्णोऽमी मूर्तिसंज्ञकाः ।

तद्योगान्मूर्तिमद्द्रव्यं तद्योगादमूर्तिमत् ॥ ९ ॥

अर्थ—रूप, रस, गन्ध, वर्णका नाम ही मूर्ति है । जिसमें मूर्ति पाई जाय वही मूर्त द्रव्य कहलाता है और जिसमें रूप, रस, गन्ध, वर्णरूप मूर्ति नहीं पाई जाय वही अमूर्त द्रव्य कहलाता है ।

भावार्थ—पुद्गलमें रूप, रस, गन्ध वर्णरूप मूर्ति पाई जाती है इसलिये वह मूर्त कहलाता है । बाकी द्रव्योंमें उपर्युक्त मूर्ति नहीं पाई जाती इसलिये वे अमूर्त हैं ।

मूर्तका ही इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है—

नास्तेभ्यं भवेदतत् प्रत्यक्षानुभवाद्यथा ।

सन्निकर्षास्ति वर्णाग्निरिन्द्रियाणां न चेन्नरः ॥ १० ॥

अर्थ—इन्द्रियोंका स्पर्शादिके साथ ही सम्बन्ध होता है और दूसरे पदार्थोंके साथ नहीं होता यह बात असेवक नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष और अनुभवसे सिद्ध है ।

अमूर्त पदार्थ है इसमें क्या प्रमाण है ?

मन्यमूर्तार्थिसद्भावे किं प्रमाणं यदाय नः ।

यद्विनापीन्द्रियाणीनां सन्निकर्षात् न्यपुत्पद्यत् ॥ ११ ॥

अर्थ—यहां पर शङ्काकार कहा है कि अमूर्त पदार्थ भी है इसमें क्या प्रमाण है । क्योंकि जितने पदार्थ हैं उन सबका इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध होता है । अमूर्त पदार्थका इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध नहीं होता है इसलिये उनका मानना ऐसा ही है जिन प्रकार कि आकाश के पृष्ठोंका मानना ।

भावार्थ—जिन प्रकार आकाशके कुछ बाल्यमें कोई पदार्थ नहीं है, इसलिये उनका इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी नहीं होता । इसी प्रकार जब अमूर्त पदार्थ भी कोई बाल्यविक पदार्थ नहीं है, यदि अमूर्त पदार्थ बाल्यमें होता तो यह वस्तु आदि पदार्थोंकी तरह उनका भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता ।

## सुबोधिनी टीका ।

अध्याय । ]

यहाँपर शङ्काकारका आशय यही है कि जिन पदार्थोंका इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है ही तो वास्तवमें हैं उनसे अग्न्य कोई पदार्थ नहीं है ।  
शङ्काकारका उत्तर—

नैवं यतः सुख्यादीनां संवेदनसमक्षतः ।

नासिद्धं चास्त्वयं तत्र कित्वसिद्धं रसादिमत् ॥ ११ ॥

अर्थ—अमूर्त पदार्थकी सत्तामें कोई प्रमाण नहीं है ऐसा शङ्काकारका कहना ठीक नहीं है । क्योंकि सुख दुःखादिकका तत्वेवेदन होनेसे आत्मा भले प्रकार सिद्ध है सुख दुःखादिककाप्रत्यक्ष करनेवाला आत्मा असिद्ध नहीं है परन्तु उपमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श मानना असिद्ध है ।

वास्तवमें इन्द्रियज्ञान मलिन ज्ञान है और इसीलिये यथार्थ दृष्टिसे वह परोक्ष है । उसका विषय भी बहुत थोड़ा और मोटा है । सुदन पदार्थोंका विशद बोध अतीन्द्रिय प्रत्यक्षसे ही होता है । इसलिये जिनका इन्द्रिय ज्ञान होता है वे ही पदार्थ ठीक हैं बाकी कुछ नहीं, ऐसा मानना किसी तरह युक्ति सन्नत नहीं है । \*

आत्मा रसादिकसे भिन्न है—

तद्यथा तद्रसज्ञानं स्वयं तन्न रसादिमत् ।

यस्माज्ज्ञानं मुख्यं दुःखं यथा स्यान्न तथा रसः ॥ १३ ॥

अर्थ—उसके श्लोकमें रसादिक आत्मासे भिन्न ही बतायाये हैं । उसी बातको यहाँपर पुष्टासा करते हैं । आत्मामें जो रसज्ञान होता है वह ज्ञान ही है । रस ज्ञान होनेसे ज्ञान रसवाला नहीं हो जाता है क्योंकि रस घट्टलका गुण है वह जीवमें किम तरह आसक्तता है । यदि रस भी आत्मामें पाया जाता तो जिन प्रकार ज्ञान, सुख, दुःखका अनुभव होनेसे ज्ञान सुखी दुःखी आत्मा बन जाता है उसी प्रकार रसमयी भी होनाता परन्तु ऐसा नहीं है ।  
सुखदुःखादिक ज्ञानसे भिन्न नहीं है—

नासिद्धं सुखदुःखादि, ज्ञानानर्थोन्तरं यतः ।

चेतनस्यात् मुख्यं दुःखं ज्ञानादन्यत्र न कचित् ॥ १४ ॥

अर्थ—सुख दुःख आदिक जो माव हैं वे ज्ञानसे अभिन्न हैं अर्थात् ज्ञान स्वयं ही है । क्योंकि चेतन मावों में ही सुख दुःखाद्य अनुभव होता है ज्ञानको छोड़कर अन्यत्र सुख दुःखादिकका अनुभव नहीं हो सक्ता ।

\* जो लोग इन्द्रिय प्रत्यक्षको ही मानते हैं उनके परबोध गत ज्ञानादिककी भी नहीं हो सकती है उनकारिकाकी अतिदूरताके अन्वयक समन्वय भी नहीं बनता ।

मुखादिक अजीवमें नहीं है—

न पुनः स्वैरसञ्चारि सुखं दुःखं चिदात्मनि ।

अचिदात्मन्यपि व्याप्तं वर्णादौ तदसम्भवात् ॥ १५ ॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि सुख दुःख भाव जीव और अजीव दोनोंमें ही स्वतन्त्रतासे व्याप्त रहें । किन्तु ये भाव जीवके ही हैं । वर्णादिकमें इन भावोंका होना असंभव है ।

भावार्थ—द्रव्योंमें दो प्रकारके गुण होने हैं सामान्य और विशेष । सामान्य गुण सामान्य रीतिसे सभी द्रव्योंमें पाये जाते हैं परन्तु विशेष गुणोंमें यह बात नहीं है । वे जिस द्रव्यके होते हैं उसीमें असाधारण रीतिसे रहते हैं दूसरेमें कदापि नहीं पाये जाते । सुख दुःखादिक जीव द्रव्यके ही असाधारण वैभाविक तथा स्वभाविक भाव हैं । इसलिये वे जीव द्रव्यको छोड़ कर अन्य पदार्थ आदिक में नहीं पाये जा सकते ।

सारांश—

ततः सिद्धं चिदात्मादि स्यादमूर्तं तदर्थवत् ।

प्रसाधितसुखादीनामन्यथाऽनुपपत्तितः ॥ १६ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि आत्मा आदि अमूर्त पदार्थ भी वास्तविक हैं इनको न माननेसे स्वानुभव सिद्ध सुखदुःख आदिकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

शङ्काकार—

नन्यसिद्धं सुखादीनां मूर्तिमत्त्वादमूर्तिमत् ।

तद्यथा पद्मसज्जनं तद्रसो रसवद्यतः ॥ १७ ॥

तन्मूर्तस्य कृतस्य स्यादमूर्तं कारणादिना

यत्साधनादिनाभूतं माध्यं न्यायानतिक्रमात् ॥ १८ ॥

अर्थ—सुख दुःख आदि मूर्त हैं इसलिये उनको अमूर्त मानना असिद्ध है । जैसे रसका ज्ञान होता है वह रस स्वयं ही है क्योंकि वह ज्ञान रसभावा है इसी तरह सुखादिकमें मूर्तता सिद्ध हो जाने पर बिना कारण उनमें अमूर्तता किम तरह आ सकती है ! कविन्यायी साधनमें ही माध्यमी सिद्धि होती है ऐसा न्यायज्ञ सिद्धांत है ।

भावार्थ—शङ्काकारका अभिप्राय है कि जिस पदार्थका ज्ञान होता है वह ज्ञान उसी रूप में स्वयं है । जिस समय ज्ञान रूप, रस, स्पर्श स्वयंको जान रहा है उस समय ज्ञान रूप स्वयं स्वयं स्पर्शक ही है ।

शङ्का—

मैत्रं मूर्तो रसाद्यर्थं ज्ञानं मग्न रसः स्वयम् ।

अर्थाऽज्ञानममूर्तं स्यान्मूर्ति मूर्तोपचारतः ॥ १९ ॥

अर्थ—ऊपर मो शब्दा उग्राई गई है वह ठीक नहीं है । क्योंकि मो रसादि पदार्थोंका ज्ञान होता है वह स्वयं रस रूप नहीं हो जाता अर्थात् ज्ञान ज्ञान ही रहना है और वह अमूर्त ही है । यदि उस ज्ञानको मूर्त बना जाना है तो उस समय केवल उपचारमात्र ही समझना चाहिये ।

भावार्थ—यदि जिस पदार्थका ज्ञान होता है वह स्वयं उसी रूप होनाय तो देव या भक्तियुक्त जिस समय नारदियोंके स्वरूपका ज्ञान करने हैं तो क्या उस समय वे नारद स्वरूप हो जाते हैं ? इसलिये ज्ञान परपदार्थको जानता है परन्तु उस पदार्थ रूप स्वयं नहीं हो जाता । मो सद्योपराय ज्ञान है वह भी वास्तव दृष्टिसे अमूर्त ही है । क्योंकि आत्माका गुण है । ज्ञान मूर्त पदार्थोंको विषय करता है इसलिये उसे मूर्त मानना यह केवल मूर्तका उपचार है । ज्ञानमें कोई मूर्तता नहीं आती है ।

ज्ञानके मूर्त माननेमें दोष—

न पुनः स्वर्गथा मूर्तं ज्ञानं वर्णादिमग्नतः ।

स्वर्मेवेत्याद्य भावः स्यात्तज्जडत्वानुपपन्नतः ॥ २० ॥

अर्थ—ज्ञान उपचार मात्रसे तो मूर्त है परन्तु वास्तवमें मूर्त नहीं है । वह वर्णादिकको विषय करनेवाला है इसीलिये उसमें उपचार है । यदि वास्तवमें ज्ञान मूर्त हो जाय तो पुद्गलकी तरह ज्ञानमें जड़पना भी आ जायगा, और ऐसी अवस्थामें स्वर्मेवेदन आदिकका अभाव ही हो जायगा ।

भावार्थ—जहाँपर मुख्य पदार्थ न हो परन्तु कुछ प्रयोजन या निमित्त हो वहाँपर उस मुख्यका उपचार किया जाता है । निम्नप्रकार छोग बिलीको सिंह कह देंगे हैं । बिली यद्यपि सिंह नहीं है तथापि ब्रूता, आहृति आदि निमित्ताश बिलीमें सिंहका उपचार कर लिया जाता है । उसी प्रकार वर्णादिके आकार ज्ञान हो जाता है इसी लिये उस ज्ञानको उपचारसे मूर्त कह देंगे हैं, वास्तवमें ज्ञान मूर्त नहीं है अन्यथा वह जड़ हो जायगा ।

निमित्त विद्वान्त—

तस्माद्वर्णादिशून्यात्मा जीवाण्यर्थोऽस्त्यमूर्तिमान् ।

स्वीकर्तव्यः प्रमाणोऽस्यानुभूतेर्यथागमात् ॥ २१ ॥

अर्थ—इसलिये वर्णादिकसे रहित जीवादिक पदार्थ अमूर्त है ऐसा उपर्युक्त प्रमाणसे स्वीकार करना चाहिये अथवा स्वानुभवसे स्वीकार करना चाहिये । आगम भी इसी बातको बतलाता है कि वर्णादिक पुद्गलके गुण हैं और बाकी जीवादिक पांच द्रव्य अमूर्त हैं ।

लोक और अलोकका भेद—

लोकालोकविशेषोऽस्ति द्रव्याणां लक्षणादयथा ।

पदद्रव्यात्मा स लोकोऽस्ति स्यादलोकस्ततोऽन्यथा ॥ २२ ॥

अर्थ—द्रव्योंके लक्षणकी अपेक्षासे ही लोक और अलोकका विभाग होता है। जहाँ पर छह द्रव्य पाये जाँय अथवा जो छह द्रव्य स्वरूप हो उसे लोक कहते हैं। और जहाँ छह द्रव्य नहीं पाये जाँय उसे अलोक कहते हैं।

भावार्थ—लोक शब्दका यही अर्थ है कि “लोक्यन्ते पदार्था यत्र असौ लोकः” अर्थात् जहाँपर छह पदार्थ पाये जाँय या देखे जाँय उसे लोक कहते हैं। जहाँपर छह पदार्थ नहीं विन्तु केवल आकाश ही पाया जाय उसे अलोक कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सभी द्रव्योंका आश्रय आकाश द्रव्य है। जिस आकाशमें अन्य पाँच द्रव्य हैं उसे लोकाकारा कहते हैं और जहाँ केवल आकाश ही है, उसे अलोकाकारा कहते हैं। एक आकाशके ही उपाधिभेदसे (निमित्त भेदसे) दो भेद हो गये हैं।

अलोकका स्वरूप—

**सोऽप्यलोको नै शून्योऽस्ति पट्टमिद्वैरजेपतः ।**

**व्योममात्रावशेषत्वाद्ध्योमात्मा केवलं भवेत् ॥ २३ ॥**

अर्थ—जो अलोक है वह भी छह द्रव्योंसे सर्वथा शून्य नहीं है। अलोकमें भी छह द्रव्योंमेंसे एक आकाश द्रव्य रहता है इसलिये अलोक केवल आकाशस्वरूप ही है।

भावार्थ—अलोक भी द्रव्य शून्य नहीं है किन्तु आकाश द्रव्यात्मक है।

पदार्थोंमें विशेषता—

**क्रिया भावविशेषोऽस्ति तेषामन्वर्थतो यतः ।**

**भावक्रियाद्वयोपेताः केचिद्भावगताः परे ॥ २४ ॥**

अर्थ—उन छह द्रव्योंमें दो भेद हैं। कोई द्रव्य तो भावात्मक ही है और कोई भावात्मक भी है तथा क्रियात्मक भी है।

भावार्थ—जो पदार्थ सदा एवमे रहते हैं जिनमें हलन चलन क्रिया नहीं होती वे पदार्थ तो भावात्मक हैं, और जो पदार्थ कभी स्थिर भी रहते हैं और कभी क्रिया भी करते हैं वे भावस्वरूप भी हैं और क्रिया स्वरूप भी हैं। तात्पर्य यह है कि जिन पदार्थोंमें क्रियावती शक्ति है उनमें क्रिया होती है, जिन पदार्थोंमें क्रियावती शक्ति नहीं है उनमें हलन चलन क्रिया नहीं होती है। वे केवल भाववती शक्तिकारण कहलाते हैं।

कोई प्रमाण जिन पदार्थोंमें क्रियावती शक्ति नहीं है केवल भाववती शक्ति है उन्हें अन्तरिमानी न मान्य लेवें। परिगमन तो सदा सभी पदार्थोंमें होता है परन्तु परिगमन दो तरहका होता है, जिसमें बहुतके प्रदेशोंका एक देशमें दृष्टा देश हो अर्थात् स्थानमें स्थानान्तरण हो उसे तो क्रियात्मक परिगमन कहते हैं और जिसमें प्रदेशोंका तो हलन चलन न हो परन्तु एकी अवस्थामें दृष्टी आगम हो जाय उसे भाव परिगमन कहते हैं, इसलिये कि जिन

हमारी कलमको ले मोनिये, कलमका टूट जाना तो उसका किराकरूप परिणमन है और बिना किसी हरकतके रस्वी हुई नवीन कलमका पुराना हो जाना परिणाम है। निष्क्रिय-भावोंमें इसी प्रकारका परिणमन होता है।

भाववती और क्रियावती शक्तिवाले पदार्थोंके नाम—

**भावयन्तौ क्रियायन्तौ दावेतौ जीवपुद्गलौ ।**

**तौ च शेषचतुष्कं च पडते भावसंस्कृताः ॥ २५ ॥**

अर्थ—जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य भाववाले भी हैं और क्रियावाले भी हैं। तथा जीव, पुद्गल और शेष चारों द्रव्य भाव सहित हैं।

भावार्थ—जीव और पुद्गलमें तो क्रिया और भाव दोनों शक्तियाँ हैं परन्तु धर्म, अवधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य केवल भाव शक्ति वाले ही हैं। इन चारोंमें क्रिया नहीं होगी, ये चारों ही निष्क्रिय हैं।

क्रिया और भावका लक्षण—

**तत्र क्रिया प्रदेशानां परिस्पन्दमलात्मकः ।**

**भावस्तत्परिणामोऽस्मि धारायालोकवस्तुनि ॥ २६ ॥**

अर्थ—प्रदेशोंके हिलने चमकनेको क्रिया कहने हैं और भाव परिणामको कहने हैं जो कि प्रत्येक वस्तु में धारावाही ( बराबर ) में होता रहता है।

भावार्थ—प्रदेशोंका एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जाना आना तो क्रिया कहलाती है और वस्तुमें जो निष्क्रिय भाव हैं उन्हें भाव कहने हैं। हमका खुलामा चौबीसवें श्लोकमें कर चुके हैं।

परिणमन पदार्थोंका है—

**नासंभवमिदं यस्मादर्थः परिणामिनोऽनिशः ।**

**तत्र केचित् कदाचिद्य प्रदेशचलनात्मकाः ॥ २७ ॥**

अर्थ—यह बात असिद्ध नहीं है कि पदार्थ प्रतिक्षण परिणमन करते रहते हैं। उसी परिणमनमें कभी २ किन्हीं किन्हीं पदार्थोंके प्रदेश भी हलन चलन करते हैं।

भावार्थ—सभी पदार्थ निरन्तर एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्था तो बदलते ही रहते हैं परन्तु कभी जीव और पुद्गलमें उनके प्रदेशोंकी हलन चलन रूप क्रिया भी होती है।

प्रत्येककारकी प्रतीति—

**तद्यथाधाधिचिद्द्रव्यदेशानां गम्यते मया ।**

**युक्त्यागमानुभूतिभ्यः पूर्वाचार्यानिप्रमात् ॥ २८ ॥**

अर्थ—प्रत्येककार कहने हैं कि अब हम चेतन द्रव्यके विषयमें ही व्याख्यात करेंगे।



त्य है इमका कभी भी नाश नहीं होता है केवल अवस्था भेद होता रहता है ।

फिर भी जीवका हो निरूपण—

**साधारणगुणोपेतोऽप्यसाधारणधर्मभाक् ।**

**चिद्वरूपोऽप्यविद्यस्थः सर्वोपेक्षोऽपि सर्ववित् ॥ ३१ ॥**

अर्थ—यह जीव साधारण गुण सहित है और असाधारण गुण सहित भी है । विद्य ( जगत् ) रूप है परन्तु विद्यमें उहरा नहीं है । सबसे उपेक्षा रत्नवाला है, तो भी सबका जाननेवाला है ।

भाषार्थ—यहांपर आचार्यने साहित्यकी छात्र दिखाने हुए जीवका स्वरूप कहा है । विरोधात्मकतामें एक बातको पहले दिखाने हैं फिर उससे विपरीत ही कह देते हैं परन्तु वास्तवमें वह विपरीत नहीं होता । केवल विपरीत सरीखा दिखता है । जैसे यहांपर ही जीवका स्वरूप दिखाने हुए कहा है कि वह साधारण धर्मवाला है तो भी असाधारण धर्मवाला है । जो साधारण धर्मवाला होगा वह असाधारण धर्मवाला कैसे हो सका है ऐसा विरोध सा दिखता है परन्तु वह विरोध नहीं है केवल अन्तर्कारकी प्रत्यक्ष है । यहां पर साहित्यकी न शुल्कपना है और न आवश्यकता है इसलिये उसे छोड़कर श्लोकका आशय लिया जाता है ।

प्रत्येक द्रव्यमें अनन्त गुण होने हैं अथवा यों कहना चाहिये कि वह द्रव्य अनन्त गुण स्वरूप ही है । उन गुणोंमें कुछ साधारण गुण होने हैं और कुछ विशेष गुण होने हैं । जो समान रीतिसे सभी द्रव्योंमें पाये जाय उन्हें साधारण गुण कहते हैं । इन्हींका दूसरा नाम सामान्य गुण भी है । और जो साम २ वस्तुमें ही पाये जाय उन्हें विशेष गुण कहते हैं । जीव द्रव्यमें सामान्य गुण भी हैं और विशेष गुण भी हैं । अस्तित्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व आदिक सामान्य गुण हैं । ये गुण समान रीतिसे सभी द्रव्योंमें पाये जाते हैं, और ज्ञान, दर्शन, सुख, दीर्घ आदिक जीवके विशेष गुण हैं, ये जीवको छोड़कर अन्यत्र नहीं पाये जाते । इसलिये जीवमें साधारण गुण और विशेष गुण दोनों हैं । लोक अमंगल्यता प्रदेशी है और जीव भी लोकके बराबर असंख्यात प्रदेशी है इसलिये यह जीव विद्वत्स्वरूप है । अर्थात् लोक स्वरूप है तथापि लोकभरमें उहरा हुआ नहीं है किन्तु लोकके अमंगल्यतावै भाग स्थानमें है । अथवा ज्ञानकी उपेक्षा विश्वरूप है परन्तु विद्वत्स्वमें जुड़ा है । यह जीव सर्व पदार्थोंसे उपेक्षित है अर्थात् किसी पदार्थसे इमका सम्बन्ध नहीं है तथापि यह जीव सब पदार्थोंको जाननेवाला है ।

फिर भी जीवका स्वरूप—

**असंख्यातप्रदेशोऽपि स्वादात्मवण्टप्रदेशवान् ।**

**सर्वद्रव्यानिरिक्तोऽपि सन्मध्यं संस्थितोऽपि च ॥ ३२ ॥**





अर्थ—यह जीवात्मा भी अनादि है और पुद्गल भी अनादि है । इसलिये दोनोंका सम्बन्ध रूप बन्ध भी अनादि है ।

भावार्थ—जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि कालसे है । यदि इनका सम्बन्ध सादि अर्थात् किसी काल विशेषसे हुआ माना जावे तो अनेक दोष आते हैं । इसी बातको प्रत्यक्षर रूपं आगे दिखलाते हैं ।

**अप्योरनादिसम्बन्धः कनकोपलसन्निभः ।**

**अन्यथा दोषण्य स्यादितरेतरमन्ध्रयः ॥ ३६ ॥**

अर्थ—जीव और कर्म दोनोंका सम्बन्ध अनादि कालसे चला आ रहा है । यह सम्बन्ध उसी प्रकार है निम प्रकार कि कनकपाषाणका सम्बन्ध अनादिकालीन होता है । यदि जीव पुद्गलका सम्बन्ध अनादिसे न माना जाय तो अन्योन्याश्रय दोष आता है ।

भावार्थ—एक पत्थर ऐसा होता है निममें मोना मित्र रहता है, उमीको कनकपाषाण कहते हैं । कनकपाषाण स्वानिसे मित्रा हुआ ही निकला है । निम प्रकार सोनेका और पत्थरका हमेशासे सम्बन्ध है उसी प्रकार जीव और कर्मका भी हमेशासे सम्बन्ध है । यदि जीव कर्मका सम्बन्ध अनादिसे न माना जावे तो अन्योन्याश्रय दोष आता है । \*

अन्योन्याश्रय दोष—

**तद्यथा यदि निष्कर्मा जीवः प्रागेव तादृशः ।**

**पन्थाभावेऽपि शुद्धेऽपि बन्धश्चेन्निरुक्तिः कथम् ॥ ३७ ॥**

अर्थ—यदि जीव पहले कर्मरहित अर्थात् शुद्ध माना जाय तो बन्ध नहीं हो सकता, और यदि शुद्ध होनेपर भी उसके बन्ध मान लिया जाय तो फिर मोक्ष किम प्रकार हो सकती है !

भावार्थ—आत्माका कर्मके साथ जो बन्ध होता है वह अशुद्ध अवस्थामें होता है । यदि कर्मबन्धसे पहले आत्माको शुद्ध माना जाय तो बन्ध नहीं हो सकता ! क्योंकि बन्ध अशुद्ध परिणामोंसे ही होता है । इसलिये बन्ध होनेमें तो अशुद्धताकी आवश्यकता पड़ती है और अशुद्धतामें बन्धकी आवश्यकता पड़ती है । बिना पूर्वबन्धके शुद्ध आत्मामें अशुद्धता आ नहीं सकती । यदि बिना बन्धके शुद्ध आत्मामें भी अशुद्धता आने लगे तो जो आत्मामें मुक्त हो चुकी हैं अर्थात् सिद्ध हैं वे भी फिर अशुद्ध हो जायेंगी और अशुद्ध होनेपर बन्ध भी करती रहेंगी । फिर तो संसारी और मुक्त जीवमें कोई अन्तर नहीं रहेगा । इसलिये बन्धरूप कार्यके लिये अशुद्धता रूप कारणकी आवश्यकता है और अशुद्धता रूप कार्यके लिये पूर्वबन्ध रूप कारणकी आवश्यकता है । बिना पूर्व कर्मके बंधे हुए अशुद्धता त्रिमी प्रकार नहीं आ सकती

\* दो पदार्थोंमें परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा करनेमें अन्योन्याश्रय दोष आता है । इस दोषकी सत्तामें एक पदार्थकी भी सिद्धि नहीं हो पाती ।

वर्गणाओंको अथवा विग्रहोपनयनोंको यह आत्मा स्वीकार आना सम्झनी बना लेता है। जिस प्रकार कि अग्निसे तपा हुआ लोहेका गोला अपने आसपास भरे हुए जड़ों स्वीकार अपनेमें प्रविष्ट कर लेता है। जिन पुद्गल वर्गणाओंको यह अशुद्ध जीवन्मा स्वीचना है वे ही, वर्गणायें आत्मार्क साय एक क्षेत्रावगाह रूप ( एकमण्ड ) में बंध जाती हैं। बंध समयसे उन्हीं वर्गणाओंकी कर्मरूप पर्याय हो जाती है। फिर काष्ठान्तरमें उन्हीं बांधे हुए कर्मोंके निमित्तसे चारित्रिके विभाव भाव रागद्वेष बनने हैं फिर उन रागद्वेष भावोंसे नवीन कर्म बंधते हैं। उन कर्मोंके निमित्तसे फिर भी रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार पहले कर्मोंसे रागद्वेष और रागद्वेषसे नवीन कर्म होत रहने हैं। यही परस्परमें कार्य कारण भाव अनादिसे चला आता है।

इसी बातको नीचेके श्लोकोंमें पुष्ट करते हैं—

**पूर्वकर्मोदयाद्भावो भावात्प्रत्यग्रसंचयः ।**

**तस्य पाकात्पुनर्भावो भावाद्बन्धः पुनस्तनः ॥ ४२ ॥**

**एवं सन्तानतोऽनादिः सम्यन्धो जीवकर्मणोः ।**

**संसारः स च दुर्मोच्यो विना सम्यग्दर्शनादिना ॥ ४३ ॥**

अर्थ—पहले कर्मके उदयसे रागद्वेष—भाव पैदा होते हैं, उन्हीं रागद्वेष भावोंसे नवीन कर्मोंका संचय होता है, उन आये हुए कर्मोंके पाक ( उदय ) से फिर रागद्वेष भाव बनते हैं, उन भावोंसे फिर नवीन कर्मोंका बन्ध होता है, इसी प्रकार प्रवाहकी अपेक्षासे जीव और कर्मका सम्यन्ध अनादिसे चला आया है। इसी सम्यन्धका नाम संसार है, अर्थात् जीवकी रागद्वेष रूप अशुद्ध अवस्थाका ही नाम संसार है। यह संसार विना सम्यग्दर्शन आदि भावोंके नहीं छूट सकता है। x

\* कर्मके स्वीचनेमें योग कारण है और आये हुए कर्मोंके स्थिति अनुभाग बनने कारण है।

✽ इसका अभिप्राय यह है कि जबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता तबतक मिथ्यात्व कर्म आत्मके हान्याधिक भावोंको ढके रहता है अथवा यो कहना चाहिये कि यह मिथ्यात्व उन भावोंको विपरीत रूपसे परिणाम देता है। उन भावोंके विपरीत होनेसे फिर नये कर्म आते हैं और उन कर्मोंके उदयसे फिर रागद्वेष रूप विपरीत भाव होते हैं परंतु जब वह मिथ्यात्व नष्ट होकर सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है तब वे भाव विपरीत नहीं होते किंतु अपने स्वभावात् ही नष्ट रहते हैं इसलिये फिर उनसे नये कर्मोंका आना भी बंद हो जाता है और संचय क्रिये हुए कर्म भी धीरे धीरे नष्ट हो जाते हैं इस तरह सम्यग्दर्शन आदि भावोंके ही संसार छूटता है।

भावार्थ—“संस्मरणं संसारः” परिभ्रमणका नाम संसार है । चारों गतियोंमें जीव उत्पन्न होता रहता है इसीको संसार कहते हैं । इस परिभ्रमणका कारण कर्म है । जैसा कर्मका उदय होता है उसीके अनुसार गति, आयु, शरीर आदि अवस्थायें मित्र जाती हैं । उस कर्मका भी कारण आत्माके रागद्वेष भाव हैं । इसलिये संसारके कारणोंको ही आचार्यने संसार कहा है । यह संसार तभी छूट सकता है जब कि संसारके कारणोंको हटाया जाय । संसारके कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पांच हैं । इन पांचोंके प्रतिपक्षी भाव भी पांच हैं । मिथ्यादर्शनका प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन है । इसी प्रकार अविरतिका विरतिभाव, प्रमादका अप्रमत्तभाव, कषायका अकषायभाव, और योगका अयोगभाव प्रतिपक्षी है । जब ये सम्यग्दर्शनादिक भाव आत्मामें प्रगट हो जायें हैं तो फिर इस जीवका संसार भी छूट जाता है ।

न केवलं प्रदेशानां बन्धः सम्बन्धमाश्रितः ।

सोऽपि भावैरशुद्धैः स्यात्सापेक्षस्तदुद्भवोरिति ॥ ४४ ॥

अर्थ—आत्मा और कर्मका जो बन्ध होता है, वह केवल दोनोंके सम्बन्ध मात्रसे ही नहीं हो जाता है, किन्तु आत्माके अशुद्ध भावोंसे होता है और वह परस्पर दोनोंकी अपेक्षा भी रहता है ।

भावार्थ—कन्ध दो प्रकारका होता है । एक तो दो वस्तुओंके मेल हो जाने मात्रसे ही होता है । जैसे कि सूर्यी ईंटोंको परस्पर मिलानेसे होता है । सूर्यी ईंटोंका सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है । दूसरा ईंटोंका ही वह सम्बन्ध जो कि घूनेके लगानेसे वे सब ईंटें एकरूपमें हो जाती हैं । यद्यपि यह मोटा दृष्टान्त है तथापि एक देशमें घनिष्ठ सम्बन्धमें पटना ही है । दूसरा दृष्टान्त जल और दूधका भी है । इसी प्रकार जीव और कर्मका सम्बन्ध है । यह सम्बन्ध जीव और कर्मके प्रदेशोंके एक रूप हो जाने पर ही होता है । इस सम्बन्धमें कारण आत्माके अशुद्ध भाव ही हैं । कर्म सम्बन्ध और अशुद्ध भाव—इन दोनोंमें परस्पर अपेक्षा है, अर्थात् एक दूसरेमें परस्पर कार्य कारण भाव है ।

बन्धका मूल कारण—

अपस्क्रान्तोपलाकृष्ट सूचीवत्तदुद्भवोः पृथक् ।

अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी ॥ ४५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार चुम्बक प्रत्यक्षमें लोहको रसिकनेकी शक्ति है उसी प्रकार जीव और प्रकृत दोनोंमें वैभाविकी नामा एक शक्ति है जो कि दोनोंमें परस्पर बन्धका कारण है ।

भावार्थ—जिस प्रकार चुम्बक पदार्थमें लोहनेकी शक्ति है उसी प्रकार लोहेमें रसिके जानेकी शक्ति है । यदि दोनोंमें रसिके और लोहनेकी शक्ति न मानी जाय तो

सुम्बक पत्थरके सिवा पीतल चांदी आदिसे लकड़ी पत्थर भी चिंचने चाहिये । मानना पड़ता है कि दोनोंमें क्रमसे रींचने और चिंचनेकी शक्ति है । उसी प्रकार कर्मके बांधनेकी शक्ति है और कर्ममें जीवके साथ बंधनेकी शक्ति है । नव जीव और दोनोंमें क्रमसे बांधने और बंधनेकी शक्ति है तब दोनोंका आत्मक्षेत्रमें बंध हो जाते । आत्माओं में ही बांधनेकी शक्ति है इसलिये आत्माओं में ही कर्म आकर बंध जाते हैं । जीव पुद्गल ही अपनी शुद्ध अवस्थाको छोड़कर बन्ध रूप अशुद्ध अवस्थाओं में क्यों आते हैं ! अधर्म आदिक द्रव्य क्यों नहीं अशुद्ध होते । इसका यही कारण है कि वैभाविक गुण इन दो (जीव, पुद्गल) द्रव्योंमें ही पाया जाता है इसलिये इन दोनों ही होता है, शेष द्रव्योंमें नहीं होता ।

बन्ध तीन प्रकारका होता है—

**अर्थतान्त्रिाविधो बन्धो भावद्रव्योभयात्मकः ॥**

**प्रत्येकं तद्द्रव्यं धावन्तृतीयो द्वन्द्वजः क्रमात् ॥ ४६ ॥**

**अर्थ—**वास्तवमें बन्ध तीन प्रकारका है । भावबंध द्रव्यबंध और उभयबंध । भाव बन्ध और द्रव्य बन्ध तो अलग अलग स्वतन्त्र हैं, परन्तु तीसरा जो उभय बन्ध वह जीव आदि पुद्गल दोनोंके मेलसे होता है ।

**भाषार्थ—**बन्धका लक्षण है कि “ अनेकपदार्थानामेकवबुद्धिजनकसम्बन्धो बन्धः ” अर्थात् अनेक पदार्थोंमें एकत्व बुद्धिको उत्पन्न करनेवाले सम्बन्धका नाम बन्ध । यहांपर बंध तीन प्रकारका बतलाया गया है उसमें उभय बन्ध तो जीवात्मा और पुद्गल इन दोनोंके सम्बन्ध होनेसे होता है । बाकीका जो दो प्रकारका बन्ध है वह द्वन्द्वज है किन्तु अलग अलग स्वतंत्र है । भावबन्ध तो आत्माका ही वैभाविक ( अशुद्ध ) भाव और द्रव्य बन्ध पुद्गलका वह स्वबन्ध है जिसमें कि बन्ध होनेकी शक्ति है । इन दोनों में अलग अलग बन्धोंमें भी एकत्व बुद्धिको पैदा करनेवाला बन्धका लक्षण जाना ही है । व रागात्मा जो भावबंध है वह भी वास्तवमें जीव और पुद्गलका ही विचार है वह राग जीव और पुद्गल दोनोंके योगसे हुई है । आत्मांशकी अपेक्षासे राग पर्याय जीवकी जानी है और पुद्गलांशकी अपेक्षासे वही पर्याय पुद्गलकी बतलाई जाती है । रागपर्याय दो है इसका अर्थ यह नहीं है कि जीव पुद्गलान्धक हो जाता है अथवा पुद्गल जीव हो जाता है किन्तु दोनोंके अंशोंके मेलसे रागपर्याय होती है । जो द्रव्य बन्ध है वह अनेक परमाणुओंका समुदाय है तथा उभय कर्मों में तो बन्धका लक्षण स्पष्ट ही है ।

उत्तर बदे तीनों प्रकारके बन्धोंका स्वरूप प्रत्येक स्वरूप आगेके अध्यायोंमें प्रकाश करते

भारक्य और द्रव्य बन्धन रहता—

**रागात्मा भावयन्धः स जीवयन्ध इति स्मृतः ।**

**द्रव्यं पौष्टलिकः पिण्डो यन्धस्तच्छक्तिरेव धा ॥ ४७ ॥**

अर्थ—जो आत्माका रागद्वेष रूप परिणाम है वही भावक्य कहलाता है । उसीको जीवक्य भी कहते हैं । 'द्रव्यक्य' इस पदमें पडा हुआ जो द्रव्य शब्द है उसका अर्थ तो पुष्टल पिण्ड है । उस पुष्टल पिण्डमें जो आत्माके साथ बन्ध होनेकी शक्ति है वही क्य शब्दका अर्थ है ।

भावार्थ—आत्माका रागद्वेष रूप जो परिणाम है वह तो भावक्य है । और संसारमें भी हुई वे पुष्टल वर्गगायें जो कि आत्माके साथ बंध जानेकी शक्ति रखती हैं द्रव्य क्य कहलाती हैं । सभी पुष्टलोंमें आत्माके साथ बन्ध होनेकी शक्ति नहीं है । पुष्टलके तैईस भेद बताये गये हैं । उनमें पाच वर्गगायें ऐसी हैं जिनमें कि जीवका सम्बन्ध है बाकी पुष्टलसे नहीं । वे वर्गगायें आहार वर्गगा, नानम वर्गगा, भाषा वर्गगा, मनोवर्गगा, कार्माण वर्गगा, इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं । ये ही पाचों आत्माके साथ बंध होनेकी शक्ति रखती हैं । रागद्वेष क्या यन्तु है इस विषयको मध्य क्यकर आगे लियेंगे ।

उभय क्य—

**इतरेतरयन्धक्य देशानां तद्व्योर्मिधः ।**

**यन्ध्ययन्धकभायः स्याद्भावयन्धनिमित्ततः ॥ ४८ ॥**

अर्थ—भावक्यके निमित्तसे पुष्टल-कर्म और जीवके प्रदेशोंका जो परस्पर कन्ध्य-यन्धक भाव अर्थात् एक रूपमें मिल जाना है वही उभय क्य कहलाता है ।

भावार्थ—जो बांधनेवाला है वह क्यक कहलाता है । और जो बांधनेवाला है वह कन्ध्य कहलाता है । जब बांधनेवाला आत्मा और बांधनेवाला कर्म, दोनों मिल जाते हैं तभी कन्ध्य क्यक भाव कहलाता है । इसीका नाम उभय क्य है । आत्माके प्रदेश और कर्मके प्रदेश, दोनों एक क्षेत्रावगाही अर्थात् एक रूपमें मिल जाते हैं उसीको उभय क्य कहते हैं । यह क्य भी राग द्वेष रूप भाव क्यके निमित्तसे ही होता है ।

जीव और कर्मकी सत्ता—

**नाप्यसिद्धं स्वतस्सिद्धंरस्तित्वं जीवकर्मणोः ।**

**स्वानुभवगर्भयुक्तत्वा समक्षोपलब्धितः ॥ ४९ ॥**

अर्थ—जीव और कर्मकी सत्ता भी अमिद्ध नहीं है किन्तु स्वतः मिद्ध है । जीव भी स्वतः मिद्ध है और कर्म भी स्वतः मिद्ध है । अतः जीव और कर्मकी सत्तामें अनेक युक्तियां हैं जो कि आगे अनुभवमें आती हैं, अतः जीव और कर्मकी सत्तामें प्रवेश प्रमाण भी है ।



हैं इसी लिये उन दोनोंका मिश्रण द्वयणुक कहलाता है । परन्तु मूर्तिराले कर्मसे अमूर्त-  
आत्माका बन्ध कभी नहीं हो सका !

उत्तर—

मैवं यतः स्वतः सिद्धः स्वभावोत्कर्षगोचरः ।

तस्मादहंति नाक्षेपं चेत्परीक्षां च मोहंति ॥ ५३ ॥

अर्थ—कर्मका जीवात्माके साथ बन्ध नहीं हो सका है ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं है । क्योंकि जीव-कर्मका बन्ध अनादिमें स्वयं सिद्ध है यह एक स्वाभाविक बात है, और स्वभाव किसीका कैसा ही क्यों न हो, उसमें किसी प्रकारकी शङ्का नहीं हो सकती । जीव कर्मका बन्ध अनादिकालसे हो रहा है यह अशुद्ध जीवात्माका स्वभाव ही है और कर्मका भी यह स्वभाव है कि यह अशुद्ध जीवात्मामें संयुक्त हो जाता है तथा जीवही अशुद्धता अनादि कालमें है, इसलिये इस स्वाभाविक विषयमें आशंका करना व्यर्थ है । यदि कोई इस बातकी ( जीव-कर्मका बन्ध कैसे हुआ ) परीक्षा ही करना चाहे तो उस अनादि-कालीन बंधन्य स्वरूपकी परीक्षा भी हो सकती है ।

स्वभावश्च उदाहरण -

अग्नेरौष्ण्यं यथा लक्ष्म न केनाप्यर्जितं हि तन् ।

एवं विद्यः स्वभावाद्वा न चेत्स्वरजं स्मृष्टयनाम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—जिम प्रकार अग्निका उष्ण उत्पन्न है । वह किसीने वहीमें लाइन नहीं रक्खा है । इस प्रकारका अग्निका स्वभाव ही है कि वह गर्म रहती है । यदि कोई यह शंका करे कि अग्नि क्यों गर्म है ? तो इसका उत्तर यही हो सकता है कि अग्निका स्वभाव ही ऐसा है । “ऐसा स्वभाव क्यों है” यदि ऐसी शङ्का उठाई जाय तो यही कहना पड़ेगा कि नहीं मानते हो तो एकदम देखो, स्वयं यन्त्रमें हाथ मगने लगता है इस लिये अग्नि गर्म है । यह निर्गुण अग्निका स्वभाव ही है ।

उदाहरण—

सगुणानादिः स्वतो बन्धो जीवपुद्गलकर्मणोः ।

पुनः केन मूलः कुत्र प्रभोयं ध्योमपुष्पवत् ॥ ५५ ॥

अर्थ—जिम प्रकार अग्निमें स्वयं सिद्ध उत्पन्न है, उसी प्रकार जीव और पुनः कर्मका भी अनादिमें स्वयं सिद्ध बन्ध हो रहा है । जिम प्रकार अग्निमें उत्पन्न होनेमें किसी प्रकारकी शंका नहीं हो सकती है उसी प्रकार जीव और कर्मके बंधने में किसी प्रकारकी शंका नहीं हो सकती है । फिर यह कब कहने लगा ! किसे किता ? कब किता ? अग्नि



प्रश्न आकाशके पुष्पकी तरह सर्वथा निष्फल है । जिस प्रकार आकाशके पुष्प नहीं उठते उसी प्रकार यह प्रश्न भी नहीं उठता ।

**चेद् विभुत्सास्तिचित्ते ते स्यात्तथा वान्यथेति वा ।**

**स्वानुभूतिसनाथेन प्रत्यक्षेण विमृद्यताम् ॥ ५३ ॥**

अर्थ—कर्मोंका जीवके साथ क्या है अथवा नहीं है ? है तो किस प्रकार है ? इत्यादि जाननेकी यदि तुम्हारे हृदयमें आकांक्षा है तो स्वानुभूति प्रत्यक्षसे विचार लो ।

भावार्थ—जिस समय आत्मामें स्वानुभव होने लगेगा, उस समय इन बातोंका स्वयं परिज्ञान हो जायगा ।

अमूर्त आत्माका मूर्त पुद्गलके साथ किस प्रकार सम्बन्ध होता है इसीका खुलासा किया जाना है—

**अस्त्यमूर्तं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च वस्तुतः ।**

**मद्यादिना समूर्तेन स्यात्तत्पाकानुसारितत् ॥ ५७ ॥**

अर्थ—वास्तवमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान-दोनों ही ज्ञान अमूर्त हैं, परन्तु मूर्त मद्य आदि पदार्थोंके योगसे उन ज्ञानोंका परिणमन बदल जाता है ।

भावार्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ही आत्माके ज्ञान गुणकी पर्यायरूप हैं । आत्मा अमूर्त है इसलिये ये दोनों भी अमूर्त ही हैं, परन्तु जब कोई आदमी मदिरा भोग आदि मादक पदार्थोंका पान कर लेता है तो उस आदमीका ज्ञान गुण नष्ट हो जाता है, मदिरापान करनेवाला मनुष्य बेहोश हो जाता है । यह बेहोशी उमी मूर्त मदिराके निमित्तसे होती है । इस कथनसे आत्माका मूर्त कर्मसे किस तरह बंध हो जाता है ? इस प्रश्नका अच्छी निराकरण हो जाता है ।

उसीका स्पष्टार्थ—

**नासिद्धं तत्तथायोगात् यथा दृष्टोपलब्धितः ।**

**विना मद्यादिना यस्मात् तद्विशिष्टं न तद्वद्यम् ॥ ५८ ॥**

अर्थ—मदिराके निमित्तसे ज्ञान मंद हो जाता है यह बात अमिद्ध नहीं है कि प्रत्यक्ष सिद्ध है । क्योंकि मदिरा आदिके विना मतिज्ञान, श्रुतज्ञान मूर्छित नहीं होते ।

भावार्थ—विना मदिराके ज्ञान निर्मल रहना है और मद्य पीनेसे मूर्छित हो जाना इसलिये अमूर्त ज्ञानपर मूर्त मदिराका पृग अमर पड़ना है ।

वास्तवमें ज्ञान अमूर्त है—

**अणि चोपचारतो मूर्तं तृप्तं ज्ञानव्यं हि यत् ।**

**न तत्तत्त्वाद्यथा ज्ञानं वस्तुमीशोऽनतिक्रमात् ॥ ५९ ॥**

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कथंचिन् मूर्त भी हैं, परन्तु उक्त दोनों ज्ञानोंमें

ना उपचारसे है, वास्तवमें नहीं है। मत्तदृष्टिसे देना जाय तो ज्ञान अमूर्त ही है और अमूर्त ज्ञान मूर्त कभी नहीं हो सका है क्योंकि वस्तुकी सीमायुक्त उच्छेदन कभी नहीं हो सका है। जो मूर्त है वह सदा मूर्त ही रहता है और जो अमूर्त है वह सदा अमूर्त ही रहता है। इसलिये मतिज्ञान क्षुद्रज्ञान आत्माके गुण हैं वे वास्तवमें अमूर्त ही हैं वे सब उपचारसे मूर्त कहलाते हैं।

ज्ञान मूर्त भी है—

नासिद्धोपचारोऽयं मूर्त गणयन्मोषि च ।

यैषिज्यादस्तुगन्तीनां स्यनः स्वस्यापराधनः ॥ ४० ॥

अर्थ—मतिज्ञान, क्षुद्रज्ञानको वास्तवमें अमूर्त कहा गया है और उपचारसे मूर्त कहा गया है, उस उपचारको कुछ न समझ कर या अविद्व गमय कर जो कोई उस ज्ञानको रूपा अमूर्त ही समझने लगे उनके लिये कहा जाता है कि जिस उपचारसे उस ज्ञानको रूपा कहा गया है वह उपचार भी अविद्व नहीं है किन्तु विद्व ही है। दूसरी गमयें यह भी कहा जा सका है कि वास्तवमें भी उस ज्ञान मूर्त है। यहाँ पर कोई शंका बरी कि वास्तवमें मूर्त पदार्थ मूर्त कैसे हो गया ? इसके लिये आचार्य उत्तर देते हैं कि वास्तुओंकी दृष्टिवा सेविष है किसी क्षांतिका केसा ही परिणामन होना है और किसीका बैसा ही। आकाशका तान गुण अमूर्त है वह मूर्त कैसे हो गया और वास्तुक्षान्तिका ऐसा विविचिजन कदों हुआ ? समें किसीका दोष नहीं है, स्वयं आत्मानं अपना अपराध विद्या है जिससे उसे मूर्त बनना है।

आचार्य—“ गुण्यभावे सति प्रयोजने निमित्तं उपचारः । इत्यनेन ” जहाँ पर गुण्यार्थ न हो परन्तु किसी प्रयोजका प्रयोजन उससे निमित्त होना हो अथवा वह किसी वस्तुसे निमित्त रहता हो जो ऐसे स्थल पर उपचारसे उसकी प्रतीति स्वीकार की जाती है। जैसे किसी बाल्यमें तैमल्य गुण देना वह उसे अग्नि कह देने है वास्तवमें वह अग्नि नहीं है क्योंकि समें उष्णता आदि गुण नहीं है तथापि तैमल्य गुणसे प्रयोजनसे उसे अग्नि कहने है इस अर्थ पर अग्निवा उपचार बाल्यमें गर्वदा स्पर्श नहीं है किन्तु किसी प्रयोजन के लिये किया गया है। इसी प्रकार कहीं पर निमित्त का उपचार होता है। इससे जो मूर्तत्व, उपचार किया गया है वह हमें कि विदित्थो है। दूसरे—किसी आकाशके साद अवस्था बाल्यमें सति दृष्टि सादृश्य होनेसे आकाशका विचार ही बैसा होवे कहा है, इसलिये बाल्यका उपचार कि आकाश मूर्त है। मूर्तत्वसे यह हेतु यह भी है कि आकाशके अपराध निमित्त प्रयोजन दे दिया है।

जीवका परिणमन—

अप्यस्त्यनादिसिद्धस्य सतः स्वाभाविकी क्रिया ।

वैभाविकी क्रिया चास्ति पारिणामिकशक्तिः ॥ ६१ ॥

अर्थ—अनादि सिद्ध सत्ता रखनेवाले इस जीवात्माके दो प्रकारकी क्रिया होती है। एक स्वाभाविकी क्रिया और दूसरी वैभाविकी क्रिया। यह दोनों प्रकारकी क्रिया शक्तियोंके परिणमनशील होनेसे होती है।

भावार्थ—सम्पूर्ण शक्तियां परिणमनशील हैं, एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थाके धारण करती रहती हैं। परिणमनके कारण ही जीवात्मामें स्वभाव परिणमन और विभाव परिणमन—दोनों प्रकारका परिणमन होना है।

वैभाविकी शक्ति आत्माका गुण है—

न परं स्यात्परायत्ता सतो वैभाविकी क्रिया ।

यस्मात्सतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्यैर्न शक्यते ॥ ६२ ॥

अर्थ—यदि कोई वैभाविक शक्तिको पराधीन ही समझे, तो उसके लिये आचार्य कहते हैं कि वैभाविक शक्ति आत्माका ही निज गुण है क्योंकि जिसमें जो गुण नहीं है वह दूसरोंसे नहीं आ सकता।

भावार्थ—आत्मामें अन्य गुणोंकी तरह एक वैभाविक गुण भी है उमी वैभाविक गुणका विभाव परिणमन और स्वभाव परिणमन होता है। यदि वैभाविक गुण आत्माका निज गुण न होता तो आत्मामें विभाव-स्वभावरूप परिणमन भी नहीं हो सकता।

शङ्काकार—

ननु वैभाविकभावाख्या क्रिया चेत्पारिणामिकी ।

स्वाभाविक्रियाः क्रियायाश्च कः शेषो हि विशेषभाक् ॥ ६३ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि यदि वैभाविक नामकी शक्ति ही परिणमन शील है तो उमीका विभाव और स्वभाव परिणमन होगा। फिर स्वभावही शक्तिमें क्या विशेषता बाकी रहेगी ?

हिर भी शङ्काकार—

अपि चार्थ परिच्छेदि ज्ञानं स्वं लक्षणं चित्तः ।

ज्ञेयाकारक्रिया चास्य कृतो वैभाविकी क्रिया ॥ ६४ ॥

अर्थ—शङ्काकारका कहना है कि वदार्थसे जाननेवाला जो ज्ञान है वह हम जीवात्माका निज लक्षण है। उस ज्ञानमें जो ज्ञेयके आकार क्रिया होती है वह क्रिया वैभाविकी कैसे बड़ी या मनी है ?

भाषार्थ—इस श्लोकमें शंकाकारने वैभाविक शक्तिकी अनुपयोगी सम्प्रसार उदा ही दिया है । वह कहता है कि वैभाविक उसे ही कहते हैं कि जो पर निमित्तमें हो, ज्ञान भी ऐसे प्रमाणों निमित्तमें उस श्लोकके आकारको धारण करता है, परन्तु शंकाकारकी धारण करनेवाला ज्ञान वैभाविक विधी प्रमाण नहीं कहा जा सकता है ।

इसी शंकाको जीवने कोषने यह करने दे—

मय्यावस्था घटाकृत्या घटजानं न तदुपटः ।

मय्याकृत्या लयाज्ञानं ज्ञानं ज्ञानं न तन्मयम् ॥ ६५ ॥

अर्थ—शंकाकार कहता है कि जिस समय श्लोकके निमित्तमें ज्ञान शंकाकार हो जाता है, उस समय ज्ञान ज्ञान ही रहता है, वह श्लोक नहीं हो जाता । ह्युक्तके लिये मय्याज्ञानको ले लीजिये । जिस समय ज्ञान मय्याकार होता है उस समय मय्याज्ञान ज्ञान ही तो है, वह वह ज्ञान पर नहीं बन जाता । इसी प्रकार मदिराके निमित्तमें जो ज्ञान मय्याकार अर्थात् मलिन तथा मूर्छित हो जाता है, वह भी ज्ञान ही है, ज्ञान मदिरामय (विरागी) कभी नहीं हो सकता है ।

भाषार्थ—शंकाकारकी दृष्टिमें वैभाविक परिणामन कोई भीम नहीं है । वह कहता है कि जिस समय मदिराके निमित्तमें ज्ञान मलिन रूपमें आता है उस समय वह ज्ञान ही तो है, चाहे वह किसी रूपमें क्यों न हो । शंकाकारने श्लोकके निमित्तसे बदलनेवाले ज्ञानमें कुछ भी अन्तर नहीं समझा है इस लिये उसके कथनानुसार स्वाभाविक शक्ति ही माननी चाहिये । वैभाविक शक्तिकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

उत्तर—

नैवे यतो विशेषोऽस्ति यज्जायज्जायमोधयोः ।

मोहकर्मोऽतो यजः स्यादयजस्तदस्थयात् ॥ ६६ ॥

अर्थ—जो पहले शंकाकारकी तरफसे यह कहा गया था कि मदिराके निमित्तसे बगला हुआ ज्ञान भी ज्ञान ही है और शंकाकार हंनिकाना भी ज्ञान ही है, ज्ञानपना दोनोंमें समान है । इसके उत्तरमें आचार्य कहने हैं कि यह बात नहीं है क्योंकि बिना किसी अन्य निमित्तके (केवल श्लोकके निमित्तसे) शंकाकार होनेवाले ज्ञानमें और मदिराके निमित्तसे बदलने वाले ज्ञानमें बहुत अन्तर है । मदिराके निमित्तसे जो ज्ञान बदला है वह ज्ञान मलिन है, उस ज्ञानमें यथार्थता नहीं है । यथार्थता उसी ज्ञानमें है जो कि वस्तुको यथार्थ रीतिसे ग्रहण करता है । जो ज्ञान केवल श्लोकके निमित्तसे शंकाकार होता है वह वस्तुको यथार्थ ग्रहण करता है इसलिए दोनों ज्ञानोंमें बड़ा अन्तर है ।

इसी प्रकार जीवोंका ज्ञान दो प्रकारका है, एक बद्ध ज्ञान दूसरा अवद्ध ज्ञान। बद्ध ज्ञान मोहनीय कर्मसे ढका हुआ है अर्थात् जिसके साथ मोहनीय कर्म लगा हुआ है उसे बद्ध अर्थात् ढका हुआ ज्ञान कहते हैं और जो ज्ञान मोहनीय कर्मसे रहित हो चुका है वह ज्ञान अवद्ध कहलाता है। बद्ध और अवद्ध ज्ञानमें बड़ा अन्तर है।

उसी अन्तरको नीचे दिखलाते हैं—

**मोहकर्मवृत्तं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत् ।**

**इष्टानिष्टार्थसंयोगात् स्वयं रज्यद्विषयथा ॥ ६७ ॥**

अर्थ—मोहनीय कर्मसे जो ज्ञान आवृत हो रहा है वह जिस २ पदार्थको जानता है उसी २ पदार्थमें इष्ट और अनिष्ट बुद्धि होनेसे स्वयं रागद्वेष करता है।

भावार्थ—यद्यपि प्रत्येक पदार्थको क्रम २ से जानना ऐसी योग्यता ज्ञानमें ज्ञानीयके निमित्तसे होती है, परन्तु इष्टरूप या अनिष्टरूप जैसे पदार्थ मिलते हैं, उन पदार्थों रागद्वेष रूप बुद्धिको होना यह बात ज्ञानमें मोहनीय कर्मके निमित्तसे आती है।

अवद्ध ज्ञानका स्वरूप—

**तत्र ज्ञानमवद्धं स्यान्मोहकर्मनिर्गं यथा ।**

**क्षायिकं शुद्धमेवैतल्लोकालोकावभासकम् ॥ ६८ ॥**

अर्थ—जिस ज्ञानके साथ मोहनीय कर्मका सम्बन्ध नहीं रहा है वह अवद्ध कहलाता है। ऐसा ज्ञान परम शुद्ध क्षायिक ज्ञान है वही ज्ञान लोक अलोकका जाननेवाला

भावार्थ—चार धातियाँ कर्मोंका नाश करनेवाले तरहवें गुणस्थानों में भावनाके जो जगत्का प्रकाश करनेवाला केवलज्ञान है वही अवद्ध ज्ञान है।

क्षायिक ज्ञान अवद्ध क्यों है वो बताते हैं—

**नासिद्धं सिद्धदृष्टान्तात् एतद्वदृष्टोपलब्धिनः ।**

**शीनोष्णानुभवः स्वस्मिन् न स्यात्तज्ज्ञे परात्मनि ॥ ६९ ॥**

अर्थ—क्षायिक ज्ञान अवद्ध है, उसमें दृष्ट अनिष्ट रूप बुद्धि नहीं होती है वह अमिद्ध नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष मिद्ध है। हम शीत और गर्मीका अनुभव करते हैं, हमें ठण्ड भी लगती है और गर्मी भी लगती है, परन्तु दूसरा अनुभव जो कि हमारे ज्ञानका परिज्ञान करना है वह शीत उष्णका अनुभव नहीं करना है।

भावार्थ—हम किसी कष्टको भोग रहे हों तो दूसरा अनुभव वह तो जानता है कि कष्ट भोग रहा है परन्तु उसे कष्ट नहीं है। कष्टका होना और कष्टका ज्ञान इन दोनोंमें बहुत अन्तर है। मित्रोंका ज्ञान साक्षात्कृत वस्तुओंको तथा वस्तुओंको



अर्थ—आत्माके गुणोंकी च्युति होनेरूप बन्धमें केवल वैभाविकी शक्ति ही कारण नहीं है अथवा उसका केवल उपयोग भी कारण नहीं है किन्तु पराधीनता ही प्रयोजक है ।

भावार्थ—यदि बन्धका कारण वैभाविक शक्ति ही हो तो वह शक्ति निर्य है—सदा आत्मामें रहती है इस लिये आत्मामें सदा बन्ध ही होता रहेगा, आत्मा मुक्त कभी नहीं होगी । अथवा मुक्त आत्मा भी बंध करने लगेगा इस लिये केवल शक्ति ही बन्धका कारण नहीं है । तथा केवल उपयोग भी नहीं है । उपयोग नाम शक्तिरूप परिणामका है । वह उपयोग शक्तिकी स्वभाव अवस्थामें भी होता है और विभाव अवस्थामें भी होता है । यदि शक्तिका शुद्ध उपयोग भी बन्धका कारण हो तो भी वही दोष आता है जो कि ऊपर कहा जा चुका है । इस लिये पुद्गलके निमित्तसे जो वैभाविक शक्तिका विभाव रूप उपयोग है वही बन्धका कारण है । इस कथनसे बन्ध—कारणमें पुद्गलकी भी मुख्यता ली गई है । इसी बातको और भी स्पष्ट करते हैं ।

**अस्ति वैभाविकी शक्तिस्तत्तद्द्रव्योपजीविनी ।**

**सा चेद्वन्धस्य हेतुः स्यादर्थान्मुक्तैरसंभवः ॥ ७४ ॥**

अर्थ—नीच और पुद्गलका वैभाविक उपजीवी गुण है यदि वही बन्धका कारण हो तो नीचकी कभी मोक्ष ही नहीं हो सकती है ।

भावार्थ—जो गुण भाव रूप होते हैं उन्हींको उपजीवी गुण कहते हैं । ज्ञान, गुण, दर्शन, वीर्य, अम्लित, वस्तुत्व आदि गुण सभी उपजीवी गुण हैं ये गुण अपनी सत्ता रखते हैं । इसी प्रकारका गुण वैभाविक भी है । जो गुण भावरूप न हों केवल कर्मोंके निमित्तसे होनेवाली अवस्थाका अभाव ही जाननेमें प्रयत्न हुए हों उन्हें प्रतिजीवीगुण कहते हैं । जैसे मोक्षके निमित्तसे आत्मा उच्च नीच कहाना था । मोक्ष कर्मके दूर हो जाननेमें अब उच्च नीच नहीं कहाना इसीका नाम अगुण्य है । वास्तवमें यह अगुण्य गुण नहीं है किन्तु गुण और कृत्यवैधे अभावको ही अगुण्य कहा गया है । यह भी आत्माका अभिप्राय है । वैभाविक आत्माका मूल्य गुण है इसलिये यह बन्धका हेतु नहीं हो सकता ।

उपयोग भी बन्धका कारण नही है—

**उपयोगः स्यादमिद्व्यभिक्तः ज्ञानोः स्वार्थाधिकारिणी ।**

**सैव बन्धस्य हेतुर्धनं सर्वो बन्धः समसंगनाम ॥ ७५ ॥**

अर्थ—ज्ञानकी स्वयंप्रकाश अवस्थाका नाम भी उपयोग है । यदि वही उपयोग बन्धका हेतु हो तो सदा बंध विनिवृत्त हो जायगा ।

● यह इस दृष्टि से कहा जा रहा है कि ज्ञान स्वयंप्रकाश वह बंध है जिससे वह ज्ञान ही रहने देता है वह अगुण्य उपजीवी गुण नहीं है ।

भावार्थ—बैभाषिक शक्तिका अपने स्वरूपको लिये हुए प्रगटपना शुद्ध अवस्थामें होता है । यह उक्त शक्तिका स्वभाव परिणमन कहलाता है । यह स्वभाव परिणमन बन्धका कारण नहीं है किन्तु दूसरा ही है । उसे ही बतलाते हैं ।

तस्मात्तद्धेतुसामग्री सान्निध्ये तद्गुणाकृतिः ।

स्वाकारस्य परायत्ता तथा पक्षोऽपराधवान् ॥ ७६ ॥

अर्थ—इसलिये बन्धका कारण कदापि मिलनेपर यह स्वयं अपराधी आत्मा परतंत्र होता हुआ बंध जाना है उसी समय आत्माके निज गुणोंका स्वरूप अपनी अवस्थाको छोड़कर विभाव ( विकार ) अवस्थामें आ जाना है ।

आत्माकी परधीनता भी अतिद्व नहीं है—

नासिद्धं तत्परायत्तं सिद्धसंदष्टितो यथा ।

श्रुतिमुष्णमिवात्मानं कुर्वन्मात्माप्यनात्मवित् ॥ ७७ ॥

अर्थ—मेवारी आत्मा कर्मोंके परतन्त्र है यह बात भी असिद्ध नहीं है । प्रसिद्ध दृष्टान्तसे यह बात सिद्ध है । जिस समय यह आत्मा ठण्ड या गरमीका अनुभव करने लगता है उस समय यह मूर्त आत्मा अपनी आत्माको ही ठण्ड या गरम समझने लगता है । यह मूर्तता इसकी कर्मोंकी परतन्त्रतामें ही होती है ।

शीत और उष्ण क्या है ?

तथाथा मूर्तद्रव्यस्य श्रुतिशोष्णो गुणोत्थितः ।

आत्मनश्चाप्यमूर्तस्य श्रुतिशोष्णानुभवः कश्चित् ॥ ७८ ॥

अर्थ—शीत और उष्ण दोनों मूर्तद्रव्य ( पृष्ठद्रव्य ) के + गुण हैं । इन गुणोंका × वहाँ ९ अमूर्त आत्मामें भी अनुभव होता है ।

भावार्थ—आत्मा यद्यपि अमूर्त है उसके न शीत है और न उष्ण है तथापि कर्मोंकी परतन्त्रतामें यह आत्मा अपने आपको ही ठण्डा और गरम मानता है ।

संवाचन—

ननु वैभाषिकी शक्तिस्तथा स्यादन्ययोगिनः ।

परयोगादिना किं न स्यादास्ति तथान्यथा ॥ ७९ ॥

अर्थ—क्या वैभाषिक शक्तिका विभाव रूप परिणमन दूसरेके निमित्तमें ही होता है ? दूसरेके बिना निमित्तके नहीं ही होता ? अथवा वैभाषिक शक्ति बाध्यकमें है या नहीं है ?

+ स्वयंप्रकाशकी पराधीनता । × सेवारी आत्माके ।









नहीं बिगाड़ सकता है । सभी पदार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, मायामें अपने १ स्वरूपमें ही स्थित हैं, यदि इन चारोंमेंसे किसी एककी अवस्थामें भी पदार्थ दूसरे रूपमें आता तो वह अपनी सीमासे बाहर हो जाय । कोई भी पदार्थ क्यों न हो अपनी सीमाका उत्पन्न करी किसी अंशमें नहीं कर सकता । जब ऐसा नियम है तो क्या कारण है कि जीव और पुद्गलमें व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध न होनेपर भी मूर्तिमान् पुद्गल द्रव्य जीवके वैभाषिक भावोंमें कारण हो जाता है । यदि बिना किसी प्रकारके सम्बन्धके भी पुद्गलकर्म जीवके वैभाषिक भावमें कारण हो जाता है तो उसी व्याप्य रहनेवाला वैभाषिक अपर द्रव्यभी जीवके विकारका कारण क्यों न माना जाय ? इसके उत्तरमें यदि यह कहा जाय कि सत्तिर्ग-सम्बन्ध विना ही होनेसे पुद्गलद्रव्य ही जीवके विभावका कारण होता है, वैभाषिक नहीं होने, तो भी यह दोष आता है कि उसी स्थानपर रहनेवाला सत्तिर्ग सम्बन्ध विना ही विगमोपपन्न पुद्गलद्रव्य जीवके विकारका कारण क्यों नहीं हो जाता है ?

उत्तर—

सत्ये चक्रमयके स्याद्विद्वत्त्वे चाप्य मूर्तिमत् ।

स्वीयसम्बन्धिभिर्वचमयके परबन्धिभिः ॥ १०० ॥

यद्वाचकस्ययोरस्ति विशेषः पारमार्थिकः ।

तपोर्जात्यन्तरस्येपि हेतुमत्तेनुशक्तितः ॥ १०१ ॥

अर्थ—भाषण जो वाक्य उदाई है सो टीक, परन्तु बाव यह है कि सभी जीव पुद्गल बढ़ तथा अवद्ध नहीं होते किन्तु कोई बढ़ होते हैं और कोई अवद्ध होते हैं । संसारी जीव पुद्गल कर्मोंसे बंधे हुए हैं, मुक्त नहीं । इसी प्रकार पुद्गल द्रव्यमें भी लोकावर्णीय आदि कर्म परिणत पुद्गल द्रव्य ही जीवमें बंधे हुए हैं, अन्य ( जैसे प्रकारकी कर्मोंमें से छोड़कर ) पुद्गल नहीं । और भी जो बन्ध योग्य जीव व पुद्गल द्रव्य हैं, उनमें भी कर्म जीव संसारकी समस्त कर्मवर्णाओंमें एक भाग नहीं बंध जाये, और न समस्त कर्मवर्णाओं ही प्रत्येक जीवके भाग प्रतिममय बंध जानी हैं, किन्तु स्मि ममय स्मि जीवके अर्थ बंधाव होती है उसीके योग्य हमोंमें जीव बंध जाता है अन्य प्रकारकी बंधावसे बंधने योग्य हमोंके भाग नहीं बंधता । इसीसे कोई पुद्गलद्रव्य जीवमें विचार करता है कोई नहीं करता । ऐसा भी नहीं है कि मायामयकी तरह पुद्गल (जीवात्मा) को सर्वत्र दृष्ट करके स्मि ममद ही बन्धने केवल प्रहरी (कर्म)वा ही चरम दृष्टि जाय तथा बद्धोप ही लोकावर्णीय वात्सल्यमें ही अन्तर ही न बाध जाय । और ऐसा भी नहीं है कि किसी द्रव्यमें दूसरे द्रव्यके निमित्तसे विचार सर्वत्र हो ही नहीं करता । ऐसा समझने के लिये कि जिस अतिरिक्त साक्ष्य ही उद्भास है । और जिसके अतिरिक्त साक्ष्य अत्यन्त ही बंधने

सिद्धि नहीं हो सकती है । इस लिये बद्ध जीव और मुक्त जीवमें वास्तविक भेद है । तथा जीव और पुद्गलमें विजातीयपना होने पर भी परस्पर इस प्रकारका निमित्त नैमित्तिक भाव है जिससे कि संपारी जीवोंकी कषायान्न निमित्त पाकर पुद्गल कर्म जीवोंके साथ बन्धको प्राप्त हो जाना है, और उन बंध हुए कर्मोंके परिणाम कालमें जीवोंमें कषायान्न रूप विकार उत्पन्न हो जाने हैं ।

बद्ध और मुक्तका स्वरूप—

**बद्धः स्याद्बद्धयोर्भावः स्याद्व्यक्तोऽप्यव्यक्तयोः ।**

**सातुकूलतया बन्धो न बन्धः प्रतिकूलयोः ॥ १०२ ॥**

अर्थ—कैसे हुए दो पदार्थोंकी अवस्था विशेषको बद्ध कहते हैं । इसी प्रकार नहीं बंधे हुए दो पदार्थोंकी अवस्थाको अबद्ध कहते हैं । बन्ध वहीं होता है जहां पर कि अनुकूलता होती है । प्रतिकूल पदार्थोंका बन्ध नहीं होता है ।

भावार्थ—जहां अनुकूल योग्य सामग्री जुट जाती है वहीं पर बन्ध होता है, जहां योग्य सामग्री नहीं मिलती वहां बन्धकी योग्यता भी नहीं है ।

बन्ध-भेद—

**अर्धतस्त्रिविधो बन्धो धाच्यं तद्व्यक्षणेऽयम् ।**

**प्रत्येकं तद्व्यक्षयं यावन्तृतीयस्तृच्यतेऽधुना ॥ १०३ ॥**

अर्थ—वास्तवमें बन्ध तीन प्रकारका होता है इसी लिये उन तीनोंके जुड़े जुड़े तीन लक्षण भी हैं । तीनों प्रकारोंके बन्धोंमें दो बंधोंका स्वरूप तो एक एक स्वतन्त्र है । परन्तु तीसरे बन्धका स्वरूप जो कि दो के मिलनेसे होता है कहा जाता है—

भावार्थ—पहले कहा जा चुका है कि भाव बन्ध, द्रव्य बन्ध और उभय बन्ध, इस प्रकार बन्धके तीन भेद हैं । उनमें भाव बन्ध और द्रव्य बन्ध में तो मोटी रीतिमें एक एक ही पदार्थ पड़ता है । क्योंकि राग द्वेषादि भावही भाव बन्ध कहलाते हैं इन भावोंमें आत्मा की ही मुख्यता रहती है । कर्मके निमित्तसे आत्माके चारित्र्य गुणके विकारको राग द्वेष कहते हैं । द्रव्य बन्धमें केवल पुद्गल ही पड़ता है । इस लिये ये दोनों बन्ध तो प्रत्येक स्वतन्त्र हैं परन्तु तीसरा बन्ध जो उभय बन्ध है वह आत्मा और पुद्गल इन दो द्रव्योंके सम्बन्धमें होता है । इस लिये उसीका स्वरूप कहा जाता है ।

**जीवकर्मोभयोर्यन्धः स्यान्मिथः साभिहापुः ।**

**जीवः कर्मनिपटो हि जीवयत् हि कर्म तत् ॥ १०४ ॥**

अर्थ—वास्तवमें एक दूसरेकी अपेक्षासे लिये हुए जो भाव और कर्म दोनोंका सम्बन्ध है वही उभयबन्ध कहलाता है । जीव तो कर्मोंमें बँधा हुआ है और कर्म जीवोंमें बँधे हुए हैं ।

बन्धके कारणसे विचार—

तद्गुणाकारसंक्रान्तिर्भायो वैभाविकश्चिन्तः ।

तन्निमित्तं तं तत्कर्म तथा सामर्थ्यकारणम् ॥ १०५ ॥

अर्थ—नीचेके गुणोंका अपने स्वरूपसे बंटलकर दूसरे रूपमें आ जाना, इसीका नाम वैभाविक भाव है । यही नीचेका भाव कर्मके बन करनेमें कारण है, और वैभाविक भावके निमित्तमे होनेवाला यही कर्म उसी वैभाविक भावके पैदा करनेकी सामर्थ्यका कारण है ।

भावार्थ—इसके निमित्तमे होनेवाली रागद्वेष रूप आत्माकी अभिव्यक्ति नाम ही वैभाविक है । वही अंशुद्वेषों पुद्गलोंको कर्मरूप बनानेमें कारण है, और वह कर्म भी उस वैभाविक भावकी उत्पत्तिका कारण है इसलिये इन दोनोंमें परस्पर कारणता है । इसी बातको नीचे स्पष्ट करते हैं—

अधोपेयं यत्तु कार्यं तत् कर्मणस्तस्य कारणम् ।

एको भाषा कर्मको पन्धोपे उच्छ्रजः स्मृतः ॥ १०६ ॥

अर्थ—उपयुक्त कथनका यही आशय है कि जिस कर्मका यह वैभाविक भाव कार्य है, उसी कर्मका कारण भी है । इसलिये एक तो भाव और एक कर्म इन दोनोंमें ही उभय बन होता है ।

भावार्थ—यहाँपर यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि एक ही कर्मका वैभाविक भाव कार्य है और उसी एक कर्मका कारण भी है । उसीका कार्य और उसीका कारण यह बात एक अनवगती प्रतीत होती है । परन्तु सत्तादीयताको ध्यानमें रखनेमें यह शङ्का मिटती ही जाती है । वैभाविक भावको जिस कर्ममें पैदा किया है उसी कर्मका कारण वैभाविक भाव नहीं है किन्तु मर्तव्य कर्मके लिये वह कारण है । अर्थात् वैभाविक भावमें मर्तव्य कर्म पैदा है और उन कर्मोंमें मर्तव्य २ भाव पैदा होते हैं । मत्तादीयता अस्मान्मे ही " उसी कर्मका कारण उसीका कार्य " ऐसा कहा गया है ।

यदि कोई दूसरे मत्तादीय कर्मों भी कर्मके कर्मों अस्मान्मे एक ही कर्म स्मृतकर शङ्का उठावे कि कर्मही स्वयं कार्य और कर्मही स्वयं कारण कैसे हो सता है । इस शङ्काका उत्तर भी एक ही पदार्थमें कार्य कारण सब दिखने लगे रहना हमें स्पष्ट करते हैं—

तथाऽऽदर्शो यथा बह्वः स्वरूपं संस्पृश्यतः ।

स्याकाराकारसंक्रान्तिर्कार्य हेतुः स्वयं च तत् ॥ १०७ ॥

अर्थ—जिसे प्रकाश देखनेमें कुछ देखनेमें बह्वः प्रत्येक एक एक देखने में रहता है । उस

अपने प्रतिबिम्बमें कारण स्वयं चशु है, प्रतिबिम्ब कार्य है । परन्तु वही चशु  
धारण करनेवाला चशुका प्रतिबिम्ब अपने दिग्दानमें कारण भी है ।

भावार्थ—जब चशुसे दर्शन देनेमें हैं तब चशुका आकार दर्शनमें रहता है  
तो वह आकार चशुका कार्य हुआ, क्योंकि चशुमें चशुका हुआ है । परन्तु  
जब चशुसे देखने हैं तब अपने दिग्दानमें वह आकार कारण भी होता है ।  
पदार्थमें कार्य कारण भावभी उत्पन्न दृष्टान्त द्वारा सुगठित हो जाता है ।

अपि चाचेतनं मूर्तं पौद्गल्यं कर्म तथा ।

\* ..... ॥ १०८ ॥

जीवभावविकारस्य हेतुः स्याद्द्रव्य कर्म तत् ।

तद्हेतुस्तद्विकारश्च यथा प्रत्युपकारकः ॥ १०९ ॥

अर्थ—अचेतन, पौद्गलिक, मूर्त द्रव्य कर्म तो जीवके भावोंके विकारका  
और उस द्रव्य कर्मका कारण वह वैभाविक भाव है । यह परस्पर कारणता  
कि मानों एक दूसरेके उपकारका परस्पर बदला ही चुकाने हों ।

इन दोनोंमें क्यों कारणता हुई ?

विदिकाराकृतिस्तस्य भावो वैभाविकः स्मृतः ।

तन्निमित्तात्पृथग्भूतोप्यर्थः स्यात्तन्निमित्तकः ॥ ११० ॥

अर्थ—जीवकी शुद्ध अवस्थासे बिगड़कर जो विकार अवस्था है वही  
विक भाव है उसी वैभाविक भावके निमित्तसे जीवमें सर्वथा भिन्न भी पृथक् द्रव्य  
भावके लिये निमित्त कारण होता है ।

भावार्थ—यद्यपि पृथक्कार्माण द्रव्य जीवसे सर्वथा भिन्न नई पदार्थ है,  
अशुद्ध भावोंसे वह विचकर कर्मरूप हो जाता है । फिर वही जड़कर्म चेतनके  
इनमें कारण होता है । इसमें परस्परकी निमित्तता ही कारण है ।

ऐसा होनेमें भी उभयबन्ध ही कारण है—

तदि नोभयबन्धाद्वै वहिर्यद्वाश्रिरादपि ।

न हेतवो भवन्त्येकक्षेत्रस्याप्यमद्वयत् ॥ १११ ॥

अर्थ—वह कर्म चेतन-भावोंके बिगाड़नेका कारण हो जाता है इसमें  
ही कारण है । क्योंकि जब तक वह पृथक् द्रव्य कर्मरूप परिणत न होगा तब  
भावोंको विकारी बनानेमें कारण नहीं हो सकता है । यदि बिना कर्मरूप अ  
किये ही पृथक् द्रव्य जीवके विकार भावोंका कारण हो जाय तो जीवके भाव  
विराजितसे न्यो हुए विस्मयोपचय भी कारण हो जायेंगे, परन्तु विस्मयोपचय

\* बूढ़ पुस्तकमें भी इस श्लोकके दो चरण नहीं मिले ।

हैं, किन्तु कर्म ही कारण हैं और कर्म-अवस्था पृथग्की नहीं होती है जब कि वह स्वयं रूपमें परिणत हो जाता है ।

**भावार्थ**—विद्यमोक्षणय उन्हें कहते हैं कि जो पृथक् परमाणु (कार्माण स्वतन्त्र) कर्मरूप तो नहीं हुए हों किन्तु आत्माके आसपास ही कर्मरूप परिणत होनेके लिये समुद्यत हों । ये परमाणुओंकी कथारूप अवस्था नहीं है । जिस समय आत्मा शयनेवादि वस्तुओं में धारण करता है उसी समय अन्य संसारमें भी हुई कार्माण वर्णनायें अवस्था में विचरते संज्ञा धारण करनेवाले परमाणु प्रत्यक्ष आत्माके साथ बंध जाते हैं । बंधनेका ही कर्म संज्ञा हो जाती है । उससे पहले १ कार्माण (कर्म होनेके योग्य) संज्ञा है । ये विचरते आत्मासे बंधे हुए कर्मोंसे भी अव्यक्त गुण हैं और जीव शरीरों में भी अव्यक्त गुणों के लिये कहें तो आत्माके साथ बंधे हुए कर्म परमाणु ही अनन्तानन्त हैं । उन कर्मरूपों मेंसे प्रत्येक परमाणुके साथ अनन्तानन्त सृष्टि परमाणु (विद्यमोक्षणय) लगे हुए हैं ।

अनुदत्ता—

तद्वद्वशाविनाभूतं स्वादशुद्धमव्यक्तमात्मा ।

तद्वद्वशेन यथा हि स्वादशुद्धास्त्वानुदत्ताः ॥ ११२ ॥

**अर्थ**—आत्माकी वदताकी अविनायाविनी अनुदत्ता की उन्नी समय आ जाती है । अनुदत्ताका यही लक्षण है कि स्वयं अद्वैत आत्मा अन्य वदार्थोंके विविक्तमें ही रहती है ।

**भावार्थ**—जिस समय आत्मा कर्मोंसे वद होता है उन्नी समय अनुदत्त भी है । अनुदत्ताके वदता आ ही नहीं सकती है । हमी प्रत्यक्ष विना वदताके अनुदत्त की आ सकती । इत्यर्थे वदता और अनुदत्ता ये दोनों अविनायाविनी हैं । लक्षणे विना ही होवे इसीप्रकार नाम अविनायाव है । यद्यपि आत्मा स्वयं (अपने आप) अद्वैत अव्यक्त है । तथापि अनुदत्ताको धारण करनेमें (वद वदार्थोंके विविक्तमें) वही आत्मा ही दो रूपधारी (द्वैता) बना हुआ है ।

आत्माके द्विरूपता विषय प्रकाशकी रे—

तत्राहमेपि तद्वद्वशेन तद्वद्विषयाप्यौपचारिकम् ।

तत्राह स्वार्थान्वयकल्पलक्षणोपाधि द्वितीयवदम् ॥ ११३ ॥

**अर्थ**—आत्मा अनुदत्त अवस्थामें द्विरूपता धारण करता है अर्थात् उन्में ही प्रकाशका भेद हो जाता है । वह दोनों ही प्रकाशका भेद औपचारिक (उपचारमें) है । उनमें अर्थात् एक अंश तो स्वयं आत्माका ही है, और दूसरा उन्में ही होनेवाला कर्म धारण है ।



भावार्थ—आत्मा और कर्म, इन दोनोंके स्वरूपका जब विकाररूप परिणाम है, दोनों ही जब अपने स्वरूपको छोड़ देते हैं उसीका नाम अशुद्धता है। यह व्यवहार दृष्टिसे है। वास्तव दृष्टिसे आत्मा अमूर्त है। अशुद्धता कर्म और आत्मा दोनों हीके भेदसे होती है, इसलिये अशुद्धतामें दो भाग होने हैं। उन दोनों भागों विचार करें तो एक भाग तो आत्माका है। क्योंकि अशुद्धता आत्माके ही गुणही अवस्था है परन्तु दूसरा भाग कर्मका है। उसी लिये रागद्वेषादि वैभाविक अवस्थाएँ और पुद्गल कर्म दोनोंकी हैं।

शङ्काचार—

ननु चैकं सत्सामान्यात् द्वैतं स्यात्सद्विशेषतः ।

तद्विशेषेपि सोपाधि निरुपाधि कुमोर्थतः ॥ ११४ ॥

अपिचाभिज्ञानमत्रास्ति ज्ञानं यद्वत्सरूपयोः ।

न रूपं न रसो ज्ञानं ज्ञानमात्रमर्थार्थतः ॥ ११५ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि हर एक पदार्थकी दो अवस्थाएँ होती हैं। सामान्य अवस्था, दूसरी विशेष अवस्था। सामान्य रीतिसे पदार्थ एक ही है, और विशेष रीतिसे दो प्रकार है। ऐसा विशेष खुलासा होने पर भी सोपाधि और निरुपाधि भेद के लिये और ऐसा अनुभव भी होता है कि जो ज्ञान रस रूपको जानता है वह ज्ञान वही रूप रूप स्वयं नहीं हो जाना है। वास्तवमें ज्ञान ज्ञान ही है और रूप, रस पुद्गल ही है।

भावार्थ—शङ्काकारका अभिप्राय यह है कि सामान्य और विशेषात्मक उभय पदार्थ हैं। सामान्य दृष्टिसे एक है और विशेष दृष्टिसे उभयमें द्विरूपता है, अर्थात् द्वैतत्व। नयमें पदार्थ सदा एक है और पर्यायस्वी अपेक्षामें वही पदार्थ अनेक रूप है। तब ही मिद्वान्त है तो फिर अशुद्ध-आत्मामें तो द्विरूपता है वह पर निमित्तमें क्यों मानी जायगी उपर जो यह बतला गया है कि एक अंश आत्माका है और दूसरा पुद्गलका है यह स्पष्ट अर्थ है। अशुद्ध आत्माकी तो द्विरूपता है वह आत्माकी ही विशेष अवस्था है। इस लिये आत्मामें मोक्षवि और निष्ठावि, ऐसे दो भेद काना कीज नहीं सकते। हम मानते भी हैं कि रूप रसादिको जाननेवाला ज्ञान उन रूपादि पदार्थोंमें संशय न करनेमें ज्ञानमें किसी प्रकारकी अशुद्धता नहीं आनी है। शङ्काकारका अभिप्राय अशुद्धता कोई चीज नहीं है।

उपर—

नैव यतो विशेषांश्चि सद्विशेषेपि यस्तुतः ।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां बाभ्यां च निवृत्तापनान् ॥ ११६ ॥

अर्थ—शब्दाकारका यह कहना कि ज्ञानमें अज्ञान आती ही नहीं है। अथवा शुद्धता कोई चीज ही नहीं है सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि पदार्थके सामान्य और विशेष में भेद होनेपर भी कुछ और भी विशेषता है। वह विशेषता अन्यत्र, व्यतिरेकके द्वारा मिदनी है। किस प्रकार ! सो नीचे दिनाते हैं—

तथा अन्ययो यथा ज्ञानमज्ञानं परहेतुतः ।

अर्थाच्छीतमशीतं स्याद्वन्हियोगादि धारिवत् ॥ ११७ ॥

अर्थ—“ यन्मत्वे यन्मत्त्वमन्वयः ” जिसके होनेपर जो हो इसीका नाम अन्य है। पदार्थकी निमित्ततामें ज्ञान अज्ञान हो जाता है यह अन्य यहां पर ठीक घटना है। जिस तरह ठण्डा जल अग्निके सम्बन्धमें गरम हो जाता है।

यह बात अविद भी नहीं है—

नासिद्धोसां हि दृष्टान्तो ज्ञानस्याज्ञानतः सतः ।

अस्त्यवस्थान्तरं तस्य यथाजातप्रमाच्यतः ॥ ११८ ॥

अर्थ—यह दृष्टान्त अविद भी नहीं है। जिस समय ज्ञान अज्ञानरूपमें आता है उस समय पदार्थकी यथार्थ प्रविष्टि नहीं हो पानी है किन्तु अवस्थान्तर ही हो जाता है।

व्यतिरेक—

व्यतिरेकोस्त्यात्मविज्ञानं यथास्यं परहेतुतः ।

मिथ्यावस्थाविशिष्टं स्यान्नैक्यं शुद्धमेव सत् ॥ ११९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार ज्ञानमें अन्यत्व घटना है उसी प्रकार व्यतिरेक भी घटना है। व्यतिरेक में कहने हैं कि जिसमें न होने पर जो न हो। जिस प्रकार आत्माका ज्ञान दूसरेके निमित्तसे मिथ्या-अवस्था सहित हो जाता है उसी प्रकार उस परहेतुके बिना शुद्ध ही है। अर्थात् मेरे निमित्तमें ज्ञान अज्ञानरूप, और कर्मके अभावमें ज्ञान शुद्ध ज्ञानरूप रहता है। इसीका नाम अन्यत्व व्यतिरेक है।

भावार्थ—इस अन्यत्व व्यतिरेकमें आत्मामें अशुद्धता पर निमित्तसे होती है यह बात अच्छी तरह बतला दी गई है। जो बात अन्यत्व व्यतिरेकमें मिद होनी है वह अवश्यंभावी अथवा नियमितरूपमें मिद स्वीकार की जाती है। इस लिये आत्माकी अशुद्धता अवश्य जाननी पड़ती है।

शुद्ध ज्ञानका स्वरूप—

तथाथा क्षाधिकं ज्ञानं सार्धं सर्वार्थगोचरम् ।

शुद्धं स्वजातिमाश्रित्वात् अयत्नं निरुपाधितः ॥ १२० ॥

अर्थ—परपूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्ष चरनेवाला जो क्षाधिक ज्ञान (केवलज्ञान) है वह

शुद्धज्ञान है। क्योंकि उसमें परनिमित्तता नहीं है। वह केवल स्वप्नरूप मात्र ही है। ज्ञान अनन्त भी है। क्योंकि उसमें किसी पर पदार्थरूप उपाधिका सम्भव नहीं है।

अशुद्ध ज्ञानका स्वरूप—

**क्षायोपशमिकं ज्ञानमक्षयात्कर्मणां सनाम् ।**

**आत्मजातेऽयुतेरेतद्वर्कं चाशुद्धमक्रमात् ॥ १२१ ॥**

अर्थ—सर्व प्राप्ति कर्मोंका उदयाभासी क्षय होनेसे और उन्हीं कर्म प्राप्ति होनेसे सायोपशमिक कहलाता है। यह सायोपशमिक ज्ञान कर्म सहित है, सत्कर्मोंका अभी क्षय नहीं हुआ है। इसलिये यह ज्ञान अपने स्वरूपमें अशुद्ध है अनात्म कहलाता है तथा अशुद्ध भी है।

शुद्धता तथा अशुद्धता दोनों ही ठीक हैं—

**नस्याच्छुद्धं तथाऽशुद्धं ज्ञानं चेदिति सर्वतः ।**

**न बन्धो न फलं तस्य बन्धहेतोरसंभवात् ॥ १२२ ॥**

अर्थ—यदि कोई यह कहे कि ज्ञान न तो शुद्ध ही है, और न अशुद्ध ही है, ऐसा है वैसा ही है। तो उसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि आत्मामें बन्ध भी नहीं है, और न उसका फल ही है। क्योंकि बन्धका कारण ही कोई नहीं है।

भाषार्थ—बन्धका कारण अशुद्धता है यह बात पहले अच्छी तरह कही जा चुकी है। यदि अशुद्धताको न माना जावे तो बन्ध भी नहीं उद्हरता, और बन्धके अपाशमें बन्धन फल भी नहीं बनता।

**अथचेद्वन्धस्तदा बन्धो बन्धो नाऽप्यन्ध एव यः ।**

**न शेषश्चिशेषोपाणां निर्विशेषाद्वन्धमाह ॥ १२३ ॥**

अर्थ—यदि अशुद्धताके बिना ही बन्ध हो जाय तो फिर बन्ध ही रहेगा। बन्ध अन्ध अविद्यामें कभी नहीं आ सकता। ऐसी अवस्थामें कोई भी जीव सम्पूर्ण विनिर्मुक्त नहीं हो सकता।

भाषार्थ—यदि बन्धका कारण अशुद्धता मानी जाय तब तो यह बात नहीं सत्य कि बन्ध ही मड़ा रहेगा, अकब्र हो ही नहीं सकता। क्योंकि कारणके सद्भावे ही फल होता है। कारणके न रहने पर कार्य भी नहीं रह सकता। जब तक अशुद्धता है तभी बन्ध रहेगा। अशुद्धताके अपाशमें बन्धका भी अपाश अवश्यभासी है। इसलिये अशुद्धता माननी ही चाहिये।

यदि उसके श्लोक द्वारा ही अशुद्धताकी सिद्धि हो चुकी होगा कहा जाय तो श्लोकका दूसरा अर्थ शुद्धता—भावक भी हो जाता है। वह इस प्रकार है कि यदि अशुद्धता

ही मानी जावे, शुद्धता नहीं मानी जावे, तो सदा बन्ध ही रहेगा, अबन्ध कभी होगा ही नहीं । ऐसी अवस्थामें सभी आत्मायें बद्ध ही रहेंगी । मुक्त कोई भी कभी न होगा । इस लिये शुद्धता भी माननी ही पड़ती है ।

भारंश—शुद्धता और अशुद्धता दोनों ही ठीक हैं । पहले आत्मा अशुद्ध रहता है । फिर तब आदि कारणों द्वारा कर्मोंके निर्गत करने पर शुद्ध हो जाता है । इसी बातको नीचेके श्लोकमें बतलाते हैं—

माभूटा सयेतो बन्धः स्यादबन्धप्रसिद्धितः ।

नरबन्धः सयेतः त्रेयान् बन्धकार्योपलब्धितः ॥ १२४ ॥

अर्थ—न तो सब आत्माओंके सदा बन्ध ही रहता है, क्योंकि अबन्धकी भी प्रसिद्धि है अर्थात् मुक्त जीव भी प्रसिद्ध है, तथा न सर्वथा सदा अबन्ध ही मानना ठीक है क्योंकि बन्ध रूप कार्य अथवा बन्धका कार्य भी पाया जाता है ।

अवदका दशान्त—

अस्तिचित्तसार्थसर्वार्थसाक्षात्कार्यविकारभुक् ।

अक्षयि क्षायिकं साक्षादवर्जं बन्धव्यत्ययात् ॥ १२५ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण पदार्थोंका मातान् ( ग्रन्थ ) करनेवाला, सदा अविनश्य, ऐसा जो क्षायिक ज्ञान—केवल ज्ञान है वह निर्विकार है, शुद्ध है, तथा बन्धका नाश होनेमें अवद अर्थात् मुक्त है ।

बद्धका दशान्त—

बद्धः सर्वोपि संसारकार्यस्य वैपरीत्यतः ।

मिद्धं सोपाधि तद्धेतोरन्यथानुपपत्तितः ॥ १२६ ॥

अर्थ—संसार की ओरोंका ज्ञान बद्ध है, क्योंकि उसके कार्यमें विपरीतता पाई जाती है । इसलिये ज्ञान उपाधि सहित भी होता है यह बात अच्छी तरह मिद्ध होनी है । उपाधि पदमें यहाँ कर्मोपाधिका ग्रहण करना चाहिये । यदि संसारियोंके ज्ञानको मोपाधि न माना जावे तो उसमें विपरीतता रूप हेतु नहीं बन सकता ।

वर्तितार्थ—

मिद्धमेतावता ज्ञानं सोपाधि निरुपाधि च ।

नम्राशुद्धं हि सोपाधि शुद्धं तन्निरुपाधि यत् ॥ १२७ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनसे यह बात अच्छी तरह मिद्ध होनी है कि ज्ञान दो प्रकारका है एक तो उपाधि सहित है और दूसरा उपाधि रहित है । कर्मोपाधि सहित ज्ञान अशुद्ध है । कर्मोपाधिमे रहित शुद्ध है ।

इस उपाधिका सम्बन्ध इन नौ पदार्थों ( अशुद्ध जीवकी पर्यायों ) में ही है । नीती में पर्यायोंमें नहीं है । क्योंकि जीवकी शुद्ध पर्यायमें इसका बिलकुल सम्बन्ध नहीं है ।

उपाधि मानना आवश्यक है—

सोपरक्तेरुपाधित्वात्तादरश्चेद्विधीयते ।

ए पदानि नवामृनि जीवः शुद्धोऽनुभूयते ॥ १४१ ॥

अर्थ—व्यवहार दृष्टिमें जीव उपराग-उपाधिराज्य है । यदि उपाधि होनेसे ऊ अनादर किया जाय अर्थात् उसे न माना जाय, तो ये जीवकी नौ अवस्थाएँ भी नहीं सकती हैं । सदा शुद्ध जीवका ही अनुभव होना चाहिये । अपना नौ पदार्थोंके अभिन्न होने शुद्ध जीवका भी अनुभव नहीं हो सकता है ।

भावार्थ—शुद्धता प्राप्त करनेके लिये अशुद्धता कारण है । यदि अशुद्धताको स्वी न किया जाय तो शुद्धता भी नहीं हो सकती । इसलिये व्यवहार नयका मानने हुए ही निध मार्गात् बांध होता है । निम्नोने व्यवहारको सर्वथा कुछ नहीं समझा है वास्तवमें वे निध नर भी नहीं पहुँच सके हैं । व्यवहार और निधय नयके विषयमें पहले भगवत्के श्रममें बहुत गुतामा किया गया है । संक्षिप्त स्वरूप यही कहता है कि व्यवहार नयका विषय है उसमेंमें यदि सभी विस्मयनाओंको दूर कर दिया जाय तो बरी निधय का विषय हो जाता है ।

जिम प्रकार गुताकी अग्नि, कण्टकी अग्नि, कोपवेकी अग्नि, पमांकी अग्नि, वे की विहन्व व्यवहार नयका विषय है । इसमेंमें सभी विस्मयोंको दूर कर शुद्ध अग्नि स्वरूप निधय का निधयका विषय हो जाता है । इसलिये व्यवहारको सर्वथा मिटाना गुतामा विषय है । हो अन्तमें निधय ही उपादेय भाव है ।

उदाहरण—

मनुष्यभिरर्म्माणि किंवा नास्मीति तत्त्वम् ।

उभयं नोभयं किंवा तत्त्वमेषाप्रमेण किम् ॥ १४२ ॥

अस्मीति वेत्तदा तस्यां मर्त्या कथमनादरः ।

नास्मीति वेदमर्त्यस्याः सिद्धो नानादरं मया ॥ १४३ ॥

मर्त्यामृतमर्त्या मर्त्या नादेयानि पदानि च ।

शुद्धादन्यत्र मर्त्यं नयस्यानधिकारम् ॥ १४४ ॥

अमर्त्यामृतमर्त्या वा मर्त्यामनि पदानि च ।

हेतुमर्त्याविनामृतमर्त्यामृतमर्त्यामृतमर्त्या ॥ १४५ ॥

उभयं चेकमेणेह सिद्धं न्यायादिवक्षितम् ।

शुद्धमात्रमुपादेयं हेयं शुद्धेतरं तदा ॥ १४६ ॥

योगपथेऽपि तद्द्वैतं न समीहितसिद्धये ।

केवलं शुद्धमादेयं नादेयं तत्परं यतः ॥ १४७ ॥

नैकस्यैकपदे स्तो द्वे क्रिये वा कर्मणि ततः ।

योगपथमसिद्धं स्याद्द्वैताद्वैतस्य का कथा ॥ १४८ ॥

ततोऽनन्यगमन्यायाच्छुद्धः सम्यक्त्वगोचरः ।

तदाचकथ यः कोऽपि वाच्यः शुद्धनयोऽपि सः ॥ १४९ ॥

अर्थ—शकाका कहना है कि निश्चयनयसं (वास्तवमें) उपराग इस जीवात्मामें है या नहीं है ! अथवा उपराग और अनुपराग (शुद्धता) दोनों हैं ? अथवा क्या दोनों ही नहीं है ? दोनों हैं तो क्रमसे हैं या एक साथ ? यदि वास्तवमें उपराग है तो फिर उसमें अनादर (अप्राज्ञता) क्यों किया जाता है ? यदि वास्तवमें व्यवहारनयका विषय भूत उपराग कोई वस्तु नहीं है, तो उसमें अनादर भी सिद्ध नहीं होता । क्योंकि अनादर उमीरा किया जाता है जो कि कुछ चीज हो । जब निश्चय नयसे उपराग कोई चीज ही नहीं है तो अनादर किसका ! दूसरी बात यह है कि यदि उपराग माना भी जाय तो भी नौ पदार्थोंमें प्राप्यता नहीं आती, क्योंकि शुद्ध पदार्थके सिवाय दूसरी जगह नयका अधिकार ही नहीं है । ( शङ्काकारकी यह शङ्का केवल शुद्ध नयको ध्यानमें रखकर ही की गई है ) यदि उपराग नहीं माना जाय तब तो ये जीवके नौ स्थान किसी प्रकार भी नहीं बन सके हैं क्योंकि निम्न कारण ही नहीं है उसका कार्य भी नहीं हो सका है ।

यदि शुद्धता और अशुद्धता (उपराग) दोनोंहीको माना जावे, परन्तु क्रमसे माना जावे तो भी न्यायसे शुद्ध मात्र ही उपादेय (प्राप्त) सिद्ध होगा, और शुद्धमे भिन्न अशुद्ध त्याग्य होगा !

यदि शुद्धता और उपराग नय अशुद्धता, इन दोनोंको एक साथ ही माना जावे तो भी दोनोंसे हमारा अभीष्ट सिद्ध न होगा, उस समय भी शुद्ध ही प्राप्त होगा और अशुद्ध अप्राप्य होगा !

एक बात यह भी है कि एक पदार्थके एक स्थानमें दो ब्रिथायें अथवा दो कर्म रह भी नहीं सकते हैं इसलिये जीवमें एक साथ शुद्धता और अशुद्धता नहीं बन सकती, फिर “ दोनोंमेंसे शुद्ध ही प्राप्त होगा ” इत्यादि द्वैताद्वैतकी क्या तो पीछे है ।

इसलिये अन्य गति न्यायमे अर्थात् अन्य गति न होनेमे अथवा घूम फिरकर वहीं

आजानेसे शुद्ध ही एक पदार्थ मानना चाहिये, वही सम्प्रदर्शनका विषय है। उसी पदार्थ कहनेवाला यदि कोई नय है तो केवल शुद्धनय (निश्चयनय) है ?

भावार्थ—उपर्युक्त कथनसे शङ्काकारका अभिप्राय केवल शुद्धनयको मानकर शुद्ध नय की प्राप्तिसे है। उसकी दृष्टिमें व्यवहार नय सर्वथा मिथ्या है, इसी लिये उसकी दृष्टिसे नय पदार्थ अर्थात् जीवकी अशुद्धता भी कोई वस्तु नहीं है। आचार्य इसका स्पष्टनय करते हैं—

उत्तर—

**नैवं त्वनन्यधासिद्धेः शुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः ।**

**विरोधेष्वविरोधः स्यान्मिथः सापेक्षतः सतः ॥ १५० ॥**

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि शुद्धता और अशुद्धता दोनोमेंसे किसी एकको न माना जाय अथवा इन दोनोंका कार्य कारण भाव न माना जाय तो काम नहीं चल सकता। ये दोनों ही अनन्यथा मिथ्य हैं अर्थात् दोनों ही आवश्यक हैं। दोनोंके माननेमें अशुद्धता पक्षमें जो शङ्काकारके विरोध बतलाया है सो भी अविरोध ही है। पदार्थ परस्परकी अपेक्षाको लिये हुए हैं इसलिये विरोध नहीं रहता किन्तु अपेक्षाकृत दोनों ही ठीक हैं।

**नासिद्धानन्यधासिद्धिस्तद्वयोरेकवस्तुतः ।**

**यद्विशेषेपि सामान्यमेकमात्रं प्रतीयते ॥ १५१ ॥**

अर्थ—शुद्धता और अशुद्धता ये दोनों ही आवश्यक हैं यह बात भी असिद्ध नहीं है क्योंकि दोनों एक ही वस्तु तो पड़ती हैं। उक्त दोनों ही भेद जीवकी अपेक्षा विशेष तो हैं। इन भेदोंकी अपेक्षासे जीव अनेक होनेपर भी सामान्य रीतिसे केवल एक ही प्रतीत होता है।

इसीका लुकाहा—

**तद्यथा नय तत्त्वानि केवलं जीवपुद्गला ।**

**स्वद्रव्याधरनन्यत्वाद्यस्तुतः कर्तृकर्मणोः ॥ १५२ ॥**

अर्थ—वास्तवमें विचार किया जाय तो ये नौ भी पदार्थ (अशुद्ध-भगवत्) के जीव और पुद्गल दो द्रव्य रूप ही पड़ने हैं, और कर्ता गया कर्म ये वास्तवमें अपने द्रव्यविशेष भिन्न होते हैं।

भावार्थ—यह शङ्काकारके यह बहावा कि एक वस्तु ही कर्ता और कर्म के समान है ! इसका यह उत्तर है कि जीव कर्ता है और पुद्गल कर्म है। कर्तृत्व नामों भिन्न है और कर्मों के द्रव्यों भिन्न है। तथा इन दोनोंके भेदों ही नौ पदार्थ होते हैं। इन भेदोंकी विवेक होने पर आप्त्यमें कर्म, कर्मों करनेमें कर्ता विशेष नहीं रहता।

ताभ्यामन्यत्र नैतेषां किञ्चिद्द्रव्यान्तरं पृथक् ।

न प्रत्येकं विशुद्धस्य जीवस्य पुद्गलस्य च ॥ १५३ ॥

अर्थ—जीव और पुद्गल, इन दो द्रव्योंको छोड़कर नव पदार्थ और कोई दूसरे द्रव्य नहीं है । अर्थात् नौ ही पदार्थ जीव, पुद्गलकी अवस्था विशेष हैं । इनमें अन्य किसी द्रव्यका भेद नहीं है । और ऐसा भी नहीं है कि ये नौ ही पदार्थ केवल शुद्ध जीवके ही हों अथवा केवल पुद्गलके ही हों । किन्तु दोनों ही के योगसे हुए हैं । इसी बातको नीचे दिखाते हैं—

जीव और पुद्गल इन दोनोंके ही नौ पदार्थ हैं—

किन्तु सम्यक्परोक्षे तद्द्रव्ययोरितरेतरम् ।

नैमित्तिकनिमित्ताभ्यां भावा नव पदा अमी ॥ १५४ ॥

अर्थ—नैमित्तिक जीव और निमित्तकारण पुद्गल, इन दोनोंके ही परस्पर सम्बन्धसे ये नौ पदार्थ हो गये हैं ।

जीवकी ही नौ अवस्थाएँ हैं—

अर्थात्तवपदीभूय जीवर्भकां विराजते ।

तदाह्येपि परं शुद्धस्तत्तिष्ठिष्टदशामृतं ॥ १५५ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका सारांश यही निम्नलिखित है कि यह जीव ही नौ पदार्थ रूप होकर टहरा हुआ है । यद्यपि पहले श्लोकों द्वारा जीव और पुद्गल दोनों ही की अवस्था नौ पदार्थ रूप बनवाई है । परन्तु यहां पर जीवके ही अवस्था भेद नौ पदार्थोंको बताया है । इसका अभिप्राय यह है कि यहां पर निमित्तकारणको विवक्षित नहीं इच्छा है । पुद्गलके निमित्तसे जीवके ये नौ भेद होते हैं । अर्थात् अवस्था तो ये जीवकी हैं परन्तु पुद्गल निमित्तकारण है इस लिये यहांपर निमित्त कारणको अविवक्षित रखकर “ जीव ही नौ पदार्थ रूप है ” ऐसा कहा है ।

यद्यपि इन अवस्थाओंसे यह जीव अशुद्ध है तथापि इन अवस्थाओंसे रहित विचारनेसे केवल शुद्ध जीवका ही प्रतिभास होता है ।

भावार्थ—अशुद्धताके भीतर भी शुद्ध जीवका प्रतिभास होता ही है ।

नास्तंभयं भवेदेतत् तद्विधेरूपलब्धितः ।

सोपरकेरभृतार्थात् सिद्धं न्यायाददर्शनम् ॥ १५६ ॥

अर्थ—अशुद्धताके भीतर शुद्ध जीवका प्रतिभास होता है यह बात अमिद नहीं है । किन्तु अनेक प्रकारसे सिद्ध है । परन्तु अर्थार्थ उपाधिका सम्बन्ध हो मानेके कारण उस शुद्धताका दर्शन नहीं होता है ।

भावार्थ—पुद्गलके निमित्तसे जो भावनामें अशुद्धता-मयिना आ गई है इसमें इस



आत्माका शुद्धरूप दक गया है। तो भी उपाधि रहिन अवस्थाका ग्यान करनेसे अद्वयता भीतर भी शुद्धआत्माका अवलोकन होता ही है।

**दृष्टान्तमाला—**

सन्त्यनेकेषु दृष्टान्ता हेमपद्मजलाऽनलाः ।

आदर्शस्फटिकाश्मानौ योधवारिधिसंभवः ॥ १५७ ॥

अर्थ—अशुद्धताके भीतर शुद्धताका ज्ञान होता है इस विषयमें अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं किन्तु ही दृष्टान्त तो ये हैं—सोना, कपड़, जूत, अग्नि, दर्पण, स्मृतिक कथा, हनुमान और नमो/ लया)।

मोनेका दृष्टान्त—

एकं द्वेय यथानेकवर्णं स्यात्परयोगतः ।

तममन्तमियोपेक्ष्य पश्य तस्मै केवलम् ॥ १५८ ॥

अर्थ—यदि मोना दुमंग पदार्थके निमित्तमे अनेक रूपोंको धारण करता है।  
कभी वह निमित्त मिटा दिया जाता है तो दुमंग ही रूपोंको धारण करता है, कभी तो जो निमित्त  
दिया जाय तो दुमंग ही रूपोंको धारण करता है इसी प्रकार तारा, लोहा, अग्नि  
इत्यादि पदार्थोंके सम्मुखमे अनेक प्रकार दीगता है, तबहि उन पदार्थोंको ही  
अपने वह दुमंगी उभेना कर दे तो काय मानेहा स्वरूप ही रहित होना।

आचार्य—दुःख पड़ागौरव संजय अनेक रूपमें परिणत होनेवाले भी सोनेमें मयूर  
 की भाँति प्रकट होकर सोनेका स्वरूप धारण करनेमें पीछे आदिष्टों भिन्न पीढ़ी के  
 संन्यासियों के समान ही दर्शनात्मान होता है ।

731—

नवाष्टांशं समस्यस्य स्याद्वैद्या कथं ज्ञायम् ।

गिरं कृतः प्रसादात् नमो नमो नमो ॥ १०० ॥

अर्थ—इस संकेत से हम जानेंगे कि जिस देश में यह संकेत है, वहाँ का राजा बहुत ही दयालु है।

24

ਸਾਕਸ਼ੀਆਂ ਦੇ ਸਹਿਮ ਸੰਗਤਸੰਗਤੀਆਂ ਦੇ ।

[illegible]



स्फटिक पत्थरमें विकार हो जाता है अर्थात् वह स्फटिक भी लाल मालूम होने लगता है ।  
परन्तु यथार्थ रीतिसे देखा जाय तो स्फटिकमें कोई प्रकारका लाली आदि विकार नहीं है ।

भावार्थ—इसी प्रकार आत्मा भी पुद्गलके निमित्तसे नौ प्रकार दीप्तमें लगता है,  
परन्तु यथार्थमें वह ऐसा नहीं है ।

ज्ञानका दशान्त—

ज्ञानं स्वयं घटज्ञानं परिच्छिन्नदशधा घटम् ।

नापीज्ज्ञानं घटोपे स्याज्ज्ञानं ज्ञानं घटो घटः ॥ १७० ॥

अर्थ—निम्न समय ज्ञान घटको जानता है उस समय वह स्वयं घट ज्ञान कहलाता  
है । परन्तु वास्तवमें ज्ञान घट रूप नहीं हो जाता है । किन्तु ज्ञान, ज्ञान ही रहता है और  
घट, घट ही रहता है ।

भावार्थ—ज्ञानका यह स्वभाव है कि निम्न पदार्थको वह जानता है, उसी पदार्थके  
आकार हो जाता है । ऐसा होने पर भी वह ज्ञान पदार्थ रूप परिणाम नहीं होता है, वास्त-  
वमें वह तो ज्ञान ही है । इसी प्रकार जीवात्मा भी वास्तवमें रागद्वेषादि विकार मय नहीं है ।

समुद्रका दशान्त—

वारिधिः सोत्तरङ्गोऽपि पायुना प्रेरितो यथा ।

नार्थद्विषयं तदात्त्वेपि पारापारसमीरयोः ॥ १७१ ॥

अर्थ—वायुके निमित्तसे प्रेरित होता हुआ समुद्र उंची उंची तरङ्गोंसे घात  
करता है । परन्तु ऐसा होने पर भी समुद्र और वायुमें अभिन्नता नहीं है ।

भावार्थ—इसी प्रकार आत्मा भी पुद्गलके निमित्तसे नौ अदभुतानुको घात  
है, वास्तवमें वह पुद्गलसे अभिन्न नहीं है ।

वेधका दशान्त—

सर्वतः सैन्धवं स्तित्यमपदिकरसं स्वयम् ।

धिप्रोपदंशकेषुर्ध्वेयमानेकरसं यतः ॥ १७२ ॥

अर्थ—वास्तवमें नमकका समुद्र एक रस स्वभाव है, उसका रस : नो नमक का ही  
होता है । परन्तु निम्न निम्न प्रकारके ध्वेयनोंमें पदुचनेमें निम्न निम्न रसोंमें नमक का  
है । तेजिन नमक तो नमक ही रहता है । वह किसी भी कणुमें क्यों न मिले । इस  
भावे, नमकका समुद्र स्वाद नहीं बदलता ।

भावार्थ—इसी प्रकार आत्मा भी पुद्गल मय कणुमें जहाँ नमकसे मिलता होवेत नो  
वास्तवमें आत्मा समुद्र स्वभाव एक रसमें ही प्रतीय होता है ।

कमलका दृष्टान्त—

तोयमग्नं यथा पद्मपत्रमत्र तथा न तत् ।

तदस्पृश्यस्वभावत्वादर्थतो नास्ति पत्रतः ॥ १६६ ॥

अर्थ—यद्यपि कमल जलमें मग्न है तथापि वह जलमें नहीं है वास्तव दृष्टिसे जल कमल नहीं है । क्योंकि उसका जलसे भिन्न रहनेका स्वभाव है ।

भावार्थ—उसी प्रकार जीवात्माका स्वभाव भी वास्तवमें पुद्गलसे भिन्न है निम प्रत्यक्ष कि जलमें डूबे रहने पर भी कमल जलसे भिन्न है ।

जलका दृष्टान्त—

सकर्मं यथा वारि वारि पश्य न कर्मम् ।

दृश्यते तदवस्थायां शुद्धं वारि विप्लवतः ॥ १६७ ॥

अर्थ—जो जल कीचड़में भिन्न हुआ है, उस जलमें भी यदि तुम जलका स्वरूप देखो, कीचड़का न देखो तो तुम्हें मिली हुई अवस्थामें भी कीचड़से भिन्न शुद्ध जल ही प्रतीति होगी । इसी प्रकार जीवात्मा भी पुद्गलसे भिन्न प्रतीत होता है ।

अग्निका दृष्टान्त ।

अग्निर्ध्या तृणाग्निः स्यादुपचारानृणं दहनम् ।

नाग्निस्तृणं तृणं नाग्निरग्निरग्निस्तृणं तृणम् ॥ १६८ ॥

अर्थ—निम समय अग्नि तिनकेकी जला रही है, उस समय उस अग्निही तिनकेके निमित्तसे—उपचारमें तिनकेकी अग्नि कह देंगे हैं । परन्तु वास्तवमें तिनकेकी अग्नि क्या है ? अग्नि ही अग्नि है । अग्नि तिनका नहीं है । और न तिनका अग्नि है । अग्नि, अग्नि ही है और तिनका, तिनका ही है ।

दण्डध्या दृष्टान्त—

प्रतिषिद्धं यथादर्शं सन्निकर्षाकलापिनः ।

नदात्वे तदवस्थायामपि तत्र कुतः शिखी ॥ १६९ ॥

अर्थ—निम प्रत्यक्ष दर्शनमें मयारं मयारं प्रतिषिद्ध (जाया) पश्यते है । यदि दण्डध्या जला रहने पर भी वहां मयार नहीं है । केवल दर्शन ही है । उसी प्रकार पुद्गलके निमित्तसे त्रयत्वा अशुद्ध प्रतीति होता है वास्तवमें वह शुद्ध निराश्रय ही है ।

सद्विषया दृष्टान्त—

अपावृष्णोऽयमंगेन विकारः सद्विषयादमनि ।

अथास्मां वि विकारधायास्तयस्तत्र यस्तुतः ॥ १७० ॥

अर्थ—सद्विषय जल ही है, उस जलको पश्यते अपावृष्ण ही है अंगेन

प्रकाशका उद्देश भी कैसे हो सकता है ? जो पुनः अन्वयार्थको अन्वय कह पड़वाना है वही तो प्रकाशका अनुभव करता है । जिसने कभी अन्वयार्थमें प्रवेश ही नहीं किया है वह प्रकाशका अनुभव भी क्या करेगा ?

भाष्य—

नायाच्यता पदार्थानां स्यादकिञ्चित्करस्यनः ।

साधनानिति यतोऽयदप्यं यत्तन्नानि नयार्थनः ॥ १७७ ॥

अर्थ—यदि कोई बड़े कि ये नौ पदार्थ अकिञ्चित्कर ( कुछ प्रयोजनीय भूत नहीं ) हैं हमलिये इनको कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ? ऐसा कहना टीका नहीं है क्योंकि इन नौ पदार्थोंका कहना अवश्य मार्थक ( कुछ प्रयोजन रखता है ) है हमलिये नौ पदार्थ उचित ही कहने योग्य हैं ।

नौ पदार्थोंक कहनेका प्रमाण -

न स्यात्तन्भ्योऽतिरिक्तस्य मिश्रिः शुद्धस्य सर्वनः ।

साधनाभायतस्तस्य तद्व्यथानुपलब्धिनः ॥ १७८ ॥

अर्थ—यदि नौ पदार्थोंको न माना जाय तो उनमें अतिरिक्त शुद्ध जीवका भी क्या अनुभव नहीं हो सकता अर्थात् शुद्ध जीव भी बिना अनुदुःखता, त्रिधातु विषय मिष्ट नहीं होगा । क्योंकि कारणमामयीके अभावमें कार्यकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती है । अनुदुःखता शून्य ही शुद्धताकी उपलब्धि होती है ।

शङ्काकार—

ननु सार्धान्तरं तन्भ्यः शुद्धं सम्पन्नबोधोत्थरम् ।

अस्ति जीवस्य स्वं रूपं निस्त्रांशोर्व निरामयम् ॥ १७९ ॥

न पश्यति जगत्ताणन्मिध्यान्धतमसा मग्नम् ।

अस्तमिध्यान्धकारे चैत् पश्यतीदं जगत्त्राणम् ॥ १८० ॥

अर्थ—शङ्काकार करता है कि उन नौ पदार्थोंमें जीवका निश्चय रूप से 'यह ही है, यह शुद्ध है, निम्न उपायशालि है, शीघ्र है, और यह शुद्ध रूप सम्पन्न होता है । परन्तु उस शुद्ध रूपमें जगत् का एक नहीं देख सकता है जब तक कि वह मिध्यान्ध रूप में ही मग्न ( अन्ध ) हो रहा है । अब इस जगत् का निश्चय-बोध हो तो ही जगत् की यह अन्ध रूप ही शीघ्र उस शुद्ध जीवका-रूपमें देखने लगता है ।

उक्त—

यदे विद्वत्परमेश्वरात्पुनःपुनःपुनःपुनः ॥

नैकसंस्कारदे वेस्तः पुनःपुनः किमर्थनः ॥ १८१ ॥

फलितार्थ—

इति दृष्टान्तसनाथेन स्वेष्टं दृष्टेन सिद्धिमत् ।

यत्पदानि नवामूनि वाच्यान्यर्थादवश्यतः ॥ १७३ ॥

अर्थ—इस प्रकार अनेक दृष्टान्तोंसे प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा हमारा अभीष्ट सिद्ध हुआ । वह अभीष्ट यही है कि ये आत्माकी नौ अवस्थायें (नव पदार्थ) अवश्य रहने चाहिये ।

भावार्थ—अनेक लोगोंका इस विषयमें विवाद था कि नौ पदार्थ कहने चाहिये अथवा शुद्ध आत्माका ही सदा ग्रहण करना चाहिये । इस विषयमें उपर्युक्त दृष्टान्तोंद्वारा आचार्यन नौ पदार्थोंकी आवश्यकता भी बतला दी है । बिना नौ पदार्थोंके स्वीकार किये शुद्ध आत्माकी भी प्रतीति नहीं होती है । इसलिये नव पदार्थ भी कहने योग्य हैं ।

एकान्त कथन और उक्तका परिहार—

कैश्चित् कल्प्यते मोहादक्तव्यानि पदानि न ।

हेयानीति यतस्तेभ्यः शुद्धमन्यत्र सर्वतः ॥ १७४ ॥

तदसत्सर्वतस्त्यागः स्यादसिद्धः प्रमाणतः ।

नथा तेभ्योऽतिरिक्तस्य, शुद्धस्यानुपलब्धितः ॥ १७५ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मकी तीव्रतासे भूले हुए कोई तो कहते हैं कि ये नव पदार्थ नहीं कहना चाहिये । क्योंकि ये सर्वथा त्याग्य हैं । इन नवों पदार्थोंसे आत्माका शुद्ध निष्कर्ष सर्वथा भिन्न ही है ।

आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना सर्वथा अशुक्त है । इन नव पदार्थोंको सर्वथा ही न कहा जाय अथवा ये सर्वथा ही त्यागने योग्य हैं यह बात किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती है । और उन नौ पदार्थोंके छोड़नेपर शुद्ध आत्माकी भी प्रतीति नहीं हो सकती है ।

भावार्थ—अशुद्धताके माननेपर ही शुद्धताकी उपलब्धि होती है अन्यथा नहीं, क्योंकि ये दोनों शब्द सापेक्ष हैं । इसलिये व्यवहार नयसे ये नव पदार्थ भी ठीक हैं और निश्चय नयसे शुद्ध आत्मा ही उपादेय है ।

नौ पदार्थोंके नहीं माननेमें और भी दोष—

नावश्यं वाच्यता सिद्धयेत्सर्वतो ध्येयवस्तुनि ।

मान्यकारेऽप्रविष्टस्य प्रकाशानुभयो मनाक् ॥ १७६ ॥

अर्थ—इन नौ पदार्थोंको निश्चय तथा त्यागने योग्य न मानना है और शुद्ध आत्माके उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य न मानना है । यदि इनको सर्वथा ही छोड़ दिया जाय तो इनमें त्याग करनेका उपदेश भी हिम प्रकार मिट्ट हो सकता है ! और शुद्ध आत्मा

प्राज्ञशास्त्र उद्देश भी कैसे हो सकता है ? जो पुरुष अन्वकारको अच्छी तरह पहचानता है वही तो प्राज्ञशास्त्र अनुभव करता है । जिसने कभी अन्वकारमें प्रवेश ही नहीं किया है वह प्राज्ञशास्त्र अनुभव भी क्या करेगा ?

भाष्य—

नायाच्यता पदार्थानां स्यादकिञ्चित्करस्थितः ।

सार्थानीति यतोऽयद्वयं यत्कन्यानि नवार्थतः ॥ १७७ ॥

अर्थ—यदि कोई कहे कि ये नौ पदार्थ अकिञ्चित्कर ( कुछ प्रयोजनीय भूत नहीं ) हैं इसलिये इनको कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । ऐसा कतना ठीक नहीं है क्योंकि इन नौ पदार्थोंका कहना अवश्य सार्थक ( कुछ प्रयोजन रखता है ) है इसलिये नौ पदार्थ अवश्य ही कहने योग्य हैं ।

नौ पदार्थोंके वर्णनका प्रयोजन—

न स्यात्तेभ्योऽतिरिक्तस्य सिद्धिः शुद्धस्य सर्वतः ।

साधनाभापतस्तस्य तद्विधानुपलब्धितः ॥ १७८ ॥

अर्थ—यदि नौ पदार्थोंको न माना जाय तो उनमें अतिरिक्त शुद्ध जीवका भी कभी अनुभव नहीं हो सकता अर्थात् शुद्ध जीव भी बिना अशुद्धताके स्वीकार किये सिद्ध नहीं होगा । क्योंकि कारणसामग्रीके अभावमें कार्यकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती है । अशुद्धता पूर्वक ही शुद्धताकी उपलब्धि होती है ।

भाष्य—

ननु सार्थान्तरं तेभ्यः शुद्धं सम्पदस्त्वगोचरम् ।

अस्ति जीवस्य स्वं रूपं नित्योपायं निरामयम् ॥ १७९ ॥

न पश्यति जगत्पापन्मिथ्यान्धतमसा तप्तम् ।

अस्तमिथ्यान्धकारं चेत् पश्यतीदं जगज्जगत् ॥ १८० ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि उस नौ पदार्थोंमें जीवका निरामय निरं हो है, वह शुद्ध है, नित्य उपाययोग्य है, निराम है, और वही शुद्ध रूप सम्पदस्त्वगोचर है । परन्तु उस शुद्ध रूपको जगत् ॥ तप्त नहीं देख सकता है जब तक कि वह मिथ्यान्ध तमसा अंधेरेमें व्याप्त ( अन्ध ) हो रहा है । जब इस जगत्का मिथ्यान्धकार खट्ट हो जाता है तभी यह जगत् बहुत ही सीमित उस शुद्ध जीवकाको देखने लगता है ।

उपर—

नैव विरुद्धपरमस्याप्युक्तानुक्तस्योद्देश्योः ।

नैवस्यैकपदे वेस्तः नुक्तानुक्ते किंपर्ययः ॥ १८१ ॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि शुद्धता और अशुद्धता दोनों ही विरोधी धर्म हैं । और विरोधी पदार्थ एक स्थानमें रह नहीं सकते । इसलिये शुद्धता और अशुद्धता ये दोनों एक स्थानमें कैसे रह सकती हैं ! क्यों नहीं रह सकती ! स्वभावको नीचे स्पष्ट करते हैं—

अथ सत्यां हि शुद्धायां क्रियायामर्थतश्चितः ।

स्यादशुद्धा कथं वा चेदस्ति नित्या कथं न सा ॥ १८२ ॥

अर्थ—यदि वास्तवमें जीवमें शुद्धता ही मानी जाय तो अशुद्धता किस प्रकार रह सकती है ! यदि हो सकती है तो वह फिर नित्य क्यों नहीं !

अथ सत्यामशुद्धायां बन्धाभावो विरुद्धभाक् ।

नित्यायामथ तस्यां हि सत्यां मुक्तेरसंभवः ॥ १८३ ॥

अर्थ—यदि जीवमें अशुद्धता ही मानी जाय तो बन्धका अभाव कभी नहीं हो सकता, यदि वह अशुद्धता नित्य है तो इस जीवात्माकी मुक्ति ही असंभव हो जायगी ।

भावार्थ—आचार्यने सर्वथा शुद्ध तथा सर्वथा अशुद्ध पक्षमें दोष बतलाकर दर्शाने दोनोंको ही स्वीकार किया है । इससे शङ्काकारका जीवको सर्वथा शुद्ध मानना भ्रम रहता है ।

प्रतिपाद्यं—

ततः सिद्धं यदा येन भायेनात्मा समन्वितः ।

तदाऽनन्यगतस्त्वेन भायेनात्माऽस्ति तन्मयः ॥ १८४ ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए तीनों श्लोकोंमें यह परिणाम निम्नाजना चाहिये कि जिस समय आत्मा जिस भावमें सहित है उस समय वह उमी भावमें तल्लीन हो रहा है । उस समय उसकी और कोई चिन्ता नहीं है ।

इषोका मुमुक्षुः—

तस्माच्छुभः शुभेनैव स्यादशुभोऽशुभेन वा ।

शुभः शुभेन भावेन तदास्ते तन्मयत्वमः ॥ १८५ ॥

अर्थ—जिस समय आत्मा शुभ भावोंको धारण करता है उस समय आत्मा शुभ ही बनकर अशुभ भावोंको धारण करता है, उस समय आत्मा अशुभ ही बनकर शुद्ध भावोंको धारण करता है, उस समय वही आत्मा शुद्ध है । ऐसा होने का अर्थ यह है कि जिस समय वह आत्मा जिस भावोंको धारण करता है उस समय वह अपने स्वभाव के अनुसार ही बनता है ।



सायं—

ततोऽनर्थान्तरं तेभ्यः किञ्चिच्छुद्धमनीदृशम् ।  
शुद्धं नव पदान्येव तद्विकारादते परम् ॥ १८६ ॥

अर्थ—इसलिये अशुद्धतासे विलक्षण जो शुद्ध जीव है वह उन नौ पदार्थोंसे कथं  
चित् अभिन्न है । सर्वथा भिन्न करना मिथ्या है । ऐसा भी कह सकते हैं कि विकारके दूर  
हो जानेपर वे नौ पदार्थ ही शुद्ध स्वरूप हैं ।

भावार्थ—जीवही ही नव रूप विकारावस्था है इस लिये उस विकारावस्थाके हृद्य  
देनेपर वही जीव शुद्ध हो जाता है ।  
हल्ले शंकाहाने शुद्ध जीवको नव पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न बनवाया था, परन्तु इस  
त्यक्तसे कथंचित् अभिन्नता सिद्ध की गई है ।

सूत्रका आशय—

अतस्तत्त्वार्थभ्रद्धानं सूत्रे सदृशनं मतम् ।  
तत्तत्त्वं नव जीवाद्या यथोद्देश्याः प्रमादपि ॥ १८७ ॥

अर्थ—धीमद्भवान् उपात्तामीने " तत्त्वार्थभ्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् " इस सूत्रद्वारा  
तत्त्वार्थभ्रद्धानको सम्यग्दर्शन बनवाया है, वही सूत्रका आशय उपर्युक्त कथनसे सिद्ध होता  
है । अब उन्हीं जीवादिक नव तत्त्वों (पदार्थों) को प्रत्यक्ष बतलाने हैं—

तदुद्देश्यो यथा जीवः स्यादजीवस्तथास्रवः ।  
मन्थः स्पातसंवरश्चापि निर्जरा मोक्ष इत्यपि ॥ १८८ ॥

सर्वेते पुण्यपापाभ्यां पदार्थास्ते नव स्मृताः ।  
सन्ति सदृशनस्यार्थविषया भूतार्थमाश्रिताः ॥ १८९ ॥

अर्थ—वे नव पदार्थ इस प्रकार हैं—जीव, अजीव, आलव, कथ, संसर, निर्जरा, मोक्ष  
सात तत्त्व और पुण्य तथा पाप । ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शनके विषयभूत हैं अर्थात् इन्हींका  
द्वानी सम्यग्दृष्टी है और ये पदार्थ वास्तविक हैं ।

आचार्यको नयी प्रतिष्ठा—

तत्राधिजीवमाख्यानं विदधाति यथापुना ।  
कविः पूर्वापरायत्तपर्यालोचयिचक्षणः ॥ १९० ॥

अर्थ—पूर्वापर विचार करनेमें अति चतुर कवि ( आचार्य ) अब जीवके विषयमें  
आख्यान करते हैं—

भावार्थ—आचार्यने इस श्लोक द्वारा नई बातोंको सिद्ध कर दिशाया है । पूर्वज्ञा  
इस बातकी की है कि अब वे जीवका निरूपण करने पहले करेंगे । अपनेको उन्होंने कवि

इसी बातको स्पष्ट करते हैं—

तद्यथा सुखदुःखादिरूपेणात्माऽस्ति तन्मयः ।

तदात्वेऽहं सुखी दुःखी मन्यते सर्वतो जगत् ॥२०६॥

यद्वा कुञ्चोयमित्यादि हिनस्म्येनं हठाद्विषम् ।

न हिनस्मि वयस्यं स्वं सिद्धं चेत्तत् सुम्नादिवत् ॥२०७॥

अर्थ—यह आत्मा मुग्न दुःख आदि विकारोंके होनेपर स्वयं तन्मय हो जाता। सांसारिक सुख मिलनेपर समग्रता है कि मैं सुखी हूँ, दुःख होनेपर समग्रता है कि दुःखी हूँ। इस प्रकार सब वस्तुओंमें ऐसी ही बुद्धि इसकी हो रही है। कभी कभी भ्रम भी करता है कि यह क्रोधी है मैं इस शत्रुको अवश्य ही मार डालूँगा तथा मित्रको कभी नहीं मारूँगा। इन बातोंसे यह बात सिद्ध होती है कि यह अज्ञ दुःखादिका वेदन करनेवाला है।

उपलब्धि प्रत्यक्षात्मक है—

बुद्धिमानत्र संवेद्यो यः स्वयं स्यात्सवेदकः ।

स्थितिर्व्यतिरिक्तं ज्ञानमुपलब्धिरियं यतः ॥ २०८ ॥

अर्थ—यहां पर स्वयं जाननेवाला बुद्धिमान् पुरुष ही समग्रता चाहिये वही सक्तता है कि यह सुख दुःखकी जो आत्मामें उपलब्धि होती है वह स्थितिज्ञान नहीं किन्तु उससे भिन्न ही है।

उपलब्धिका अनुभव होता है—

नोपलब्धिरसिद्धास्य स्वादुसंवेदनात्स्वयम् ।

अन्यादेशस्य संस्कारमन्तरेण सुदर्शनात् ॥ २०९ ॥

अर्थ—आत्मामें मुग्न दुःखका अनुभव होता है इसलिये इसकी उपलब्धि नहीं है किन्तु सिद्ध ही है। क्योंकि यह आत्मा बिना किसीके कहे हुए संस्कारों ही कभी सुखका और कभी दुःखका अनुभव करता है यह सुप्रतीत है।

अतिव्याप्ति दोष नहीं है—

नातिव्याप्तिरभिज्ञाने ज्ञाने वा सर्ववेदिनः ।

तयोः संवेदनाभावात् केवलं ज्ञानमाग्रतः ॥ २१० ॥

अर्थ—इस मुग्न दुःखके स्वादुसंवेदनकी तरह अत्यभिज्ञान अथवा केवलज्ञान की ऐसा नहीं है। अत्यभिज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही वस्तुका ज्ञान मात्र तो करते हैं, वस्तुके स्वादुका अनुभव नहीं करते। इसलिये यह उपलब्धि उक्त दोनों ज्ञानोंसे भिन्न ही है।

भावार्थ—वस्तुके स्वयं अनुभव करनेमें और दूसरेको उसका ज्ञान होनेमें प्रत्यक्ष अन्तर है। शास्त्रज्ञ नारकियोंके दुःखका केवल ज्ञान रखते हैं परन्तु नारकी उस दुःखका अनुभव करते हैं। इसी प्रकार केवलज्ञानी ( सर्वज्ञ ) भी वस्तुका ज्ञान मात्र करते हैं उसका वाद नहीं लेते।

स्वोक्ति—

**\* व्याप्यव्यापकभावः स्यादात्मनि नातदात्मनि ।**

अर्थ—निसका निसके साथ व्याप्य व्यापक भाव ( सम्बन्धविशेष ) होता है उसीका साथ अनुभव पड़ता है। व्याप्य व्यापक भाव अपने मुख दुःखका अपने साथ है। दूसरेके नहीं। क्योंकि व्याप्य व्यापकपना सर्वत्र वस्तुओंमें भिन्न २ हुआ करता है।

भावार्थ—हर एक आत्माके गुणका सम्बन्ध हर एक आत्माके साथ जुड़ा है। इसलिये आत्माके मुख दुःखका अनुभव दूसरा आत्मा कभी नहीं कर सकता है। हां उनका उसे हो सकता है। किसी बातके जाननेमें और स्वयं उसका स्वाद लेनेमें बहुत अन्तर है।

अग्रदोषलब्धि बन्धका कारण है—

**उपलब्धिरशुद्धासी परिणामक्रियामयी ।**

**अर्थादौदयिकी नित्यं तस्मादन्धफला स्मृता ॥ २१२ ॥**

अर्थ—यह जो मुख दुःखादिककी उपलब्धि होती है वह अशुद्ध-उपलब्धि है तथा परिणामको लिये हुए है अर्थात् वह उपलब्धि कर्मोंके उदयसे होनेवाली है। इसका होना ही पड़ बतलाया गया है।

अग्रदोषलब्धि ज्ञान चेतना नहीं है—

**अस्त्यशुद्धोपलब्धिः सा ज्ञानाभासाविद्वययान् ।**

**ज्ञानचेतना किन्तु कर्म तत्फलचेतना ॥ २१३ ॥**

अर्थ—वह उपलब्धि, अशुद्ध-उपलब्धि कहलाती है। उस उपलब्धिमें यथार्थ ज्ञान नहीं होता, किन्तु मिथ्या स्वादुसंवेदन रूप ज्ञानाभास होता है। इसलिये उसे ज्ञानचेतना नहीं कह सकते। किन्तु अशुद्ध ज्ञानका संस्कार लिये हुए ज्ञानपूर्वक कर्मकथ करनेकी और कर्मफलके भोगनेकी प्रधानता होनेसे उसे कर्मचेतना तथा कर्मफल चेतना कहते हैं।

भावार्थ—ज्ञान चेतनामें आत्मीय गुणका अनुभवन होता है। इसलिये वह कथका

\* अल्प देवशक्ति पदार्थ व्याप्य कहलाता है, अधिक देवशक्ति व्याप्य कहलाया है पल्लव भी स्थूल रूपन है। समानतामें भी व्याप्य व्यापक भाव होता है। यह सब सम्बन्ध विवेक जेसे दृष्ट और विग्रहात्मा होता है।

कारण नहीं हैं, और वही शुद्धोपलब्धि है। अशुद्धोपलब्धिमें कर्मजनित उपाधियोंकी उत्पत्ति है। उन्हींका स्वादुसंवेदन होता है। वहां ज्ञानपूर्वक कर्मबन्ध करनेकी अथवा अज्ञान कर्मोंमें कर्मफल भोगनेकी प्रधानता है इसलिये उसे कर्मचेतना अथवा कर्मफलचेतना कहेंगे। ये ही दोनों कर्मबन्धकी मुख्यता रखती हैं। अब इन्ही दोनों चेतनाओंके साक्षात्कार बतलाते हैं।

**इयं संसारिजीवानां सर्वेषामविशेषतः ।**

**अस्ति साधारणीवृत्तिर्न स्यात् सम्यक्त्वकारणम् ॥२१४॥**

अर्थ—यह कर्मचेतना अथवा कर्मफलचेतना सामान्यरीतिसं सभी संसारी देखते हैं। यह सम्यक्त्व पूर्वक नहीं होती है, किन्तु साधारण रीतिसं हर एक संसारी के हृदय में पाई जाती है।

**न स्यादात्मोपलब्धिर्या सम्यग्दर्शनलक्षणम् ।**

**शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं न चेच्छुद्धा न सा सुदृक् ॥२१५॥**

अर्थ—यह भी नियम नहीं है कि आत्मोपलब्धि मात्र ही सम्यग्दर्शन सहित होती है, यदि वह उपलब्धि शुद्ध हो तब तो सम्यग्दर्शन समाप्ता चाहिये। यदि वह अशुद्ध अशुद्ध हो तो सम्यग्दर्शन भी नहीं समाप्ता चाहिये।

भावार्थ—आत्मोपलब्धि शुद्ध भी होती है तथा अशुद्ध भी होती है। शुद्धोपलब्धि के साथ सम्यग्दर्शनकी व्याप्ति है, अशुद्धोपलब्धिके साथ नहीं है। इस अर्थसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि सभी उपलब्धियां सम्यक्त्व सहित नहीं हैं।

गङ्गाकार—

**ननु चेयमशुद्धय स्यादशुद्धा कथंचन ।**

**अथ बन्धफला नित्यं किमयन्धफला कथित् ॥ २१६ ॥**

अर्थ—गङ्गाकार कहता है कि पृथक् आत्मोपलब्धि अशुद्ध हो है। अथवा कि शुद्ध अशुद्ध है। तथा मनु कथ कहनेवाला है। अथवा कभी कभी मनु कहनेवाला है।

उत्तर—

**सर्वे शुद्धास्ति सम्यक्त्वे संवाञ्जुष्टास्ति भविता ।**

**अमन्यमन्यफला नष्टं सर्वं यन्धफलाऽन्यथा ॥ २१७ ॥**

अर्थ—हो शेष है, पृथक् 'यदि यह उपलब्धि सम्यग्दर्शनके होनेवाली हो, तो शुद्ध है और बिना सम्यग्दर्शनके वह अशुद्ध है। सम्यग्दर्शनके होनेवाली यह उपलब्धि शुद्ध है और बिना सम्यग्दर्शनके अशुद्ध है।

पुनः पञ्चकार—

ननु सदृशं शुद्धं सगदशुद्धा मृषा रुचिः ।  
तत्कथं विषयश्चैकः शुद्धाशुद्धविशेषमाह ॥ २१८ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि सम्यग्दर्शन तो शुद्ध है और मिथ्यादर्शन अशुद्ध है और दोनोंका विषय एक ही है । ऐसी अवस्थामें एक शुद्ध और दूसरा अशुद्ध कैसे हो सकता है ?

उसीको दूरी पञ्च—

यदा नवसु तत्त्वेषु चास्ति सम्यग्दृगात्मनः ।  
आत्मोपलब्धिमात्रं वै साचेच्छुद्धा कृतो नव ॥ २१९ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनी नव तत्त्वों ( नव पदार्थों ) के विषयमें आत्मोपलब्धि होती है । यदि वह आत्मोपलब्धि शुद्ध है, तब नौ पदार्थ कहाँसे हो सकते हैं ।

भावार्थ—शङ्काकारका आशय है कि सम्यग्दर्शक नव तत्त्वोंका अनुभव करता है । यदि वह अनुभव शुद्ध है तो नौ तत्त्व कैसे हो सकते हैं, क्योंकि नौ तत्त्व तो कर्मोंके निमित्त होतेवाले हैं, शुद्ध नहीं है । इसलिए या तो वह उपलब्धि शुद्ध नहीं है, अथवा वह शुद्ध है तो नव तत्त्व नहीं दृश्यते ।

उत्तर—

नयं यतः स्यतः शश्वत् स्यादुभेदोस्ति वस्तुनि ।  
तत्राभिव्यञ्जकमेधाभायसद्भावतः पृथक् ॥ २२० ॥

अर्थ—शङ्काकारकी उपर्युक्त दोनों शङ्कायें टीक नहीं हैं क्योंकि वस्तु एक होनेका भी उसमें किसी ज्ञानेशाने अभिव्यञ्जक (सूचक) के द्विधाभाव होनेसे भिन्न २ निरन्तर स्वाद भेद हो जाता है ।

भावार्थ—जैसा सूचक होता है वैसी ही वस्तुकी प्रतीति होने लगी है । सूचक दो प्रकार है । इसलिए वस्तु एक होनेपर भी उसमें दो प्रकार ही स्वादभेद हो जाता है ।

इसी बातका स्पष्टीकरण—

शुद्धं सामान्यमात्रत्वादशुद्धं तद्विशेषतः ।  
वस्तु सामान्यरूपेण स्वदत्तं स्यादु सखिदाम् ॥ २२१ ॥

अर्थ—सामान्यमात्र विषय होनेसे शुद्धता समझी जाती है और वस्तुकी विशेषतामें शुद्धता समझी जाती है । मनुष्यका बोध करनेवाले सम्यग्दर्शियोंको वस्तुका सामान्यरूप ही

भावार्थ—सम्यग्दर्शीपुरुष, वस्तुका स्वरूप जैसा है वैसा ही सामान्यरूपमें ज्ञान करे है

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टीकी क्रियामें बड़ा भारी अन्तर है। नि-  
की क्रिया तो बन्धका कारण है और सम्यग्दृष्टीकी क्रिया, बन्धका कारण तो दूर पड़-  
पूर्ण बंधे हुए कर्मोंकी निर्मलाका कारण है।

ऐसा होनेमें हेतु—

यस्माज्ज्ञानमया भावा ज्ञानिनां ज्ञाननिवृत्ताः ।

अज्ञानमयभावानां नावकाशः सुदृष्टिषु ॥२३१॥

अर्थ—सम्यक्ज्ञानियोंके ज्ञानसे होनेवाले ज्ञानस्वरूप भाव ही सदा होते हैं।  
सम्यग्दृष्टियोंमें अज्ञानसे होनेवाले अज्ञानमय भावोंका स्थान नहीं है।

भावार्थ—बन्धके कारण अज्ञानमय भाव हैं। वे सम्यग्दृष्टियोंके होते नहीं हैं।  
बिधे सम्यग्दृष्टीकी क्रिया बन्धका हेतु नहीं है किन्तु शुद्ध ज्ञानकी मात्रा होनेसे नि-  
वृत्त है।

ज्ञानीका चिह्न—

वैराग्यं परमोपेक्षाज्ञानं स्वानुभवः स्वयम् ।

तद्वदयं ज्ञानिनो लक्ष्म जीवन्मुक्तः स एव च ॥ २३२ ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञानी, वैराग्य परम उदासीनतारूप ज्ञान तथा अपनी आत्माका  
स्वयं करता रहता है। वैराग्य परम उदासीनता और स्वानुभव ये ही दो चिह्न सम्यग्  
हैं और वही ज्ञानी नियमसे जीवन्मुक्त है।

ज्ञानीका स्वरूप—

ज्ञानी ज्ञानैकपात्रत्वात् पश्यत्यात्मानमात्मवित् ।

यदस्पृष्टादिभावात्तामस्वरूपादनास्पृहम् ॥ २३३ ॥

अर्थ—ज्ञानी, ज्ञानका ही अद्वितीयपात्र है। वही आत्माको जाननेवाला है, वह  
अपनी आत्माको देखता है। वही ज्ञानी, कर्मोंसे बंधनका तथा अन्य प्रदायोंसे नि-  
स्वान नहीं है। क्योंकि कर्मोंसे बंधना और मिलना आदि पात्र उसके स्वरूप नहीं है।

और भी—

ततः स्वाहु यथाध्यक्षं स्वमासादयति स्फुटम् ।

अविशिष्टमसंयुक्तं नियतं स्वमनन्यक्रमम् ॥ २३४ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी प्रत्यक्ष जैसा अपने आपको प्रत्यक्ष पाता है उसी प्रकारका स्फुट  
क्रेता है। अर्थात् वेता ही अनुमति करता है। वह अपनेको सदा सबसे अमिल, असम-  
न्वीर, निराला समझता है।

सम्पत्तानीका दशमावस्थेन—

अथायत्नमथासृष्टं शुद्धं सिद्धपदोपमम् ।

शुद्धस्कटिकसंकाशं निःसर्गं व्यामयत् सदा ॥ २३५ ॥

इन्द्रियोपेक्षितानन्तज्ञानद्वयीर्यमूर्तिकम् ।

अक्षतीतमुखानन्तस्याभाविकगुणान्वितम् ॥ २३६ ॥

पदपन्निति निजात्मानं जानी जानकमूर्तिमान् ।

प्रसङ्गादपरं चेच्छेदार्थस्तार्थं कृतार्थयत् ॥ २३७ ॥

अर्थ—ज्ञानी सदा अपनी आत्माको हम प्रकार देखता है कि आत्मा वस्तुतः नहीं  
बैठा है, वह किसीसे नहीं भिन्न है, शुद्ध है मिट्टीकी उपमा धागण बनाता है शुद्ध स्व  
दिकके समान है, सदा आकाशकी तरह परिग्रह रहित है, अर्थात् इन्द्रिय-जन्य ज्ञान अक्षप  
दर्शन, अन्तर् बीर्यकी मूर्ति है और अतीन्द्रिय गुण आदिक अन्तर् इत्यादि गुणकारण  
है। इस प्रकार ज्ञानकी ही अद्वितीय मूर्ति—यह ज्ञानी अपने आपको देखता है। प्रमत्त  
सारे पदार्थकी भूँके ही इच्छा करे, परन्तु वास्तवमें वह समस्त पदार्थोंमें ही भाग्य ही प्राप्त  
। दूसरे सामाजिक पदार्थोंके विषयमें भी वह हम प्रकार चिन्तन करता है

सामान्यनिके विचार—

ऐहिकं परमुष्णं नाम सर्वं पृथग्विकं स्मृतम् ।

न तत्सुष्णं सुष्वाभासं विन्तु दुःखमसंशयम् ॥ २३८ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि जो सामाजिक ( हम लोक मनुष्य ) सुख है  
वह सब पञ्चेन्द्रिय भावकी विषयोंमें होनेवाला है। वास्तवमें वह सुख नहीं है, किन्तु सुख  
आभासमात्र है, निश्चयसे वह दुःख ही है।

तस्माज्ज्ञेयं सुष्वाभासं दुःखं दुःखफलं यतः ।

ज्ञेयं तत्कर्म यज्जन्तुस्तस्यानिष्टस्य सर्वतः ॥ २३९ ॥

अर्थ—इसलिये वह सुष्वाभास जोहने योग्य है। यह स्वयं दुःख फल है। जो  
कर्म करनेवाला है, उस मनुष्य अनिष्ट करनेवाले केवलक सुख ही प्राप्त करे  
उसे उस कर्मका ही नारा करना चाहिये।

तत्सर्वं सर्वतः कर्म पौष्टलिकं तदष्टधा ।

पृथगीत्यात्मत्वं तस्य सर्वं दुःखं विपश्यतः ॥ २४० ॥

अर्थ—यह सत्कर्म पौष्टलिक कर्म सर्वतः आठ प्रकार का है, उसी केवलक  
होनेसे सभी को दुःख ही होता है।  
कर्मोंमें आत्मके गुणों का प्रयोग है इत्यादि कर्मों का प्रयोग है।  
कर्मों में वह भी दुःख ही प्राप्त है।





दृश्यते रतिरेतेषां सुहितानामिवेदनात् ।  
तृष्णावीजं जलौकानां दुष्टशोणितकर्षणात् ॥ २५३ ॥

अर्थ—इन्द्रियार्थ सेवियोंकी विषय—रति देखनेमें भी आती है, वं लोग उन्ही पदार्थोंकी से सुहित सा मानने लगे हैं । निम प्रकार मराच रक (लोह) के पीनेमें ही नौक (नवमन्तु) । हत समझती है और उसीसे प्रेम करती है । उसी प्रकार इन्द्रियार्थ सेवियोंकी अवस्था समझनी चाहिये । यह उनका प्रेम तृष्णाका बीज है अर्थात् उम रीतिसे तृष्णाकी वृद्धि ही होती जाती है ।

देकर, नरेन्द्रोंको भी गुप्त नहीं है—

शक्रचक्रधरादीनां केवलं पुण्यशालिनाम् ।  
तृष्णावीजं रतिस्तेषां सुखायासिः कुलस्तनी ॥ २५७ ॥

अर्थ—केवल पुण्यको धारण करनेवाले नो इन्द्र और चरन्ती आदिक बड़े पुत्र हैं उनके भी तृष्णाका बीजभूत विषय—छात्रमा है, इसलिये उनको भी सुखकी प्राप्ति कर रही है ।

भावार्थ—संसारमें सर्वोपरि पुण्यशाली इन्द्र और चरन्ती आदिक हैं वं र्थ इस विषय—रतिसे दुःखी हैं, इस लिये सचे सुखका स्वाद वं भी नहीं ले सक ।

अध्याय—

\* जसिं पिसये सुरदि तेसिं दुःखं च जाण साहाय ।  
जदि तं णत्थि सहायं पायारो णत्थि पिसयत्थं ॥ २ ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंकी विषयोंमें तीन छात्रमा है, उन्हें स्वाभाविक दुःखी समझना चाहिये । क्योंकि बिना उम दुःख—स्वभाविक विषयसेवनमें उनका व्यापार ही नहीं हो सक । भावार्थ—पहले बीडा उत्पन्न होती है, उसीका प्रतीकार विषयसेवन है । चरन्तु विषयसेवन स्वयं बीडाका उत्सादक है । इस लिये विषय सेवकों दुःखभारा मरा प्रकटित हो रहती है ।

भावार्थ—

सर्वं तात्पर्यमर्थतद्दुःखं यत्सुखसंज्ञकम् ।  
दुःखस्यानात्मधर्मस्याभावितापः सुरष्टिनाम् ॥ २५८ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका मन्त्र सारांश यह निम्न है कि जिनको मन्त्रवे सुख मन्त्र वह दुःख ही है और दुःख आत्माका धर्म नहीं है । इनो लिये सम्पन्नही दुःख ही कि-  
में अभिलाषा नहीं होती ।

• यह भी देखकर साध है ।

है । वहां पर जो उसे इष्ट प्रतीत होता है उसीसे वह रुचि भी करता है । फिर उसकी भिलापायें शान्त हो चुकी हैं, ऐसा किस प्रकार कह सके हैं ?

उत्तर—

सत्यमेतादृशो यावज्जघन्यं पदमाश्रितः ।

चारित्र्यावरणं कर्म जघन्यपदकारणम् ॥ २६७ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि यह बात ठीक है कि जब तक सम्पदही जघन्य (नीचे दर्जे) में है, तब तक वह पदार्थोंमें इष्टानिष्ट बुद्धि करता है तथा उनसे रुचि भी करता है । उस जघन्य श्रेणीका कारण भी चारित्र्य मोहनीय कर्म है ।

भारार्थ—अन्तरात्माके तीन भेद साधकद्वारोंन चतुष्टये हैं—जो महात्मनको धारण करनेवाले मुनि हैं वे तो अरूढ़ अन्तरात्मा हैं, देशात्मनको धारण करनेवाले पद्म गुणधारी जो भारक हैं वे मध्यम-अन्तरात्मा हैं, और जो अत विहीन (अमनी) केवल सम्पद ही धारण करनेवाले सम्पदही पुरुष हैं वे जघन्य-अन्तरात्मा हैं ।

इस जघन्यतामें कारण चारित्र्य मोहनीयका प्रबल उद्भव है । उसीकी प्रकृतासे श्रेष्ठ होकर वे शिष्योंमें रुचि करने हैं और प्रस, स्थावर हिसाके भी त्यागी नहीं हैं । इतना भी है कि वे शिष्योंकी निमासनाको अच्छी तरह समझे हुए हैं इसी लिये उनमें उनमें विष्णुर्दृष्टियोंकी तरह गाढ़ता और हिला रूपा बुद्धि नहीं होनी है परन्तु सब कुछ जान जाने पर भी जगत् सम्पदही पुरुष त्याग नहीं कर सकते । त्याग रूपा उनकी बुद्धि तभी हो सकती है जब कि चारित्र्य मोहनीयका उद्भव कुछ मन्द हो और वह मन्दता भी तभी आ सकती है जब कि अज्ञानान्तरात्मनका त्यागका उपशम होकर प्रत्याख्यानाकरण व्यापका उद्भव हो । किन्तु अज्ञानान्तरात्मनका व्यापक उपशम हुए नियममें नहीं रहा जा सकता है, वह निवृत्तते लयमें है उसीका नाम देशात्मन है । इस लिये पद्म गुणधारीकी ही वह प्रकृति तब तक रह सकती है ।

अतएव तदा मुनि उद्योगिन आत्मनः इदमेव मोहकमवस्थां गुणकः कालः कदापि न भवेत् । अतएव तदा मुनि उद्योगिन आत्मनः इदमेव मोहकमवस्थां गुणकः कालः कदापि न भवेत् ।

यः कदापि न भवेत् तदा मुनि उद्योगिन आत्मनः इदमेव मोहकमवस्थां गुणकः कालः कदापि न भवेत् ।

अतएव तदा मुनि उद्योगिन आत्मनः इदमेव मोहकमवस्थां गुणकः कालः कदापि न भवेत् ।

अतएव तदा मुनि उद्योगिन आत्मनः इदमेव मोहकमवस्थां गुणकः कालः कदापि न भवेत् ।





अर्थ—यह सम्यग्दृष्टि भोगोंका सेवन भी करता है, तो भी उनका सेवन नहीं समझा जाता क्योंकि राग विहीन प्रत्यक्ष इच्छाके बिना किया हुआ कर्म उसके रागके चिन्ने नहीं कहा जा सकता ।

सम्यग्दृष्टीका चेतना—

अस्ति तस्यापि सदृष्टेः कस्यचित्कर्मचेतना ।  
अपि कर्मफले सा स्यादर्थतो ज्ञानचेतना ॥ २७२ ॥

अर्थ—किसी किसी सम्यग्दृष्टीके कर्मचेतना और कर्मफल चेतना भी होती है, परन्तु फलसे वह ज्ञान चेतना ही है । (१) x

ज्ञानचेतना क्या है—

चेतनायाः फलं यन्धस्तत्फले वाऽथ कर्मणि ।  
रागाभावाच्च यन्धोऽस्य तस्मात्सा ज्ञानचेतना ॥ २७३ ॥

अर्थ—चाहे कर्मचेतना हो अथवा कर्मफलचेतना हो, दोनोंका ही फल बन्ध है अर्थात् दोनों ही चेतनायें बन्ध करनेवाली हैं । सम्यग्दृष्टीके रागका ( अज्ञानभावका ) अभाव हांथका है, इस लिये उसके बन्ध नहीं होता, इसी लिये वास्तवमें उसके ज्ञानचेतना ही है ।

भावार्थ—कोई यह दावा कर सकते हैं कि कब तो दशवें गुणस्थान तक होता है क्योंकि वहां भी सूक्ष्म लोभका उदय है, फिर सम्यग्दृष्टीके लिये रागके अभावमें कथका बन्ध क्यों बतलाया गया है ?

उत्तर—यद्यपि सम्यग्दृष्टीके राग होनेसे बन्ध होता है, परन्तु तब मोहिन अज्ञान परिणामोंसे मिथ्यादृष्टीके कथ होता है वेसा सम्यग्दृष्टीके नहीं होता । सम्यग्दृष्टीका राग, मिथ्यात्वमिधित नहीं है इसी लिये उसके उसका अभाव बतलाया गया है ।

मात्र और आभास—

अस्ति ज्ञानं यथा सांख्यमिन्द्रियं चाप्यनान्द्रियम् ।  
आद्यं व्यपमनादेयं समादेयं परं व्ययम् ॥ २७४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार इन्द्रियमन्य सुख और अनिन्द्रिय सुख होता है, उसी प्रकार व्यपमन्य ज्ञान और अनिन्द्रिय ज्ञान भी होता है । इन दोनों ही प्रकारोंमें आदि के दो x सम्यग्दृष्टिके पहले ज्ञान चेतना ही बतलाई है, परन्तु यहाँ उल्टे कर्मचेतना और कर्म फलना भी बतलाई है । आगे भी कर्म और कर्मफलचेतना सम्यग्दृष्टिके बतलाई है । काट्य होता उसके चारित्र्यमोहनीयकी अनेकाले ये दो चेतनाएँ होती हैं । कर्मके लोभ उल्टे ज्ञान होनेसे ज्ञानचेतना ही है । सम्यग्दृष्टिके मुख्यगणक कर्मचेतना ही होती है और कर्म फल चेतना बीका अविनाशित निरुद्वेग बतलाने है ।

अर्थात् इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञान ग्रहण करने योग्य नहीं हैं और पीछेके दो अर्थात्  
 इन्द्रिय सुख और अतीन्द्रिय ज्ञान अच्छो तरह ग्रहण करने योग्य हैं। इन्द्रियजन्य  
 विषयमें तो पहले कह चुके हैं अब इन्द्रियजन्य ज्ञानमें दोष बताते हैं—

### इन्द्रियज्ञान—

नूनं यत्परतो ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत् ।

व्याकुलं मोहसंपृक्तमर्थादुःखमनर्थवत् ॥ २७८ ॥

अर्थ—जो ज्ञान पर (इन्द्रिय और मन) की सहायतासे होता है वह एक पदार्थमें क्रमसे परिगमन करता है। इसी लिये वह निश्चयसे व्याकुल है, मोहसे मिला है, दुःख स्वरूप है और अनर्थ करनेवाला है।

भावाथ—इन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा पदार्थका ग्रहण पूरी तौरसे नहीं होता है, एक एक पदार्थका, सो भी स्थूलतासे पदार्थके एक देशांशका होता है। बाकी अंश पदार्थान्तरोंके जाननेके लिये वह सदा व्याकुल (चञ्चल) रहता है। साथमें मोक्ष कर्मके साथ मिला हुआ है इसलिये पदार्थका यथार्थ स्वरूप नहीं जान सका, वह अनर्थावृत्ती है। वास्तवमें वह दुःख देनेवाला ही है इससे दुःख स्वरूप है। उस आत्मा मनुष्य (मुग्धी) नहीं होता।

दुःख रूप क्यों है ?

सिद्धं दुःखस्य मस्यायै व्याकुलस्योपलब्धतः ।

ज्ञातशेषार्थसन्नाप्य तदुत्तुत्सादिदर्शनात् ॥ २७९ ॥

अर्थ—जो पदार्थ ज्ञानका विषय नहीं होता है भया एक ही पदार्थका जो नहीं जाना जाता है उसी मन्त्र ज्ञाननेके लिये वह ज्ञान उत्पन्न होता, तथा अज्ञान रहता है। स्मृतिये वह व्याकृता पूर्ण है। व्याकृता होनेमें ही वह ज्ञान ( इन्द्रियत ) हुआ है।

भास्तां शोषार्थजिज्ञासोरज्ञानाद् व्याकुलं मनः ।

उपयोगि तदर्थं ज्ञानं याप्यमुग्रावहम् ॥ २८० ॥

मर्म—मैं यदाभीक जाननेको इच्छा करनेवाला मन ( इन्द्रिय भी ) अज्ञानमें  
जड़कत है, यह तो है ही, यन्तु तिन यवाने ज्ञातोंमें यह उपयुक्त ( क्या हुआ ) है।  
उनके विषयमें भी यह हुआ ही है। इस प्रकार / मोड़ बनाने हैं—

यममं मोहयुक्त्यान्निकृष्टं हेतुगौरवात् ।

अपुच्छिन्नं त्रयवर्तिन्यान् कुरुते भेदागुणकमात् ॥ २८ ॥

अथ—इति च नान्ये होत्राणां मतं, योऽहं महिषं देवमर्चये अतोऽहं  
अथ देवोऽहं । अथ च होत्रा इति च नान्ये मतं, योऽहं महिषं देवमर्चये, अतोऽहं

होता है इस लिये बीच बीचमें एक जाता है, और पहले दर्शन होता है, फिर अद्वैत होता है, फिर ईहा फिर अत्राय, फिर धारणा, इस तरह बहुतसे ज्ञान होने पर तब वहाँ पूरा ज्ञान होना है इसलिये कठिन साध्य है ।

और भी दोष—

परोक्षं तत्परायत्तादाक्षयमक्षसमुद्भवात् ।  
सदोषं संशयादीनां दोषाणां तत्र संभयान् ॥ २८२ ॥

अर्थ—वह परार्थीन होता है इसलिये परोक्ष है, इन्द्रियोंमें होता है इसलिये य ज्ञय ( एक देश ) ज्ञान कहलाता है । फिर भी उसमें मत्तय विपर्ययादिक अनेक आने हैं इसलिये वह ज्ञान सदोष है ।

और भी दोष ।

यिरुद्धं बन्धहेतुत्वाद्यन्धकार्याच्च कर्मजम् ।  
अभ्रेयोऽनात्मधर्मत्वात् कालुष्यादशुचिः स्यतः ॥ २८३ ॥

अर्थ—इन्द्रियजन ज्ञान बन्धका कारण है इसलिये वह विरुद्ध है, वह कर्मज है इसलिये वह ज्ञान आत्मीय नहीं कहलाता, किन्तु कर्ममें होने वाला है, वह आत्माका धर्म नहीं है इसलिये आत्माको हानिकारक है और वह बलिन है इसलिये वह स्वयं अपवित्र है ।

और भी दोष—

मूर्छितं पदपस्मारपेगपदधर्मानतः ।  
क्षणं वा हीयमानस्थान् क्षणं यावददर्शनान् ॥ २८४ ॥

अर्थ—वह ज्ञान मूर्छारोगी तरह कभी पड़ जाता है और कभी पड़ जाता है, कभी दीगता है कभी नहीं दीगता इसलिये वह मूर्छित है ।

और भी दोष—

अत्राणं प्रत्यनिकस्य क्षणं शान्तस्य कर्मण ।  
जीवदपस्थातोऽप्यदयमेप्स्यतः स्वरसंस्थितेः ॥ २८५ ॥

अर्थ—जो कर्म आत्माका शयु है, और जो क्षणशयुके लिये शान्त हो तो है, परन्तु अपनी मत्ता रखनेके कारण अशयु हो अपने स्वको नशवान्त है, ऐसे कर्मों में अत्राणसे वह ज्ञान रक्षा नहीं कर सकता ।

इन्द्रियजन ज्ञानको अक्षय—

विस्मयं पदगु वृत्त्येषु मनेस्त्वयोरप्यभकात् ।  
तत्र प्रथमेण नैव स्यादस्ति स्थूलेषु केषुचित् ॥ २८६ ॥

अर्थ—यह इन्द्रियजन्य ज्ञान छह द्रव्योंमें केवल मूर्त (पुद्गल) द्रव्यको ही सि ( थोड़ासा ) जानता है । उस पुद्गल द्रव्यमें भी सूक्ष्म पदार्थोंको तो जानता ही नहीं, स्थूलोंको जानता है, सो भी सर्वोंको नहीं, किन्तु किन्हीं किन्हीं पदार्थोंको ही जानता ।

तत्सु ग्राह्येषु तत्रापि नाग्राह्येषु कदाचन ।

तत्रापि विद्यमानेषु नातीतानागतेषु च ॥ २८७ ॥

अर्थ—उन किन्हीं किन्हीं स्थूल पदार्थोंमें भी जो ग्राह्य हैं अर्थात् इन्द्रियद्रव्य करने योग्य हैं उन्हींको जानता है, जो अग्राह्य हैं उन्हें नहीं जानता । ग्राह्य पदार्थों जो सामने मौजूद हैं उन्हींको जानता है, जो होचुक हैं अथवा भो होनेवाले हैं उन्हें नहीं जानता ।

तत्रापि सन्निधानस्य सन्निकर्षेषु सत्सु च ।

तत्राप्यवग्रहेहादौ ज्ञानस्यास्तिक्यदर्शनात् ॥ २८८ ॥

अर्थ—जो सामने मौजूद पदार्थ हैं उनमें भी निज पदार्थोंका इन्द्रियोंके साथ मेल (अप्यन्त निष्ठता) और सन्निकर्ष (संयोग) है उन्हींका ज्ञान होता है, उनमें भी अग्रह आदिर्क होने पर ही ज्ञान होता है अन्यथा नहीं ।

समस्तेषु न व्यस्तेषु हेतुभूतेषु सत्स्वपि ।

कदाचिज्जापतं ज्ञानमुपर्युपरि शुद्धितः ॥ २८९ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कारणोंके मिश्रण पर भी समस्त पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, निज निज पदार्थोंका होता है, वह भी तभी होता है जब कि ऊपर ऊपर कुछ ई बढ़ती जाती है, सो भी मदा नहीं होता किन्तु कभी कभी होता है ।

जानामे शुद्धता ११-१२—

तद्यथा मनोज्ञानस्य भूतज्ञानस्य वा सतः ।

ब्रालापाः सन्त्यमंश्यातास्तन्नागन्ताश्च शक्तयः ॥ २९० ॥

अर्थ—जब जब ज्ञानमें शुद्धता किम प्रकार जाती है । इसी ज्ञानमें अज्ञानों के अज्ञान अथवा भूतज्ञानके अज्ञानोंके मेल है जो उन मेलोंमें भी ज्ञान साक्ष्य होता है ।

११-१३ ११-१४—

तेषामानवस्थान्युत्पन्नानापाच्छक्तितोषया ।

सन्त्यह सन्नि भावन्ति सन्तानस्याननिष्ठमात् ॥ २९१ ॥

अर्थ—जब जब अज्ञानोंके अज्ञानोंके मेल है जो उन मेलोंमें भी ज्ञान साक्ष्य होता है ।



कर्मों के भेद हैं उन आवरण करनेवाले कर्मोंकी भी सन्तान बराबर चल्ती रहती है ।

भाचार्य—ज्ञानको ढकने वाले कर्मकी अपेक्षासे ही ज्ञानके भेद होते हैं । नितने भेद उस ढकनेवाले कर्मके हैं, उतने ही भेद ज्ञानमें हो जाते हैं । आवरण करनेवाले कर्मके असंख्यात भेद हैं । ये भेद स्वन्धकी अपेक्षासे हैं परन्तु प्रत्येक परमाणुमें ज्ञानको रोकनेकी शक्ति है इस लिये प्रत्येक परमाणुकी शक्तिकी अपेक्षासे उब कर्मके भी अनन्त भेद हैं । इसी प्रकार ज्ञानके भी असंख्यात और अनन्त भेद हैं । जैसा जैसा आवरण हटता जाता है वैसा वैसा ही ज्ञान प्रकट होता जाता है । इसी बातको नीचे बतलाते हैं—

तद्वालापस्य यस्योच्चैर्यावदंशस्य कर्मणः ।

क्षयोपशमिकं नाम स्यादवस्थान्तरं स्वतः ॥ २९२ ॥

अपि धीर्यान्तरायस्य लब्धिरित्यभिधीयते ।

तदैवास्ति स आलापस्तावदंशश्च शक्तितः ॥ २९३ ॥

अर्थ—जिस आलाप ( भेद-पटल ) के नितने कर्मके अंशका क्षयोपशम होना है, ही ज्ञानकी अवस्था दूसरी हो जाती है अर्थात् उतना ही ज्ञान प्रकट रूपमें आता है । प्रकार ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होता है उसी प्रकार वीर्यान्तराय कर्मका भी क्षयोपशम होना आवश्यक है । उक्त दोनों कर्मोंके क्षयोपशम होनेसे जो ज्ञानमें विशुद्धि होती है वही एक आलाप ( ज्ञान-भेद ) कहलाता है और शक्तिकी अपेक्षा भी उतना ही अंश ( ज्ञान विशुद्धि ) कहलाता है । भाचार्य—इसी प्रकार जितना १ ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम होता जाता है उतना २ ही ज्ञानांश प्रकट होता जाता है । आवरण क्रमसे हटने हैं इसीसे विदोष ज्ञान भी क्रमसे ही होता है । वे ही क्रमसे हटनेवाले आवरण और क्रमसे होनेवाले ज्ञान भिन्न भिन्न कहलाते हैं इसीका नाम आलाप है । यह ज्ञान विध रूप है । अब उपयोगात्मक ज्ञानको बतलाते हैं—

उपयोगात्मक ज्ञान—

उपयोगवियक्षायां हेतुरस्यास्ति तथा ।

अस्ति पञ्चेन्द्रियं कर्म कर्मस्यान्मानसं तथा ॥ २९४ ॥

अर्थ—जितना २ आवरण हटता है उतना २ ज्ञान प्रकट होता है यह उपर बह चुके ज्ञान होनेपर भी वस्तुका ज्ञान नहीं होता, ज्ञानके परिणाम जिस तरह उन्मुख होते हैं उसीका ज्ञान होता है इसीका नाम उपयोग है । इसी उपयोगकी विवक्षासे पञ्चेन्द्रिय कर्म और मानस कर्म, ये दोनों हेतु हैं ।

पञ्चेन्द्रिय और मानस कर्मका उदय होना चाहिये—

दैवात्तद्वन्धमायाति कथञ्चित्कस्यचित्कचित् ।

अस्ति तस्योदयस्तावन्न स्यात्संक्रमणादि चेत् ॥ २९५ ॥

अर्थ—उपर्युक्त दोनों प्रकारका कर्म (पञ्चेन्द्रिय, मानस) दैव योगसे कहीं किसीके प्रकार बँधता है और बन्ध होनेपर भी उसका उदय तभी होता है मन्त्र कि संक्रमणादिके

भावार्थ—कर्म बँधने पर भी यह नियम नहीं है कि उसका उदय हो ही होय, कर्मोंमें फेरफार भी हुआ करते हैं । कोई कर्म भिन्न भागोंके अनुसार बढ़ना भी रहता एक कर्म दूसरे रूप होनाता है । जैसे कि अनन्तानुबन्धिकाय द्वितीयोपशम सम्यक्त्व बढ़ कर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्ञलन, इनमेंसे किसी रूप होनाती फिर वो उसका उदय होगा वह इन्हीं तीनमेंसे किसी रूप होगा । अनन्तानुबन्ध रूपमें होसका । इसी प्रकार यहां बतलाते हैं कि जिस पुरुषके पञ्चेन्द्रिय कर्म और मानस कर्म हैं नाँव, फिर भी वे अपने रूपमें तभी उदय होंगे मन्त्र कि उनमें किसी प्रकार परिवर्तन न हो परिवर्तनका नाम ही संक्रमण है । संक्रमणके भी अनेक भेद हैं । कोई पूर्ण प्रवृत्ति का होता करता है, कोई कुछ अंशोंका । इसीके अनुसार उसके उद्वेलन, संक्रमण, अधःप्रवृत्त, निः आदि नाम भी हैं । यदि इसका सुखासा जानना हो तो गोम्मतमार कर्मकाण्डको देखिये ।

पर्याप्त नाम कर्मका भी उदय होना चाहिये—

अथ तस्योदये हेतुरस्ति हेत्वन्तरं यथा ।

पर्याप्तं कर्म नामेति स्यादवश्यं सहोदयात् ॥ २९६ ॥

अर्थ—भागे उस पञ्चेन्द्रिय और मानस कर्मके उदयमें दूसरा कारण भी बताया है । उपर्युक्त दोनों कर्मोंके साथ पर्याप्त नाम कर्मका भी उदय होना आवश्यक है । पञ्चेन्द्रियोंके रूप उग्रादिक पूर्ण भी नहीं होपते, बीचमें ही गूट्यु होनाती है । इसी पर्याप्त कर्मका उदय भी अवश्य होना चाहिये ।

इन्द्रिय और मनका रचना—

सति तत्रादये मिद्धाः स्यतो नाकर्मवर्गणाः ।

मनो देहेन्द्रियाकारं जायते तन्निमित्ततः ॥ २९७ ॥

अर्थ—संज्ञे कर्मके उदय होने पर ना कर्म वर्गणाये ना माने जायती है वह ही स्वयंभू है उन ना कर्म वर्गणाओंके निमित्तसे मन और तत्परिणामेन्द्रियोंका जाकार होता है ।

इन्द्रिय और मनका रचना—

तेषां परिसमाविध्यैजायते देवयोगतः ।

मनसः स्वाधीनयोगेन वाच्यं हेतुर्देन्द्रियम् ॥ २९८ ॥

अर्थ—उन इन्द्रियादिकोंकी रचनाकी भी देवयोगसे समाप्ति हो जावे । फिर वही कर्मोंके सयोगप्राप्त होनेसे स्वप्न पदार्थका उपयोग हो । उसमें भी बाह्य हेतु द्रव्येन्द्रिया हैं ।

उपयोगमें अन्यकारणकलाप—

**अस्ति तत्रापि हेतुर्वा प्रकाशो रविदीपयोः ।**

**अन्यदेशस्थसंस्कारः पारं पर्यावलोकनम् ॥ २९९ ॥**

अर्थ—इतना सब कुछ होने पर भी यदि मूर्च्छा और दीपकका प्रकाश न हो तो भी उपयोगात्मक ज्ञान नहीं हो सका है । इन्द्रियें प्रकाशका होना आवश्यक है । और भी—पहले किसी स्थानमें किये हुए ज्ञानके संस्कार भी कारण हैं । फिर भी परम्परामें अवरोधन (प्रत्यक्ष) होता है ।

देखो हिनतामें ज्ञान भी नहीं हो सक्त है—

**पतेषु हेतुभूतेषु सत्सु सद्ज्ञानसंभवात् ।**

**रूपेणैकेन हीनेषु ज्ञानं नार्थापयोगि तत् ॥ ३०० ॥**

अर्थ—इन ऊपर कहे हुए पञ्चेन्द्रियकर्म, मानस कर्म, पर्याप्तकर्म, इन्द्रियादिकोंकी रचना, सूर्यादिकका प्रकाश, अन्य देशस्थ संस्कार आदि समस्त हेतुओंके होने पर ही सम्यक् ठीक २ भान ( ज्ञान-प्रत्यक्ष ) होना संभव है । यदि इन कारणोंमेंसे कोई भी कम हो तो पदार्थका ज्ञान नहीं हो सक्त ।

**अस्ति तत्र विशेषोऽयं विना बाह्येन हेतुना ।**

**ज्ञानं नार्थापयोगीति लब्धिज्ञानस्य दर्शनात् ॥ ३०१ ॥**

अर्थ—यहाँ पर इतना विशेष मर्म लेना चाहिये कि सयोगप्राप्त ( लब्धि ) ज्ञानके होने पर भी बिना बाह्य कारणके मिले पदार्थोंका ज्ञान ( उपयोग रूप ) नहीं हो सक्त है ।

अयोगप्राप्तका स्वरूप—

**देशातः सर्वतां पातिसर्पकानामिहोदयात् ।**

**क्षायोपशमिकावस्था न चेज्ज्ञानं न लब्धिमतः ॥ ३०२ ॥**

अर्थ—देशनातिस्पर्धकोंका उदय होने पर सर्वपातिसर्पकोंका उदयसय ( उदया-भावी सय ) होने पर सयोगप्राप्त होता है । ऐसी सयोगप्राप्त-अवस्था यदि न हो तो वह लब्धिरूप ज्ञान भी नहीं हो सक्त ।

भावार्थ—सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदिकमें सयोगप्राप्तका सुन्दर रूप का प्रकाश है—“ सर्वपातिसर्पकानामुदयसयात् तेषामेव सद्योज्ञानम् देशपातिसर्पकानामुदयात् सयोगप्राप्तिकं नावने ” जो कर्म आत्माके सम्पूर्ण रूपाविते गुणोंसे होते हैं उन्हें वातिक कहते हैं, और जो गुणोंसे एक देशमें होते हैं उन्हें देशवार्तिक कहते हैं ।

अबुद्धिपूर्वक दुःख ही साध्य है—

साध्यं तन्निहितं दुःखं नाम यावदबुद्धिजम् ।

कार्यानुमानतां हेतुर्वाच्यां वा परमागमात् ॥ ३११ ॥

अर्थ—जो बिना बुद्धिपूर्वक दुःख है वही मिट्ट करके योग्य है। मिट्टि दो ही प्रकारसे हो सकती है, यानो कार्यको देखकर हेतु कहना चाहिये, अगमसे उसकी मिट्टि माननी चाहिये ।

भावार्थ—हिमी अप्रत्यक्ष वस्तुके जाननेके लिये दो ही उपाय हैं। यातो देख कर उसका अनुमान करना, अथवा आगमप्रमाणसे उसे मानना ।

अनुमानमें दृष्टान्त—

अस्ति कार्यानुमानाद्यै कारणानुमितिः क्वचित् ।

दर्शनात्तद्वदूरस्य देवो वृष्टो यथोपरि ॥ ३१२ ॥

अर्थ—यहीं पर कार्यको देखकर कारणका अनुमान होनाता है। जिस प्रकार नाले ( छोटी नदी ) के बड़े हुए प्रवाहको देखकर यह अनुमान कर लिया जाता है कि उसकी ओर मेघ वर्षा हैं। बिना मेघके बरसे नदीका प्रवाह नहीं चल सका। इसी प्रकार उसका कारणका अनुमान कर लिया जाता है ।

अबुद्धिपूर्वक दुःख विद्विषा अनुमान—

अस्त्यात्मनो गुणः सौख्यं स्वतःसिद्धमनन्धरम् ।

घातिकर्माभिघातत्वादसदाऽदृश्यतां गतम् ॥ ३१३ ॥

सुखस्यादर्शनं कार्यलिङ्गं लिङ्गमिवात्र तत् ।

कारणं तद्विपक्षस्य दुःखस्यानुमितिः सतः ॥ ३१४ ॥

अर्थ—आत्माका सुख गुण स्वाभाविक है, वह स्वतः सिद्ध है और निर्विकार है। घातिका कर्मोंके घातसे नष्टना होगया है अर्थात् अदृश्य होगया है। वही सुख (अभाव) कार्य रूप हेतु है। वह हेतु सुखके विपक्षी दुःखका ( जो कि आत्मामें निरन्तर अनुमान कराता है ।

भावार्थ—आत्मामें कर्मोंके निमित्तसे सुख गुणका अभाव दीखता है। उस सुख के अभावसे ही अनुमान करलिया जाता है कि आत्मामें दुःख है। क्योंकि सुख ही दुःख है। जब सुख नहीं है तब दुःखकी सत्ताका अनुमान कर लिया जाता है। दुःख न होता तो आत्मीक सुख प्रकट होजाता। वह नहीं दीखता इसलिये दुःखका मिट्ट होता है वस यही कार्य—कारणभाव है। सुखका अदर्शन कार्य है उससे दुःखका कारण होता है ।

उपशङ्का मुख्यतः वाच्य—

सर्वसंसारिजीवानामस्ति दुःखमनुबुद्धिजम् ।  
हेतोर्नसर्गिकस्यात्र सुखस्याभावदर्शनात् ॥ ३१५ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण संसारी जीवोंके अनुबुद्धि पूर्वक दुःख है । क्योंकि सुखका अदर्शनका  
व्यापक हेतु दीखता है ।

हेतुकी विद्वत्ता—

नासौ हेतुरस्ति योस्ति सिद्धसंदष्टिदर्शनात् ।  
व्याप्तेः सद्भावात् नूनमन्यथानुपपत्तिः ॥ ३१६ ॥

अर्थ—यह उपर्युक्त हेतु अस्ति नहीं है । इस विषयमें बहुतसे प्रसिद्ध दृष्टान्त मौजूद  
हैं । सुखका जहां अभाव है वहां दुःख अवश्य है ऐसा कलियार्थ निश्चयमें व्यापक व्या-  
प्तेका सद्भाव है । जहां पर दुःख नहीं है वहां सुखका भी अदर्शन नहीं है अर्थात् कि अन्यत्र  
य धारी अर्हन् सर्वत्र । अहन् देवके दुःख नहीं है इसलिये अनन्त सुखकी उनके उद्दि-  
ष्ट है । यदि ऐसा कार्य-कारण भाव न माना जाय तो व्याप्ति भी नहीं बन सकती ।

व्याप्तिमें दृष्टान्त—

व्याप्तिर्यथा चिन्तेयस्य मूर्धितस्यैव कस्यचित् ।  
अदृश्यमपि मयादिपानमस्त्यत्र कारणम् ॥ ३१७ ॥

अर्थ—व्याप्ति इस प्रकार है—जैसे किसी मूर्धितकी तरह चेष्टा (दर्शन) पुण्यकी देखाकर  
यह अनुमान कर लिया जाता है कि इसने मदिरापान किया है । यद्यपि मदिरा-पान प्रत्यक्ष नहीं  
होता भी उसका कार्य बेहोशी देकर उस मदिरापान-कारणका अनुमान कर लिया जाता है ।  
सी प्रकार प्रकृतमें जानना ।

अदर्शनका प्रमाण—

अस्ति संसारिजीवस्य नूनं दुःखमनुबुद्धिजम् ।  
सुखस्यादर्शने स्वस्य सर्वतः कथमन्यथा ॥ ३१८ ॥

अर्थ—संसारी जीवके निश्चयमें अनुबुद्धि पूर्वक दुःख है । यदि दुःख नहीं होता तो  
(आपकी) सुखका सर्वथा अदर्शन कैसे होजाता ।

ततोऽनुमीयते दुःखमस्ति नूनमनुबुद्धिजम् ।  
अदृश्यं कर्मपदस्य नैरन्तर्यामिण्यादितः ॥ ३१९ ॥

अर्थ—[य] हमने कर्म दृष्ट आत्माके निश्चय अर्थात् उपर्युक्त अर्थ है कि  
अनुबुद्धि पूर्वक दुःख है ऐसा अनुमान होता है ।

**पातिकर्मकी शक्ति—**

असिद्धा न तथा शक्तिः कर्मणः फलदर्शनात् ।

अन्यथाऽऽत्मतया शक्ते र्वाधिकं कर्म तत्कथम् ॥ ३२८ ॥

अर्थ—मुख्य गुणके अभावमें होनेवाली जो आकृष्टता है, वह शक्तिवा कर्मोंकी शक्ति है, यह बात असिद्ध नहीं है, क्योंकि कर्मोंका फल दीप्तता है। यदि वह कर्म-शक्ति नहीं है तो आत्माकी शक्तिका बाधक कर्म कैसे होता है।

**सारांश—**

नपात्सिखं ततो दुःखं सर्वदेशप्रकम्पयत् ।

भात्मनः कर्मण्यस्य ध्यायत्कर्मरसोदयात् ॥ ३२० ॥

अर्थ—इसविषये यह बात न्यायसे सिद्ध हो चुकी कि कर्मसे बंधे हुए आत्मा के लिये  
होना उचित होता है तब तक उसके सम्पूर्ण प्रवेशों में हम्प (संशान्तता) करने का उचित है।

【附】

देशतोऽस्यैव दृष्टान्तो यारिगिर्यायुना हृतः ।

प्याहुर्मोऽध्याहुलः स्वस्यः स्वाधिकारममत्तवान् ॥ ३१० ॥

अर्थ—इसी ११ एक देश स्थान भी है समुद्र ताम्रि (अंगिका) समुद्र ताम्रि (अंगिका) है । ११ एक देश स्थान भी है समुद्र ताम्रि (अंगिका) समुद्र ताम्रि (अंगिका) है ।

है। इस लक्ष्य समुद्र-स्तरों के समान है। उस समय यह साहजिक है। पानी भी वही होता है। दूसरी तरफ जो पानी होता है कि सारा पानी मिलाकर वह मिलाकर ही वह पानी मिलाकर ही होता है। तिसरी-चौथी तरफ जो पानी मिलाकर ही वह पानी मिलाकर ही होता है।

42 434-100

न ५ राज्यं मुक्तं गच्छति गच्छमानमिवास्ति तत् ।

इत्युक्तं च इत्येवमस्मिन्नर्थेनमात्रेण ॥ ३३१ ॥

१. संस्कृत २. उत्तर ३. प्रश्न ४. उत्तर ५. प्रश्न ६. उत्तर ७. प्रश्न ८. उत्तर ९. प्रश्न १०. उत्तर ११. प्रश्न १२. उत्तर १३. प्रश्न १४. उत्तर १५. प्रश्न १६. उत्तर १७. प्रश्न १८. उत्तर १९. प्रश्न २०. उत्तर २१. प्रश्न २२. उत्तर २३. प्रश्न २४. उत्तर २५. प्रश्न २६. उत्तर २७. प्रश्न २८. उत्तर २९. प्रश्न ३०. उत्तर ३१. प्रश्न ३२. उत्तर ३३. प्रश्न ३४. उत्तर ३५. प्रश्न ३६. उत्तर ३७. प्रश्न ३८. उत्तर ३९. प्रश्न ४०. उत्तर ४१. प्रश्न ४२. उत्तर ४३. प्रश्न ४४. उत्तर ४५. प्रश्न ४६. उत्तर ४७. प्रश्न ४८. उत्तर ४९. प्रश्न ५०. उत्तर ५१. प्रश्न ५२. उत्तर ५३. प्रश्न ५४. उत्तर ५५. प्रश्न ५६. उत्तर ५७. प्रश्न ५८. उत्तर ५९. प्रश्न ६०. उत्तर ६१. प्रश्न ६२. उत्तर ६३. प्रश्न ६४. उत्तर ६५. प्रश्न ६६. उत्तर ६७. प्रश्न ६८. उत्तर ६९. प्रश्न ७०. उत्तर ७१. प्रश्न ७२. उत्तर ७३. प्रश्न ७४. उत्तर ७५. प्रश्न ७६. उत्तर ७७. प्रश्न ७८. उत्तर ७९. प्रश्न ८०. उत्तर ८१. प्रश्न ८२. उत्तर ८३. प्रश्न ८४. उत्तर ८५. प्रश्न ८६. उत्तर ८७. प्रश्न ८८. उत्तर ८९. प्रश्न ९०. उत्तर ९१. प्रश्न ९२. उत्तर ९३. प्रश्न ९४. उत्तर ९५. प्रश्न ९६. उत्तर ९७. प्रश्न ९८. उत्तर ९९. प्रश्न १००. उत्तर

नमः शिवाय नारायणाय पुनिः रामे । सुदिने ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३३९ ॥

अर्थ—यदि सुख गुण सदा विद्यमान ही माना जावे तो अवश्य दोष आते हैं । जो दोष आते हैं उनकी युक्ति पहले ही बड़ी जाचुर्नी है । जो स्वस्थ जीव है उसके वास्तवमें व्याकुलता बड़ी हो सकती है । और मंगारी जीवके व्याकुलता है, इस लिये जाना जाना है कि गुणका अभाव है ।

उचीकी दूसरी एक—

नचैकतः सुखव्यक्तिरेकतो दुःखमस्ति तम् ।

एकस्यैकपदे सिद्धमित्यनेकान्तवादिनाम् ॥ ३३३ ॥

अर्थ—अनेकान्तवादी (जैन) एक पदार्थमें एक ही स्थानमें दो धर्म मान लेते हैं, इस लिये एक आत्मामें ही सुख व्यक्ति और दुःखमें दुःख व्यक्ति माननेवा चाहिये अपना एक ही आत्मामें एक समयमें सुख और दुःख दोनों मानना चाहिये । ऐसा माननेसे जैनियोंका अनेकान्तवाद भी घट जाता है । सो यह कहना भी असमयका है ।

अनेकान्तका सत्य—

अनेकान्तः प्रमाणे स्यादर्थदिकत्र वस्तुनि ।

गुणपर्याययोर्द्वैताद् गुणसुखदुःखव्यवस्थया ॥ ३३४ ॥

अर्थ—एक वस्तुमें होनेवाला जो अनेकान्त है वह प्रमाण अवश्य है, परन्तु सब ग्राह नहीं । जहाँ पर गुण, पर्यायके कथनमें एकको मुख्य कर दिया जाता है और दूसरेको उसे समय गौण कर दिया जाता है, वहीं पर अनेकान्त प्रमाण है और वहीं पर द्वैत पड़ता है ।

अभिव्यक्तिस्तु पर्यायरूपो स्यात्सुखदुःखयोः ।

तद्वैतस्य तत्र तद्वैतं द्वैतं चेद्वैतव्यवस्थः कश्चिन् ॥ ३३५ ॥

अर्थ—परन्तु सुख, दुःखकी व्यक्ति (प्रगल्भा) तो पर्याय स्वरूप है । ऐसी अवस्थामें द्वैत नहीं पड़ सकता । द्वैत यदि वहीं पर होगा तो द्वयकी उपस्थासे ही होगा ।

भावार्थ—उपर दो प्रकारकी शंकाएँ उठाई गई हैं, उनमें पहली तो यह थी कि सुख सदा ही रहता है ! इसका यह उत्तर दे दिया गया कि यदि सुख सदा ही रहता है तो जीव व्याकुल क्यों होता है ? सुख गुणकी प्रगल्भामें व्याकुलता नहीं रह सकती । इसलिये सुख सदा प्रगट नहीं रहता ।

दूसरी शंका इस प्रकार थी की-एक आत्मामें सुख और दुःख थोड़ा २ दोनों हो साथ मानो । और यही अनेकान्त है ! इसका यह उत्तर है कि एक पदार्थमें दो धर्म एक साथ अवश्य रहते हैं । परन्तु यह वे ही हैं जिनमें एकके कथनमें मुख्यता पाई जाती है और दूसरेकेमें गौणता, तथा यह बात वहीं घट सकती है जहाँ कि एक ही द्वयमें गुण और पर्यायोंका कथन किया जाता है । गुणदुःख दोनों एक साथ कभी नहीं रह सकते । क्योंकि इनकी

क्याप्यकी ओरसे है । एक समयमें एक ही पर्याय होसकी है दो नहीं । ये दो एक ( मुन ) युगकी पर्यायें हैं । दु.स वैभक्तिक पर्याय है और गुप्त स्वभावोत्पन्नानादिक और वैभक्तिक पर्यायें क्रमसे ही होती हैं । इस लिये एक समयमें गुप्त और कल्पना सीक नहीं है ।

सारांश—

बहु प्रलपनेनालं साध्यं सिद्धं प्रमाणतः ।

सिद्धं जैनागमाच्चापि स्वतः सिद्धो पथागमः ॥ ३११ ॥

अर्थ—भर भरित कहनेमें क्या प्रयोजन ! हमारा साध्य “ कर्मवद आत्मा है ” भगवान् प्रमाणसे सिद्ध हो चुका, और जैनागमसे भी आत्मामें दु.सकी सत्ता सिद्ध हुई । एता आगममें अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं है, आगम स्वयं प्रमाणवत् है ।

भागमकथन—

गतस्मरंश्चरणनमाज्ञामात्रे तदागमः ।

यादृक्कर्मकले दृष्टे पश्यमाने रसाङ्गुणम् ॥ ३१२ ॥

अर्थ—पहले एक कर्मोंकी आज्ञावत् समझना चाहिये, वम उसीका नाम भागम है । यह कहते हैं कि एक दृष्ट कर्मोंका उद्भावनापन जो कर रहे हैं वही दृष्ट है, जिसका जो कर्मवद है वह भागम दृष्ट है ।

वर्णन—

अस्मिन्नात्र पदत्रयेन त्रीणाः कार्येण कथयताः ।

अत्र पञ्चाक्षाद्यापवाक्षा भगवन्ते दृष्टिजनोमतः ॥ ३१३ ॥

अर्थ—यहाँ तीन पदोंके द्वारा तीन कार्येण कथयताः की गई हैं । यह कहते हैं कि भागम, पञ्चाक्षा, दृष्टिजनोमतः । अत्र पञ्चाक्षा, दृष्टिजनोमतः । अत्र पञ्चाक्षा, दृष्टिजनोमतः । अत्र पञ्चाक्षा, दृष्टिजनोमतः ।

इति भागमकथनम्—

अत्रास्मिन्नात्र पदत्रयेन त्रीणाः कार्येण कथयताः ।

अत्र पञ्चाक्षाद्यापवाक्षा भगवन्ते दृष्टिजनोमतः ॥ ३१४ ॥

अर्थ—यहाँ तीन पदोंके द्वारा तीन कार्येण कथयताः की गई हैं । यह कहते हैं कि भागम, पञ्चाक्षा, दृष्टिजनोमतः । अत्र पञ्चाक्षा, दृष्टिजनोमतः । अत्र पञ्चाक्षा, दृष्टिजनोमतः ।

अत्रास्मिन्नात्र पदत्रयेन त्रीणाः कार्येण कथयताः ।

अत्र पञ्चाक्षाद्यापवाक्षा भगवन्ते दृष्टिजनोमतः ॥ ३१५ ॥

अर्थ—यहाँ तीन पदोंके द्वारा तीन कार्येण कथयताः की गई हैं । यह कहते हैं कि भागम, पञ्चाक्षा, दृष्टिजनोमतः । अत्र पञ्चाक्षा, दृष्टिजनोमतः । अत्र पञ्चाक्षा, दृष्टिजनोमतः ।



उपाय ही नहीं है क्योंकि कर्मोंको दुःखका कारण न माननेसे अनेक दोष आते हैं, यदि केवल संज्ञी जीवोंके ही दुःख होता है, अमंज्ञी जीवोंके नहीं ऐसा कहनाय !

और भी—

महद्येत्संज्ञिनां दुःखं स्यत्पुं चाऽसंज्ञिनां न वा ।  
यतो नीचपदादुच्येः पदं श्रेयस्तथामतम् ॥ ३४१ ॥

अर्थ—अपना यह कहा जाय कि बहुत भारी दुःख संज्ञियोंके ही होता है और थोड़ा अमंज्ञियोंके होता है ! तोभी यह सब कल ठीक नहीं है । क्योंकि नीच स्थानसे उच्चस्थान सरा अच्छा माना गया है ।

भावार्थ—संज्ञी और अमंज्ञी जीवोंमें सन्ज्ञियोंका दर्जा कई गुणा उत्तम है । इसलिये क प्रसारसे नीचे ही दुःख अधिक होना चाहिये । और प्रत्यक्ष भी देखते हैं कि एकेन्द्रिय जीवोंमें ज्ञानकी कितनी होना है, उनको अपनी सत्ताका पता भी नहीं होपाता । क्या उन्हें ज्ञानान्य कम दुःख है ? वही उनको अन्न काल तक भटकानेवाले कर्मबन्धका कारण है ।

यदि यह कहा जाय—

न च वाच्यं शरीरं च स्पर्शनादीन्द्रियाणि च ।  
सन्ति सूक्ष्मेषु जीवेषु तत्फलं दुःखमङ्गिनाम् ॥ ३४२ ॥

अर्थ—यदि यह कहा जाय कि एकेन्द्रियादिक सूक्ष्म जीवोंके भी शरीर और स्पर्शनादिक इन्द्रियां हैं । इसलिये उनको भी शारीरिक और ऐन्द्रियिक दुःख ही उठाना पड़ता है ! तो यह कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि—

दोषपाते—

अव्याप्तिः कर्मणावस्थावस्थितेषु तथा सति ।  
देहेन्द्रियादीनो कर्मशून्यस्य तस्य दर्शनान् ॥ ३४३ ॥

अर्थ—यदि शारीरिक और इन्द्रियजन्य ही दुःख माना जावे, और कोई दुःख ( कर्म-जन्य ) न माना जावे तो जो जीव विप्रहृतिमें हैं, जहां केवल कर्मणा अवस्था है; शरीर, इन्द्रियादि (के कारण)नो कर्म नहीं है, वहां दुःख है या नहीं ?

भावार्थ—विप्रहृतिमें संसारावस्था होनेसे दुःख तो है परन्तु शरीर, इन्द्रियादिक ही नो लोग केवल शारीरिक और ऐन्द्रियिक ( मानसिक ) दुःख ही मानते हैं उनके अन्योपपाति दोष दिया गया है ।

यदि यह कहा जाय—

अस्ति चेत्कर्मणो देहस्तत्र कर्मकदम्भकः ।  
दुःखं तदेतुरित्यस्तु सिद्धं दुःखमनीहितम् ॥ ३४४ ॥

अर्थ—यदि यह कहनाय कि विग्रहगतिमें, भी कर्मका समूह का कानून लागू है इसलिये शरीरजन्य दुःख वहाँ भी है ! तो हम कथनमें कर्मजन्य दुःख ही सिद्ध हुआ । इसलिये कर्म ही दुःख देनेवाला है यह बात भली भाँति सिद्ध हो गई ।

वार्तावक मुख कहार है ?

अपि सिद्धं सुखं नाम यदनाकुललक्षणम् ।

सिद्धत्वादपि नो कर्माविप्रमुक्तां चिदात्मनः ॥ ३४५ ॥

अर्थ—तथा यह बात भी सिद्ध हो चुकी कि सुख वही है जो अनाकुल लक्षणवाला है, और वह निराकुल सुख इस जीवात्माके कर्म और नो-कर्मके छूट जानेपर ( सिद्धात्मनः ) होता है । ( यहाँपर नो-कर्म शब्दसे कर्म और नो-कर्म दोनोंका ग्रहण है । )

शङ्काकार—

ननु देहेन्द्रियाभावः प्रसिद्धः परमात्मनि ।

तदभावे सुखं ज्ञानं सिद्धिमुन्नीयत कथम् ॥ ३४६ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि परमात्मामें शरीर और इन्द्रियोंका अभाव है, यह बात प्रसिद्ध है । परन्तु बिना इन्द्रिय और शरीरके सुख और ज्ञान किस प्रकार भली भाँति सिद्ध हो सकते हैं ?

भावार्थ—शङ्काकारका अभिप्राय शारीरिक और ऐन्द्रियिक सुख, ज्ञानसे है । उसमें इष्टिमें शरीर और इन्द्रियोंके बिना सुख और ज्ञान होते ही नहीं ।

उत्तर—

न यद्यतः प्रमाणं स्यात् साधने ज्ञानसौख्ययोः ।

अत्यक्षस्याशरीरस्य हेतोः सिद्धस्य साधनम् ॥ ३४७ ॥

अर्थ—शङ्काकारका उपयुक्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान और सुखके सिद्ध करनेमें इन्द्रिय और शरीर प्रमाण नहीं है किन्तु प्रसिद्ध, अतीन्द्रिय और, अशरीर ही हैं उनकी सिद्धिमें साधन है ।

सिद्धि प्रयोग—

अस्ति शुद्धं सुखं जातं सर्वतः कस्यचिन्नृपतः ।

वैशतोप्यस्मदादानां स्वादुमात्रं यत् कथं ॥ ३४८ ॥

अर्थ—शुद्ध ज्ञान और शुद्ध सुख ( आत्मीय ) का थोड़ासा स्वाद हमलोगोंमें भी किसीके पाया जाता है, इससे, जाना जाता है कि किसीके शुद्ध ज्ञान और सुख सम्पूर्णतासे भी है ।

ग जाना है वह अन्यकी अपेक्षा अपने वाले व्यक्तकी अपेक्षासे  
वाला कोई भी माधन बिना अन्यके नहीं हो सकता ।

—शरीरादिक ज्ञानमुक्तको ज्ञानाने हैं इसलिए वे ज्ञान गुणके प्रति व्यक्त  
वे तभी ज्ञानमत्तकें हैं नच कि मूलमें आत्माका अन्य ( सम्बन्ध ) हो  
न वे शरीरादिक ज्ञान गुणको कहीं घट पटमें तो ज्ञानाने । इस लिये शरीरादिक  
ज्ञान मुक्तको ज्ञान मत्तकें हैं क्योंकि ज्ञान गुण आत्माके ही गुण हैं । जिस  
पदार्थका व्यक्तक है पणतु वह पदार्थको नहीं ज्ञान मत्ता है मर्याद पदार्थ  
बिना पदार्थोंके रहने हुए कोई भी दीपक पदार्थोंको नहीं दिखा सकता । इसलिए  
जाने वाला कोई भी व्यक्तक माधन बिना मूलके हुए नहीं कर सकता ।

उदा०—

दृष्टान्तोऽगुरु गन्धस्य व्यक्तकः पायको भवेत् ।  
न स्याद्विनाऽगुरुद्रव्यं गन्धस्तत्पायकस्य नः ॥ ३५० ॥

अर्थ—दृष्टान्तके लिये अग्नि है—अग्नि अगुरु आदि गुणान्वय पदार्थोंकी व्यक्तक  
। करानेवाली ) है । पणतु वह गुणान्वय गन्ध, बिना अगुरु द्रव्यके अग्निही नहीं हो  
। अगुरु द्रव्यके रहने हुए ही अग्नि उसकी गुणान्वयो विदिन बना देती है ।

उदा०—

तथा देहेन्द्रियं पार्थाः सन्त्यभिन्नव्यक्तकाः कश्चित् ।  
ज्ञानस्य तथा मीमांस्यस्य न स्यात् विभक्तुस्वात्मकाः ॥ ३५१ ॥

अर्थ—इसी प्रकार ( आत्माके रहने हुए ही ) देह इन्द्रिय और पदार्थ वही ज्ञान  
र गुणके व्यक्तक ( विदिन करानेवाले ) हैं । पणतु देहादेक स्वयं ज्ञान, गुण स्वयं नहीं  
। ऐसा तो एक आत्मा ही है ।

उपादानके अभावसे व्यक्तक कुछ नहीं हो पाता—

उपादानशून्येषु स्यादभिन्नव्यक्तकाभ्युत्पत्तिः ।  
या तत्र सर्वत्र हेतुशून्यानुपपत्तिः । ३५२ ॥

उपादान शून्यकामें व्यक्तक माधन गुण अथवा ज्ञान नहीं हो सकते । यदि ज्ञान  
ता ज्ञान हो जाय तो सर्वत्र हेतुशून्यताका अर्थ होता अर्थों का  
ने लगेगा । बिना कारणके रहने हुए ही उत्पन्न करनेवाला व्यक्तक  
उत्पत्ति—आत्मा के रहने हुए ही ज्ञान, गुण ही उत्पन्न है ।

अर्थ—स्पर्शादि विषयों को प्राप्त होकर यह मोह हो मय ज्ञान और मुक्त का होता है । उस ज्ञान और मुक्त के विषय में ये स्पर्शादि पदार्थ—नई विचार भा धर लेते हैं ।

अब पदार्थ ज्ञान के उद्देश्य नहीं है—

अर्थाः स्पर्शादयः स्वरं ज्ञानमुत्पादयन्ति चेत् ।

घटादी ज्ञानशून्यं च तत्किं नोत्पादयन्ति ते ॥ ३५४ ॥

अर्थ—यदि स्पर्शादि अनेक पदार्थ ही स्वयं ज्ञान को पैदा करते हैं तो ज्ञानशून्य घटादि पदार्थों में क्यों नहीं उत्पन्न करने ? अर्थात् आत्मा में ही ज्ञान क्यों होता है ?

अथ चेच्छेतेन द्रव्ये ज्ञानस्योत्पादकाः कश्चित् ।

चेतनत्वात्स्यं तस्य किं तत्रोत्पादयन्ति वा ॥ ३५५ ॥

अर्थ—यदि यह कहा जावे कि स्पर्शादि ज्ञान को पैदा करते हैं, परन्तु चेतन द्रव्य में ही पैदा करते हैं, तो चेतन द्रव्य तो स्वयं ज्ञान रूप है, वहां उन्होंने पैदा क्या किया ?

साधन—

ततः सिद्धं शरीरस्य पश्चादगणां तदर्थसात् ।

अस्त्यकिञ्चित्करत्वं तद्यिता ज्ञानं सुखमिति ॥ ३५६ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध होगई कि शरीर और पाँचों ही इन्द्रिया आत्मके ज्ञान और सुख के प्रति सर्वथा अकिञ्चित्कर हैं, अर्थात् कुछ नहीं कर सकते ।

पुनः शङ्काकार—

ननु देहेन्द्रियार्थेषु सत्सु ज्ञानं सुखं नृणाम् ।

असत्सु न सुखं ज्ञानं तदकिञ्चित्करं कथम् ॥ ३५७ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि मनुष्यों के शरीर इन्द्रिय और पदार्थों के रहने हुए ही ज्ञान और सुख होता है । बिना शरीरादिक के ज्ञान और सुख नहीं होता । फिर शरीर, इन्द्रिय और पदार्थ, ज्ञान और सुख के प्रति अकिञ्चित्कर ( कुछ भी नहीं करने वाले ) क्यों हैं ?

उत्तर—

नैवं यतोन्वयापेक्षे व्यञ्जके हेतुदर्शनात् ।

कार्याभिव्यञ्जकः कोपि साधनं न विनान्वयम् ॥ ३५८ ॥

शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है । क्योंकि शरीरादिकों को ज्ञानादिकों

\* बौद्ध सिद्धान्त ज्ञानोत्पत्ति में पदार्थों को ही कारण मानता है, उसीका खण्डन इस श्लोक द्वारा किया गया है । कोई-से जो अब पदार्थों को ही ज्ञानोत्पादक मानते हैं उनका भी खण्डन समझना चाहिये ।

प्रति हेतु बतलाया जाना है वह अन्वयकी अपेक्षा रखने वाले व्यञ्जककी अपेक्षासे हैं ।  
कार्यका जतलाने वाला कोई भी माधन बिना अन्वयक नहीं हो सका ।

भाषार्थ—शरीरादिक ज्ञानमुखको जतलाने हैं इसलिये वे ज्ञान मुखके प्रति व्यञ्जक हेतु हैं । परन्तु वे तभी जतलासके हैं जब कि मूलमें आत्माका अन्वय ( सम्बन्ध ) हो । बिना आत्माके वे शरीरादिक ज्ञान मुखको कहीं षट् षट्में तो जतलावें । इस लिये शरीरादिक आत्मामें ही ज्ञान मुखको जतला सकें हैं क्योंकि ज्ञान मुख आत्मामें ही गुण है । जिस प्रकार दीपक पदार्थोंका व्यञ्जक है परन्तु वह पदार्थोंको तभी जतला सकता है जबकि पदार्थ मौजूद हों, बिना पदार्थोंके रहने हुए कोई भी दीपक पदार्थोंको नहीं दिया सका । इसलिये कार्यको बतलाने वाला कोई भी व्यञ्जक माधन बिना मूलके कुछ नहीं कर सका ।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तोऽगुरुगन्धस्य व्यञ्जकः पायको भवेत् ।

न स्याद्विनाऽगुरुद्रव्यं गन्धस्तत्पावकस्य सः ॥ ३५९ ॥

अर्थ—दृष्टान्तके लिये अग्नि है—अग्नि अगुरु आदि सुगन्धित पदार्थोंकी व्यञ्जक ( विदिन करानेवाली ) है । परन्तु वह सुगन्धित गन्ध, बिना अगुरु द्रव्यके अग्निकी नहीं हो सकती । अगुरु द्रव्यके रहने हुए ही अग्नि उसकी सुगन्धको विदिन करा देती है ।

दृष्टान्त—

तथा देहेन्द्रियं चार्थाः सन्त्यभिव्यञ्जकाः कश्चित् ।

ज्ञानस्य तथा सौख्यस्य न स्ययं चित्सुखात्मकाः ॥ ३६० ॥

अर्थ—इसी प्रकार ( आत्मामें रहने हुए ही ) देह, इन्द्रिय और पदार्थ कहीं ज्ञान और मुखके व्यञ्जक ( विदिन करानेवाले ) हैं । परन्तु देहादिक स्वयं ज्ञान, मुख स्वरूप नहीं हैं । ऐसा तो एक आत्मा ही है ।

उपादानके अभावमें व्यञ्जक कुछ नहीं कर सका—

नाप्युपादानशून्येऽपि स्यादभिव्यञ्जकात्सुखम् ।

ज्ञानं वा तत्र सर्वत्र हेतुशून्यानुपपन्नतः ॥ ३६१ ॥

अर्थ—उपादान शून्यतामें व्यञ्जक मात्रसे सुख अथवा ज्ञान नहीं होसके । यदि बिना उपादानके भी सुख अथवा ज्ञान हो नाथ तो सर्वत्र हेतुशून्यताका प्रसङ्ग होगा अर्थात् फिर हेतुके बिना भी कार्य होने लगेगा । बिना पदार्थके रहने हुए भी दीपक पदार्थका प्रकाश कर देगा । इसलिये उपादान कारण—आत्मामें रहने हुए ही ज्ञान, मुख हो सके हैं ।

निर्णय—

ततः सिद्धं गुणो ज्ञानं सौख्यं जीवस्य वा पुनः ।

संसारं वा प्रमुक्तौ वा गुणानामनतिक्रमात् ॥ ३६२ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि ज्ञान और सुख जीवके ही गुण हैं। वह जीव संसारमें हो, चाहे मुक्तिमें हो, गुणोंका उद्वेगन कहीं नहीं होता ।

ज्ञानमुखकी पूर्णता मुक्तिमें है—

किञ्च साधारणं ज्ञानं सुखं संसारपर्यये ।

तन्निरावरणं मुक्तौ ज्ञानं वा सुखमात्मनः ॥ ३६३ ॥

अर्थ—संसार पर्यायमें आत्माके साधारण ज्ञान और सुख होने हैं और मुक्ति पर उसी आत्माके निरावरण सुख और ज्ञान होते हैं ।

कर्मोंका नाश होनेसे गुण निर्मल होते हैं—

कर्मणां विप्रमुक्तौ तु नूनं नात्मगुणक्षतिः ।

प्रत्युत्तातीव नैर्मल्यं पङ्कापाये जलादिवत् ॥ ३६४ ॥

अर्थ—कर्मोंके नाश होने पर निश्चयसे आत्माके गुणोंकी क्षति (हानि) उद्वेग निर्मलता आती है । जिस प्रकार कीचड़के दूर होने पर मल आदिकर्म आनाती है । (कर्म आत्मामें कीचड़की तरह समझने चाहिये) ।

कर्मके नाश होनेसे विकार भी दूर होजाता है—

अस्ति कर्ममलापाये विकारश्चतिरात्मनः ।

विकारः कर्मजो भावः कादाचित्कः संपर्ययः ॥ ३६५ ॥

अर्थ—कर्म रूपी मलके नाश होने पर आत्मामें होने वाले विकारका नाश होता है । क्योंकि विकार कर्मसे होनेवाला परिणाम है । वह सदा नहीं रहता होता है इसलिये वह गुण नहीं है पर्याय है ।

गुणका नाश कभी नहीं होता—

नष्टे बाहुद्विपर्यायं मां भूभ्रान्तिर्गुणव्यये ।

ज्ञानानन्दत्वमस्याञ्चैर्नित्यत्वेोत्परमात्मनि ॥ ३६६ ॥

अर्थ—आत्माके अशुद्ध पर्यायके नाश होने पर उसके नाशका भ्रम नहीं चाहिये क्योंकि ज्ञान और सुख इस आत्माके नित्य गुण हैं, वे परमात्मामें पूर्णतासे

दृष्टान्त—

दृष्टादिमलापाये यथा पावकयोगतः ।

पीतव्यादिगुणाभावो न स्यात्कार्तस्वरोस्ति चेत् ॥ ३६७ ॥

अर्थ—यदि वह वास्तवमें सोना है तो अग्निके निमित्तमें पाषाण ( सिद्धिकालिमा ) यदि मयके दूर होने पर सोनेके पीतत्वादि गुणोंका नाश कभी नहीं होता ।

भावार्थ—सोनेका पीला गुण निश्चय है उसका नाश कभी नहीं होता । परन्तु उस नियम जो मल है वह उसका निजो गुण नहीं है इसलिये वह अग्नि द्वारा दूर किया जाता । इसी प्रकार आत्माके ज्ञान, सुख गुण हैं । वे निश्चय हैं, परन्तु कर्म मल उसके निर्मा नहीं उनका नाश होना है ।

नैयायिक मतके अनुसार मोक्षका स्वरूप—

एकविंशतिदुःस्वानां मोक्षो निर्मोक्षलक्षणः ।

इत्येके तदसर्ज्वापगुणानां शून्यसाधनात् ॥ ३६८ ॥

अर्थ—“एकविंशतिदुःस्वानां मोक्षः” इस श्रौतमन्त्रके अनुसार नैयायिक लोग कहते कि ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि इक्षीत दुःखोंका नाश होता ही मोक्ष । यह उनका कहना ठीक नहीं है ऐसे कथनसे जीवके गुणोंकी शून्यता सिद्ध होती है ।

भावार्थ—नैयायिक दर्शनवाले मुक्तारत्माके ज्ञान, सुखादिको रहित नङ्गवत् मानते हैं ॥ उनका सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या है । मोक्ष सुखका स्थान है वा आत्माकी ज्ञानादिक । श्री सम्प्रतिक्रिया अभाव होनेसे महा दुःखका स्थान है । जब मोक्षमें सुख गुण ही नष्ट हो जाते हैं तो फिर ऐसे मोक्षका प्रयत्न क्यों किया जाता है ? इसमें तो संसार ही अच्छा, हाँ पर दुःख भलै ही हो परन्तु निज गुणका नाश तो नहीं होता । इसलिये नैयायिक सिद्धा-  
न । सर्वथा मिथ्या है । कहीं आत्माके गुणोंका भी नाश होता है । वह वास्तवमें नैयायिक न्याय जाननेवाला ) ही नहीं है । क्योंकि वह स्वयं अपने दर्शनमें यह वान मानता है  
५ “ समवाय सम्बन्ध गुण गूणीमें होता है और वह निश्चय होता है ।” जब वह नित्य है  
१ मोक्षमें गुण नाश कैसा ! क्या नैयायिक दर्शन ऐसे स्थलमें स्थायम बाधित नहीं होता !  
१ लिये मोक्षका लक्षण नैवसिद्धान्तानुसार “कर्मोंके सर्वथा नाशसे आत्मीय गुणोंका प्रकट  
ना ही मोक्ष है ” यही ठीक है ।

निजगुणका विहाय दुःखका कारण नहीं है—

न स्यान्निजगुणव्यक्तिरात्मनो दुःखसाधनम् ।

सुखस्य भूलतो नाशादतिदुःखानुपकृतः ॥ ३६९ ॥

अर्थ—आत्मामें निज गुणोंका प्रकट होना दुःखका साधन कभी नहीं हो सका । हाँ पर सुखका नष्ट मूल्यसे नाश माना जाता है, वही अति दुःखका प्रथम अंश होना ।

भावार्थ—सुख और दुःख दोनों प्रतिपक्षी हैं । एक समयमें सुख और दुःखनेने एक

कोई आत्मानें अवश्य रहेगा । नव मोक्षमें सुखका नाश होनाता है तो दुःखमें अवश्यभावी है । ऐसी अवस्थामें नैयायिककी मानी हुई मोक्ष दुःखोत्पादक ही होगी ।

धारांश—

निश्चितं ज्ञानरूपस्य सुखरूपस्य वा गुणः ।

देहेन्द्रियैर्विनापि स्तो ज्ञानानन्दो परात्मनः ॥ ३७० ॥

अर्थ—ज्ञान स्वरूप और सुखस्वरूप परमात्मा है उसके शरीर और इन्द्रियों के बिना भी ज्ञान और गुण हैं यह बात निश्चित हो चुकी । अर्थात् निश्चयसे परमात्माके ज्ञान और गुण दोनों हैं ।

सम्बन्धोक्त्या स्वरूप—

इत्येवं ज्ञाततत्त्वोक्तौ सम्बन्धद्विर्निजात्मदृक् ।

वैयर्थिके सुखे ज्ञाने रागद्वेषौ परित्यजेत् ॥ ३७१ ॥

अर्थ—इस प्रकार ज्ञान स्वरूपको जाननेवाला यह सम्बन्धद्वि अपनी आत्माके सम्बन्ध रेखा के भागियों होने वाले गुण और ज्ञानमें राग द्वेष नहीं करता है ।

भावार्थ—यह वैयर्थिक गुण और ज्ञानसे उदासीन होनाता है ।

प्रथम—

ननुद्विषाः द्विधेतावान् अस्ति किंवा परोप्यतः ।

अथाने येन सदृशद्विषाणेनाधितः पुमान् ॥ ३७२ ॥

अर्थ—यह सम्बन्धद्वि किसे द्विषा है, या और भी है ? ऐसा प्रश्न आता है कि द्विषा द्विषा के नामों के ।

द्विषा—

अथवापि लब्धाणि सन्ति सम्बन्धनात्मनः ।

सम्बन्धनात्मना नृनेर्न सौख्येन गृह्यते ॥ ३७३ ॥

अर्थ—सम्बन्धनात्मनः और भी लब्धाणि सन्ति हैं, जो कि सम्बन्धनात्मनः के नामों के । सौख्येन गृह्यते न, न गृह्यते है । जो लब्धाणि सम्बन्धनात्मनः के नामों के हैं ।

सम्बन्धनात्मनः—

अथवापि सुखे ज्ञानमनादिव दशात्मनः ।

अथवापि सुखे ज्ञानमनादिव दशात्मनः ॥ ३७४ ॥

अर्थ—सुखे ज्ञानमनादिव दशात्मनः के नामों के । सुखे ज्ञानमनादिव दशात्मनः के नामों के । सुखे ज्ञानमनादिव दशात्मनः के नामों के ।



सम्पदार्थनका स्वरूप—

सम्पत्तयं पस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम् ।  
गोचरं स्यादधित्वान्तपर्ययज्ञानयोर्विद्योः ॥ ३७७ ॥

अर्थ—सम्पददर्शन वास्तवमें आत्माका अति सूक्ष्म गुण है वह केवलज्ञानका विषय है । तथा परमावधि, सर्वोपधि और मन पर्यय ज्ञानका भी विषय है अर्थात् इन्हीं चीजों ज्ञानोंसे ज्ञाना नामका है ।

विशुद्ध—

न गोचरं मतिज्ञानभूतज्ञानव्याप्यमनाम् ।  
नापि देशावधेस्तत्र विषयोऽनुपलब्धितः ॥ ३७८ ॥

अर्थ—मतिज्ञान और ध्रुवज्ञानका विविध भी वह विषय नहीं है मति न दृष्टान्तपर विषय है । इनके द्वारा उपका बोध नहीं होता है ।

सम्पत्तयमे विपरीतम्—

अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित् सम्पत्तयं निर्विकल्पकम् ।  
तद्दृष्टमोहोदयान्निधयास्यादुरूपमनादिनः ॥ ३७९ ॥

अर्थ—आत्माका एक विलक्षण निर्विकल्परूप गुण सम्पत्तय है । वह सम्पत्तय नाम मोहनीय कर्मके उदयसे अनादिकालसे विद्या-स्वरूप हो रहा है ।  
भावार्थ—मोहनीय कहते ही उसे है जो भ्रमरूप कहते । तब प्रकाश वदुषा दुःख, वे बाधा हुआ मोठा दुष उस तूषीके निमित्तसे कहता हो जाता है, उसी प्रकाश दूष मोहनीयके निमित्तसे वह सम्पत्तय भी अपने स्वरूपको छोड़कर विषयो स्वरूपका हो जाता है । यह अवस्था उसको अनादिकालसे हो रही है ।

सम्पत्तयकी भाविका उदय—

द्वैपातकालादिमलवर्षा प्रत्यासन्ने अपाणवे ।  
भङ्गभाषविपाकाया जीयः सम्पत्तयमस्तुते ॥ ३८० ॥

अर्थ—द्वैपातके ( विंशति पुष्पोदयसे ) बाणदि दृष्ट्यर्थके प्रकाश होने से अपाणमय निम्न ( पोड़ा ) यह जाने पर और अपाणमय के होने पर सम्पत्तय प्राप्त होता है ।

भावार्थ—प्रकाश विषयो देनापत्तय-उदय काय प्रकाश । अपाणमय अपाणमय निम्न ( पोड़ा ) यह जाने पर और अपाणमय के होने पर सम्पत्तय प्राप्त होता है ।

होती है । कर्मोंके क्षयोपशम होनेपर आत्मामें जो विशुद्धता होती है, उमीक्षा नाम विशुद्धि लब्धि है । किसी मुनि आदिकके उद्देशकी प्राप्तिमें देशना लब्धि कहते हैं । कर्मोंकी स्थिति घट कर अंतः कोश कोटि मात्र रह जाय इसीका नाम प्रायोगिकी लब्धि है । अन्तर्गत परिणामोंमें जो कर्मोंकी स्थिति सण्डन और अनुभाग सण्डनकी शक्तिका पैदा होना है ईशान नाम करणलब्धि है । करणत्रिवितीन प्रकार है । अधःकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ।

अधःकरणके असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम होते हैं । एक समयमें रहने वाले अन्तर्गत भिन्न २ समयमें रहने वाले जीवोंके परिणामोंमें समानता भी हो सकती है अथवा असमानता भी हो सकती है परन्तु अपूर्वकरणमें एक समयमें रहनेवाले जीवोंमें तो समानता और असमानता हो सकती है, परन्तु भिन्न २ समयोंमें रहनेवाले जीवोंमें समानता नहीं होसकी किन्तु नवीन २ ही परिणाम होते हैं । इस करणके परिणाम अधःकरणके असंख्यात लोकगुणित हैं । अनिवृत्तिकरणमें एक समयमें एक ही परिणाम होता है । निम्न भी जीव उस समयमें होंगे सबोंके एक ही परिणाम होगा । दूसरे समयमें दूसरा ही परिणाम सत्ता होगा इस करणके परिणाम उसके कालके समयोंके बराबर हैं । ये पांचो लब्धियाँ सम्यग्दर्शनके प्राप्तिमें कारण हैं । परन्तु इतना विशेष है कि पहली चारोंके होने पर सम्यग्दर्शनका होना जरूरी नहीं हैं लेकिन करणलब्धि तभी होती है जब कि सम्यग्दर्शन प्राप्तिमें अन्तर्मुहूर्त का शेष रहजाता है अर्थात् करणलब्धिके होनेपर अन्तर्मुहूर्त बाद अवश्य ही सम्यग्दर्शन होजाता है । और भी सामग्री काललब्धि आदिक सम्यक्त्वप्राप्तिमें कारण हैं । इन सबोंके होनेपर फिर कहीं सम्यक्त्व प्रकट होता है ।

यहां पर श्लोकके तीसरे चरणमें पड़े हुए “भग्यभावविषाकादा ” इस वाक्यका अर्थ आशय है कि जिस समय आत्मामें मिथ्यात्व कर्मका उदय रहता है उस समय उस भग्यत्व गुणका अशुद्धपरिणाम ( अशुद्ध अवस्था ) रहता है । सम्यक्त्वकी प्राप्तिके समय उस गुणका विपक परिणाम होजाता है अर्थात् वह अपने परिणाममें आजाता है इसी आशयसे स्वामी उमास्वामि आचार्यवर्यने “ औपशमिकादि भग्यत्वानाद्य ” इस सूत्रद्वारा मुक्ताभ्यास भग्यत्वभावका नाश बतला दिया है । वास्तवमें भग्यत्वभाव पारिणामिक गुण है, उदय नाश हो नहीं सका । परन्तु उसका आशय यही है कि भग्यभावका जो मिथ्यात्व अस्थामें अपक परिणाम हो रहा था उसका नाश हो जाता है अर्थात् उस भग्यत्व गुणकी मलिन पर्यायका नाश होजाता है । उसकी निर्मल पर्याय मिद्धोंमें मदा रहती है । ५ नाशकी अपेक्षासे ही उक्त सूत्र कहा गया है ।

प्रयत्नमन्तरेणापि दृष्ट्माहोपशमां भवेत् ।

अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनतिक्रमान् ॥ ३७० ॥

अर्थ—फिर अन्तर्मुहूर्तमें ही बिना किसी प्रयत्नके दर्शनमोहनीयका उपशम हो जाता है । उस अवस्थामें भी गुणध्रेणीके कमका उलङ्घन नहीं होता ।

अस्त्युपशमसम्यक्त्वं दृङ्मोहोपशमाद्यथा ।

पुंसोऽयस्थान्तराकारं नाकारं चिद्विकल्पके ॥ ३८० ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम होनेसे उपशम सम्यक्त्व होता है । वह मित्यात्व अवस्थासे पुरुषकी दूसरी अवस्थाविशेष है । सम्यग्दर्शन आत्माका निर्विकल्पक-निराकार गुण है उसीका स्पष्ट कथन नीचे किया जाता है—

सामान्याद्या विशेषाद्या सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ।

सत्त्वारूपं च परिणामि प्रदेशेषु परं चितः ॥ ३८१ ॥

अर्थ—सामान्य रीतिसे अथवा विशेष रीतिसे सम्यक्त्व निर्विकल्पक है, सत्त्वरूप है और आत्माके प्रदेशोंमें परिणमन करने वाला है ।

उल्लेख—

तत्रोल्लेखस्तमोनाशे तमोऽरेरिव रश्मिभिः ।

दिशः प्रसत्तिमासेदुः सर्वतो विमलाशयाः ॥ ३८२ ॥

अर्थ—सम्यक्त्व आत्मामें किस प्रकार निर्मलता पैदा करता है, इस विषयमें सूर्यका उल्लेख है कि निम्न प्रकार सूर्यकी किरणोंसे अन्धकारका नाश होने पर सब जगह दिशाये निर्मलता धारण करती हुई प्रसन्नताको प्राप्त होती हैं ।

उसी प्रकार—

दृङ्मोहोपशमे सम्पद्दृष्टेरुल्लेख एव सः ।

शुद्धत्वं सर्वदेशेषु त्रिधा पन्थापहारि यत् ॥ ३८३ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम होने पर सम्पद्दृष्टिका भी वही उल्लेख है अर्थात् उसका आत्मा निर्मलता धारण करता हुआ प्रसन्नताको प्राप्त होता है । उस आत्माके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें शुद्धता होता है, और वह सम्यक्त्व तीन प्रकार ( भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म ) से होनेवाले बन्धका नाश करनेवाला है ।

दूसरा उल्लेख—

यथा वा मयधन्तूरपाकस्यास्तंगतस्य वै ।

उल्लेखो मूर्च्छितो जन्तुरुल्लाघः स्यादमूर्च्छितः ॥ ३८४ ॥

अर्थ—निम्न प्रकार कोई आदमी मदिरा या धनूरा पी लेता है तो उसे मूर्छा आता है, परन्तु कुछ काल बाद उसका नशा उतर जाता है तब वह मूर्छित आदमी मूर्छा रहित नीरोग होता है ।

**उसी प्रकार—**

दृग्भोहस्योदयान्मूर्च्छां वैचित्यं वा तथा भ्रमः ।

प्रशान्ते त्वस्य मूर्छाया नाशज्जीवो निरामयः ॥ ३८५ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे जीवको मूर्छा रहा करती है, तथा तब विकल्प नहीं रहता है और हरणक पदार्थमें भ्रम रहता है, परन्तु उस मोहनीयके शान्त (शमित) होने पर मूर्छाका नाश होनेसे यह जीव नीरोग्य होनाता है।

सम्यग्दर्शनके लक्षणोंपर विचार—

श्रद्धानादिगुणा यासं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः ।

न सम्यक्तत्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ॥ ३८३ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिके जो भ्रम, आदि गुण बतलाये हैं वे सब बाह्य लक्षण हैं, जो भ्रमानादिक सम्यक्स्वरूप नहीं हैं, किन्तु वे सब ज्ञानही पर्याय हैं ।

भाषार्थ—“तत्त्वार्थप्रदानं सम्यग्दर्शनं” इस सूत्रमें सम्यग्दर्शन का लक्षण जोरारि का प्रदान कहलाया है। परन्तु वास्तवमें ज्ञान भी यही है कि जैसे का तैसा जानना सम्यग्त्व भी यही है कि जैसे का तैसा प्रदान करना। इसलिये उपर्युक्त लक्षण ज्ञान का है। इसी प्रकार समन्तभद्रस्वामीने जो “प्रदानं परमार्थानामासांगमत्तपोभूतान्। तिस्रोऽष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनं सम्यगम्” इस श्लोकद्वारा देव शास्त्र गुरुका यथार्थ प्रदान सम्यग्त्व कहलाया है यह भी ज्ञान ही की पर्याय है। इसलिये ये सब वाक्य लक्षण हैं।

और भी—

अवि निगमानुभूतिस्तु ज्ञानं ज्ञानस्य पर्ययात् ।

अथांश्च ज्ञानं न मम्यत्स्वामस्ति श्रेष्ठानालदाणाम् ॥ ३८३ ॥

[illegible]

이 시는 1945년 8월 15일 일제강점기 종말을 맞이하는 시인 김지하의 시집 '시인의 말'에 실린 시이다. 이 시는 1945년 8월 15일 일제강점기 종말을 맞이하는 시인 김지하의 시집 '시인의 말'에 실린 시이다. 이 시는 1945년 8월 15일 일제강점기 종말을 맞이하는 시인 김지하의 시집 '시인의 말'에 실린 시이다.

सम्पत्त्वकी दुर्लभ्यतामें दृष्टान्त—

यथोद्धाघो हि दुर्लक्ष्यो लक्ष्यते स्थूललक्षणैः ।

वा मनःकापचेष्टानामुत्साहादिगुणात्मकैः ॥ ३८८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी रोगीकी नीरोगताका मानना बहुत कठिन है, परन्तु मन और शरीरकी चेष्टाओंके उत्साहादिक स्थूल लक्षणोंसे उसकी नीरोगताका ज्ञान कर लिया जाता है, उसी प्रकार सम्पददर्शन एक निर्विकल्पक सूक्ष्म गुण है । तथापि उपर्युक्त बाह्य लक्षणोंसे इसका ज्ञान कर लिया जाता है ।

शङ्काकार—

नत्यात्मानुभवः साक्षात् सम्पत्त्वं यस्तुतः स्वयम् ।

सर्वतः सर्वकालेऽस्य मिथ्यादृष्टेरसंभवात् ॥ ३८९ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि वास्तवमें आत्मानुभव ही साक्षात् सम्पत्त्व है क्योंकि आत्मानुभव मिथ्यादृष्टिके कभी कहींभी नहीं हो सका । मिथ्यादृष्टिके आत्मानुभवका होना संभव है इसलिये आत्मानुभव ही स्वयं सम्पत्त्व है !

उत्तर—

नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि सत्सामान्यविशेषयोः ।

अप्यनाकारसाकारलिङ्गयोस्तद्विशेषोच्यते ॥ ३९० ॥

अर्थ—शङ्काकारसे आचार्य कहते हैं कि तुम्हारा कहना ठीक नहीं है, तुम सामान्य और विशेषमें कुछ भेद ही नहीं समझते, और न अनाकार, साकारका ही तुम्हें ज्ञान है इस लिये तुम मुझे ऐसा कहते हैं—

ज्ञानका लक्षण—

आकारार्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरमोचरः ।

सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतन्नि लक्षणम् ॥ ३९१ ॥

अर्थ—आकार कहते हैं अर्थ विकल्पको । अर्थ नाम है स्वर परमार्थका । विकल्प नाम है उपयोगावस्थाका । यह ज्ञानका लक्षण है ।

भावार्थ—आत्मा और इन पदार्थोंका उपयोगात्मक भेद ज्ञान होना ही आकार कहलाता है । यही आकार ज्ञानका लक्षण है । पदार्थोंके भेदाभेदको लिये हुए निश्चयात्मक

बुद्धता है तथा वास्तवमें भिन्नता भी नहीं है । यह जो आपकी विशेषता दीन्या है वह केवल कथन ही है, अपेक्षाका प्यन रखने पर सभी कथन अविशेषी हो जाता है । जितना भी भिन्न कथन है । भेदा भेदको लिये हुए है वह भेदा कोनही है और सम्बन्ध केने जाना जायता है, इन व शर्तोंका विवेचन रख आये चल कर मुक्त जायगा ।





स्वार्थ, परार्थमें भेद—

**स्वार्थो वै ज्ञानमात्रस्य ज्ञानमेकं गुणश्चितः ।**

**परार्थस्त्वार्थसम्बन्धी गुणाः शेषे सुखादयः ॥ ३९८ ॥**

अर्थ—ज्ञान-स्वार्थ परार्थ दोनोंका निश्चय कराता है, यहां पर ज्ञानका स्वार्थ जो है, और परार्थ क्या है ? इसे ही बताते हैं—अपने स्वरूप जो पदार्थ है वही स्वार्थ है, अपने स्वरूप पदार्थ ज्ञानका ज्ञान ही है । आत्माका ज्ञानरूप जो गुण है वही ज्ञान ज्ञानका स्वार्थ है । बाकी सब परार्थ हैं । पर स्वरूप जो पदार्थ है वह परार्थ है । पर स्वार्थ ज्ञानसे पर ही होगा । परन्तु परार्थ भी स्वार्थ-ज्ञानसे सम्बन्ध रखने वाला है । हमें आत्मामें नितने भी गुणादिक अनन्त गुण हैं सभी ज्ञानके परार्थ हैं, परन्तु वे सब ज्ञान सम्बन्ध आशय रखते हैं ।

भारार्थ—ज्ञान अपने स्वरूपका निधायक है और इतर नितने भी आत्मिक गुण उनका भी निधायक है । इसलिये ज्ञान, स्वार्थ, परार्थ दोनोंका निधायक है । जानागिने कि ज्ञान पदार्थपर परार्थोंका भी निधायक है परन्तु वह पदार्थपरिसे सीधा भिन्न है । गुणादि गुणोंमें संशय भिन्न नहीं है । गुणादिकके साथ ज्ञानका तादात्म्य सम्बन्ध है जो वे ज्ञान गुण भिन्न है और अन्य अन्त गुण भिन्न हैं ।

गुण सभी उदे २६

**मणभा मुम्यदुःखादिभावो जीवगुणः स्वयम् ।**

**ज्ञानं तद्वेदकं नूनं नाभाज्ञानं मुम्यादिमत् ॥ ३९९ ॥**

अर्थ—मृग दुःखादि भाव, जीवके ही गुण हैं, ज्ञान उन मरका नाभाज्ञान है । ज्ञान तद्वेदकं नूनं नाभाज्ञानं मुम्यादिमत् ।

भारार्थ—मनुष्य गुणोंका तादात्म्य होने के लिये भी भिन्न-कायीही आत्मामें नही गुण भिन्न है, ज्ञान तद्वेदकं नूनं नाभाज्ञानं मुम्यादिमत् । और गुणनिनिष्ठता (३९९) है ।

अन्वय—ज्ञान तद्वेदकं नूनं नाभाज्ञानं मुम्यादिमत् ।

**मन्यस्व वस्तुनः सुखमस्ति याचामगोचरम् ।**

**वस्तुतत्त्वं च चोनु च नाविहाती निनिष्ठमान् ॥ ४०० ॥**

अर्थ—मन्यस्व वस्तुनः सुखमस्ति याचामगोचरम् । वस्तुतत्त्वं च चोनु च नाविहाती निनिष्ठमान् ।



द्वि सभ्यस्त्व देवे जाना जाय?—

प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौ चितः ।  
स्वानुभूत्येकहेतुश्च तस्मात्तत्परमं पदम् ॥ ४०१ ॥

अर्थ—यस आत्माका एक ज्ञान गुण ही प्रसिद्ध है जो कि ह्मणक पदार्थकी मि-  
राता है । सम्यग्दर्शनके जाननेके लिये स्वानुभूति ही एक हेतु है, इसलिये वही सर्वोत्त-  
म है ।

स्वानुभूति का स्वरूप—

तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः ।  
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमन्ययाद्व्यतिरेकतः ॥ ४०२ ॥

अर्थ—वह आत्मानुभूति आत्माका ज्ञानविशेष है, और वह ज्ञानविशेष, सम्यग्-  
साध अन्वय और व्यतिरेक दोनोंसे अविनाभाव रहता है ।

भावार्थ—जो जिसके होने पर होता है उस अन्वय रहने है और जो जिसके नहीं  
र नहीं होता है उसे व्यतिरेक कहने है । सम्यग्दर्शनके प्रगट होने पर ही आत्मामें  
उभय ( स्वानुभूति ) होता है, बिना सम्यग्दर्शनके शुद्धानुभव नहीं होता । इसलिये  
व ( शुद्ध ) का सम्यग्दर्शनके साथ सर्वथा अविनाभाव ( सहभार ) है ।

सम्यक्त्वके रहनेकी योग्यता—

ततोऽस्ति योग्यता यक्तुं व्याप्तिः सङ्गापतस्तयोः ।  
सम्यक्त्वं स्वानुभूतिः स्यात्सावेच्छुद्धनपात्मिका ॥ ४०३ ॥

अर्थ—सम्यक्त्व और स्वानुभूतिकी जब साथ २ व्याप्ति ( सहभासीपना ) है तो  
कि सम्यग्दर्शन भी रूपान्तासे रहने योग्य हो जाता है । यह कहा जा सका है कि  
स्वानुभूति ही सम्यक्त्व है, परन्तु वह स्वानुभूति शुद्ध नय स्वरूप हो तो ।

भावार्थ—जब आत्मामें शुद्ध स्वानुभूति हो जाती है तब उसके द्वारा उसके अर्थ-  
नाभावी सम्यग्दर्शनकी उन्नतिका बोध हो जाता है । इसी लिये शुद्ध स्वानुभूतिसे ही  
सम्यक्त्व कह दिया गया है ।

साधनबोध—

किञ्चास्ति विषमव्याप्तिः सम्यक्स्वानुभवदयोः ।  
नोपयोगे समव्याप्तिरस्ति लब्धिर्विधौ तु सा ॥ ४०४ ॥

अर्थ—विशेष इतना है कि सम्यग्दर्शन और स्वानुभव इन दोनोंमें लब्ध-  
योगे उपयोगसम्बन्धमें समव्याप्ति नहीं हो सकती । जन्तु लब्ध नय ज्ञानके लब्ध-  
योगे समव्याप्त है ।



उपस्थले उपयोग सदा नहीं रहता किन्तु लब्धि रहित है—

यस्माज्ज्ञानमनित्यं स्याच्छब्दस्थस्योपयोगवत् ।

नित्यं ज्ञानमच्छब्दस्थे छद्मस्थस्य च लब्धिमत् ॥ ४०८ ॥

अर्थ—छद्मस्थ ( अल्पज्ञ ) पुरुषका उपयोग एकसा नहीं रहता, कभी किसी पदार्थ विषयक होता है और कभी किसी पदार्थ विषयक होता है, तथा कभी कभी निद्रादि अवस्थाओंमें अनुपयोगी ज्ञान भी रहता है। इसलिये छद्मस्थोक्त उपयोगात्मक ज्ञान अनित्य होता है। परन्तु सर्वज्ञान उपयोगात्मक ज्ञान सदा नित्य रहना है। छद्मस्थोक्त क्षयोपशम ( लब्धि ) रूप ज्ञान नित्य रहता है।

सांग—

नित्यं सामान्यमाश्रत्याह सम्यक्त्वं निर्विशेषतः ।

तत्सिद्धा विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयाः ॥ ४०९ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन भी सामान्यरूपसे नित्य ही है इसलिये सम्यक्त्व और अनुभव दोनोंमें विषम व्याप्ति है।

भावार्थ—सम्यक्त्व नित्य है इसका आशय यही है कि उपयोगकी तरह वह बराबर बदलता नहीं है तथा लब्धिरूप अनुभव भी नित्य है। इसलिये सम्यक्त्व और लब्धि रूप—अनुभवकी तो सम व्याप्ति है। परन्तु सम्यक्त्व और उपयोगात्मक—अनुभवकी विषम ही व्याप्ति है क्योंकि उपयोगात्मक ज्ञान सदा नहीं रहता है।

प्रविष्टा—

अपि सन्ति गुणाः सम्यक् श्रद्धानादि चिकित्सेकाः ।

उद्देशो लक्षणं तेषां तत्परीक्षाधुनोच्यते ॥ ४१० ॥

अर्थ—स्वानुभूतिके साथ ही होनेवाले सम्यक्श्रद्धा आदि और भी बहुतसे गुण हैं। ग्रन्थकार कहते हैं, कि अब उनका उद्देश्य, लक्षण, परीक्षा बतलाने हैं।

उद्देश्य—

तत्रोद्देशो यथा नाम श्रद्धारुचिप्रतीतयः ।

चरणं च यथास्मायमर्थान्तत्वार्यगोचरम् ॥ ४११ ॥

अर्थ—आम्नाय ( शाय—पढ़ति ) के अनुसार अर्थात् जीवादि तत्त्वोंके विषयमें श्रद्धा करना, रुचि करना, प्रतीति करना, आचरण करना, यह सब अर्थान्त उद्देश्य कहलाना है।

लक्षण—

तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा सांत्प्यं रुचिस्तथा ।

प्रतीतिस्तु तथेति स्यात्स्वीकारश्चरणं क्रिया ॥ ४१२ ॥

भावार्थ—श्रद्धादिक कहनेसे सम्यक् श्रद्धा आदिका ही बोध होता है। परन्तु न हों तो उन्हें श्रद्धादिक न कह कर मिथ्या श्रद्धादि कहना चाहिये।

शब्दाकार—

ननु तत्त्वरुचिः श्रद्धा श्रद्धामात्रैकलक्षणात् ।

सम्यक् मिथ्याविशेषाभ्यां सा द्विधा तत्कुतोर्यतः ॥ ४१९ ॥

अर्थ—शब्दाकार कहता है कि तत्त्वरुचिः नाम ही श्रद्धा है क्योंकि श्रद्धा एतद्ग श्रद्धामात्र ही है। फिर वह श्रद्धा, सम्यक् श्रद्धा और मिथ्या श्रद्धा ऐसे दो प्रकार की होती है। किन्तु तत्त्वरुचिः कहने से ही नहीं हो सकती है।

उत्तर—

नयं यतः समन्यासिः श्रद्धा स्वानुभवव्याप्यः ।

नूनं नानुपलब्धेयं श्रद्धा स्वरविषाणवत् ॥ ४२० ॥

अर्थ—शब्दाकार उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि श्रद्धा और स्वादुभूति दोनों ही समन्यासि है। अर्थात् दोनों ही साथ होनेवाली हैं। इन्द्रिय अनुपलब्ध वस्तुओं की भाँति ही तब श्रद्धा निश्चयसे नहीं हो सकती।

विना स्वार्थानुभूतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रतः ।

तत्स्वार्थानुगतप्राप्त्या नानुपलब्धतः ॥ ४२१ ॥

अर्थ—विना स्वार्थानुभूति के जो श्रद्धा केवल श्रुतिसे ही प्राप्त होती है, वह श्रद्धा श्रुतमात्र ही है। अर्थात् श्रद्धा केवल श्रुतिसे ही प्राप्त होती है।

भावार्थ—विना स्वार्थानुभूति के होनेवाली श्रद्धा, वास्तविक श्रद्धा नहीं है और श्रद्धा केवल श्रुतिसे ही प्राप्त होती है। अर्थात् श्रद्धा केवल श्रुतिसे ही प्राप्त होती है।

लज्जिः स्याद्विशेषाया गदसतोऽन्वयवत् ।

नोपलब्धिरिहायोगसा मच्छेपानुपलब्धिवत् ॥ ४२२ ॥

अर्थ—लज्जा केवल श्रुतिसे ही प्राप्त होती है और लज्जा केवल श्रुतिसे ही प्राप्त होती है। अर्थात् लज्जा केवल श्रुतिसे ही प्राप्त होती है।

उत्तर—

ननु तस्मिन् योगिनी स्थितिः श्रद्धा मन्त्रमन्त्रवत् ।

अथोद्वेगवत् स्यान्मन्त्रः स्वामानुभूतिवत् ॥ ४२३ ॥

अर्थ—लज्जा केवल श्रुतिसे ही प्राप्त होती है और लज्जा केवल श्रुतिसे ही प्राप्त होती है। अर्थात् लज्जा केवल श्रुतिसे ही प्राप्त होती है।

सम्यग्दर्शके और भी गुण—

गुणाधान्यं प्रसिद्धा ये सवृद्धेः प्रशमादयः ।

यद्दिष्टं यथास्वं ते सन्ति सम्यग्दर्शनक्षणाः ॥ ४२४ ॥

अर्थ—और भी प्रशमादिक जो सम्यग्दर्शिके प्रसिद्ध गुण हैं, वे सब वास्तविक दृष्टिसे ही सम्यग्दर्शनके लक्षण हैं । यदि वे सम्यग्दर्शनके अविनाशनी हैं तो लक्षण हैं, अन्यथा नहीं ।

सम्यग्दर्शिके गुणोंके नाम—

तत्रायः प्रशमो नाम संवेगश्च गुणकृत्मा ।

अनुकम्पा तथास्ति यं यक्ष्ये तद्दर्शनं यथा ॥ ४२५ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शिका पहला गुण प्रशम है दूसरा मंग है, तीसरा अनुकम्पा है और चौथा भास्तिव्य है । इन चारोंका प्रत्यक्ष लक्षण कह्यें हैं ।

प्रशमका लक्षण—

प्रशमो विषयेषूपेक्षायकोधादिकेषु च ।

लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ॥ ४२६ ॥

अर्थ—पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंमें और अतिस्थायी लोक प्रमाण कोषादिक भावोंमें स्थायित्व ही मनकी शिथिलता होना प्रशम ( शान्ति ) कह्यता है । भावार्थ—विषय कोषादिकमें मनकी प्रवृत्ति न होना ही प्रशम है ।

प्रशमका रूप लक्षण—

सद्यः कृतापराधेषु यथा जीवेषु जातुचित् ।

तद्वाधादि विकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः ॥ ४२७ ॥

अर्थ—जिन जीवोंमें अपने साथमें कोई नवीन अपराध किया हो उन जीवोंके विषयमें कभी भी मारने आदि विचारकी बुद्धि न होना भी प्रशम है । भावार्थ—अपराधी जीवों पर क्षमाभाव रखना भी प्रशम है ।

प्रशम होनेका कारण—

हेतुस्तत्रोदयाभावः स्यादनन्तानुबन्धिनाम् ।

अपि त्रैलोक्याणां नूनं मन्दोदयोऽशतः ॥ ४२८ ॥

अर्थ—अपराधी जीवों पर भी क्षमाभाव करनेकी बुद्धि क्यों होती है ? इसका कारण अनन्तानुबन्धि कषायका उदय न होना और अप्रत्याख्यानारण, प्रत्याख्यानारण कषायोंका कुछ मन्दोदय होना ही है ।

और भी—

आरम्भादि क्रिया तस्य दैवाद्वा स्यादकामतः ।

अन्तः शुद्धेः प्रसिद्धत्वान्न हेतुः प्रशमक्षतेः ॥ ४२९ ॥

अर्थ—दैवयोगसे (चारित्र मोहनीयके उद्भूतसे) यहि सम्यग्दृष्टी बिना इच्छा आदि क्रिया भी करे तो भी अन्तरंगमें शुद्धता होनेसे वह क्रिया उसके प्रशम गुणके कारण नहीं हो सकती ।

प्रथम और प्रथमामास—

सम्यक्त्वेनाविनाभूतः प्रशमः परमो गुणः ।

अन्यत्र प्रशमम्मन्योऽप्याभासः स्यात्तदुत्पत्त्यात् ॥ ४३० ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके साथ यदि प्रशम हो तब तो वह उत्कृष्ट गुण मममा मात्र । यदि सम्यग्दर्शनके बिना ही प्रशम हो, तो वह प्रशम नहीं है, किन्तु प्रशामाऽप्यत्र प्रशम मानना मात्र है । सम्यग्दर्शनके अभावमें प्रशम गुण कभी नहीं कहलाता ।

संवेगका लक्षण—

संवेगः परमोत्साहो धर्मं धर्मफले चितः ।

सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥ ४३१ ॥

अर्थ—आत्माके धर्म और धर्मके फलमें पूरा उत्साह होना संवेग कहलाता है । अथवा समान धर्मियोंमें अनुराग करना अथवा पाँचों परमेश्वरोंमें प्रेम करना भी कहलाता है ।

धर्म और धर्मका फल—

धर्मः सम्यक्त्वमात्रात्मा शुद्धस्यानुभवोऽधवा ।

तत्फलं मुष्णमत्यक्षमक्षयं क्षायिकं च यत् ॥ ४३२ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वमात्र—आत्मा ही धर्म कहलाता है अथवा शुद्धात्मा ही धर्म ही धर्म है और अतीन्द्रिय, अविनाशी क्षायिक गुण ही धर्मका फल कहलाता है ।

समान धर्मियोंमें अनुराग—

इतरत्र तुना रागस्तद्वगुणेष्वनुरागतः ।

नातद्रूपेऽनुरागोऽपि तत्फलस्याप्यल्पिण्या ॥ ४३३ ॥

अर्थ—समान धर्मियोंमें जो प्रेम अथवा दे वह फल उनके गुणों के अनुसार ही होता है । बिना गुण नहीं है, उनके फल ही इतना न समान हुए भी होना चाहिये ।

अनुपमका शब्दायं—

अथानुरागशब्देन नाभिलाषो निरुच्यते ।

किन्तु शेषमधर्माद्वा निवृत्तिस्तत्फलादपि ॥ ४३४ ॥

अर्थ—यहाँ पर अनुराग शब्दसे अभिलाषा अर्थ नहीं लेना चाहिये किन्तु दुस्ता ही लें लेना चाहिये अर्थात् गुणप्रेम अनुराग शब्दका अर्थ है अपना अहम और अहमेके लसे निवृत्ति होना भी अनुराग शब्दका अर्थ है ।

और भी—

अथानुरागशब्दस्य विधिर्वाच्यो यदार्थतः ।

प्राप्तिः स्यादुपलब्धिर्वा शब्दार्थकार्यपाचकाः ॥ ४३५ ॥

अर्थ—निम समय अनुराग शब्दका विधिक्रम अर्थ करना हो, तब प्राप्ति, उपार्जन । सब शब्द एक ही अर्थके वाचक होते हैं । भावार्थ—विधिक्रम अर्थ करने पर अनुरागका अर्थ, गुणोंकी प्राप्ति और गुणोंकी उपलब्धि समझना चाहिये ।

आशङ्क—

नचाऽशङ्क्यं निषिद्धः स्यादभिलाषो भोगंफलम् ।

शुद्धोपलब्धिमात्रेपि हि यो भोगाभिलाषवान् ॥ ४३६ ॥

अर्थ—ऐसी आशङ्का नहीं करना चाहिये कि अभिलाषाका निषेध केवल भोगोंके रूपमें ही कहा गया है । शुद्धोपलब्धि होने पर भी जो भोगोंमें अभिलाषा रखता हो उमीकी अभिलाषाका निषेध किया गया है, ऐसा भी नहीं समझना चाहिये ।

अभिलाषायाश्च निषिद्ध दे—

अर्थात्सर्वोभिलाषः स्यादज्ञानं दग्धिपर्ययात् ।

न्यायादलब्धतत्त्वार्थो लब्धुं कामो न लब्धिमान् ॥ ४३७ ॥

अर्थ—सभी अभिलाषायें अज्ञानरूप (बुरी) हैं क्योंकि मनी क्रियात्मके होती हैं । न्यायसे यह बात सिद्ध है कि निषेध तत्त्वार्थको नहीं जाता है उसे बाह्येकी दग्धि होने पर भी पदार्थ नहीं मिलता है ।

और भी—

मिथ्या सर्वोभिलाषः स्यान्मिथ्याकर्मोदपात्तरम् ।

स्वार्थसार्थक्रियामिदौ नालं प्रत्यक्षतो यतः ॥ ४३८ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण अभिलाषायें मिथ्या हैं । क्योंकि मनी मिथ्या-कर्मके उदयते होनेवाली हैं । तथा कोई भी अभिलाषा अपने अर्थात् विद्याको सिद्ध करनेमें स्वार्थ नहीं है क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष है ।

अभिलाषामे अभीष्टही सिद्धि का अभाव—

कचित्तस्यापि सद्भावे नेष्टसिद्धिरहेतुः ।

अभिलापस्याप्यसद्भावे स्वेष्टसिद्धिश्च हेतुः ॥ ४३९ ॥

अर्थ—कहीं पर अभिलाषाके होने पर भी बिना कारण दृष्ट सिद्धि नहीं होती है।  
कहीं पर अभिलाषाके न होने पर भी, कारण मिलने पर अपने अभीष्टकी सिद्धि होना

दृष्टान्त—

यशःश्रीसुतमित्रादि सर्व कामयते जगत् ।

नास्य लाभोऽभिलापेपि विना पुण्योदयात्सतः ॥ ४४० ॥

अर्थ—यश, लक्ष्मी, पुत्र, मित्र आदिको सभी जगत् चाहता है परन्तु उसकी  
भिलाषा होने पर भी बिना पुण्योदयके कोई वस्तु नहीं मिल सकती ।

और भी—

जरामृत्युदरिद्रादि नहि कामयते जगत् ।

तत्संयोगो यत्नादस्ति सतस्तथाऽशुभोदयात् ॥ ४४१ ॥

अर्थ—बुढ़ापा, मृत्यु, दरिद्रता आदिको कोई भी आदमी नहीं चाहता है परन्तु  
चाहने पर भी अशुभ कर्मके उदयसे बुढ़ापा आदिका संयोग अवश्य हो ही जाता है ।

विधि और निषेध—

संवेगो विधिरूपः स्यान्निषेधश्च निषेधनात् ।

स्याद्विवक्षावशाद्देतं नार्थादर्थान्तरं तपोः ॥ ४४२ ॥

अर्थ—संवेग कहीं विधिरूप भी होता है और निषेध करनेसे निषेधरूप भी होता है।  
जैसी विवक्षा ( वक्ताके कहनेकी इच्छा ) होती है, वैसा ही विधि या निषेधरूप  
ले लिया जाता है । विधि और निषेध, दोनोंमें भेद नहीं है, दोनोंका प्रयोजन एक ही है ।

संवेगका लक्षण—

त्यागः सर्वाभिलापस्य निर्वेदो लक्षणात्तथा ।

स संवेगोधया धर्मः साभिलापो न धर्मवान् ॥ ४४३ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण अभिलाषाओंका त्याग करना अथवा वैराग्य ( स्मरणसे ) दूर  
करना संवेग है और उमीक्षा नाम धर्म है । क्योंकि जिसके अभिलाषा पाई जाती है  
धर्मवारी कभी नहीं होसकता ।

किन्तु—

नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिद्वयार्थतः ।

नित्यं रागादिमद्भावात् प्रत्युताऽधर्म एव सः ॥ ४४४ ॥



अर्थ—क्रियामात्रको धर्म नहीं कहते हैं । मिथ्यादृष्टि पुरुषके सदा रागादिभावोंका सद्भाव होनेसे उसकी क्रियाको वास्तवमें अधर्म ही कहना चाहिये ।

रागी और वैरागी—

नित्यं रागी कुदृष्टिः स्यान्न स्यात्कचिदरागवान् ।

अस्तरागोऽस्ति सदृष्टिर्नित्यं वा स्यान्न रागवान् ॥ ४४५ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि पुरुष सदा रागी है, वह कहीं भी राग रहित नहीं होता परन्तु सम्पूर्णदृष्टिका राग नष्ट होनाका है । वह रागी नहीं है, किन्तु वैरागी है ।

अनुकम्पाका लक्षण—

अनुकम्पा क्रिया ज्ञेया सर्वसर्वेष्वनुग्रहः ।

मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थ्यं नैःशल्यं चैरण्यनात् ॥ ४४६ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण प्राणियोंमें उपकार बुद्धि रखना अनुकम्पा ( दया ) कहलाती है अथवा सम्पूर्ण जीवोंमें मैत्री भाव रखना भी अनुकम्पा है । अथवा द्वेषबुद्धिको छोड़कर मध्यमवृत्ति धारण करना भी अनुकम्पा है । अथवा शत्रुता छोड़ देनेमें सम्पूर्ण जीवोंमें शल्य रहित ( निष्कपाय ) हो जाना भी अनुकम्पा है ।

अनुकम्पाके होनेका कारण—

इहोद्भवानुदयस्तत्र हेतुर्गोच्योऽस्ति केवलम् ।

मिथ्याज्ञानं पिता न स्याद्वैरभावः कचिन्नतः ॥ ४४७ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण जीवोंमें दयारूप परिणाम होनेमें कारण केवल दर्शनमोहनीय धर्मके उदयका न होना ही है । क्योंकि मिथ्याज्ञानको छोड़कर कहीं भी वैरभाव नहीं होसकता है ।

भावार्थ—ज्ञान, दर्शनका अविनाभावी है । जैसा दर्शन होता है, वैसा ही ज्ञान होनाका है । दर्शनमें सम्पूर्ण विशेषण लगनेमें ज्ञान भी सम्पूर्णज्ञान होनाका है, और दर्शनमें मिथ्या विशेषण लगनेसे ज्ञान भी मिथ्या ज्ञान होनाका है । दर्शनमोहनीय, सम्बन्धदर्शनसे नष्ट कर मिथ्यादर्शन बना देता है । उस समय ज्ञान भी उच्छा ही बिषय करने लगता है । जिस समय आत्मा में मिथ्या ज्ञान होता है, उसी समय जीवोंमें वैरभाव होने लगता है, ऐसा वैरभाव मिथ्यादृष्टिमें ही पाया जाता है ।

मिथ्या ज्ञान—

मिथ्या यत्परतः परस्य सात्माद्या परजन्मिनाम् ।

इच्छेत्तत्सुखदुःखादि सुसुखा जीविनं मनाह ॥ ४४८ ॥

अर्थ—दूरेके जीवोंके सुखदुःखोंदि अथवा जीवोंका कान देना इत्यादि उनमें अपने

गाराय—

इत्याद्यनादिजीवादि वस्तुजातं यतोऽस्मिन्नम् ।

निश्चयव्यवहाराभ्यां आस्तिक्यं तत्तथामतिः ॥ ४२८ ॥

अर्थ—इस प्रकार अनादि कालसे चला आया मितना भी जीवादिक वस्तु सभी निश्चय और व्यवहारसे भिन्न भिन्न स्वरूपको लिये दृष्ट है । उसमें वैसी ही बुद्धि जैसा कि वह है, इसीका नाम आस्तिक्य है ।

सम्यक् और मिथ्या आस्तिक्य—

सम्यक्त्वेनाविनाभूतस्वानुभूत्येकलक्षणम् ।

आस्तिक्यं नाम सम्यक्त्वं मिथ्यास्तिक्यं ततोऽन्यथा ॥ ४२९ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनकी अविनाभाविनी स्वानुभूतिके साथ होनेवाला जो आस्तिक्य है सत्यक् आस्तिक्य है अथवा सम्यक्त्व है । उससे विपरीत (स्वानुभूतिके अभावमें होने) जो आस्तिक्य है वह मिथ्या-आस्तिक्य है अथवा मिथ्यात्व है ।

शङ्काकार—

ननु वै केवलज्ञानमेकं प्रत्यक्षमर्थतः ।

न प्रत्यक्षं कदाचित्तच्छेषज्ञानचतुष्टयम् ॥ ४३० ॥

यदि वा देशतोऽध्यक्षमाध्यं स्वात्मसुखादिवत् ।

स्वसंवेदनप्रत्यक्षमास्तिक्यं तत्कुतोर्थतः ॥ ४३१ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि वास्तवमें एक केवलज्ञान ही प्रत्यक्ष है बाकी के ही ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हैं । वे सदा परोक्ष ही रहते हैं । अथवा इन्द्रियजन्य ज्ञान भी यदि देश प्रत्यक्ष है, जिस प्रकार कि मुखका मानसिक प्रत्यक्ष होता है । तो वास्तवमें आस्तिक्य स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कैसे हो सका है ?

उत्तर—

सत्यमाद्यदयं ज्ञानं परोक्षं परसंविदि ।

प्रत्यक्षं स्वानुभूतौ तु दृक्मोहोपशमादितः ॥ ४३२ ॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि आदिके दोनों ज्ञान (मति-श्रुत) परोक्ष हैं पदार्थपर-पदार्थपर ज्ञान करनेमें ही परोक्ष हैं, स्वात्मानुभव करनेमें वे भी प्रत्यक्ष हैं । क्योंकि स्वानुभव दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे होता है । दर्शनमोहनीय स्वानुभूतिके प्रत्यक्ष होनेमें बाधक है और उसका अभाव ही साधक है ।



ये उपलक्षण हैं—

उक्तगाथार्थसूत्रेपि प्रशमादिचतुष्टयम् ।

नातिरिक्तं यतोस्त्यत्र लक्षणस्थोपलक्षणम् ॥ ४६७ ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए गाथा-मूत्रमें भी प्रशम, संवेगादिक चारों ही अर्थों से सभी पञ्चाध्यायीमें कहे हुए प्रशमादिक चारोंसे भिन्न नहीं हैं । किन्तु कोई लक्षण स्तं कहे गये हैं, और कोई उपलक्षण ( लक्षणका लक्षण ) रूपसे कहे गये हैं अर्थात् प्रशम और इस कथनमें कोई भेद नहीं है । दोनों एक ही बातको कहने वाले हैं ।

उपलक्षणका लक्षण—

अस्त्युपलक्षणं यत्तल्लक्षणस्यापि लक्षणम् ।

तत्तथाऽस्यादिलक्ष्यस्य लक्षणं चोत्तरस्य तत् ॥ ४६८ ॥

अर्थ—लक्षणके लक्षणको उपलक्षण कहते हैं अर्थात् किसी वस्तुका एक लक्षण कहाकर फिर उस लक्षणका लक्षण कहानाय, इसीका नाम ( जो दुबारा कहा गया है ) उपलक्षण है । जो पहले लक्ष्य ( जिसका लक्षण कियानाय उसे लक्ष्य कहते हैं ) का लक्षण है वह आगे वालेका उपलक्षण है ।

प्रकृतये—

यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेगो लक्षणं गुणः ।

सचोऽपलक्ष्यते भक्तिवात्सल्येनाऽथवाहताम् ॥ ४६९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सम्यग्दर्शनका संवेग गुण लक्षण है, वही संवेगगुण अनर्हके भक्ति अथवा वात्सल्यका उपलक्षण हो जाता है ।

भक्ति और वात्सल्यका स्वरूप—

तत्र भक्तिरनौद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसां शमात् ।

वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोप्यतं मनः ॥ ४७० ॥

अर्थ—मन, वचन, कायकी शान्तिसे उद्धताका नहीं होना ही भक्ति है । अर्थात् किसीके प्रति मन, वचन, काय द्वारा किसी प्रकारकी उद्धता प्रगट नहीं करना ही भक्ति है और किसीके गुणोत्कर्षकी प्राप्तिके लिये मनमें उल्लास होना ही उसके प्रति वात्सल्य कहलाता है ।

भक्तिर्या नाम वात्सल्यं न स्यात्संवेगमन्तरा ।

स संवेगो दृशो लक्ष्म द्याचेतावुपलक्षणम् ॥ ४७१ ॥

अर्थ—भक्ति अथवा वात्सल्य संवेगके बिना नहीं हो सके, वह संवेग सम्पददर्शनका लक्षण है और ये दोनों ( भक्ति वात्सल्य ) उपलक्षण हैं ।

प्रशम—

दृष्टमोहस्पन्दयाभावात् प्रसिद्धः प्रशमो गुणः ।

तत्राभिव्यञ्जकं पाश्चात्तिन्दनं चापि गर्हणम् ॥ ४७२ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका अभाव होनेसे प्रशम गुण होता है यह प्रसिद्ध है । उसी प्रशम गुणका नास्त्व-व्यञ्जक (बतानेवाला) निन्दन है, और उमीका गर्हण है अर्थात् निन्दन और गर्हणसे प्रशम गुण जाना जाता है ।

निन्दन—

निन्दनं तत्र दुर्याररागादौ दुष्टकर्मणि ।

पश्चात्तापकरो बन्धो नाऽपेक्ष्यो नाप्युपेक्षितः ॥ ४७३ ॥

अर्थ—कठिनतासे दूर करने योग्य जो रागादि दुष्ट कर्म हैं उनके विषयमें ऐसा कर करना कि इनके होनेपर पश्चात्तापकारी बन्ध होता है । वह न तो अपेक्षणीय है और अपेक्षणीय है अर्थात् रागादिको बन्धका कारण समझकर उनके विषयमें रागबुद्धिको दूर कर उन्हें हटानेका प्रयत्न करना चाहिये इसीका नाम निन्दन है ।

गर्हण—

गर्हणं तत्परित्यागः पञ्चगुप्यात्मसाक्षिकः ।

निष्यमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये ॥ ४७४ ॥

अर्थ—पञ्चगुरुओंकी साक्षीसे कर्मोंका नाश करनेके लिये शक्तिपूर्वक प्रमाद रहित कर उस रागका त्याग करना—गर्हण कहलाता है ।

अर्थादेतद्व्ययं सूक्तं सम्यक्त्वस्यापलक्षणम् ।

प्रशमस्य कपापाणामनुद्रेकाऽविशेषतः ॥ ४७५ ॥

अर्थ—कपायोंके अनुदयसे होनेवाले प्रशम गुण-व्यञ्जका धारी जो मम्यत्त्व है उसके लिये उपलक्षण है । इन दोनों (निन्दन-गर्हण)का स्वरूप ऊपर अच्छी तरह कहा जा चुका है ।

प्रत्यक्षारम्भी वृत्त्य—

शेषमुक्तं यथाम्नायात् ज्ञातव्यं परमागमात् ।

आगमान्धेः परं पारं मादग्गन्तुं क्षमः कथम् ॥ ४७६ ॥

अर्थ—बाकीका जो कथन है, वह निर्दिष्ट पद्धतिके अनुसार अर्थात् परम्परासे आये हुए (शास्त्र)से जानना चाहिये । आगम रूपी समुद्रका पार बहुत दूर है, इसलिए जाननेके लिये हम सहाय केसे तयार होतके हैं !



मावार्थ—जो २ पदार्थ हमारे सामने नहीं हैं, उन पदार्थोंमें अपनी अल्पज्ञताके कारण हम संका करने लगते हैं और इसी लिये सर्वज्ञवर्धित—आगममें अभ्रदा कर बैठते हैं । परन्तु ऐसा करना निनान्त भूल है । ऐसा करनेसे हम स्वयं आत्माको उगते हैं तथा दूसरोंको हानि पहुँचाने । यह क्या नाममयी नहीं है कि जो पदार्थ हमारे दृष्टिगत नहीं हैं, अपवा जो हमारी बुद्धिसे बाहर हैं वे हैं ही नहीं । यदि विशेष बुद्धिमान हैं तो हमें निर्णय करनेका प्रयत्न करना चाहिये अन्यथा आज्ञा प्रमाण ही ग्रहण करना चाहिये । यथा—

एवमग्निोदितं तत्र वैश्वमिर्नेव हन्यते ।

आज्ञा सिद्धा यं तद्वाक्यं नाम्यथावादिनो ज्ञाताः ॥

अर्थ—जिनन्द्र भगवान्से कहा हुआ पदार्थ सूक्ष्म है उस तत्त्वका हेतुओंद्वारा सङ्गन नहीं हो सका, हम लिये आज्ञा प्रमाण ही उसे ग्रहण करना चाहिये । जिनन्द्र देव (सर्वज्ञ बीतरागी) अन्यथावादी नहीं है । उपयुक्त कथनानुसार दृढप्रतीति करना ही सम्यग्दर्शनका किहू है ।

तृतीय पदार्थ—

तत्र धर्मादयः सूक्ष्माः सूक्ष्माः कालाणयोऽणयः

अस्ति सूक्ष्मत्वमेतेषां लिङ्गस्याक्षरदर्शनात् ॥ ४८३ ॥

अर्थ—धर्म द्रव्य, आदिक पदार्थ सूक्ष्म हैं, कालाणु भी सूक्ष्म हैं और पृष्ठल-परमाणु भी सूक्ष्म हैं । इनका हेतु [ मन्त्रानेवाला कोई चिन्ह (हेतु) ] इन्द्रियोंसे नहीं दीखता इसलिये ये सूक्ष्म हैं ।

अन्तरित और दूरार्थ—

अन्तरिता यथा क्षीपसरित्ताथनगाधिवाः ।

दूरार्था भायिनांतीता रामरावणचक्रिणः ॥ ४८४ ॥

अर्थ—दीरा, समुद्र, पर्वत आदि पदार्थ अन्तरित हैं क्योंकि इनके बीचमें बहुतसी चीजें आगई हैं इसलिये ये दूर नहीं सकते । तथा राम, रावण, चक्रवर्ती ( बन्धु अर्ध-चक्री चक्री ) जो हो गये हैं और जो होने वाले हैं वे दूरार्थ ( दूरवर्ती पदार्थ ) कहलाते हैं ।

विश्रादित तत्रा धदिध ही रहता है—

न स्पान्मिध्यादृशां ज्ञानमेतेषां काप्यसंशयम् ।

संशयस्यादिहेतोर्व दृढमेतत्स्योदयात्सलः ॥ ४८५ ॥

अर्थ—इन सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंका संशय रहित ज्ञान विष्यादृष्टिको अभी नहीं होसकता । क्योंकि संशयका मूल कारण दर्शनमोहनीयका उदय है और वह उदय मौजूद है ।

भाषा—

नचाशङ्क्यं परोक्षास्ते सदृष्टेर्गोचराः कृतः ।

तैः सह सन्निरुपेय माशक्त्याप्यमन्वयात् ॥ ४८३ ॥

अर्थ—वे परोक्ष पदार्थ सम्यग्दृष्टिके लिये ऐसे हो पाते हैं ! क्योंकि उनका इन्द्रियोंका सम्बन्ध ही अमंभव है । ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये ।

स्वभाव—

अस्ति तत्रापि सम्यक्त्यमाहात्म्यं दृश्यते मद्भूत ।

यदस्य जगतो ज्ञानमस्त्यास्ति त्वगुरस्मरम् ॥ ४८४ ॥

अर्थ—परोक्ष पदार्थोंके बोध करनेमें भी सम्यग्दर्शनका बड़ा भारी माहात्म्य है । सम्यग्दृष्टिको इस जगत्का ज्ञान आम्नाय—बुद्धि पूर्ण बनाता है ।

स्वभाव—

नासंभवमिदं यस्मात् स्वभावांस्तर्कगोचरः ।

अतिचागतिशयः सर्वो योगिनां योगशक्तियत् ॥ ४८५ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी आस्तिक्य बुद्धिपूर्वक जगत्भरका ज्ञान कर लेता है, यह बात असंभव नहीं है । क्योंकि सम्यग्दर्शनका स्वभाव ही ऐसा है । स्वभावमें तर्कगा हो नहीं सके । योगियोंकी योगशक्तिकी तरह यह सब अतिशय वचनोंसे बाहर है ।

भावार्थ—जिस प्रकार अग्निकी उष्णतामें तर्कगा करना “अग्नि गरम क्यों है” व्यर्थ है, क्योंकि अग्निका स्वभाव ही ऐसा है । किसीके स्वभावमें क्या तर्क वितर्क को जाय, यह एक स्वाभाविक बात है । इसी प्रकार सम्यग्दर्शनका स्वभाव ही ऐसा है कि उसकी बुद्धिमें यथार्थ पदार्थ, आस्तिक्य पुरस्सर ही स्थान पाजाते हैं । जिस प्रकार योगियोंकी योगशक्ति दूसरोंको पता नहीं चलता कि उसका कहाँ तक माहात्म्य है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनका माहात्म्य भी मिथ्यादृष्टिकी समझमें नहीं आसका ।

सम्यग्दृष्टिका अनुभव—

अस्ति चात्मपरिच्छेदि ज्ञानं सम्यग्दृगात्मनः ।

स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदोपमम् ॥ ४८६ ॥

अर्थ—आत्माका अनुभव करानेवाला ज्ञान सम्यग्दृष्टिको है । सम्यग्दृष्टिका स्वतन्त्र प्रत्यक्ष शुद्ध है और सिद्धोंकी उपमावाला है ।

अनुभवकी योग्यता—

यत्रानुभूयमानेषु सर्वैरावालमात्मनि ।

मिथ्याकर्मविपाकाद्वै नानुभूतिः शरीरिणाम् ॥ ४८७ ॥



अर्थ—वास्तवसे लेकर सभीसे उस शुद्धात्माका अनुभव होसका है । परन्तु मिथ्या हमके उदयसे जीवोंको अनुभव नहीं होता है ।

भाषार्थ—शुद्धात्मवेदन शक्ति सभी आत्माओंमें अनुभूयमान ( अनुभव होने योग्य ) है । परन्तु मिथ्यात्वके उदयसे जीवोंमें उसका अनुभव नहीं होता । क्योंकि मिथ्यात्वका उदय उसका बाधक है ।

शक्तिही अपेक्षा भेद नहीं है—

सम्यग्दृष्टेः कुट्टष्टेऽथ स्वादुभेदोऽस्ति वस्तुनि ।

न तत्र वास्तवो भेदो वस्तुसीम्नोऽननिकमात् ॥ ४९१ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टीको वस्तुमें स्वादुभेद होता है परन्तु दोनोंमें वास्तविक भेद कुत नहीं है । क्योंकि आत्मायें दोनोंकी समान हैं । वस्तु सीमाका उत्थपन कभी नहीं होता ।

भाषार्थ—सम्यग्दृष्टी वस्तुका स्वरूप जानना है । परन्तु मिथ्यादृष्टि उस वस्तुको जानकर मिथ्यादर्शनके उदयसे उसमें दृष्ट-अनित बुद्धि रहता है । इतना ही नहीं किन्तु मिथ्यात्व बढ़ा वस्तुका उल्टा ही बोध करता है । इस प्रकार सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टीके वस्तु स्वादुमें भेद है । परन्तु वास्तवमें उन दोनोंमें कोई भेद नहीं । दोनोंकी आत्मायें समान हैं और दोनों ही अनन्त गुणोंको धारण करनेवाले हैं । केवल पर-निमित्तमें भेद होगया है ।

अत्र तात्पर्यमेव तत्तत्त्वैकत्वेऽपि यो भ्रमः ।

शङ्कायाः सोऽपराधोऽस्ति सातु मिथ्योपजीविनी ॥ ४९२ ॥

अर्थ—यहां पर तात्पर्य इतना ही है कि तत्त्व (सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टी) दोनोंकी आत्माओंके समान होने पर तथा विषयभूत वस्तुओंके भी एक होने पर जो मिथ्यादृष्टीको भ्रम होता है वह शङ्काका अपराध है, और वह शङ्का मिथ्यात्वसे होनेवाली है ।

शङ्काकार—

ननु शङ्काकृतो दोषो यो मिथ्यानुभवो वृणाम् ।

सा शङ्कापि कुतो न्यायादस्ति मिथ्योपजीविनी ॥ ४९३ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि जो मनुष्योंको मिथ्या अनुभव होता है वह शङ्कासे होने वाला दोष है । वह शङ्का भी किस न्यायसे मिथ्यात्वसे होनेवाली है ?

उत्तर—

ननु शङ्काकृतो दोषो यो मिथ्यानुभवो वृणाम् ।

सा शङ्कापि कुतो न्यायादस्ति मिथ्योपजीविनी ॥ ४९४ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका का उत्तर यह है कि जो मित्यादृष्टी है उसीसे ही प्रकारके भय हुआ करते हैं । जो सम्यग्दृष्टी है उसे कोई भी भय धोड़ासा भी नहीं भयान्तर भावार्थ—मित्यादृष्टीको ही भयान्तर रहने हैं । इसलिये उसे ही भयोंके निराकरण के साधन के साधन होती है । इसलिये मित्यात्तसे ही शंका होती है यह बात सिद्ध हुई ।

भय कब होता है—

**परत्रात्मानुभूतेर्व चिना भीतिः कुतस्तर्ना ।**

**भीतिः पर्यायमूढानां नात्मतत्त्वैकचेतसाम् ॥ ४९५ ॥**

अर्थ—पर पदार्थोंमें आत्माका अनुमान होनेसे भय होता है, चिना पर पदार्थोंमें समझे भय किसी प्रकार नहीं हो सका इसलिये जो वैभाविक पर्यायमें ही मूढ़ हो रहे उन्हींको भय लगता है । जिन्होंने आत्मतत्त्वको अच्छी तरह समझ लिया है उन्हें कभी भय नहीं लगता ।

भावार्थ—कर्मके निमित्तसे होनेवाली शरीरादिक पर्यायोंको ही जिन्होंने आत्मतत्त्व समझ लिया है, उन्हें ही मरने, जीने आदिके अनन्त भय होते हैं, परन्तु जो आत्मतत्त्व की यथार्थताको जानते हैं उन्हें पर-शरीरादिमें बाधा होनेपर भी उससे भय नहीं होता ।

**ततो भीत्यानुमेयोस्ति मिथ्याभावो जिनागमात् ।**

**सा च भीतिरवश्यं स्याद्भेतुः स्वानुभवक्षतेः ॥ ४९६ ॥**

अर्थ—इसलिये भय होनेसे ही मिथ्या-भावका अनुमान किया जाता है । वह स्व आत्मानुभवके क्षयका कारण है । यह बात जिनागमसे प्रसिद्ध है ।

भावार्थ—चिना स्वात्मानुभवके क्षय हुए भय होता नहीं । इसलिये भयसे स्वात्मानुभूतिके नाशका अनुमान कर लिया जाता है । जिनके स्वानुभव है उन्हें भय नहीं लगता ।

निष्कर्ष—

**अस्ति सिद्धं परायत्तो भीतः स्वानुभवच्युतः ।**

**स्वस्थस्य स्वाधिकारित्वान्नूनं भीतेरसंभवात् ॥ ४९७ ॥**

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि जो भय सहित है और परायत्त है, वह आत्मानुभवसे गिरा हुआ है । परन्तु जो स्वस्थ है वह आत्मानुभवशील है, उसको भीति (भय) का होता असंभव ही है ।

भावार्थ—इस कथनसे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि सम्यग्दृष्टीको भय लगता ही नहीं । क्या सम्यग्दृष्टी शेरसे नहीं डरेगा ? क्या सर्पसे नहीं डरेगा ? अदृश्य डरेगा । परन्तु जिन भीतियोंके कारण मित्यादृष्टी सदा व्यावृत्त रहता है, उनसे सम्यग्दृष्टी सर्वथा दूर है । उन भीतियोंके नाम आगे आयगे ।

चङ्का—

ननु सन्ति यतश्चोपि संज्ञास्तस्यास्य कस्यचित् ।

अर्थात् च तत्परिच्छेदस्थानादस्तित्वसंभवान् ॥ ४९८ ॥

अर्थ—सङ्काकार कहता है कि किसी सम्प्रदायीके भी पापों (आहार, मय, मधुन, रिग्रह) ही संज्ञाएँ होती हैं। जहाँ पर उन संज्ञाओंकी मर्यादा बतलाई गई है उनके परमेश्वर उनका अस्तित्व होना संभव ही है ।

पुनः चङ्का—

नरकधे नाम निर्भीकः सर्वतो दृष्टिमानपि ।

अप्यनिष्ठार्थसंयोगादस्यध्यक्षं प्रपन्नवान् ॥ ४९९ ॥

अर्थ—सङ्काकार कहता है कि जब सम्प्रदायीके पापों मत्ताये जाई जाती है तो फिर वह सम्प्रदायज्ञानका धारि होने पर भी सर्वतो निर्भीक किम प्रकार रहा ना मर्यादा और अनिष्ठ पदार्थोंका संयोग होने पर वह उनमें अपनेको निरं प्रपन्न भी करता है। वह काय प्रत्यक्ष देखने ही है ।

उपार—

मत्स्यं भीर्कोपि निर्भीकस्तस्यामिष्याद्यभायतः ।

रूपि द्रव्यं यथा पशुः पश्यदपि न पश्यति ॥ ५०० ॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि सम्प्रदायीके भी मत्ताये हैं और वह भयभीत भी है। परन्तु वह उन संज्ञाओंका अपनेको स्वीकार नहीं समझता है, किन्तु उन्हें धर्म-व्यवस्था समझता है। निम प्रकार द्रव्यपशु (द्रव्येन्द्रिय) रूपी दू परी देखा हुआ भी दान्यवसे भरा देखा है ।

भाषा—निम प्रकार विष्वादि पापों संज्ञाओंमें लक्षित होकर अपनेको उनका स्वामी समझता है, अर्थात् आहारारिहो करना ही समझता है उस प्रकार सम्प्रदायि नहीं समझता, किन्तु उन्हें धर्म-व्यवस्था का समझता है। जो में द्रव्यपशु पशुको देखोराय दो-रूप है पशु वास्तवमें देखनेवाली भावेन्द्रिय है ।

चङ्का प्रयोग—

सन्ति संसारिजीवानां कर्माद्याभ्योदयागताः ।

मुक्षन् रज्यन् द्विषंस्तत्र नरकदेवोपुङ्गव ॥ ५०१ ॥

अर्थ—संसारि जीवोंके कर्म-परायण उदये और रज्ये हैं। उनके उदये पर और रज्ये परता है, राग करता है, द्वेष करता है और लक्षित हो जाता है ।

एतेन हेतुना ज्ञानी निःकारो न्याप्यर्ज्यमान् ।

देवतोप्यथ मच्छायाः सङ्गाहेनोरमंनवान् ॥ ५०२ ॥

अर्थ—इसी कारण सम्यज्ञानी निःशंक है । यह बात न्यायसे सिद्ध है ।  
एक देश भी मूर्छा ( ममता-अपनापन ) नहीं है इसलिये शंकाका कारण ही नहीं है ।

स्वात्मसंचेतनं तस्य कीदृगस्तीति चिन्त्यते ।

येन कर्मापि कुर्वाणः कर्मणा नोपयुज्यते ॥ ५०३ ॥

अर्थ—उस सम्यज्ञानीकी स्वात्मचेतना ( स्वात्मविचार-ज्ञानचेतना ) कैसी है, अब उसीका विचार किया जाता है । उसी चेतनाके कारण वह कर्म (कार्य) करने तो भी उससे तल्लीन नहीं होता ।

सात भयोंके नाम—

तत्र भीतिरिहामुत्र लोके वै वेदनाभयम् ।

चतुर्थी भीतिरत्राणं स्यादगुप्तिस्तु पञ्चमी ॥ ५०४ ॥

भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युर्भीतिराकस्मिकं ततः ।

क्रमादुद्देशिताश्चेति सप्तैताः भीतयः स्मृताः ॥ ५०५ ॥

अर्थ—पहला—इस लोकका भय, दूसरा—परलोकका भय, तीसरा—वेदना भय, आरक्षा भय, पांचवां—अगुप्ति भय, छठवां—मरण भय और सातवां—आकस्मिक भय । ये सात—भीति बतलाई हैं ।

इस लोककी भीति—

तत्रेह लोकतो भीतिः क्रन्दितं चात्र जन्मनि ।

इष्टार्थस्य व्ययो माभून्माभून्मेऽनिष्टसंगमः ॥ ५०६ ॥

अर्थ—उन सातों भीतियोंमें “मेरे इष्ट पदार्थका तो नाश न हो और मुझे इष्ट पदार्थका समागम भी न हो ऐसा इस जन्ममें विलाप करना” इस लोक संबंधी पहिली भीति है ।

और भी—

स्थास्यतीदं धनं नोवा दैवान्माभूदरिद्रता ।

इत्याद्याधिश्चिता दग्धुं ज्वलितेवाऽहगात्मनः ॥ ५०७ ॥

अर्थ—यह धन टहरेगा या नहीं, दैवयोगसे दरिद्रता कभी नहीं हो । इत्यादि स्थापित मिथ्यादृष्टीको जलानेके लिये जलती ही रहती है ।

निर्गुण—

अर्थादज्ञानिनो भीतिर्भीतिर्न ज्ञानिनः कचित् ।

यतोऽस्ति हेतुतः शेषादिशेषज्ञानयोर्महान् ॥ ५०८ ॥

अर्थ—अर्थात् अज्ञानी पुरुषको ही भय लगता है । ज्ञानी पुरुषको शंका ही नहीं

ही लगता । पारिशेषानुपानसे ( फलवत्तान् ) यह बात सिद्ध होती है कि ज्ञानी और अज्ञानी-  
में बड़ा भारी अन्तर है । इसका कारण वही मोहनीय कर्म है ।

अज्ञानीके विचार—

अज्ञानी कर्मनोकर्मभावककर्मात्मकं च यत् ।

मनुते सर्वमेयं तन्मोहादयत्तवादयत् ॥ ५०९ ॥

अर्थ—अज्ञानी जीव, द्रव्यकर्म, नोकर्म और धातुकर्म सभीको मोहमें अद्वैतवादकी  
तरह अपना आत्मासे अभिन्न ही समझता है ।

और भी—

विद्वद्भिन्नोऽपि विद्वयं स्यं कुर्यन्मात्मानमात्महा ।

भूत्या विद्वमयो लोके भये नोजसति जातुचित् ॥ ५१० ॥

अर्थ—आत्माका नाश करनेवाला—अज्ञानी जीव यद्यपि जगत् भिन्न है, तो भी  
जगत्को अपना ही बनाता है और विद्वमय बनाकर लोकमें कभी भी भयका नहीं जोंहता,  
वह सदा भयभीत ही बना रहता है ।

उ.रा.ध—

सात्पर्यं सर्वतोऽनित्यं कर्मणः पाकसंभवात् ।

नित्यपुण्या शरीरादी भ्रान्तो भ्रातिमुपैति यः ॥ ५११ ॥

अर्थ—उपपुण्य कर्मणः सात्पर्यं इत्यादि शब्दों से ही है कि अज्ञानी पुण्य कर्मके उदय वस  
सर्वथा अनित्य शरीर—आदि वस्तुओंमें नित्यपुण्य समझ कर प्रयत्न करता हुआ भय करने लगता है ।

ज्ञानीके विचार—

सम्यग्दृष्टिः सर्वकर्म्यं स्यं समासादयन्निष्ठ ।

धापरकर्मातिरिक्तत्वाच्च पुण्यमस्येति विन्मयम् ॥ ५१२ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी प्राप्त सदा अपनेको अकेला ही समझता है और निश्चय भी  
कर्मका विचार है, उसमें अपनी आत्माको भिन्न, शुद्ध और वैकल्याणरूप समझता है ।

और भी—

शरीरं गुणदुःखादि पुत्रपौत्रादिकं तथा ।

अनित्यं कर्मकायेत्यादस्य रूपमपैति यः ॥ ५१३ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी समझता है कि शरीर, गुण, दुःख आदिक वस्तुओं और पुत्र, पौत्र  
आदिक वस्तुओं अनित्य है, ये सब कर्मके निमित्त होने हुए हैं, और इनमें से कर्म-वत् स्वरूप  
नहीं है ।



अर्थ—वर्तमानमें प्राप्त जो स्पर्शनादि इन्द्रियोंके विषय हैं अथवा जो आगामी मिलने लगे हैं, उनमें जिसका आदर नहीं है, वही (सम्यग्दृष्टी) वास्तवमें वेदना-भयसे निडर है ।

**व्याधिस्थानेषु तेषूचैर्नाऽसिद्धोऽज्ञादरो मनाक् ।**

**याभादेतोः स्वतस्तेषामाभयस्याविशेषतः ॥ ५३० ॥**

अर्थ—इन्द्रियोंके विषय, व्याधियोंके मुख्य स्थान हैं क्योंकि वे बाधाके कारण हैं। इसलिये उनमें गेगमे कोई विशेषता नहीं है अर्थात् आत्माको दुःख देनेवाले गेग इन्द्रियोंके विषय है ।

अत्राण (अरक्षण) भय—

**अत्राणं क्षणिककान्ते पक्षे चित्तक्षणादिवत् ।**

**नाशात्प्रागंशनाशस्य धातुमक्षमताऽऽत्मनः ॥ ५३१ ॥**

अर्थ—सर्वथा क्षणिक मानने वाला बौद्ध दर्शन है वह चित्तका क्षणमात्रमें नाश मानता है । चित्त पदसे आत्मा समझना चाहिये । जिसप्रकार वह आत्माको क्षण नाशी मानता है उसी प्रकार अन्यान्य सभी पदार्थोंको भी क्षण-विनाशी मानता है । साथमें चित्त सन्तति मानता है । आत्मा नाशवान्ता है परन्तु उसकी सन्तान बराबर चल्ती रहती है । ऐसा बौद्ध सिद्धान्त है परन्तु जैन सिद्धान्त ऐसा सर्वथा नहीं मानता वह पर्यायकी अपेक्षा आत्मा तथा इतर पदार्थोंका नाश मानता है किन्तु द्रव्यकी अपेक्षासे सभीको नित्य मानता है । परन्तु मिथ्यादृष्टी इससे उल्टा ही समझता है । निम मय मनुष्य पर्यायका नाश तो नहीं हुआ है, परन्तु धीरे २ आयु कम हो रहा है ऐसी अवस्थामें वह ( मिथ्यादृष्टी ) उसकी रक्षा तो कर नहीं सका, परन्तु नाशका भय उसे बराबर व्या रहता है । उसीका नाम अत्राण-भय ( अरक्षा-भय ) है ।

मिथ्यादृष्टिका विचार—

**भीतिः प्रागंशनाशात्स्यादंशनाशभ्रमोन्वयान् ।**

**मिथ्यामात्रकहेतुत्वाच्च न मिथ्यादृशोऽस्ति सा ॥ ५३२ ॥**

अर्थ—मिथ्यादृष्टी समझता है कि धीरे २ आत्माकी पर्यायोंका नाश होनेसे संभव है कि कभी सम्पूर्ण आत्माका ही नाश हो जाय । क्योंकि मन्तानके नाशसे मन्तानीके नाशका भी खर है । इस प्रकारका भय मिथ्यादृष्टीको पहलेसे ही हुआ करना है । इसमें कारण केवल मिथ्यात्ववर्मका उदय ही है ऐसा भय नियमसे मिथ्यादृष्टीको ही होता है सम्यग्दृष्टीको कभी नहीं होता ।

आकस्मिक-भय—

अकस्माज्जातमित्युचेराकस्मिकभयं स्मृतम् ।

तद्यथा विगुदादीनां पातात्पातोऽसुधारिणाम् ॥ ५४३ ॥

अर्थ—जो भय अकस्मात् (अचानक) होता है उसे आकस्मिक भय कहते हैं।  
विजली आदिके गिरनेसे प्राणियोंका नाश होना आदि रूपसे होता है ।

भीतिर्भूयाद्यथा सौस्थ्यं माभूद्वास्थ्यं कदापि मे ।

इत्येवं मानसी चिन्ता पर्याकुलितचेतसा ॥ ५४४ ॥

अर्थ—आकस्मिक भय इस प्रकार होता है कि सदा मैं स्वस्थ बना रहूँ, उसे भय कभी न हो । इस प्रकार आकुल चित्तवाला मानसिक चिन्तासे पीड़ित रहता है ।

इसका स्वामी—

अर्थादाकस्मिकभ्रान्तिरस्ति मिथ्यात्वशालिनः ।

कुतो मोक्षोऽस्य तद्गीतेर्निर्भीकैकपदच्युतेः ॥ ५४५ ॥

अर्थ—आकस्मिक भय मिथ्यादृष्टीको ही होता है क्योंकि वह निर्भीक स्थानों में हुआ है और सदा भयभीत रहता है । फिर भला उसे मोक्ष कहाँसे होसकती है ।

निर्भीकैकपदो जीवो स्यादनन्तोप्यनादितात् ।

नास्ति चाकस्मिकं तत्र कुतस्तद्गीतमिच्छतः ॥ ५४६ ॥

अर्थ—जीव सदा निर्भीक स्थानवाला है, अनन्त है, और अनादि भी है । निर्भीकस्थानको चाहनेवाले जीवको आकस्मिक भय कभी नहीं होता ! क्योंकि अनन्त जीवमें आकस्मिक घटना हो ही क्या सकती है !

निःकांक्षित अंग—

कांक्षा भोगाभिलाषः स्यात्कृतेऽमुष्य क्रियासु वा ।

कर्मणि तत्फले सात्कर्म्यमन्यदृष्टिप्रशंसनम् ॥ ५४७ ॥

अर्थ—जो काम किये जाते हैं उनसे पर लोकेके लिये भोगोंकी चाहना करना (इस) नाम कांक्षा है । अथवा कर्म और कर्मके फलमें आत्मीय-भाव रखना अथवा मिथ्यादृष्टिके प्रशंसा करना आदि सब कांक्षा कहलाती है ।

कांक्षाका चिन्ह—

दृष्टीकारुचितेष्टवैरुद्देशो विषयेषु यः ।

स स्याद्भोगाभिलाषस्य लिंगं स्वैष्टार्थरञ्जनात् ॥ ५४८ ॥

अर्थ—जो इन्द्रियोंको रचिकर विषय नहीं हैं, उनमें बहुत दुःख करना, मन री



ही अभिलाषाका चिन्ह है । क्योंकि इन्द्रियोंके अस्वच्छर विषयोंमें दुःख प्रकट करनेसे अभीष्ट पदार्थोंमें राग अवश्य होगा ।

रागद्वेष दोनों साधे हैं—

तद्यथा न रतिः पक्षे विपक्षेऽप्यरतिं विना ।

नारतिर्या स्वपक्षेऽपि तद्विपक्षे रतिं विना ॥ ५४९ ॥

अर्थ—विपक्षमें विना द्वेष हुए स्व-पक्षमें राग नहीं होता है और विपक्षमें विना हुए स्वपक्षमें द्वेष नहीं होता है ।

भावार्थ—राग और द्वेष, दोनों ही सापेक्ष हैं । एक वस्तुमें जब राग है तो दूसरीमें त्वष्ट होगा अथवा दूसरीमें जब राग है तब पहलीमें द्वेष अवश्य होगा । रागद्वेष दोनों हभावी हैं । इसी प्रकार इन्द्रियोंके किसी विषयमें द्वेष करनेसे किसीमें राग अवश्य होगा ।

सहयोगिताया इष्टान्त—

शीतद्वेषी यथा कञ्चित् उष्णस्पर्शं समीहते ।

नेच्छेदनुष्णसंस्पर्शमुष्णस्पर्शाभिलाषुकः ॥ ५५० ॥

अर्थ—जैसे कोई शीतसे द्वेष करनेवाला है तो वह उष्णस्पर्शको चाहता है । जो गर्मीकी अभिलाषा रखता है वह शीतस्पर्शको नहीं चाहता ।

कांक्षाका स्वामी—

यस्यास्ति कांक्षितो भावो नूनं मिथ्यादृग्गतिः सः ।

यस्य नास्ति स सदृष्टिर्गुक्तिस्वानुभवागमात् ॥ ५५१ ॥

अर्थ—जिसके कांक्षित ( भोगाभिलाषा ) भाव है वह नियमसे मिथ्यादृष्टी है । न वह भाव नहीं है वह सम्यग्दृष्टी है । यह बात स्वानुभव, युक्ति और आगम तीनोंसे है ।

मिथ्यादृष्टी भावना—

आस्तामिष्टार्थसंयोगोऽमुप्रभोगाभिलाषतः ।

स्वार्थसार्थकसंसिद्धिर्न स्यात्तार्महिकात्परम् ॥ ५५२ ॥

अर्थ—परलोकमें भोगोंकी अभिलाषासे इष्ट पदार्थोंका संयोग मिले यह भावना तो आदित्यके लगी ही रहती है परंतु वह यह भी समझता है कि अपने समग्र अभीष्टोंकी ( इष्टलोकके ) सिद्धा वही नहीं है अर्थात् जो कुछ सुख सामग्री है वह यही ( सांसारिक ) सत्ते बढ़कर और कहीं नहीं है ।

निःसारं प्रस्फुरत्येष मिथ्याकर्मरूपाकतः ।

जन्तोन्मत्तचच्चापि पार्थिवानोत्तरङ्गयत् ॥ ५५३ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टीको ऐसी ऐसी (जो कुछ है सो इसी संसारमें है) निम्न मिथ्या कर्मके उदयसे आया करती हैं। वे ऐसी ही हैं जैसे कि किसी उन्नत (फल) को हुआ करती हैं। वायुसे हिलोरा हुआ समुद्र जिस प्रकार तरंगोंसे उछलन करता है, प्रकार मिथ्यात्वके उदयसे मिथ्यादृष्टी अज्ञानभावोंसे उछलन लगता है।

शङ्काकार—

ननु कार्यमनुविश्य न मन्दोपि प्रवर्तते ।

भोगाकांक्षां विना ज्ञानी तत्कथं व्रतमाचरेत् ॥ ५५४ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि बिना किसी कार्यको लक्ष्य किये मन्द पुत्रों काममें नहीं लगता है तो फिर विशेष ज्ञानी—सम्यग्ज्ञानी बिना भोगोंकी चाहनाके कैसे धारण करता है ?

फिर भी शङ्काकार—

नासिद्धं बन्धमाश्रित्वं क्रियायाः फलमद्वयम् ।

शुभमाश्रं शुभायाः स्यादशुभायाश्चाऽशुभावहम् ॥ ५५५ ॥

नचाऽऽशङ्क्यं क्रियाप्येषा स्यादबन्धफला कश्चित् ।

दर्शनातिशयाच्चेतोः सरागेपि विरागवत् ॥ ५५६ ॥

यतः सिद्धं प्रमाणाद्वै नूनं बन्धफला क्रिया ।

अर्वाक् क्षीणकपायेभ्योऽवश्यं तद्धेतुसंभवात् ॥ ५५७ ॥

सरागे वीतरागे वा नूनमौदयिकी क्रिया ।

अस्ति बन्धफलाऽवश्यं मोहस्यान्यतमोदयात् ॥ ५५८ ॥

न वाच्यं स्यादात्मदृष्टिः कश्चित् प्रज्ञापराधतः ।

अपि बन्धफलां कुर्यात्तामबन्धफलां चिदन् ॥ ५५९ ॥

यतः प्रज्ञाविनाभूतमास्ति सम्यग्विशेषणम् ।

तस्याश्चाऽभावतो नूनं कुतस्त्या दिव्यता दृशः ॥ ५६० ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि जितनी भी क्रियायें की जातो हैं सर्वोद्देश होना ही फल है। यह बात भली भाँति सिद्ध है। यदि वह शुभ क्रिया है तो उ शुभरूप होगा और यदि वह अशुभ है तो उमका फल भी अशुभ ही होगा। यदि भी क्रिया क्यों न हो वह बन्ध अवश्य होगी। ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये क्योंकि यहाँ पर बन्ध न करे। जिस प्रकार वीतरागी पुण्यमें क्रिया बन्धरूप फलमें नहीं है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके अनिशयके कारण मर्यादोंमें भी बन्धरूप नहीं

होगी ! ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये । क्योंकि यह बात प्रमाण सिद्ध है कि सभी क्रियायें बन्धरूप फलको पैदा करने वाली हैं । क्षीणकृपाय ( वारहवां गुणस्थान ) से पहले २ अवश्य ही बन्धका कारण संभव है ।

चाहे सरागी हो चाहे बीतरागी ( क्षीणकृपायसे पहले ) हो दोनोंमें ही औदयिकी (उदयसे होनेवाली) क्रिया होती है और वह क्रिया अवश्य ही बन्धरूप फलको पैदा करनेवाली है, क्योंकि मोहनीय प्रवृत्तियोंमेंसे किसी एकत्र उदय मौजूद है इसलिये बुद्धिके दोषसे किसीको स्वावुभूतिवाला मत कहो और मत बन्ध-मनक क्रिया करनेवालेकी क्रियाको अबन्ध फला क्रिया बन्दाओ । क्योंकि बुद्धिका अविनाभावो सम्यक् विशेषण है । उस सम्यक् विशेषणवाली बुद्धि (सम्यग्ज्ञान) का अभाव होनेसे दर्शनको दिव्यता-उत्कृष्टता (सम्यग्दर्शनता) कैसे आसक्ती है ।

उत्तर—

नैवं यतः सुसिद्धं प्रागस्ति चानिच्छतः क्रिया ।

शुभायाश्चाशुभायाश्च कोऽवशेषो विशेषभाक् ॥ ५६१ ॥

अर्थ—शंकाकारकी उपर्युक्त शंका व्यर्थ है, क्योंकि पहले यह बात अच्छी तरह सिद्ध होचुकी है कि बिना इच्छाके भी क्रिया होती है । फिर शुभ क्रिया और अशुभ क्रियाकी क्या विशेषता बाकी रह गई ।

भावार्थ—जिस पुत्रको किसी वस्तुकी चाहना नहीं है उसके भी क्रिया होती है । तो ऐसी क्रिया शुभ-अशुभ क्रिया नहीं कहला सकती । क्योंकि जो शुभ परिणामोंसे की जाय वह शुभ क्रिया कहलाती है और जो अशुभ-परिणामोंसे की जाय वह अशुभ क्रिया कहलाती है । जहाँ पर क्रिया करनेकी इच्छा ही नहीं है वहाँ शुभ अथवा अशुभ परिणाम ही नहीं बन सके ।

उदाहरण—

नन्यनिष्ठार्थसंयोगरूपा साऽनिच्छतः क्रिया ।

विशिष्टेष्टार्थसंयोगरूपा साऽनिच्छतः कथम् ॥ ५६२ ॥

अर्थ—शंकाकार कहता है कि जो क्रिया अनिष्ट पदार्थोंकी संयोगरूपा है वह तो नहीं चाहनेवालेके ही होनाती है । परन्तु विशेष विशेष इष्ट पदार्थोंके संयोग करानेवाली जो क्रिया है वह नहीं चाहने वाले पुत्रके कैसे हो सकती है ।

पुनः उदाहरण—

सक्रिया यतरूपा स्यादर्थाभ्रानिच्छतः स्फुटम् ।

तस्याः स्यतन्प्रसिद्धत्वात् सिद्धं कर्मत्वमर्थसान् ॥ ५६३ ॥

अर्थ—व्रत-स्वरूप जो अच्छी क्रिया है वह विना व्रत चाहने वालेके कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं होसकी । व्रत रूपा क्रिया इच्छानुसार की जाती है इसलिये व्रत करनेवाला व्रत क्रियाका कर्ता है यह बात सिद्ध हुई । भावार्थ—श्रेष्ठ क्रियायें विना इच्छा किये नहीं होसकीं ऐसा शंकाकारका अभिप्राय है ।

उत्तर—

नैवं यतोस्त्यनिष्ठार्थः सर्वः कर्मोदयात्मकः ।

तस्मान्नाकांक्षते ज्ञानी यावत् कर्म च तत्फलम् ॥ ५६४ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है । क्योंकि जितना भी कुछ कर्मके उदय-स्वरूप है सब अनिष्ट-अर्थ है । इसलिये जितना भी कर्म और उसका फल है उसे ज्ञानी पला नहीं चाहता है ।

दृष्टिदोष—

यत्पुनः कश्चिदिष्टार्थोऽनिष्ठार्थः कश्चिदर्थसात ।

तत्सर्वं दृष्टिदोषत्यान् पीतशंखावलोकयत् ॥ ५६५ ॥

अर्थ—और जो प्रयोजन वश कोई पदार्थ इष्ट मान लिया जाता है अथवा कोई पदार्थ अनिष्ट मान लिया जाता है वह सब मानना दृष्टि ( दर्शन ) दोषसे है । निस्प्रकार दृष्टि ( नेत्र ) दोषसे सफेद शंख भी पीला ही दीखता है उमी प्रकार मोह बुद्धिसे कर्मोदय सब पदार्थोंमें यह मोही जीव इष्टानिष्ट बुद्धि करता है । वास्तवमें कर्मोदयसे होनेवाला ही अनिष्ट ही है ।

सम्यग्दृष्टिकी दृष्टि—

दृष्टमोहस्यात्यये दृष्टिः साक्षात् सूक्ष्मार्थदर्शिनी ।

तस्याऽनिष्टेऽस्त्यनिष्ठार्थबुद्धिः कर्मफलात्मके ॥ ५६६ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके नाश हो जाने पर साक्षात् सूक्ष्मपदार्थोंको देखनेवाली दृष्टि ( दर्शन ) होनाती है । फिर सम्यग्दृष्टिकी, कर्मके फल स्वरूप अनिष्ट पदार्थोंमें अनिष्ट पदार्थ रूपा ही बुद्धि होती है । भावार्थ—सम्यग्दृष्टि कर्मके उदयमात्रको ही अनिष्ट समझता है । कर्मोदयसे प्राप्त सभी पदार्थ उसकी दृष्टिमें अनिष्ट रूप ही मासते हैं ।

कर्म और कर्मका फल अनिष्ट क्यों है ?

नचाऽसिद्धमनिष्टत्वं कर्मणस्तत्फलस्य च ।

सर्वतो दुःखहेतुत्वाद्युक्तित्वानुभवागमान् ॥ ५६७ ॥

अर्थ—कर्म और कर्मका फल अनिष्ट है, यह बात असिद्ध नहीं है क्योंकि जितना कर्म और कर्मका फल है सभी मांश दुःखका ही कारण है । यह बात बुद्धि, स्थानुषा आत्मने प्राप्य है ।

सभी क्रियायें अनिष्ट ही हैं—

अनिष्टफलवत्त्वात् स्यादनिष्टार्था मतक्रिया ।

दुष्टकार्यानुरूपस्य हेतोर्दुष्टोपदेशवत् ॥ ५६८ ॥

अर्थ—निजनी भी मत—क्रिया हैं सब अनिष्टार्थ हैं क्योंकि अनिष्ट फल वाली हैं । जिस प्रकार दुष्ट पुरुषका उपदेश दुष्ट—कार्यको पैदा करता है, उसी प्रकार यह भी दुष्ट—कार्यको उत्पन्न करने वाली हैं ।

मत क्रिया स्वतन्त्र नहीं है—

अथाऽसिद्धं स्वतन्त्रत्वं क्रियायाः कर्मणः फलान् ।

कृते कर्मोदयादेतोस्तस्याश्चाऽसंभयो यतः ॥ ५६९ ॥

अर्थ—पहले यह शंका की गई थी कि क्रिया स्वतन्त्र होती है, उसका कर्ता सम्यग्दृष्टि है । सो वास्तवमें ठीक नहीं है । क्रिया कर्मके फलमें होती है अथवा कर्मका फल है । इसलिये क्रियाको स्वतन्त्र बतलाना असिद्ध है क्योंकि कर्मोदयरूप हेतुके बिना क्रियाका होना ही असंभव है ।

क्रिया—औद्योगिकी है—

यायदक्षीणमोहस्य क्षीणमोहस्य चाऽऽत्मनः ।

यायत्वस्ति क्रिया नाम तायत्प्रीदयिकी स्मृता ॥ ५७० ॥

अर्थ—जिस आत्माका मोह क्षीण होगया है अथवा जिसका क्षीण नहीं हुआ है, दोनों ही की निजनी भी क्रिया हैं सभी औद्योगिकी अर्थात् कर्मके उदयसे होनेवाली हैं ।

पौरुषो न यथाकामं पुंनः कर्मोदितं प्रति ।

न परं पौरुषापेक्षो देवापेक्षो हि पौरुषः ॥ ५७१ ॥

अर्थ—पुरुषका पुरुषार्थ कर्मोदयके प्रति भर तक उपयुक्त नहीं होता, और पुरुषार्थ केवल पुरुषार्थसे भी नहीं होता किन्तु देव ( कर्म ) से होता है । भावार्थ—पुरुषार्थ कर्मसे होता है इसलिये क्रिया औद्योगिकी है ।

निष्कर्ष—

सिद्धो निष्कांक्षितो ज्ञानी कुर्वाणोऽप्युदितान् क्रियाम् ।

निष्कामतः कृतं कर्म न रागाद्य विरागिणाम् ॥ ५७२ ॥

अर्थ—यह बात सिद्ध हुई कि सम्यग्ज्ञानी उदयरूप क्रियाको करता हुआ भी निष्कांक्षित है अर्थात् भावांक्षा रहित है । विरागियोंका बिना इच्छाके क्रिया हुआ कर्म रागके लिये नहीं होता है ।

आशङ्क—

नाशङ्क्यं चास्ति निःकांक्षः सामान्योपि जनः कश्चित् ।

हेतोः कृतश्चिदन्यत्र दर्शनातिशयादपि ॥ ५७३ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके अतिशय रूप हेतुको छोड़ कर कहीं दूसरी जगह सामान्य आदमी भी आशङ्का रहित हो जाता है ? ऐसी आशङ्का नहीं करना चाहिये ।

क्योंकि—

यतो निष्कांक्षता नास्ति न्यायात्सदर्शनं विना ।

नानिच्छास्त्यक्षजे सौख्ये तदत्यक्षमनिच्छतः ॥ ५७४ ॥

अर्थ—क्योंकि विना सम्यग्दर्शनके हुए निष्कांक्षता हो ही नहीं सकती है, वह न्याय सिद्ध है क्योंकि जो अतीन्द्रिय मुक्तको नहीं चाहता है उसकी इन्द्रियवत्त्व पुनर्निष्ठा भी नहीं होती है ।

मिथ्यादष्टी—

तदत्यक्षसुखं मोहान्मिथ्यादष्टिः स नेच्छति ।

इहमोहस्य तथा पाकः शक्तेः सत्त्वायतोऽनिशम् ॥ ५७५ ॥

अर्थ—उम अतीन्द्रिय मुक्तको मोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्यादष्टि नहीं चाहता है क्योंकि शक्ति का सत्त्वाय होनेसे दर्शन मोहनीयता निरन्तर पाक ही पैदा होता रहता है ।

उक्तो निष्कांक्षितो भावो गुणः सदृशानस्य यै ।

मस्तु का नः क्षतिः प्राकृत्यत्परीक्षा क्षमता मता ॥ ५७६ ॥

अर्थ—निष्कांक्षित भाव कहा जायुंदा, यह सम्यग्दष्टि ही गुण है ऐसा ध्वनि स्वर्ग छोड़ कर नहीं है यह परीक्षा सिद्ध बात है ।

भाषार्थ—उक्तक स्वयं निश्चय कर मन्दा है कि निष्कांक्षित भाव विना सम्यग्दर्शनसे नहीं हो मन्दा हम ज्ञि यह सम्यग्दष्टि ही गुण है ।

निर्विचिन्तना—

अथ निर्विचिन्तनाया गुणः संलक्ष्यते स यः ।

अदर्शनगुणस्योर्ध्वगुणो युक्तिवशादपि ॥ ५७७ ॥

अर्थ—यह निर्विचिन्तना नामक गुण कहा जाता है । जो कि युक्त बात है । अदर्शन ही वह उच्च गुण समझा जाता है ।

निर्विचिन्तना—

आन्ध्रन्यायगुणोर्ध्वगुणो स्थाय्यदर्शनवान् ।

अत्राप्यप्युक्तिवशादपि निर्विचिन्तना स्मृता ॥ ५७८ ॥

अर्थ—अपनेमें अधिक गुण समझकर अपनी प्रशंसा करना और दूसरोंको हीनता सिद्ध करनेकी बुद्धि रखना विचिकित्सा मानी गई है ।

निर्विचिकित्सा—

निष्कान्तो विचिकित्सायाः प्रोक्तो निर्विचिकित्सकः ।

गुणः सहज्ञानस्योऽयैर्विक्रमे सद्गुह्यं यथा ॥ ५५ ॥

अर्थ—उपयुक्त वही बड़े विचिकित्सामें रहित जो भाव है वही निर्विचिकित्सा गुण कहा गया है । वह सम्यग्बुद्धि उत्तम गुण है, उसका लक्षण यही जाना है—

दुर्दयादुःखिणे पुंसि नीजाऽमानाधृणास्पदे ।

यस्मादयापरं चेत्तः स्मृतां निर्विचिकित्सकः ॥ ५६ ॥

अर्थ—जो प्रकाश स्रोत करके उदयसे दुनी हो रहा है, और तीन अमातावेदनीपक्ष जो निष्प्रस्थान बन रहा है ऐसे पुरुषके विषयमें नित्यमें दुःखाबुद्धि नहीं होना वही निर्विचिकित्सा गुण कहा गया है ।

विच. २-१११॥

नैतत्तन्मनस्यज्ञानमस्यहं सम्बद्धं पदम् ।

नासायस्मत्समी क्षीनो यथाकां विपदां पदम् ॥ ५७ ॥

अर्थ—हम प्रकारका मनमें अज्ञान नहीं होना चाहिये कि मैं सब-विषयों पर हूँ और यह विपदा दीन विपत्तिपूर्ण पर है, यह भ्रम गवार नहीं हो सक्ता ।

प्राप्तुत ज्ञानभेदतत्तत्र कर्मविपाकजाः ।

प्राणिनः सहजाः सर्वे प्रमत्थायरथोनयः ॥ ५८ ॥

अर्थ—उपयुक्त अज्ञान न होकर ऐसा ज्ञान होना चाहिये कि कर्मके उदयसे सभी प्रम, स्थान पानिपाने प्राणी समान हैं ।

१११-३—

यथा बाधमेकां जानां शूत्रिकायास्त्वपां दरान् ।

शूत्रापन्नान्निनस्तौ दौ कृतौ भेदो प्रमात्माना ॥ ५९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार शूद्रके गर्भमें दो बाधक पैदा हुए । वस्तुतः वे दोनो ही निर्दोशरहित हैं, परन्तु प्रमात्मा उनमें भेद भ्रमने लगा ।

प्रसिद्ध है कि शूद्रोंके दो बाधक हुए थे । उन्होंने

दोनों उच्च वर्णों के पदों पर धिया था और

बहुतसे दुरुप्य भ्रमसे उन्हें कि

पेदा हुए थे। इसी प्रकार कर्मरूढ़ भेदों में नीचों में कुछ प्रवर्तीत भेद ही समझने लाते  
परन्तु वास्तव में सभी आत्माओं समान हैं।

जले जम्बालवज्जीवे यान्तकर्मशुचि स्फुटम् ।

अहंता चाऽविशेषाया नूनं कर्ममलामसः ॥ ५८४ ॥

अर्थ—जल में चाँकी तरह इस नीचों में नर तक अपवित्र कर्मका सम्बन्ध है, तब तक  
[॥ कर्म—मलीन आत्मा के सामान्य रीति से अहं बुद्धि लगी हुई है। अर्थात् इतर पदार्थों से  
आपा मान रक्ता है।

निष्क्रम—

अस्ति सदृशनस्यासौ गुणो निर्विचिकित्सकः ।

यतोऽवश्यं स तत्रास्ति तस्मादन्वयत्र न कनित् ॥ ५८५ ॥

अर्थ—यह निर्विचिकित्सा-गुण सम्यग्दृष्टिका ही गुण है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि में  
अवश्य है। सम्यग्दृष्टि से अतिरिक्त कहीं नहीं पाया जाता है।

कर्मपर्यायमात्रेषु रागिणः स कुतो गुणः ।

सद्विशेषेऽपि सम्मोहाद्वयोरैक्योपलब्धितः ॥ ५८६ ॥

अर्थ—जड़ और चैतन्य में परस्पर विशेषता होने पर भी मोह से दोनों को एक समझने  
वाला—कर्म की पर्यायमात्र में जो रागी हो रहा है, उसके वह निर्विचिकित्सा गुण कहाते हो  
सकता है।

इत्युक्तो युक्तिपूर्वोऽसौ गुणः सदृशनस्य च ।

नाविवक्षो हि दोषाय विवक्षो न गुणाप्तये ॥ ५८७ ॥

अर्थ—इस प्रकार युक्तिपूर्वक निर्विचिकित्सा गुण सम्यग्दृष्टिका कहा गया है। यदि  
यह गुण न कहा जाय तो कोई दोष नहीं होसकता, और कहने पर कोई विशेष लाभ नहीं है।  
भावार्थ—यह एक सामान्य कथन है। निर्विचिकित्सा गुण के कहने और न कहने पर कोई गुण  
दोष नहीं होता, इसका यही आशय है कि सम्यग्दर्शन के साथ इसका होना अवश्यभावी नहीं  
है। हो तो भी अच्छा और न हो तो कोई हानि भी नहीं है।

अमृददृष्टि—

अस्ति चामृददृष्टिः सा सम्यग्दर्शनशालिनी ।

यपालंकृतवपुष्येतद्भाति सदृशनं नरि ॥ ५८८ ॥

अर्थ—अमृददृष्टि गुण भी सम्यग्दर्शन सहित ही होता है। अमृददृष्टि गुण से विभूषित  
आत्मा में यह सम्यग्दर्शन शोभायमान होता है।



—अमृददृष्टिः लक्षणम्—

अतस्त्वं तत्त्वश्रद्धानं मूढदृष्टिः स्वलक्षणात् ।

नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यातः सांस्त्यमृददृक् ॥ ५८९ ॥

अर्थ—अतस्त्वं तत्त्व-प्रदान करना, मूढदृष्टि कहलाती है। मूढ जो दृष्टि वह मूढदृष्टि, ऐसा मूढदृष्टि शब्दसे ही स्पष्टार्थ है। जिस नीचेके ऐसी मूढ-दृष्टि नहीं है वह अमृददृष्टि प्रसिद्ध है।

अस्त्यसन्देहदृष्टान्तमिध्याऽर्थं साधितोऽर्थः ।

नाप्यल तत्र मोहाय दृष्टमोहस्यादयश्चनं ॥ ५९० ॥

अर्थ—हमारे मनकाष्ठोंसे मिथ्या हेतु और दृष्टान्तों द्वारा मिथ्या (विशेष) पदार्थ सिद्ध किया है। वह मिथ्यापदार्थ, मोहनोप कर्मके तत्त्व हानिसे सम्प्रदृष्टिमें मोह (विशेष) पदार्थ करनेके लिये समर्थ नहीं है।

सूक्ष्मानन्तरितदूरार्थं दर्शितेऽपि कुदृष्टिभिः ।

नाल्पभ्रुतः स सुखेन किं पुनश्चेद्भ्रुतः ॥ ५९१ ॥

अर्थ—सूक्ष्म, अन्तरित तथा दूरवर्ती पदार्थोंको मिथ्यादृष्टि पुल्ल यदि विवरीत रीतिसे देखाने लगे तो जो थोड़े शास्त्रका ज्ञाननेवाला है वह भी मोहित नहीं होता है। यदि बहुत शास्त्रोंका पाठो हो तो फिर क्या है ? अर्थात् बहुभुत विभी प्रकाश धारणमें नहीं आ पाता है।

अर्थाभासेऽपि तत्रोचैः सम्प्रदृष्टेर्न मदृता ।

सूक्ष्मानन्तरितोपात्तमिध्याप्यस्य कुतो भ्रमः ॥ ५९२ ॥

अर्थ—तहाँ वहाँ अर्थ-आभाव भी हो वहाँ जो सम्प्रदृष्टि मूढ़ नहीं होता है। तो फिर आगम प्रसिद्ध सूक्ष्म अन्तरित और दूरार्थ मिथ्या बननासे दृष्ट पदार्थोंमें सम्प्रदृष्टिसे भ्रम हो सका है।

सामयिके विचार—

तद्यथा लौकिकी रुद्धिरस्ति नाना विकल्पसान् ।

निःसारैराधिता पुम्भिरधाऽनिष्टफलमदा ॥ ५९३ ॥

अर्थ—लौकिकी रुद्धि नाना विकल्पोंसे होती है अर्थात् अनेक मिथ्या विचारोंमें जाती है। निःसार पुल्ल उमें करने रहने है। जोरुद्धि मरु अनिष्ट फलको हो देती है।

अफलाऽनिष्टफला हेतुनान्या योगापहारिणी ।

दुस्पात्र्या लौकिकी रुद्धिः कैश्चिदुपकर्मपातनः ॥ ५९४ ॥

अर्थ—ऐसा में प्रकल्प रुद्धि का पुन्य है, अथवा अनिष्ट फलको है, हेतु शुद्ध

है और योगका नाश करनेवाली है । स्रोत कर्मके उद्देश्यसे कोई २ पुरुष इस योगका छोड़ भी नहीं सकते हैं ।

देवमृदता—

अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मभीरिह ।

अगुरौ गुरुबुद्धिर्या कृपाता देवादिमृदता ॥ ५०५ ॥

अर्थ—अधर्ममें देवबुद्धिका होना, अधर्ममें धर्मबुद्धिका होना, अगुरुमें गुरुबुद्धि होना ही देवमृदता कही गई है ।

लोहमृदता—

कुदेवाराधनं कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधीः ।

मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमृदता ॥ ५०६ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि सांसारिक सुखके लिये कुदेवोंका आराधन-पूजन करना है । करना मिथ्या लोकाचार है, इसीका नाम लोकमृदता है, लोकमृदता महा-अहितकर है ।

अस्ति श्रद्धानमेकेषां लोकमृदयशादिह ।

धनधान्यप्रदा नृनं सम्यगाराधिताऽम्बिका ॥ ५०७ ॥

अर्थ—लोकमृदताका किन्हीं २ पुरुषोंको ऐसा श्रद्धान हो रहा है कि भले प्रसन्न आराधना की हुई अम्बिका देवी ( चण्डी-मुण्डी आदि ) निश्चयसे धन धान्य-सम्पत्तियोंमें देवंगी ।

अपरेऽपि यथाकामं देवमिच्छन्ति बुधियः ।

सदोषानपि निर्दोषानिव प्रज्ञाऽपराधतः ॥ ५०८ ॥

अर्थ—और भी बहुतसे मिथ्या-बुद्धिवाले पुरुष इच्छानुसार देवोंको मानते हैं । बुद्धिके दोष ( अज्ञानता ) से सद्गोपियोंको भी निर्दोषीकी तरह मान बैठते हैं ।

नोक्तस्तेषां समुद्देशः प्रसङ्गादपि सङ्गतः ।

लब्धवर्णा न कुर्यामि निःसारं ग्रन्थविस्तरम् ॥ ५०९ ॥

अर्थ—उन मिथ्या-विचारवालोंका विशेष उद्देश्य ( अधिक वर्णन ) प्रसंगका भी विस्तारभयसे नहीं कहा है क्योंकि जिसको बहुतसे शब्द मिल भी जायें वह भी व्यर्थ ग्रन्थ विस्तारको नहीं करेगा, अर्थात् कुदेवके स्वरूपके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

अधर्म—

अधर्मस्तु कुदेवानां यावानाराधनोत्तमः ।

तैः प्रणीतं धर्मं चेष्टा नाकायचेतसाम् ॥ ५१० ॥

अर्थ—कुदेवोंकी आराधना करनेका जितना भी उत्तम है, तथा उनके द्वारा रहे हुए धर्मोंमें मन, बचन, कायका जो व्यापार है वह सभी अधर्म कहलाता है ।

कुगुरु और सुगुरु—

**कुगुरुः कुत्सिताचारः सशल्पः सर्परिग्रहः ।**

**सम्पक्त्वेन भ्रमेनापि युक्तः स्यात्सद्गुरुर्वतः ॥ १०१ ॥**

अर्थ—सिक्का निन्द ( नलोचन ) आचरण है, जिसके माया, मित्रता, निदान-शल्प आदि हुई हैं, और जो परिग्रह सहित है वह कुगुरु है, तथा जो सम्पक्त्वेन और भ्रम सहित है वह सद्गुरु है ।

**अत्रोद्देशोऽपि न श्रेयान् सर्वतोर्ताय विस्तरात् ।**

**आदिगो विभिरत्रोक्तो नादिषोऽनुक्तः तथैव ॥ १०२ ॥**

अर्थ—गुरुत्व और कुगुरुत्व विषयमें भी अधिक लिखना आवश्यक नहीं है । क्योंकि इनका पूरा व्यवहार लिखनेमें अत्यन्त मन्य-वित्तर होनेका डर है । इन्हींमें से हम मन्यमें जो विधि बही गई है, वही ग्रहण करने योग्य है, और जो यहाँ नहीं बही गई है वह स्वायत्त योग्य समझना चाहिये । आचार्य-जो विधि उपादेय है, उपादेय यहाँ वर्णन किया गया है और जो अनुपादेय है उसका यहाँ वर्णन भी नहीं किया गया है ।

उपने देवता २४७५—

**दोषो रागादिसङ्गायः स्यादापरणकर्म तत् ।**

**तयोद्भायोऽस्ति निःशेषो यत्रार्थो ह्येव उच्यते ॥ १०३ ॥**

अर्थ—रागादिक वैकारिक भाव और ज्ञानावस्थादिक कर्म, दोष कहलाते हैं । उनका निवृत्ति भावयामें सम्पूर्णभासे अभाव हो चुका है, वही देव कहा जाता है ।

अनन्तचतुष्टय—

**अस्त्यत्र केवलं ज्ञान क्षाधिक दर्शनं मुख्यम् ।**

**पर्यायं चेति श्रुतिरूपाने स्यादनन्तचतुष्टयम् ॥ १०४ ॥**

अर्थ—उस देशमें केवलज्ञान, सात्विक दर्शन, सात्विक सुख और सावित्रीदेव सह प्रसिद्ध अनन्त चतुष्टय प्रकट हो जाता है ।

देवके अर्थ—

**एको देवः स मागान्याद् विधापस्था विशेषतः ।**

**संप्रतिषा मास सन्दर्भवि गुणेभ्यः स्यादनन्तथा ॥ १०५ ॥**

अर्थ—मागान्य रीतिसे देव एक प्रकार है अत्र-या विशेषमें हो प्रकट है, संप्रतिषा ( कपन ) की अवस्थासे संज्ञा प्रकट है, और गुणोंकी अवस्थासे अनन्त प्रकट है ।

अष्टम और निम्न—

**एको यथा सद्गुरुव्यापारोऽस्तिः शुद्धात्मत्ववित्तः ।**

**अर्हन्ति च निश्चय पर्यायार्थोद्दिष्टा ज्ञानः ॥ १०६ ॥**

अर्थ—सप्त द्रव्यार्थ नयनी अपेक्षामे एक प्रकार ही देव है क्योंकि शुद्धात्मा ही लब्धि (प्राप्ति) एक ही प्रकार है। पर्यायार्थिकनयसे अहन्त और सिद्ध, ऐसे देवों दो भेद हैं।

अहन्त और सिद्धा स्वस्व—

दिव्यौदारिकदेहस्यो धौतघातिचतुष्टयः ।

ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याद्यः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः ॥ ६०७ ॥

मूर्तिमदेहनिर्मुक्तो मुक्तो लोकाग्रसंस्थितः ।

ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतो निष्कर्मा सिद्धसंज्ञकः ॥ ६०८ ॥

अर्हन्निति जगत्पूज्यो जिनः कर्मरिशतनात् ।

महादेवोधिदेवत्वाच्छङ्करोपि सुखावहात् ॥ ६०९ ॥

विष्णुर्ज्ञानेन सर्वार्थविस्तृत्वात्कथञ्चन ।

ब्रह्म ब्रह्मज्ञरूपत्वाडरिर्दुःश्यापनोदनात् ॥ ६१० ॥

इत्याद्यनेकनामापि नानेकोऽस्ति स्वलक्षणात् ।

यतोऽनन्तगुणात्मैकद्रव्यं स्यात्सिद्धसाधनात् ॥ ६११ ॥

चतुर्विंशतिरित्यादि यावदन्तमनन्तता ।

तद्वहुत्वं न दोषाय देवत्त्वैकविधत्ततः ॥ ६१२ ॥

अर्थ—जो दिव्य-औदारिक शरीरमें स्थित है, पाति कर्म चतुष्टयको धो चुका है, ज्ञान दर्शन, वीर्य और सुखसे परिपूर्ण है और धर्मका उपदेश देनेवाला है, वह अहन्त देव है।

जो मूर्तिमान् शरीरसे मुक्त हो चुका है, सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट चुका है, लोकों के अभाग (सिद्धालय) में स्थित है, ज्ञानादिक आठ गुण सहित है और कर्ममलकलसे रहित है वह सिद्ध देव है।

वह देव जगत्पूज्य है इसलिये अहन्त कहलाता है, कर्म रूपी शत्रुको जीतनेवाला इसलिये जिन कहलाता है, सम्पूर्ण देवोंका स्वामी है इसलिये महादेव कहलाता है, सुख देने वाला है, इसलिये शंकर कहलाता है, ज्ञानद्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंमें फैला हुआ है इसलिये कश्चित् विष्णु (व्यापक) कहलाता है, आत्माको पहचाननेवाला है इसलिये ब्रह्मा कहलाता है और दुःखको दूर करनेवाला है इसलिये हरि कहलाता है। इत्यादि रीतिसे वह देव अनेक नामोंवाला है। तथापि अपने देवत्व लक्षणकी अपेक्षासे वह एक ही है। अनेक नहीं है। क्योंकि अनन्तगुणात्मक एक ही (समान) आत्मद्रव्य प्रसिद्ध है।

और भी चौबीस तीर्थकर आदि अनेक भेद हैं तथा गुणोंकी अपेक्षा अनन्त भेद है। ये सब भेद (बहुपना) किसी प्रकार दोषोत्पादक नहीं हैं क्योंकि सभी देवोंमें देवत्वगुण एक प्रकार ही है।



अर्थ—इत्यादि अनन्त धर्मोंको धारण करनेवाला आठों कमोंसे रहित दोषोंसे रहित, देव पूजने योग्य है । जिसमें उपर्युक्त गुण नहीं पाये जाने वह पूजने योग्य है ।

अर्धाङ्गरुः स एवास्ति श्रेयो मार्गोपदेशकः ।

आप्तश्चैव स्वतः साक्षात्तेता मोक्षस्य नर्तनः ॥ ६२० ॥

अर्थ—अर्धात् वही देव सत्वा गुरु है, वही मोक्ष मार्गका उपदेश देनेवाला वही आप्त है, और वही मोक्ष मार्गका साक्षात् नेता ( प्राप्त कराने वाला ) है ।

गुरुका स्वरूप—

तन्भ्योर्वागपि छद्मस्वरूपास्तद्रूपधारिणः ।

गुरवःस्युर्गुरोर्न्यायान्नान्योऽयस्था विशेषभाक् ॥ ६२१ ॥

अर्थ—उन गुरुओंसे नीचे भी जो अल्पज्ञ हैं, परन्तु उसी वंशको लिये हुए हैं भी गुरु हैं । गुरुका लक्षण उनमें भी वैसा ही है, और कोई अवस्थाविशेषवाला नहीं है ।

अस्वयस्थाविशेषोऽत्र युक्तिस्यानुभवागमात् ।

शेषः संसारिजीवेभ्यस्तेषामेवातिशायनात् ॥ ६२२ ॥

अर्थ—गुरुओंमें संसारीजीवोंसे कोई अवस्था-विशेष है यह बात युक्ति अनुभव आगमसे प्रसिद्ध है । उनमें संसारियोंसे विशेष अतिशय है ।

भाविनैगमनयायतो भूण्युस्तयानिवेप्यते ।

अयदयं भायतो व्याप्तिः सद्भावात् सिद्धसाधनम् ॥ ६२३ ॥

अर्थ—भावि नैगम नवही अपेक्षासे जो होनेवाला है, यह दृष्टा सा ही सभावा भाव ( गुण ) की व्याप्ति का मन्त्र होनेसे यह बात सिद्ध हो जाती है, वही जो गुरु भवन्तं है वे ही गुण एक वंशमें ( अंशरूपमें ) छद्मस्वरूप गुरुओंमें भी मौजूद हैं ।

अस्ति महर्शनं तेषु मिथ्याकर्मोपशान्तिरः ।

चारित्र्यं देशतः सम्यक्चारित्र्यावरणक्षतेः ॥ ६२४ ॥

अर्थ—उन छद्मस्वरूप गुरुओंमें भी मिथ्यात्व कर्मोंके उपशान्त होनेसे साक्षात् महर्शन हो पाता है और चारित्र्य मोहनीय कर्मोंका ( अन्त्यानुक्ति, अन्त्यानुक्ति, अन्त्यानुक्ति ) का होनेसे एकदश सम्यक्चारित्र्य भी पाट हो चुका है ।

ततः सिद्धं निमर्गादि शुद्धत्वं हेतुदर्शनात् ।

मोहदमोदयाभावात्तत्कार्यस्याप्यमनयात् ॥ ६२५ ॥

अर्थ—निमर्गादि शुद्धता ही उन गुरुओंमें शुद्धता का ही कारण है यह साक्षात् सिद्ध हो चुका है और मोहदमोदय के उपशान्त होनेसे उपशान्त होनेसे ही

भावार्थ—मलिनता करनेवाला मोहनीयक उदय है । जब मोहनीयक उदय नहीं है तो उत्तरे होनेवाली मलिनता भी नहीं हो सकती है ।

तच्छुद्धत्वं सुचिरस्यातं निर्जराहेतुरज्ञसा ।

निदानं संवरस्यापि क्रमाज्जिर्वाणभागपि ॥ ६२३ ॥

अर्थ—यह शुद्धता निर्जराका समर्थ कारण है यह बात सुप्रसिद्ध है तथा संवरका भी कारण है और क्रमसे मोक्ष—प्राप्त करनेवाली भी है ।

शुद्धता ही निर्जरा, संवर और मोक्ष है—

यथा स्वयं तदेवार्थाज्जिर्जरादिप्रयं यतः ।

शुद्धभावाविनाभावपि द्रव्यनामापि तत्प्रथमम् ॥ ६२४ ॥

अर्थ—अथवा वह शुद्धता ही स्वयं निर्जरा, संवर और मोक्ष है । क्योंकि शुद्ध भावोंका अविनाभावी जो आत्मद्रव्य है वही निर्जरा, संवर और मोक्ष है ।

भावार्थ—आत्मिक शुद्धभावोंका नाम ही निर्जरादिप्रय है इसलिये निश्चय रूपसे शुद्ध—आत्मा ही निर्जरादि प्रय है ।

निर्जरादिनिदानं यः शुद्धो भावध्विदात्मनः ।

परमार्हः स एवास्ति तद्वानात्मा परं गुरुः ॥ ६२८ ॥

अर्थ—जो निर्जरादिकका कारण अस्याका शुद्ध भाव है वही परम पूज्य है और उस शुद्ध भावको धारण करनेवाला आत्मा ही परम गुरु है ।

गुरुत्वेनैवेतु—

न्यापाद्गुरुत्वहेतुः स्यात् केवलं दोषसंक्षयः ।

निर्दोषो जगतः साक्षा नैता मार्गस्य नेतरः ॥ ६२९ ॥

अर्थ—न्याय रीतिसं गुरुत्व ( गुरुत्वे ) का कारण केवल दोषसंक्षय भजे प्रकाश रूप होना है, निर्दोष ही जगत्का ज्ञाननेवाला ( सर्वज्ञ ) है और वही मार्ग ( मोक्षमार्ग ) का नेता अर्थात् प्राप्त करनेवाला है । जो निर्दोष नहीं है वह न सर्वज्ञ हो सकता है, और न मोक्षको प्राप्त करनेवाला तथा करनेवाला ही हो सकता है ।

अस्याका गुरुत्वेनैवेतु का प्रय वही है—

नालं उग्रस्थताप्येषा गुरुत्वक्षतये मुनेः ।

रागापशुद्धभाषानां हेतुर्मोहककर्म तत् ॥ ६३० ॥

अर्थ—यह मुनि ( गुरु ) की उत्पत्ति भी गुरुत्वेनैवेतु का प्रय के निमित्त स्वयं ही है क्योंकि गुरुको दूर करनेवाले रागादिक अशुद्ध भाव हैं, और उनका एक दूर हेतु मोहनीय कर्म है ।

भावार्थ—निर्मल चारित्र्यही अपेक्षासे ही गुरुता आती है । ज्ञानही होनेवाला विघातक नहीं है किन्तु मोहनीय कर्म है ।

शब्दाकार—

नन्यावृत्तिद्वयं कर्म वीर्यविध्वंसि कर्म च ।

अस्ति तत्राप्यवदयं वै कृतः शुद्धत्वमग्न चेत् ॥ ६३१ ॥

अर्थ—शब्दाकार कहता है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वीर्यको नाश करनेवाला अन्तराय कर्म, अभी उद्यम्य गुरुओंमें मौजूद है, इसलिये उनमें शुद्धता कहाँसे आई !

उत्तर—

सत्यं किन्तु विशेषोऽस्ति प्रोक्तकर्मत्रयस्य च ।

मोहकर्माविनाभूतं बन्धसत्त्वोदयक्षयम् ॥ ६३२ ॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि अभी ज्ञानावरण आदि तीन घातिया कर्म अभी गुरुओंमें मौजूद हैं । किन्तु इतनी विशेषता है कि ज्ञानावरण आदि कहे हुए तीनों कर्मों में बन्ध, सत्त्व, उदय और क्षय, मोहनीय कर्मके साथ अविनाभावी है ।

सुभाषा—

तद्यथा बध्यमानेऽस्मिंस्तद्वन्धो मोहबन्धस्तात् ।

तत्सत्त्वे सत्त्वमेतस्य पाके पाकः क्षये क्षयः । ६३३ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मके बन्ध होने पर ही उसीके आधीन ज्ञानावरणादि बन्धोंकी प्रकृतियोंका बन्ध होता है, मोहनीय कर्मके सत्त्व रहने पर ही ज्ञानावरणादि कर्मोंका सत्त्व रहता है, मोहनीय कर्मके पकने पर ही ज्ञानावरणादि पकते हैं और मोहनीय कर्मके क्षय होने पर ही ज्ञानावरणादि नष्ट हो जाते हैं ।

आशङ्का—

नोऽपि छद्मस्थावस्थायामवर्गिवास्तु तत्क्षयः ।

अंशान्मोहक्षयस्यांशात्सर्वतः सर्वतः क्षयः ॥ ६३४ ॥

अर्थ—छद्मस्थ अवस्थामें, मोहनीय कर्मका ज्ञानावरणादिसे पहले ही क्षय होना ही है, ऐसी आशङ्का भी नहीं करना चाहिये क्योंकि अंशरूपसे मोहनीयका क्षय होनेसे ज्ञानावरणादिका अंश रूपसे क्षय हो जाता है, और मोहनीयका सर्वथा क्षय होनेसे ज्ञानावरणादिका भी सर्वथा क्षय होनाता है ।

नासिद्धं निर्जरातत्त्वं सदृष्टेः कृत्स्नकर्मणाम् ।

आदृशमोहोदयाभावात्तथासंख्यगुणं क्रमात् ॥ ६३५ ॥



अर्थ—सम्यग्दृष्टिके सन्पूर्ण कर्मोंकी निर्मला होना असिद्ध नहीं है किन्तु दर्शन मोहनीय कर्मका उदयाभाव होनेसे वह कर्मसे असंख्यात गुणों २ होती बली जाती है।

निष्कर्ष—

ततः कर्मघ्नं प्रोक्तमस्ति यद्यपि साम्प्रतम् ।

रागद्वेषविमोहानामभावाद्गुरुता मता ॥ ६३६ ॥

अर्थ—इसलिये उपरस्य गुरुओंमें यद्यपि अभी ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म मौजूद हैं तथापि राग, द्वेष, मोहका अभाव होनेसे गुरुपना माना ही जाता है।

गुरु-भेद—

यथास्पेकः स सामान्यात्तद्विशेषात्त्रिधा गुरुः ।

एकोऽप्यग्निर्यथा तार्जः पाणों दान्यस्त्रिधोऽप्यतः ॥ ६३७ ॥

अर्थ—सामान्य रीतिसे एक ही गुरु है और विशेष रीतिसे तीन प्रकार गुरु हैं । जैसे—अग्नि यद्यपि सामान्य रीतिसे एक ही है तथापि त्रिनेकेकी अग्नि, पत्तेकी अग्नि और लकड़ीकी अग्नि, इस प्रकार एक ही अग्निके तीन भेद होनाते हैं ।

तीन प्रकार गुरुओंके नाम—

आचार्यः स्यादुपाध्यायः साधुश्चेति त्रिधा मतः ।

स्युर्विशिष्टपदारूढास्त्रयोऽपि मुनिकुञ्जराः ॥ ६३८ ॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय और साधु ( मुनि ) इस प्रकार तीन भेद हैं । ये तीनों ही मुनिवर विशेष विशेष पदों पर नियुक्त हैं अर्थात् विशेष २ पदोंके अनुसार ही आचार्य, उपाध्याय और साधु संज्ञा है ।

मुनिपना तीनोंमें समान है—

एको हेतुः क्रियाप्येका वेपथ्वीको वह्निः समः ।

तपो द्वादशधा वैकं प्रतं वैकं च पञ्चधा ॥ ६३९ ॥

प्रयोदश विधं चापि चारित्र्यं समतैकधा ।

मूलोत्तरगुणाध्वैके संयमोऽप्येकधा मतः ॥ ६४० ॥

परीपहोपसर्गाणां सहनं च समं स्मृतम् ।

आहारादिविधिधैर्यकर्मार्थास्थानासनादयः ॥ ६४१ ॥

मार्गो मोक्षस्य सद्दृष्टिर्ज्ञानं चारित्र्यमात्मनः ।

रत्नत्रयं समं तेषामपि चान्तर्बहिःस्थितम् ॥ ६४२ ॥

ध्याता ध्यानं च ध्येयं च ज्ञाता ज्ञानं च ज्ञेयसात् ।

धनुर्धाऽऽराधना चापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुता ॥ ६४३ ॥

किंवात्र चतुनोक्तेन तद्विशेषोऽवशिष्यते ।

विशेषाच्छेदनिःशेषो न्यायादस्त्यविशेषभाक् ॥ ३४४ ॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु तीनोंका ही समान कारण है अर्थात् ही निष्परिग्रहता और कषायत्रयके जीतनेसे मुनि हुए हैं। क्रिया (आचरण) भी तीनोंमें है, वास भेद भी ( निर्धन्य-नग्न ) समान है, वस्त्र प्रकरका ता भी सरके समान है, प्रकारका महावन भी समान है, तरह प्रकारका चारित्र भी समान है, समता भी समान है, मूत्रगुण और चौदासी लाख उत्तरगुण भी समान हो हैं, चारित्र भी समान है, सत्संग उत्सर्गोंका सङ्ग करना भी समान है, आहारादिक विधि भी समीचीन समान है। क्या विधि समान है। स्थान आमन आदि भी समान हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र जो भी गुण तथा स्तनत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है वह भी अन्तरंग और बाह्यमें समान हो है, और ध्याय, ध्यान, ध्येय, ज्ञाना, ज्ञान, ज्ञेय, चार आराधनायें (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, मोक्ष) कदापि कदापि जीतना आदि सभी बातें एकजुट हैं। इस विषयमें अधिक क्या कहा जाता हो वहना कम होगा कि वही विशेष रह जाता है जोकि विशेषतासे दूर हो चुका है। अतः स्वाभाविकतः तीनोंमें समानता है, कोई विशेषता नहीं है। अब तीनोंका निष्कर्ष यह है—

**आचार्यका श्रवणः—**

भाषायांश्चादितो रुद्व्योंगादपि निरुच्यते ।

पञ्चागारं परेभ्यः स आचरयति संपर्मा ॥ ३४९ ॥

मर्थ—आचार्य मत्ता अनादिछात्रसे नियत है। पंच परमेशियों की मत्ता अनादि है। ऐनिक छत्रिम भी आचार्य उमे कहते हैं जो कि दूसरों ( मृत्तियों ) की पाव मत्ता आचार्य छत्रिम छत्रिम अर्थात् जो दीक्षा देते वही आचार्य है।

ਮੈਂ ਮੈਂ—

अवि छिन्ने नले साधोः पुनः सुन्याममिच्छतः ।

कर्ममात्रेणानेन प्राप्यधिसं प्राप्यउनि ॥ ॥ ३६॥

द्वय—और निश्चिन्ता छोड़कर आना ही ज्ञान, और भाव होना ही धर्म।  
जिनमें लोभ व मन छूटा न रहे तो अन्तर्गत पुनः कभी किसी वाग दास न हूँ, उनका  
मन ही है, वह ही शोक-हृदय-विपरीत प्रत्यक्ष होता जो मानवीय का ही है।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय—

प्रादेशिकलोपदेशेभ्यः स्याद्विशेषः स चेदभाह ।

नारदं गुरुणा कृतं नारादेवोद्युतं विधिः ॥ ५४३ ॥



ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये—

**नचाशङ्क्यं प्रसिद्धं यन्मुनिभिर्व्रतधारिभिः ।**

**मूर्तिमच्छक्तिसर्वस्वं हस्तरेखेव दर्शितम् ॥ ६५१ ॥**

अर्थ—ऐसी भी आशंका नहीं करना चाहिये कि मुनिगण व्रतधारण और उन्होंने मूर्तिमान् पदार्थों की सम्पूर्ण शक्तियों को हस्तरेखा के समान जान लिया

भावार्थ—व्रतधारी मुनि मूर्त पदार्थों की समस्त शक्तियों का परिज्ञान हैं उन्हें सम्पूर्ण जीवों के स्थान, शरीरादिका परिज्ञान है, वे सदा व्रत स्थावर जीव सावधान स्वयं रहते हैं इसलिये उनके प्रति वधकारी आदेश व उपदेश का निषेध निरर्थक है, ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये ।

व्याधि—

**नूनं प्रोक्तोपदेशोऽपि न रागाय विरागिणाम् ।**

**रागिणामेव रागाय ततोवश्यं निषेधितः ॥ ६५२ ॥**

अर्थ—यह बात ठीक है कि जो वीतरागी हैं उनके प्रति वधकारी उपदेश कारण नहीं होसکتा है, वह रागियों के लिये ही राग का कारण होसکتा है। इसी रागियों के लिये ही उसका निषेध किया गया है ।

भावार्थ—उपदेश सदा उन्नत करने के लिये दिया जाता है; मुनियों का राग है, वे निवृत्ति मार्ग के अनुगामी हो चुके हैं इसलिये उन्हें सदा विशुद्धमार्ग का ही उपदेश ठीक है, यदि उनकी वधाश्रित अर्थात् तिनपूतन आदि शुभ प्रवृत्तिमय उपदेश तो वह उपदेश उनकी निग्रता का ही कारण होगा, इसलिये उन्हें वधाश्रित अशुभ प्रवृत्तिमय उपदेश न देकर निवृत्तिमार्गमय उपदेश ही देना चाहिये। परन्तु वधाश्रित उपदेश का निषेध गृहस्थों के लिये दूसरे प्रकार से है। गृहस्थों में अशुभ प्रवृत्ति भी पाई जाती है उस अशुभ प्रवृत्ति का निषेध कर शुभ प्रवृत्ति का उनके लिये आदेश व उपदेश दिया गृहस्थ एकदम शुद्ध मार्ग में नहीं जा सकते हैं अतः उनके लिये पहले शुभ मार्ग के लिये शुभ मार्ग का आदेश तथा उपदेश देना ही ठीक है इसी बात को नीचे के सूत्र करते हैं—

यस्योक्तं लिये दानपूजन का स्थान—

**न निषिद्धः स आदेशो नोपदेशो निषेधितः ।**

**नूनं सत्पात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि ॥ ६५३ ॥**

अर्थ—सत्पात्रों के लिये दान देने के निषेध और अहन्ता की पूजा के निषेध का आदेश ही निषिद्ध है और न उपदेश ही निषिद्ध है ।

भाचार्य—दान देना और जिन पूजन करना दोनों ही यद्यपि आरंभनित्त कार्य हैं, और जहां आरंभ है वहां हिताका होना अशङ्क्यभावी है इसलिये उक्त दोनों कार्योंका आदेश तथा उपदेश बंधका कारण है । दूसरे—दान देनेमें और जिनपूजन करनेमें शुभ राग होता है और रागभाव हितात्मक है तथापि गृहस्थोंके लिये पात्रदान जिनपूजनादि शुभ प्रवृत्तिमय कार्योंकी आज्ञा और उपदेश दोनों ही निषिद्ध नहीं किन्तु विहित हैं ।

मुनियोंके लिये सावय कर्मका निषेध—

**\*पद्मादेशोपदेशौ च स्तो निरवयवकर्मणि ।**

**यत्र सावयलेदोस्ति तत्रादेशो न जातुचित् ॥ ६५४ ॥**

अर्थ—अथवा मुनियोंके लिये, सर्वथा निर्दोष कार्यके विषयमें ही आदेश व उपदेश होसका है । जहां पापका लेश भी हो वहां उनके लिये आदेश तो कभी हो ही नहींसका ।

भाचार्य—जिस कार्यमें पापका थोड़ा भी लेश हो उसके विषयमें मुनियोंके लिये आदेशका सर्वथा निषेध है ।

आचट्टा—

**सहासंयमिभिर्लोकैः संसर्गं भाषणं रतिम् ।**

**कुपादाचार्य इत्येके नासी सूरिर्न चार्हतः ॥ ६५५ ॥**

अर्थ—अमयमी पुरुषोंके साथ सम्बन्ध, भाषण और प्रेन भी आचार्य की, ऐसा भी कोई कहते हैं । प्रत्यक्ष कहते हैं कि जो अमयमी पुरुषोंके साथ सम्बन्धवदिक रतना है वह आचार्य नहीं कहा जासकता, और न वह जिनमनसा अनुयायी है ।

भाचार्य—आचार्यका सम्बन्ध केवल मुनियोंके साथ होता है । भाषण भी उन्हींके साथ होता है, सत्यधर्मके दर्शनमें भी यही कहा गया है कि सत्यधर्मका भाषी साधु पुरुषोंमें ही हित मित बचन बोल्ता है असाधुओंमें नहीं । आचार्यका मुनियोंके साथ भी केवल धार्मिक सम्बन्ध है, रागांश वहां भी नहीं है । इसलिये आचार्यका असंयमी पुरुषोंके साथ सम्बन्ध और रागादिक जो कहा गया है वह अयुक्त है ।

अन्य दर्शन—

**संघसम्प्रापकः सूरिः प्रोक्तः कौश्लिन्मतेरिह ।**

**धर्मादेशोपदेशाभ्यां नोपकारोऽपरोऽस्त्यतः ॥ ६५६ ॥**

अर्थ—कोई दर्शनशाले आचार्यका स्वरूप ऐसा भी कहते हैं कि जो संघका पालन-

• इस श्लोकमें और ऊपरके श्लोकमें यद्यपि दर्शय और मुनिपद नहीं आया है तथापि "यदा" करनेसे सिद्ध होता है कि उपर्युक्त कथन गृहस्थोंके लिये है और यह कथन मुनियोंके लिये है । तथा यही संगत प्रतीय होता है ।

पोषण करता है वह आचार्य है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी कहना अशुक्त आदेश और धर्मका उपदेश देना ही आचार्यका उपकार है । इसको छोड़कर पोषण करना आदिक आचार्योंका उपकार नहीं है ।

**भाचार्य—**मुनियोंका पालनपोषण करना आचार्यका कर्तव्य वस्तुतः स्वरूप निगाड़ना है । पहले तो मुनिगण ही पालन पोषण किसीसे नहीं करते उन्हें अपने पोषणका कभी विचार ही होता है । उनका मुख्य कर्तव्य ध्यान केवल शरीरकी परिस्थिति ठीक रखनेके लिये वे आहारार्थ नगरमें जाते हैं व पूर्वक किसी श्रावकने उनका पड़गाहन किया तो वत्तीम अन्तरायोंको टालकर यहाँ ले लेते हैं, यदि किसीने पड़गाहन नहीं किया तो वे खेद नहीं करते बल्कि चले जाते हैं, यद्यपि मुनियोंकी वृत्ति भिक्षा है तथापि वह वृत्ति याचना नहीं है । उन्हें आहारमें सर्वथा राग नहीं है परन्तु बिना आहारके शरीर अधि करनेमें सहायक नहीं हो सका है इसीलिये आहारके लिये उन्हें बाध्य होना पुरुषको किसी वस्तुकी आवश्यकता होती है वही याचक बनता है । मुनियोंने आदर दूर करनेके लिये ही तो अस्त्रिष्ठ रान्य सम्पत्तिको त्याग कर यह निरीह भट्टीकार की है, फिर भी उन्हें याचक समझना नितान्त भूल है । धावक भिक्षा देनेके लिये मुनियोंको आहार देता है न कि मुनियोंको पोष्य समझकर । इसलिये मुनियोंको स्वयं अपने पोषणकी इच्छा नहीं है और न आश्रयका आचार्य उनका पोषक कैसे कहा जा सका है । दूसरे—आचार्यका मुनियोंके मनोमन्य है—मुनियोंको दीक्षा देना, उन्हें निज व्रतमें शिक्षित देनाकर सावधान धर्मेन च्युत होनाकर उन्हें प्रावधित देकर पुनः तत्त्वस्थ करना, धर्मका उन्हें उपधर्म आदेश देना, तत्पर्यायमें उन्हें मरु इव बनाना, मरणामृत मुनिका समान इत्यादि कर्तव्य आचार्योंका है धार्मिक कर्तव्य होनेसे ही आचार्योंको रागरहित गया है । शासन करने हुए भी आचार्य प्रमादी नहीं हैं, किन्तु शुद्धमन आत्मव्याप्तमें तन्म्य हैं इसलिये आचार्योंको मंत्रका पालक और पोषक अशुक्त है ।

अथवा—

यथा मोक्षार्थमादाया कुर्यान्मो लौकिकी क्रियाम् ।

तावत्कालं स नाऽऽचार्याप्यस्ति चान्तर्वैतच्युतः ॥

**अर्थ—**जब मोक्षके लक्ष्यभूत होकर अर्थात् प्रमादमें जो लौकिक क्रिया उस कालमें वह आचार्य नहीं रहा जा सका है, इतना ही नहीं किन्तु अन्तर्वैत ( ५११ ) यन्त्रा नारा है ।

भाषार्थ—इम श्लोको भलीभांति सिद्ध होता है कि आचार्य केवल धार्मिक क्रिया-  
गे करता है, और मुनियोंकी धार्मिक वृत्तियोंका ही वह शासक है । यदि मोहके उद्रे-  
काशित वह किसी लौकिक क्रियाको भी कर डाले तो दण्डकार कहते हैं कि उस कालमें  
आचार्य ही नहीं कहा जा सकता है उम समय वह आचार्यपदसे गिर चुका है, अंतरंग  
से विहीन हो चुका है ।

उपसंहार—

उक्तप्रतपः शीलसंयमादिधरो गणो ।

नमस्यः स गुरुः साक्षात्तद्व्यो न गुरुर्गणी ॥ ६५८ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनके अनुसार जो व्रत, तप, शील, संयमादिकका धारण करनेवाला  
ही गणका स्वामी आचार्य कहा जाता है, वही साक्षात् गुरु है, वही नमस्कार करने योग्य  
उमसे भिन्न स्वरूपका धारण करनेवाला गणका स्वामी आचार्य नहीं कहा जा सकता ।

उपाध्यायका स्वरूप—

उपाध्यायः समाधीयान् वादी स्याद्वाक्कोविदः ।

वाङ्मी वाग्ब्रह्मसर्पज्ञः सिद्धान्तागमपारगः ॥ ६५९ ॥

कविर्भूतपद्मधराणां वान्दार्थः सिद्धसाधनात् ।

गमकोऽर्थस्य माधुर्यं ध्रुवां वक्तृत्ववर्त्मनाम् ॥ ६६० ॥

उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासो हि कारणम् ।

यदध्येति स्वयं चापि शिष्यान्ध्यापयेद्गुरुः ॥ ६६१ ॥

शेषस्तत्र प्रतादीनां सर्वसाधारणो विधिः ।

छुर्वाड्मोपदेशं स नाऽऽदेशं मूरिवत्काचित् ॥ ६६२ ॥

तत्पामेवाश्रमं लिङ्गं मूरीणां संयमं तपः ।

आश्रयेच्छुद्धचारित्रं पञ्चाचारं स शुद्धधीः ॥ ६६३ ॥

मूलोत्तरगुणानेव यथोक्तानाचरोच्चिरम् ।

परीपहोपसर्गाणां विजयी स भवेद्ब्रह्मा ॥ ६६४ ॥

अप्रातिविस्तरेणालं नूनमन्तर्हिर्मुनेः ।

शुद्धवेषधरो धीमान् निर्ग्रन्थः स गुणायणी ॥ ६६५ ॥

अर्थ—प्रत्येक प्रश्नका समाधान करनेवाला, वाद करनेवाला, स्याद्वाक्के रहस्यका ज्ञान-  
वान्, बचन बोलनेमें बहुत, बचन ब्रह्मका सर्पज्ञ, सिद्धान्त शास्त्रका धारणशील, वृत्ति और  
न सृष्टिको विद्वान्, उन वृत्ति और सृष्टिको शब्द तथा अर्थके द्वारा सिद्ध करनेवाला,  
में मधुरता देनेवाला, बोलनेवाले व्याख्याताओंके मार्गमें अग्रणी इत्यादि गुणोंका धारी

उपाध्याय होता है। उपाध्याय होनेमें मुख्य कारण शास्त्रोंका अध्यास है, जो दुष्ट-  
शास्त्रोंका अध्ययन करता है तथा जो शिष्योंको अध्ययन कराता (पढ़ाता) है उसे  
कहता है। उपाध्यायमें पढ़ने पढ़ानेके सिवा बाकी वस्तुओंका पालन आदि विधि  
समान साधारण है। उपाध्याय धर्मका उपदेश कर सकता है, परन्तु आचार्यके समान  
आदेश (आज्ञा) कभी नहीं कर सकता। बाकी आचार्योंके ही स्हासमें वह रहने  
प्रकार निर्दिष्ट अस्या रहता है, आचार्यके समान ही संयम, तप, शुद्ध चारित्र्य, और  
आचारों (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र्य, तप, वीर्य)को वह शुद्धबुद्धि उप-  
पत्त्या है। मुनियोंके जो अष्टाईस मूलगुण और चौदासी लाख उत्तर गुण कांशों में  
उन्हें भी वह पालता है, परीपह तथा उपसर्गोंको भी वह नितेन्द्रिय उपाध्याय को  
कहाँ पर बहुत विस्तार न कर संक्षेपमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि निश्चयसे उपाध्याय  
मन न हो अन्तरंग और बाह्यमें शुद्ध रूपका धारण करनेवाला है, बुद्धिमान है, स्थिर  
चित्त है, और गुणोंमें सर्व श्रेष्ठ है।

नवी प्रतिष्ठा—

उपाध्यायः समाकृतातो विद्यतातोऽस्ति स्वलक्षणः ।

अधुना साध्यते साधोलेक्षणं सिद्धमागमात् ॥ १११ ॥

अर्थ—उपाध्याय अपने लक्षणोंसे प्रसिद्ध है, उसका स्वरूप तो वही आगम, म-  
मागम अथवा स्हास देता है जो कि आगमसे नवीभाति सिद्ध है।

उपाध्याय १११—

मागो मोक्षस्य चारित्र्यं तत्तत्प्रतिपुरःसरम् ।

साधयन्मागमिदं नवी साधुरन्ध्रमंशकः ॥ ११२ ॥

मोक्षसाधनं यथा विधि व्रतपादादिमंशका ।

न विविचरन्मोक्षस्यो मनसापि न चिन्तयेत् ॥ ११३ ॥

मागं न शुद्धमागममास्ति चतुर्गुणम् ।

स्तिमिन्मागमो विदुषो नितरहास्ति चतुर्गुणः ॥ ११४ ॥

नान्येन नोपदेशे वा नान्येन न मनसापि ।

स्वमागं नोपदेशे वा नान्येन न मनसापि ॥ ११५ ॥

स्वमागं नोपदेशे वा नान्येन न मनसापि ।

स्वमागं नोपदेशे वा नान्येन न मनसापि ॥ ११६ ॥

स्वमागं नोपदेशे वा नान्येन न मनसापि ॥ ११७ ॥

स्वमागं नोपदेशे वा नान्येन न मनसापि ॥ ११८ ॥



निर्ग्रन्थान्तर्पद्मिमाहग्रन्थैर्ग्रन्थको यमी ।

कर्मनिर्जरकः श्रेण्या तपस्वी स तपोऽनुभिः ॥ ६७२ ॥

परीपहोपसर्गाद्यैरजप्यो जितमन्मथः ।

एषणानुदितसंशुद्धः प्रत्याख्यानपरायणः ॥ ६७३ ॥

इत्याद्यनेकधाभ्यैः साधुः साधुगुणः श्रितः ।

नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषां महान् ॥ ६७४ ॥

अर्थ—मोक्षार्थ मार्ग चारित्र्य है उग चारित्र्यको जो स्मृति पूर्वक आत्मसिद्धिके लिये भिन्न करता है उसे साधु कहने हैं । यह साधु न तो कुछ करता ही है और न हाथ पैर भादिसे बिभी प्रसारका इत्यादि ही करता है तथा मनसे भी किसीका चिन्तन नहीं करता, किन्तु एकामचित होकर केवल अपने शुद्धात्माका ध्यान करता है निजकी अन्तरंग और बाह्य शक्तियों विलकुल शान्त हो चुकी हैं वह तरंगरहित समुद्रके समान मुनि कहलाता है । वह मुनि न तो सर्वथा आदेश ही करता है और न उपदेश ही करता है, आदेश और उपदेश वह स्वर्ग और मोक्षमार्गके विषयमें भी नहीं करता है विरसकी तो बात ही क्या है, अर्थात् विषय संसारके विषयमें तो वह विलकुल ही नहीं बोलता है । ऐसा मुनि वैराग्यकी उत्कृष्ट कोटि पर पहुँच जाता है । अथवा मुनिका स्वरूप ही यह है कि वह वैराग्यकी चरमसीमा तक पहुँच जाता है । और वह मुनि अधिक प्रभावशाली, दिग्गज दिशारूपी बलोंका धारण करनेवाला, बालकके समान निर्विकार रूपका धारी, दयामें सदा तत्पर, निष्परिग्रह नग्न, अन्तरंग तथा बहिर्गंग मोहरूपी ग्रन्थियों (गोत्रों)को खोलनेवाला, सदाकालीन नियमोंको पालनेवाला, तपकी किरणोंके द्वारा श्रेणीके क्रमसे कर्मोंकी निरन्तर करनेवाला, तपस्वी, परीपह तथा उपसर्गादिकोसे अनेक, कामदेवका जीतनेवाला, एषणानुदितसे परम शुद्ध, चारित्र्यमें सदा तत्पर इत्यादि अनेक प्रकारके अनेक उत्तम गुणोंको धारण करनेवाला होता है । ऐसा ही साधु वल्लभाणके लिये नमस्कार करने योग्य है । और कोई विद्वानोंमें श्रेष्ठ भी हो तो भी नमस्कार करने योग्य नहीं है ।

भावार्थ—मुनिके लिये ध्यानकी प्रधानता बतलाई गई है, इसी लिये मुनिको आदेश और उपदेश देनेका निषेध किया गया है । आदेश तो सिवा आचार्यके और कोई दे ही नहीं सकता है परन्तु मुनिके लिये जो उपदेश देनेका भी निषेध किया गया है वह केवल ध्यानकी मुख्यतासे प्रतीत होता है । सामान्य रीतिसे मुनि मोक्षादिके विषयमें उपदेश कर ही सकता है । यहांपर पदस्यके कर्तव्यका विचार है इसलिये साधुके कर्तव्यमें ध्यानमें तल्लीनता ही कही गई है । उपदेश किया साधु पदके लिये ही वर्जित है । क्योंकि वह मुख्यतया उपाध्यायका काम है ।

एवं मुनित्रयी रुगाता महती महतामपि ।

तथापि तद्विशेषोऽस्ति क्रमात्तरतमात्मकः ॥ ३७५ ॥

अर्थ—महान् पुरुषोंमें सबसे श्रेष्ठ यह मुनित्रयी ( आचार्य, उपाध्याय, साधु ) है । तथापि उसमें क्रमसे तरतम रूपसे विशेषता भी है ।

भावार्थ—सामान्य रीतिसे आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनों ही मूकदुग्धोंके धारक समान हैं तथापि विशेष कार्योंकी अपेक्षासे उन तीनोंमें विशेषता भी है ।

आचार्यमें विशेषता—

तथाचार्यः प्रसिद्धोऽस्ति दीक्षादेशाद्भगाग्रणीः ।

न्यायाद्याऽऽदेशतोऽध्यक्षाद्विद्वः स्वात्मनि तत्परः ॥ ३७६ ॥

अर्थ—दीक्षा देनेसे, आदेश करनेसे गणका स्वामी आचार्य प्रसिद्ध है । तथापि स्वयं, अनुभवसे वह अपने आत्मामें तल्लीन है वह बात भी प्रसिद्ध है ।

इसीका पुनरा—

अर्थात्तत्परोप्येष दृक्मोहानुदयात्ततः ।

अस्ति तेनायिनाभूतः शुद्धात्मानुभवः स्फुटम् ॥ ३७७ ॥

अर्थ—अर्थात् वह आचार्य दर्शन मोहनीयता अनुदय होनेसे अपने आत्ममें शुद्ध हो है । उसे उस स्थितिमें तल्लीनता रहित नहीं कहा जा सका है क्योंकि दर्शन मोहनीयता अविनाभावी निमित्तसे शुद्धात्माका अनुभव है । इसलिये दर्शन मोहनीयता होनेसे आचार्य शुद्धात्माका अनुभव करता ही है ।

और भी विशेषता—

अप्यस्ति देशतस्तत्र चारित्र्यापरणक्षतिः ।

वाचायादिकेवलं न स्यात् क्षतियां च तदक्षतिः ॥ ३७८ ॥

अर्थ—आचार्यके शुद्धात्माके अनुभवका अविनाभावी दर्शन मोहनीयता होनेसे ही, मात्रमें एक देश चारित्र्यमोहनीयता होनेका भी उसके साथ ही युक्त है । केवल वाचायादिकेवलं न स्यात् क्षतियां च तदक्षतिः ।

किन्तु—

असंयुतादानहेतोश्च तदक्षतिर्ना तदक्षतिः ।

तदक्षति न च हेतुस्तु स्यात्तदनुदयेन ॥ ३७९ ॥

अर्थ—असंयुत दान हेतुसे तदक्षति नहीं है । तदक्षति न च हेतुस्तु स्यात्तदनुदयेन । तदक्षति न च हेतुस्तु स्यात्तदनुदयेन । तदक्षति न च हेतुस्तु स्यात्तदनुदयेन । तदक्षति न च हेतुस्तु स्यात्तदनुदयेन ।

चारित्र्यकी क्षति और अधिष्ठित कारण—

सति संज्वलने नोच्चैः स्पर्धका देशघातिनः ।  
 तद्विपाकोस्त्यमन्दो वा मन्दोहेतुः क्रमाद्वयोः ॥ ६८० ॥  
 संक्लेशस्तत्क्षतिर्नूनं विशुद्धिस्तु तदक्षतिः ।  
 सोऽपि तरतमांशांशैः सोप्यनेकैरनेकधा ॥ ६८१ ॥  
 अस्तु यदा न शोधित्यं तत्र हेतुवशादिह ।  
 तथाप्येतावताचार्यः सिद्धो नात्मन्यतत्परः ॥ ६८२ ॥  
 तत्राप्ययं विशुद्ध्यंशस्तेषां मन्दोदयादिति ।  
 संक्लेशांशोधया तीमोदयान्नायं विधिः स्मृतः ॥ ६८३ ॥  
 किन्तु देवादिशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोधया कथितः ।  
 तद्विशुद्धेर्यिशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोदयः पुनः ॥ ६८४ ॥  
 तेषां तीमोदयात्तावदेतावानग्र बाधकः ।  
 सयेतद्धेतुकोपाय नापराधोपरोत्स्यतः ॥ ६८५ ॥  
 तेनाप्रेतायता नूनं शुद्धस्यानुभवच्युतिः ।  
 कर्तुं न शक्यते यस्मादध्यास्त्यग्नः प्रयोजकः ॥ ६८६ ॥

अर्थ—आचार्य परमेश्वरके अनन्तानुबन्धि, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायका तो अनुदय ही है, केवल संज्वलन कषायका उनके उदय है। संज्वलन कषाय देशघाती है। उसके स्पर्धक सर्वघाती नहीं है। उस एकदेश घात करनेवाली संज्वलन कषायका विषाक यदि तीव्र हो तो चारित्र्यकी क्षति है, यदि उसका विषाक मन्द हो तो चारित्र्यकी कोई क्षति नहीं है। संज्वलन कषायकी तीव्रता चारित्र्यकी क्षतिको कारण है और उसकी भेदता चारित्र्यकी क्षतिको कारण नहीं है। इसका कारण यह है कि संज्वलन कषायकी तीव्रतासे आत्मामें संक्लेश होता है और संक्लेश चारित्र्यके क्षयका कारण है। संज्वलन कषायकी मन्दतासे आत्मा विशुद्ध होता है। और विशुद्धि चारित्र्यके क्षयका कारण नहीं है किन्तु उसकी वृद्धि का कारण है। यह संक्लेश और विशुद्धि उसी प्रकारसे कम बढ़ होती रहती है जिस प्रकारसे कि संज्वलन कषायके विषाकमें तीव्रता और मन्दताके अंशोंमें तरतमता होती रहती है। यह तरतमता अनेक भेदोंमें विभाजित की जाती है। यह चारित्र्यकी क्षति और अक्षतिको कारण कहा गया है परन्तु आचार्यके किसी कारणवश शिथिलता नहीं आती है, और यदि उनके संज्वलन कषायकी तीव्रतासे थोड़े अंशोंमें चारित्र्यकी क्षति भी हो जाय तो भी आचार्य स्वात्मानमें अनन्तर (अमावसान) नहीं सिद्ध हो सकते हैं। किन्तु आने आत्मामें सदा तत्पर ही हैं। संज्वलन कषायके मन्द होनेसे आचार्यके विशुद्धिके अंश

बढ़ जाते हैं अथवा उक्ते कषायके तीव्रोदयसे संक्षेपके अंश बढ़ जाते हैं, यह सम्यक् शुद्धात्माके अनुभवमें कुछ कार्यकारी नहीं है, चाहे दैववश उनके विशुद्धिके अंश बढ़ जाये चाहे संक्षेपके अंश बढ़ जाय परन्तु आचार्यके शुद्धात्मानुभवमें बाधा नहीं आती है । जल कषायकी मन्दतासे चारित्र्यमें विशुद्ध्यंश प्रकट हो जाता है और संज्वलन कषायसे चारित्र्यमें संक्षेपांश प्रकट हो जाता है वस इतनी ही बाधा समझनी चाहिये । ज्वलन कषायकी आचार्यके तीव्रता हो तो वह तीव्रता कुछ प्रकोप (प्रमाद) लाती है और कोई अपराध (शुद्धात्माकी व्युत्तिरा कारण) नहीं कर सकती है । इसलिये उक्त धनसे यह बात मलीभांति सिद्ध हो जाती है कि संज्वलन कषायकी तीव्रता अपराध कुछ अंशोंमें क्षति आचार्यके शुद्धात्मानुभवका नाश नहीं कर सकती । क्योंकि शुद्धात्मा के नाशका कारण और ही है ।

शुद्धात्माके अनुभवमें कारण—

हेतुः शुद्धात्मनो ज्ञाने शमो मिथ्यात्वकर्मणः

प्रत्यनीकस्तु तत्रोच्चैरशमस्तत्र व्यत्ययात् ॥ ३८७ ॥

अर्थ—शुद्धात्माके ज्ञानमें वारण मिथ्यात्व कर्मका उपशम है । इससे मिथ्यात्व कर्मका उदय है, मिथ्यात्व कर्मके उदय होनेसे शुद्धात्माका अनुभव नहीं रहता है ।

इलीका स्पष्ट अर्थ—

दृष्टमोहेऽस्तंगते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत् ।

न भवेद्विग्रहः कश्चिच्चारित्रावरणोदयः ॥ ३८८ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मका अनुदय होनेपर आत्माके शुद्धानुभव होता है । ज्ञान चारित्रमोहनीयका उदय विग्रह नहीं कर सकता है ।

भावार्थ—शुद्धात्मानुभवकी सम्यग्दर्शनके माय व्याप्ति (सहकारिता) है । सम्यग्दर्शन होनेमें दर्शनमोहनीयका अनुदय मूल कारण है । इसलिये दर्शनमोहनीयका अनुदय होनेसे शुद्धात्माका अनुभव निश्चयसे होता है, उस शुद्धात्माके अनुभवमें चारित्र्य मोहनीयका उदय बाध नहीं हो सकता है । क्योंकि चारित्र्य मोहनीयका उदय चारित्र्यके रोमनेमें बाध होता है । शुद्धात्माके अनुभवमें उमछ कोई सम्बन्ध नहीं है । अतएव आचार्यके यदि कषायका तीव्रोदय भी हो जाय तो भी उनके शुद्धात्मानुभवमें वह बाध नहीं हो सकेगा । उनके चारित्र्यमें कुछ प्रमाद आदि होगा । इसी बातसे नीचे दिखाने हैं—

न चास्ति विग्रहः कश्चिच्चारित्रावरणोदयः ।

दृष्टमोहस्य कृते नास्ति अस्ति स्वस्य कृते न तत् ॥ ३८९ ॥

अर्थ—चारित्रमोहनीयका उदय कुउ करता ही न हो ऐसा भी नहीं है । यद्यपि वह दर्शन मोहनीयके कार्यके लिये अनर्थ है तथापि अपने कार्यके लिये अवश्य समर्थ है ।

चारित्र मोहनीयका कार्य—

**कार्य चारित्रमोहस्य चारित्राच्च्युतिरात्मनः ।**

**नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्नपायादितरदृष्टिवत् ॥ ६९० ॥**

अर्थ—आत्माके चारित्र गुणकी क्षति करना ही चारित्र मोहनीयका कार्य है । चारित्र मोहनीयका कार्य आत्माके दर्शन गुणकी क्षति करना नहीं हो सका है । क्योंकि सम्यग्दर्शन गुण जुदा ही है इसलिए उसका घातक भी जुदा ही कर्म है । जितप्रकार दूसरेके दर्शनमें दूसरा बाधा नहीं पहुंचा सका है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन गुणमें चारित्र मोहनीय बाधा नहीं पहुंचा सका है । उसका काम केवल चारित्र गुणको धान करनेका है ।

इष्टान्त—

**यथा चक्षुः प्रसन्नं वै कस्याचिद्वैद्ययोगतः ।**

**इतराक्षतापेपि दृष्टाभ्यक्षान्न तत्क्षतिः ॥ ६९१ ॥**

अर्थ—जिस प्रकार किसीका दक्षु रोग रहित है और वैद्ययोगसे दूसरे किसीके दक्षुमें किसी प्रकारकी पीड़ा है तो उस पीड़ासे निर्मल चक्षुवालेकी कोई हानि नहीं हो सकती है यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है ।

कपायोंका कार्य—

**कपायाणामनुद्रेकधारित्रं तावदेव हि ।**

**नानुद्रेकः कपायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः ॥ ६९२ ॥**

अर्थ—नवतक कपायोंका अनुदय रहना है तभी तक चारित्र है । जब कपायोंका उदय हो जाता है तभी आत्माके चारित्र गुणकी क्षति हो जाती है ।

साधन—

**ततस्तेषामनुद्रेकः स्यादुद्रेकोऽथवा स्वतः ।**

**नात्मदृष्टेः क्षतिर्नूनं दृष्टमाहस्योदयादते ॥ ६९३ ॥**

अर्थ—इसलिये कपायोंका अनुदय हो अथवा उदय हो शुद्धात्मानुभवकी किसी प्रकार क्षति नहीं हो सकती है जबकि कि दर्शन मोहनीयका उदय न हो ।

भावार्थ—दर्शनमोहनीयका उदय ही शुद्धात्माके अनुभवका बाधक है । कपायों (चारित्र मोहनीय) का उदय चारित्रमें बाधक है ।

आचार्य, उपाध्यायमें कायको समानता—

**अथ स्वरूपाध्यागो याचेता हेतुतः समौ ।**

साधू साधुरिवात्मज्ञौ शुद्धौ शुद्धोपयोगिनौ ॥ ६९४ ॥

नापि कश्चिद्विशेषोस्ति तयोस्तरतमौ मिथः ।

नैताभ्यामन्तरुत्कर्षः साधोरप्यतिशयनात् ॥ ६९५ ॥

लेशतोऽस्ति विशेषश्चेन्मिथस्तेषां बहिःकृतः ।

का क्षतिर्मूलहेतोः स्यादन्तःशुद्धेः समत्वतः ॥ ६९६ ॥

नास्त्यत्र नियतः कश्चियुक्तिस्वानुभवागमात् ।

मन्दादिरुदयस्तेषां सूर्युपाध्यायसाधुषु ॥ ६९७ ॥

अर्थ—आचार्य और उपाध्याय दोनों ही समान हैं । जो कारण आचार्यके हैं उपाध्यायके हैं । दोनों ही साधु हैं अर्थात् साधुकी सम्पूर्ण क्रियायें—अर्द्धाईस मूल गुण और चौरासी लाख उत्तर गुण वे दोनों पालते हैं । साधुके समान ही आत्मानुभव करनेवाले हैं । दोनों ही शुद्ध हैं, शुद्ध-उपयोग सहित हैं । आचार्य और उपाध्यायमें परस्पर भी कोई अन्तर रूपसे विशेषता नहीं पाई जाती है, और न इन दोनोंसे कोई विशेष अतिशय साधुमें ही पाया जाता है । ऐसा नहीं है कि साधुमें कोई अन्तरंग विशेष उत्कर्ष हो वह उत्कर्ष (उत्तम) इनमें न हो, किन्तु तीनों ही समान हैं । यदि लेशमात्र विशेषता है तो उन तीनोंमें बराबरी की अपेक्षासे ही है अन्तरंग तीनोंका समान है, इसलिये बाह्य क्रियाओंमें भेद होनेसे भी अन्तःशुद्धि तीनोंमें समान होनेसे कोई हानि नहीं है, क्योंकि मूल कारण अन्तःशुद्धि है वह तीनोंमें समान है । आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनोंमें ही संस्कारमय मन्द, दम्य, तीव्र उदय कोई नियमित नहीं है, कैसे भी अंशोंका उदय हो यह बात युक्ति, स्मादन्त और आगमसे सिद्ध है ।

प्रत्येकं पद्वयः सन्ति सूर्युपाध्यायसाधवः ।

जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैश्चैकैकशः पृथक् ॥ ६९८ ॥

अर्थ—आचार्य उपाध्याय और साधु तीनोंके ही अनेक भेद हैं, वे भेद जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भावोंकी अपेक्षासे हो जाते हैं ।

यथा—

कश्चित्पूरिः कदाचिद् विशुद्धिं परमां गतः ।

मध्यमां वा जघन्यां वा विशुद्धिं पुनराश्रयेत् ॥ ६९९ ॥

अर्थ—कोई आचार्य कभी उत्कृष्ट विगुद्धिसे प्राप्त हो जाता है, फिर भी वह जघन्य अथवा मध्यम विगुद्धिसे प्रभ हो जाता है ।

इत्थं हेतु—

हेतुस्तत्रादिना नाना भाषाणां स्वरूपकाः क्षणम् ।

धर्मादेशावदेशादिहेतुर्नात्र यद्विः कथितम् ॥ ७०० ॥

अर्थ—उक्त बातें हुई विवृद्धि कभी उठाने में मध्यम अवस्था नपन्य क्यों हो जाती है । इसका कारण यही है कि यहाँ पर अनेक प्रकार भाषों में तत्त्वज्ञान करनेवाले ज्ञातृके अनेक प्रतिफल उद्दिष्ट होने लगे हैं, विवृद्धिकी तत्त्वज्ञान के पूर्वका उपदेश तथा धर्मका आदेश—बाह्य कारण—हेतु नहीं कहा जा सकता है । भाषार्थ—भाषार्थ जो धर्मका उपदेश और आदेश करने है वह उनकी विवृद्धि में हीनतावा कारण नहीं है । क्योंकि उनके करने में आचार्यके बोझ भी प्रमाद नहीं है, विवृद्धि में हीनतावा कारण केवल संस्पन्दन ज्ञातृके स्वरूपको ही उद्भव है जो लोग यह समझते हैं कि सुनिर्वाह ज्ञानन करने में आचार्यके चारित्र्य में आदर्य शिथिलता आ जाती है, ऐसा समझना केवल भ्रम भरा है । आचार्यका ज्ञातन सहायक नहीं है, किन्तु निःस्वार्थ आचार्यक ज्ञातन है इनलिखे वह सभी दोषोपपादक नहीं करा जा सकता है ।

परिपाठयानया योऽप्याः पाठकाः साधयन्त्य ये ।

न पिशोपो यमस्तेषां न्यायाच्छेषोऽपिशोपभाक् ॥ ७०१ ॥

अर्थ—इसी उक्त वही हुई परिपाठी ( पद्धति-प्रस ) से उपाध्याय और साधुओंकी व्यवस्थाका परिज्ञान करना चाहिये । क्योंकि उनमें भी आचार्यसे कोई विरोधता नहीं रह जाती है । तीनों ही समान हैं ।

बाह्य कारण पर विचार ।—

नोद्यं धर्मावदेशादि कर्म ताकारणं यद्विः ।

हेतोरभ्यन्तरस्यापि बाह्यं हेतुर्विद्विः कथितम् ॥ ७०२ ॥

अर्थ—यदि कोई यह कहे कि आचार्यकी विरोधता में बाह्य ज्ञातृके—धर्मका उपदेश तथा आदेश भी कारण हैं, क्योंकि अभ्यन्तर हेतुका भी यहाँ पर बाह्य कर्म ब्रह्म हेतु होता ही है । अर्थात् कर्वाँदयक्य अभ्यन्तर कारण में धर्मावदेशादि ज्ञातृको भी कारण मानना चाहिये । आचार्य कहते हैं कि ऐसी तर्कना नहीं करना चाहिये ।

क्योंकि ।—

नैवमधीयतः सद्यं यस्तत्रकिञ्चित्करं यद्विः ।

तत्पदं फलवन्मोहादिच्छतोऽर्धान्तरं परम् ॥ ७०३ ॥

अर्थ—ऊपर जो तर्कना की गई है वह ठीक नहीं है क्योंकि बाह्य ज्ञातृकी भी वस्तु है सभी निश्चितकर ( कुछ भी करने में सफल नहीं ) है, हाँ यदि कोई मोहके बशीभूत होकर

बाह्य आचार्यादि पक्षों को चाहे तो अवश्य उनके लिये वह बाह्य पद फल नहीं  
उसका फिर सांसारिक फल होगा ।

आचार्यका निरोद्धता ।—

किं पुनर्गणिनस्तस्य सर्वतोनिच्छतो वहिः ।

धर्मादेशोपदेशादि स्वपदं तत्फलं च यत् ॥ ७०४ ॥

अर्थ—धर्मका उपदेश, धर्मका आदेश, अपना पदस्थ और उसका फल  
बाह्य बातोंको सर्वथा नहीं चाहनेवाले आचार्यकी तो बात ही निराली है । धर्मादेश  
धर्मोपदेश आदि कार्योंको आचार्य चाहनापूर्वक नहीं करता है, किन्तु कर्म पद  
करता है इसलिये बाह्यकारण उसको विशुद्धिका विधातक नहीं है ।

यहाँपर कोई शंका कर सकता है कि जब आचार्य मुनियोंपर पूर्ण रीतिसे  
शासन करते हैं तब यह कैसे कहा जा सकता है कि उनके इच्छा नहीं है, किन्तु  
वे शासन ही नहीं कर सकते हैं ? इस शंकाका उत्तर इस प्रकार है—

नास्यासिद्धं निरीहत्वं धर्मादेशादि कर्मणि ।

न्यायादक्षार्थकांक्षाया ईहा नान्यत्र जातुचित् ॥ ७०५ ॥

अर्थ—धर्मादेशादि कार्य करते हुए भी आचार्य इच्छाविहीन हैं यह नहीं  
नहीं है । जो इन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंमें इच्छा की जाती है वास्तवमें उसीमें तब  
नहाँपर धार्मिक कार्योंमें इच्छा की जाती है उसे इच्छा ही नहीं करते हैं । धर्म  
प्रकार सांसारिक वासनाओंके लिये जो निदान किया जाता है उसीको निदानस्वरूप  
है जो पुरुष मोक्षके लिये इच्छा रखता है उसको निदान बन्धवाला नहीं कहा जाय  
प्रकार जो इच्छा सांसारिक वासनाओंके लिये की जाती है वास्तवमें वही इच्छा  
जो धार्मिक कार्योंमें मनकी वृत्ति लगाई जाती है उसे इच्छा, शब्दसे भेजे ही  
परन्तु वास्तवमें वह इच्छा नहीं है क्योंकि इच्छा वहीं कही जाती है जहाँपर  
चाहना होता है, आचार्यके धर्मादेशादि कार्योंसे किसी वस्तुकी चाहना नहीं है ।  
निन्द्य आत्मव्यापनमें मुनिन्य लीन है ।

उदाहरण—

ननु नेहा विना कर्म कर्म नेहां विना कचित् ।

तस्मान्नानाहितं कर्म स्यादक्षार्थस्तु वा न वा ॥ ७०६ ॥

अर्थ—विना क्रियाके इच्छा नहीं हो सकती है और विना इच्छाके क्रिया  
सम्भवा है यह सर्व नियम है । इसलिये विना इच्छाके कोई क्रिया नहीं हो सकती है ।



इन्द्रिय सम्बन्धी विषय हो अथवा नहीं हो । भावार्थ—चाहे संसारके विषयमें किया हो, धर्मके विषयमें हो, भैसी भी किया हो, बिना इच्छाके कोई किया नहीं हो सकती । इसलिये आचार्यजी धर्मादिशादिक क्रियायें भी इच्छापूर्वक ही हैं, इसलिये आचार्य भी १ सहित ही हैं न कि इच्छा रहित !

उत्तर—

नैयं हेतोरतिव्याप्तेरारादक्षीणमोहिषु

यन्वस्य नित्यतापत्तेर्भयेन्मुक्तेरसंभवः ॥ ७०७ ॥

अर्थ—शङ्काकारकी उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि 'इच्छाके बिना किया नहीं हो है' इस लक्षणकी सीमाकसाय वालोंमें अतिव्याप्ति है, बारहवें गुणस्थानमें किया तो हो है परन्तु वहां इच्छा नहीं है यदि बारहवें गुणस्थानमें भी क्रियाके सद्भावसे इच्छा, ही जाय तो बन्ध मश हो होता रहेगा । और बन्धही नित्यतामें मुक्ति ही असंभव हो गयी । भावार्थ—ऐसा नियम नहीं है कि बिना इच्छाके किया हो ही नहीं सकती है, वे गुणस्थानके अन्तमें और बारहवें गुणस्थानमें किया तो है परन्तु इच्छा नहीं है क्योंकि उस लोभकी पर्याय है, और लोभ कयाय बहोपर मश हो चुकी है यदि दशवें गुणस्थानके अन्तमें बारहवें गुणस्थानमें भी इच्छाका सद्भाव माना जाय तो आत्मामें कर्मबन्धका कभी अन्त ही हो सकेगा तदा बन्ध ही होता रहेगा । क्योंकि बन्ध कयायसे होता है, कारणके रूपमें कार्यका होना अवश्यभावी है, बन्धही नित्यतामें आत्मा कभी भी मुक्त नहीं हो पाता है, इसलिये मोक्षका होना ही असंभव हो जायगा । मोक्षकी असंभवतामें आत्मा सदा सारावस्थामें दुःखी ही रहेगा । उसके आन्तरिक सुख गुणका कभी भी विकाश न हो सकेगा । इसलिये बिना इच्छाके कर्म नहीं हो सका है, यह शंकाकारकी शंका निर्मूल है ।

साधन—

ततोस्त्यन्तः कृतो भेदः शुद्धेर्नानांशतन्निष्ठः ।

निर्दिशेपात्समस्त्येष पक्षो माभूद्वहिः कृतः ॥ ७०८ ॥

अर्थ—इसलिये आचार्य, उपाध्याय, साधु, इन तीनोंमें विशुद्धिके नाना अंशोंकी साक्षात् अन्तरंग कृत भेद है, सामान्य रीतिसं तीनोंमें ही समानता है । उन तीनोंमें बाह्य याओंकी अपेक्षासे भेद बनाना यह पक्ष ठीक नहीं है ।

अवगमका आशय—

किञ्चास्ति यौगिकीरुद्धिः प्रसिद्धा परमागमे ।

विना साधुपदं न स्यात्केवलोत्पत्तिरञ्जसा ॥ ७०९ ॥











श्रीगुरुः श्रीगुरुः धर्मः १८१—

धर्मो नीचः पदादुच्यते पदं धरति धार्मिकम् ।

तत्राजयज्ञयो नीचः पदमुच्यतेस्तद्वत्तयः ॥ ७१५ ॥

अर्थ—जो धर्मोपमा दुर्लभ हो नीच स्थानसे उठाकर उच्चस्थानमें धारण करे उसे धर्म वरत है। भेदात् नीचस्थान है और उच्चता नाश होना 'नीच' उच्चस्थान है। +

धर्म—

सधर्मः सम्यग्दर्शनमिषारिप्रप्रितयात्मकः ।

तत्र सदृशं न भूयं हेतुरद्वैतमेतयोः ॥ ७१६ ॥

अर्थ—१६ धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्कारिप्र स्वरूप है। उन गीनोंमें सम्यग्दर्शन ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्कारिप्रज्ञा अद्वितीय मूल कारण है। \*

सम्यग्दर्शनको प्रधानता—

ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा ।

सदृक् पुरस्तरौ धर्मो न धर्मस्तादृशो कश्चित् ॥ ७१७ ॥

अर्थ—१७ सागरे वाहे गृहस्थ धर्म हो, वाहे मुनिधर्म हो सम्यग्दर्शनपूर्वक है तो वह धर्म है, यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक नहीं है तो वह धर्म भी नहीं ब्रह्मा ना सम्यग्दर्शन है।

रुदिते धर्मका स्वरूप—

रुदितोऽपिपुण्यां क्रिया धर्मः शुभायहा ।

तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया ॥ ७१८ ॥

अर्थ—१८ शरीर और वचनोंकी शुभ क्रिया रुदिते धर्म कहलाती है। उसी क्रियाके साथ मनोवृत्ति भी अनुकूल होनी चाहिये। भाषार्थ—मन, वचन, कायकी शुभ क्रिया धर्म है गुण क्रियाके भेद—

सा दिवा सर्वसागारानगाराणां विशेषतः ।

पतः क्रिया विशेषतया नूनं धर्मो विशेषतः ॥ ७१९ ॥

अर्थ—१९ सा सहित—गृहस्थ और सा रहित—मुनियोंकी विशेषतासे वह क्रिया दो प्रकार है। क्योंकि क्रियाकी विशेषतासे ही निश्चयसे धर्म भी विशेष कहलाता है।

अनुपपन्न स्वरूप—

तत्र हिमान्तस्तेषाम्प्रकृतस्त्वनपरिग्रहात् ।

देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामनुग्रहम् ॥ ७२० ॥

\* देवतादि समीचीन धर्म कर्मनिर्वाहक सत्कार्य लक्षणः सर्वान् यो धर्मादुच्यते सुखे ।

+ रुदिते धर्मोऽपिपुण्यां क्रिया धर्मः शुभायहा । तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया ॥ ७१८ ॥

रत्नकरण्ड आश्रयकार ।

तत्र चोक्तमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थसाक्षिणा ।

क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥ ७१० ॥

अर्थ—यौगिकरीति और रुढ़िसे यह बात परमात्ममें प्रसिद्ध है कि बिना साधु पद प्राप्त किये केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है । वहीं पर सर्वज्ञ देवने यह बात भी भले प्रकार प्राट कर दी है कि श्रेणी चढ़नेवालेको क्षणमात्रमें साधुपद स्वयं प्राप्त हो जाता है ।

उशीका शब्द कथन—

यतोऽवश्यं स सूरिया पाठकः श्रेण्यनेहासि ।

कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत् ॥ ७११ ॥

अर्थ—यौंकि श्रेणी चढ़नेके समयमें आचार्य अथवा उपाध्याय सम्पूर्ण चिन्ता निरोधात्मक लक्षणवाले ध्यानको करता है ।

अतएव—

ततः सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह ।

नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोऽस्ति यत्र तत् ॥ ७१२ ॥

अर्थ—इस लिये आचार्य और उपाध्यायको साधुपद अनायास (बिना किसी विशेषताके) ही सिद्ध है । वहां पर बाह्य उपयोगका अवकाश नहीं है ।

नपुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापनादिवत् ।

प्रागाशयक्षणं पश्चात् सूरिः साधुपदं श्रयेत् ॥ ७१३ ॥

अर्थ—ऐसा भी नहीं है कि आचार्य पहले छेदोपस्थापना चारित्रको धारण करके छेद साधुपदको धारण करता है । भावार्थ—यदि कोई ऐसी आशंका करे कि आचार्य प्रासन क्रियाके पीछे प्रापश्चित्त लेता है फिर साधुपदको पाता है, यह आशंका ठीक नहीं है क्योंकि वह बात पहले अच्छी तरह कही जा चुकी है कि आचार्यकी क्रियायें दोषाधायक नहीं हैं । अतः कि वह छेदोपस्थापना चारित्रको पहिले ग्रहण कर पीछे साधुपदको प्राप्त करे किन्तु उसका अन्तर्ग साधुके ही समान है, साधुकीसी ही सम्पूर्ण क्रियायें हैं केवल बाह्य क्रियाओंमें भेद है । भेद बुद्धि का कारण नहीं है ।

प्रत्यक्षारका आशय—

उक्तं दिङ्मात्रमत्रापि प्रसाङ्गान्गुरुक्षणम् ।

शेषं विशेषतो यक्ष्ये तत्स्वरूपं जिनागमात् ॥ ७१४ ॥

अर्थ—प्रसङ्ग पाकर यशपर गुरुता लक्षण दिङ्मात्र कहा गया है, बाकीका उनका शेष स्वरूप निम्नोक्तप्रमाण आगमके अनुसार कहेंगे ।



धौमिक धौमिक धर्मदा स्वरूप—

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम् ।

तत्राजयञ्जयो नीचैः पदमुच्चैस्तद्व्ययः ॥ ७१५ ॥

अर्थ—जो धर्मात्मा प्रत्यक्ष नीच स्थानसे उठाकर उच्चस्थानमें धारण करे उसे धर्म कहते हैं। संसार नीचस्थान है और उसका नाश होना 'मोक्ष' उच्चस्थान है। +

धर्म—

सधर्मः सम्यग्दृष्टिसिचारित्रचित्तयात्मकः ।

तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः ॥ ७१६ ॥

अर्थ—वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य स्वरूप है। उन तीनोंमें सम्यग्दर्शन ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यका अद्वितीय मूल कारण है। \*

सम्यग्दर्शनको प्रधानता—

ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा ।

सदृक् पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तादृशना कश्चित् ॥ ७१७ ॥

अर्थ—इसलिये चाहे गृहस्थ धर्म हो, चाहे मुनिधर्म हो सम्यग्दर्शनपूर्वक है तो वह धर्म है, यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक नहीं है तो वह धर्म भी नहीं कहा जा सकता है।

रुद्धिसे धर्मका स्वरूप—

रुद्धितोधिषपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा ।

तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया ॥ ७१८ ॥

अर्थ—शीर और वननोंकी शुभ क्रिया रुद्धिसे धर्म कहलाती है। उसी क्रियाके साथ मनोवृत्ति भी अनुकूल होनी चाहिये। भावार्थ—मन, वचन, कायकी शुभ क्रिया धर्म है

शुभ क्रियाके भेद—

सा द्विधा सर्पसागारानगाराणां विशेषतः ।

यतः क्रिया विशेषस्यान्वूनं धर्मो विशेषितः ॥ ७१९ ॥

अर्थ—घर सहित-गृहस्थ और घर रहित-मुनियोंकी विशेषतासे वह क्रिया दो प्रकार है। क्योंकि क्रियाकी विशेषतासे ही निश्चयसे धर्म भी विशेष कहलाता है।

अनुभवका स्वरूप—

तत्र हिंसानृतस्तेयाग्रहकृत्स्नपरिग्रहात् ।

वेशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुमतम् ॥ ७२० ॥

\* देवशक्ति सभीजीवन धर्म कर्मनिवर्द्धन सदादुःखः सदाशान्तिः यो परब्रह्मण्ये भूते ।

+ रुद्धिदृष्टकर्मज्ञानि धर्म धर्मोपपत्तिः विदुः पदोपपत्तिज्ञानि मन्त्रित मन्त्रितः ।

स्मरन्तश्च श्रारकाचार ।

तत्र चोक्तमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थसाक्षिणा ।

क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥ ७१० ॥

अर्थ—यौगिकरीति और रुढ़िसे यह बात परमात्ममें प्रसिद्ध है कि बिना साधु प्राप्त किये केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है । वहीं पर सर्वज्ञ देवने यह बात भी भले प्रकार प्राट कर दी है कि श्रेणी चढ़नेवालेको क्षणमात्रमें साधुपद स्वयं प्राप्त हो जाता है ।

उगीधा शब्द कथन—

पतोऽवश्यं स सूरिया पाठकः श्रेण्यनेहसि ।

कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत् ॥ ७११ ॥

अर्थ—योंकि श्रेणी चढ़नेके समयमें आचार्य अथवा उपाध्याय सम्पूर्ण चिन्ता निरोधारमक लक्षणवाले ध्यानको करता है ।

अतएव—

ततः सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह ।

नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशास्ति यत्र तत् ॥ ७१२ ॥

अर्थ—इस लिये आचार्य और उपाध्यायको साधुपना अनायास (बिना किसी विशेषताके) ही सिद्ध है । वहाँ पर बाह्य उपयोगका अवकाश नहीं है ।

नपुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापनादिवत् ।

प्रागादायक्षणं पश्चात् सूरिः साधुपदं श्रयेत् ॥ ७१३ ॥

अर्थ—ऐसा भी नहीं है कि आचार्य पहले छेदोपस्थापना चारित्रको धारण करके पीछे साधुपदको धारण करता है । भावार्थ—यदि कोई ऐसी आशंका करे कि आचार्य प्रामाण्य क्रियाके पीछे प्रावस्थित होता है फिर साधुपदको पाता है, यह आशंका ठीक नहीं है क्योंकि यह बात पहले अच्छी तरह कही जा चुकी है कि आचार्यकी क्रियायें दोषाधायक नहीं । अतएव कि वह छेदोपस्थापना चारित्रको पहिले ग्रहणकर पीछे साधुपदको प्राप्त करे किन्तु उसमें अन्तर्गत साधुके ही समान है, साधुहीमी ही सम्पूर्ण क्रियायें हैं केवल बाह्य क्रियाओंमें भेद है वह भेद युद्धिदा कारण नहीं है ।

प्रकारका अन्वय—

उक्तं दिक्ष्मात्रमत्रापि प्रसाक्षादगुरुः क्षणम् ।

शेषं विशेषतः यत्र तत्स्वरूपं जिनागमात् ॥ ७१४ ॥

अर्थ—उक्त बात यत्र यत्र गुरु साक्षात् दिक्ष्मात्र करी देता है, बाकी का उक्त शेष स्वयं विवेकद्वारा आचार्यके अन्तर्मात्र रहने ।

शौचिक शीतल धर्मका स्वरूप—

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम् ।

तत्राजयञ्जयो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः ॥ ७१५ ॥

अर्थ—जो धर्मात्मा पुरुषको नीच स्थानसे उठाकर उच्चस्थानमें धारण करे उसे धर्म कहते हैं। संसार नीचस्थान है और उसका नाश होना 'मोक्ष' उच्चस्थान है। +

धर्म—

सधर्मः सम्पद्गङ्गासिचारित्रित्रितयात्मकः ।

तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः ॥ ७१६ ॥

अर्थ—इह धर्म सम्पद्दर्शन, सम्पद्गङ्गा, सम्पद्कचारित्र स्वरूप है। उन तीनोंमें सम्पद्दर्शन ही सम्पद्गङ्गा और सम्पद्कचारित्रका अद्वितीय मूल कारण है। \*

सम्पद्दर्शनको प्रधानता—

ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा ।

सदृक् पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्ताद्विना कश्चित् ॥ ७१७ ॥

अर्थ—इसलिये चाहे गृहस्थ धर्म हो, चाहे मुनिधर्म हो सम्पद्दर्शनपूर्वक है तो वह धर्म है, यदि सम्पद्दर्शन पूर्वक नहीं है तो वह धर्म भी नहीं कहा जा सकता है।

सदृक् धर्मका स्वरूप—

रुद्वितोषिष्यपुण्यां क्रिया धर्मः शुभावहा ।

तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया ॥ ७१८ ॥

अर्थ—शीर और वननोंकी शुभ क्रिया रुद्विसे धर्म कहलाती है। उसी क्रियाके साथ मनोवृत्ति भी अनुकूल होनी चाहिये। भावार्थ—वन, वनन, कापकी शुभ क्रिया धर्म है

सुभ क्रियाके भेद—

सा क्रिया सर्पसागारानगाराणां विशेषतः ।

यतः क्रिया विशेषत्यानूनं धर्मो विशेषितः ॥ ७१९ ॥

अर्थ—पर सहित—गृहस्थ और पर रहित—मुनियोंकी विशेषतासे वह क्रिया दो प्रकार है। क्योंकि क्रियाकी विशेषतासे ही निश्चयसे धर्म भी विशेष कहलाता है।

अणुव्रतका स्वरूप—

तत्र हिंसानृत्तस्तेयाग्रजकृत्स्नपरिग्रहात् ।

देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम् ॥ ७२० ॥

• देशयामि धर्माजीने धर्म कर्मनिवर्त्य सग्राहकः सार्वत्रिको पराजितो भुजः ।

+ रुद्रद्विकनृत्तानि धर्म धर्मोत्तरा विदुः परीक्ष्यन्तीकानि मन्त्रेण भवन्तिः ।

गन्धर्वपुत्र आचक्राचार ।

तत्र चोक्तमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थसाक्षिणा ।

क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामभिरुद्धस्य तत्पदम् ॥ ७१० ॥

अर्थ—वैयक्तिको और कृतिसे यह बात परमात्मने प्रसिद्ध है कि बिना शत्रु होने के स्वप्नको उत्पत्ति नहीं हो सकती है । वहीं पर सर्वात् इसने यह बात स्पष्ट कर दी है कि ऐसी चरनेवालेको क्षणमात्रमें मातृपद रूपं प्राप्त है ।

उक्तं वाच्यं कथम्—

गर्भोऽप्यस्य स मुखिर्वा पाठकः श्रेण्यानेषांति ।

हृस्वनिमित्तानिरोधात्मलक्षणं श्यानमाश्रयेत् ॥ ७११ ॥

अर्थ—वैयक्तिक प्रतीति चरनेके समयमें आचार्य अथवा उपाध्याय समूहों कि वह श्रेण्याके श्यानको कर ॥ है ।

अथवा—

तत्र त्रिदशमनामासायतादृष्टं लघोरिदम् ।

नृक वाच्योऽप्योपस्य नात्रकाशोस्ति यत्र तम् ॥ ७१२ ॥

अर्थ—तत्र १३ नाच्यं और उपाध्यायको मातृपदना अनायास (बिना किसी विशेषण के) ही ही १३ उपाध्याय नाच्यता नहीं है ।

नृक वाच्यं तत्र त्रिदशमनामासायतादृष्टम् ।

नात्रकाशोस्ति यत्र तम् ॥ ७१३ ॥

अर्थ—तत्र १३ नाच्यं और उपाध्यायको मातृपदना अनायास (बिना किसी विशेषण के) ही ही १३ उपाध्याय नाच्यता नहीं है ।

अथवा—

तत्र त्रिदशमनामासायतादृष्टं लघोरिदम् ।

नात्रकाशोस्ति यत्र तम् ॥ ७१४ ॥

अर्थ—तत्र १३ नाच्यं और उपाध्यायको मातृपदना अनायास (बिना किसी विशेषण के) ही ही १३ उपाध्याय नाच्यता नहीं है ।

योगिक रीतिसे धर्मका स्वरूप—

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम् ।

तत्राजयञ्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्पयः ॥ ७१५ ॥

अर्थ—जो धर्मात्मा पुरखो नीच स्थानसे उठाकर उच्चस्थानमें धारण करे उसे धर्म कहते हैं। संसार नीचस्थान है और उसका नाश होना 'मोक्ष' उच्चस्थान है। +

धर्म—

सधर्मः सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्र्यत्रितयात्मकः ।

तत्र सदृशं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः ॥ ७१६ ॥

अर्थ—वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य स्वरूप है। उन तीनोंमें सम्यग्दर्शन ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यका अद्वितीय मूल कारण है। \*

सम्यग्दर्शनको प्रधानता—

ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा ।

सदृक् पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तादृना कचित् ॥ ७१७ ॥

अर्थ—हृत्सलिये चाहे गृहस्थ धर्म हो, चाहे मुनिधर्म हो सम्यग्दर्शनपूर्वक है तो वह धर्म है, यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक नहीं है तो वह धर्म भी नहीं कहा जा सकता है।

रुद्रदेव धर्मका स्वरूप—

रुद्रितो धियगुण्यां क्रिया धर्मः शुभायहा ।

तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया ॥ ७१८ ॥

अर्थ—शीर और वनोकी शुभ क्रिया रुद्रिसे धर्म कहलाती है। उसी क्रियाके साथ मनोवृत्ति भी अनुकूल होनी चाहिये। भावार्थ—मन, वन, कायकी शुभ क्रिया धर्म है

शुभ क्रियाके भेद—

सा द्विधा सर्वसागारानगाराणां विशेषतः ।

यतः क्रिया विशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषितः ॥ ७१९ ॥

अर्थ—पर सहित—गृहस्थ और पर रहित—मुनियोंकी विशेषतासे वह क्रिया दो प्रकार है। क्योंकि क्रियाकी विशेषतासे ही निश्चयसे धर्म भी विशेष कहलाता है।

जगन्मत्ता स्वरूप—

तत्र हिंसानृतस्तेषां प्राक्कृत्स्नपरिग्रहात् ।

देशतो चिरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुमतम् ॥ ७२० ॥

• देश्यामि धर्माचीन धर्म कर्मनिबर्हन् सग्राह्यपुत्रः सत्यं यो परमुच्यते गुणः ।

+ मद्रुद्रकान्तानि धर्म धर्मरत्ना विदुः दर्शयन्त्यन्यथा न भवेत् न चन्द्राणि ।

स्मरन्तरुद्रावकाशार ।

तत्र चोक्तमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थसाक्षिणा ।

क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥ ७१० ॥

अर्थ—यौगिक्रोति और रुढ़िसे यह बात परमात्ममें प्रसिद्ध है कि बिना साधु पद किये केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है । वहीं पर सर्वज्ञ देवमें यह बात भी प्रकट कर दी है कि श्रेणी चढ़नेवालेको क्षणमात्रमें साधुपद स्वयं प्राप्त हो है ।

उक्तीनां स्पष्ट कथन—

यतोऽयदयं स सूरिया पाठकः श्रेण्यनेहासि ।

कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत् ॥ ७११ ॥

अर्थ—यौगिक श्रेणी चढ़नेके समयमें आचार्य अथवा उपाध्याय सम्पूर्ण चिन्ता लक्ष्यताले ध्यानको करता है ।

अनुपपन्न—

ततः सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह ।

नूनं पाद्योपयोगस्य नायकाशोस्ति यत्र तत् ॥ ७१२ ॥

अर्थ—तब निवे आचार्य और उपाध्यायको साधुपद अनायास (बिना किसी विशेषताके) प्राप्त है । वहाँ पर वाक्य उपयोगका अवकाश नहीं है ।

ननुधारणं तत्र छेदोपस्थापनादियत् ।

प्रागादायक्षणं पश्चान् गूरिः साधुपदं श्रयेत् ॥ ७१३ ॥

अर्थ—ऐसा भी नहीं है कि आचार्य पहले छेदोपस्थापना चारित्र्यको धारण करके साधुपदको करण करता है । भावार्थ—यदि कोई ऐसा आशङ्क करे कि आचार्य छेदोपस्थापनाके पीछे प्रावधानित होता है फिर साधुपदको प्राप्त करता है, यह भावना ठीक नहीं है क्योंकि पहले आचार्य कह देता है कि आचार्यकी क्रियायें दोषाभायक नहीं हैं । वह छेदोपस्थापना चारित्र्यको पहिले प्रदर्शित करके साधुपदको प्राप्त करे किन्तु उपाध्यायको ही मन्त्र है, साधुपदको ही सम्पूर्ण क्रियायें हैं केवल वाक्य क्रियाओंमें वेद है किन्तु ध्यान नहीं है ।

अनुपपन्न—

उक्तं हि इमाग्रमग्रानि प्रमाद्वद्गुरुः क्षणम् ।

नोप विनोपनो यत्र नन्वस्म्यं विनागमान् ॥ ७१४ ॥

अर्थ—वेद व छेदोपस्थापना के पीछे नन्वस्म्यं विनागमान् है, वेदोपस्थापना के पीछे नन्वस्म्यं विनागमान् है ।

योगिक योगित्वं धर्मश्च स्वरूप—

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम् ।

तत्राजयञ्जयो नीचैः पदमुच्चैस्तदुत्पयः ॥ ७१५ ॥

अर्थ—जो धर्मात्मा पुरुषको नीच स्थानसे उठाकर उच्चस्थानमें धारण करे उसे धर्म कहते हैं। संसार नीचस्थान है और उसका नाश होना 'मोक्ष' उच्चस्थान है। +

धर्म—

सधर्मः सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्र्यत्रितयात्मकः ।

तत्र सदृशं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः ॥ ७१६ ॥

अर्थ—यह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य स्वरूप है। उन तीनोंमें सम्यग्दर्शन ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यका अद्वितीय मूल कारण है। \*

सम्यग्दर्शनको प्रधानता—

ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा ।

सदृक् पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्ताद्विना क्वचित् ॥ ७१७ ॥

अर्थ—सलिले चाहे गृहस्थ धर्म हो, चाहे मुनिधर्म हो सम्यग्दर्शनपूर्वक है तो वह धर्म है, यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक नहीं है तो वह धर्म भी नहीं कहा जा सकता है।

रुद्धिष्ठे धर्मका स्वरूप—

रुद्धितोषियपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभाचष्टा ।

तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया ॥ ७१८ ॥

अर्थ—शीर और वक्नोंकी शुभ क्रिया रुद्धिसे धर्म कहलाती है। उसी क्रियाके साथ मनोवृत्ति भी अनुकूल होनी चाहिये। भावार्थ—मन, वचन, कायकी शुभ क्रिया धर्म है

शुभ क्रियाके भेद—

सा द्विधा सर्वसागारानगाराणां विशेषतः ।

पतः क्रिया विशेषतस्यान्नूनं धर्मो विशेषितः ॥ ७१९ ॥

अर्थ—पर सहित—गृहस्थ और पर रहित—मुनियोंकी विशेषतासे वह क्रिया दो प्रकार है। क्योंकि क्रियाकी विशेषतासे ही निश्चयसे धर्म भी विशेष कहलाता है।

अणुव्रतका स्वरूप—

तत्र हिंसानृतस्तेयाग्रभ्रकृत्स्नपरिग्रहान् ।

देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम् ॥ ७२० ॥

\* देशयामि सर्वाचीने धर्मे कर्मनिवर्हणं सत्यादुत्तमं कर्तव्यं यो परमुत्तमे मुने ।

+ रुद्धिष्ठेकनवृत्तानि धर्म धर्मवत्तया विदुः परीक्ष्यन्तर्नोपानि मन्ते न वन्द्यति ।

रत्नकरण्ड आचरकाचार ।

तत्र चोक्तमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थसाक्षिणा ।

क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥ ७१० ॥

अर्थ—यौगिकीति और रुढ़िसे यह बात परमाण्वमें प्रसिद्ध है कि बिना साधु पद प्राप्त किये केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है । वहीं पर सर्वज्ञ देवने यह बात भी भले प्रकार प्राट कर दी है कि श्रेणी चढ़नेवालेको क्षणमात्रमें साधुपद स्वयं प्राप्त हो जाता है ।

उगीका शब्द कथन—

यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठकः श्रेण्यनेहासि ।

कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत् ॥ ७११ ॥

अर्थ—योंकि श्रेणी चढ़नेके समयमें आचार्य अथवा उपाध्याय सम्पूर्ण चिन्ता निरोधारमक लक्षणवाले ध्यानको करता है ।

अतएव—

ततः सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह ।

नूनं पाह्योपयोगस्य नायकाशोऽस्ति यत्र तत् ॥ ७१२ ॥

अर्थ—इस लिये आचार्य और उपाध्यायको साधुपना अनायास (बिना किसी विरोधवाले) ही सिद्ध है । वहां पर बाह्य उपयोगका अवकाश नहीं है ।

नपुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापनादिवत् ।

प्रागादायक्षणं पश्चात् सूरिः साधुपदं श्रयेत् ॥ ७१३ ॥

अर्थ—ऐसा भी नहीं है कि आचार्य पहले छेदोपस्थापना चारित्रको धारण करके पीछे साधुपदको धारण करता है । भावार्थ—यदि कोई ऐसी आशा करता है कि आचार्य नामन क्रियाके पीछे प्रावृत्ति लेता है फिर साधुपदको पाता है, यह आशा ठीक नहीं है क्योंकि यह बात पढ़ते अर्थात् तरह रही जानुही है कि आचार्यकी क्रियायें दोषावायक नहीं हैं अतएव कि वह छेदोपस्थापना चारित्रको पहिले प्रदग्ध पीछे साधुपदको प्राप्त करे किन्तु उसका अन्तर्ग साधुके ही मनान है, साधुकीभी ही सम्पूर्ण क्रियायें हैं केवल बाह्य क्रियाओंमें भेद है वह नष्ट युद्धि का कारण नहीं है ।

अथकारका अर्थ—

उक्तं दिक्ष्मात्रमत्रापि प्रसादादगुरुक्षणम् ।

नोपे विरोधतो यत्ने तत्स्वरूपं त्रिनागमान् ॥ ७१४ ॥

अर्थ—यह शब्द तब यत्ने द्वारा तत्त्व दिक्ष्मात्र कहा गया है, क्योंकि उसमें तब स्वयं क्रियेन्द्रियों का अन्तर्ग अर्थ है ।



योगिक गीतसं धर्मज्ञ स्वरूप—

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम् ।

तत्राजयञ्जयो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः ॥ ७१५ ॥

अर्थ—जो धर्मात्मा पुरुषको नीच स्थानसे उठाकर उच्चस्थानमें धारण करे उसे धर्म कहते हैं। संसार नीचस्थान है और उसका नाश होना 'मोक्ष' उच्चस्थान है। +

धर्म—

सधर्मः सम्यग्दृष्टिचारित्र्यचित्तयात्मकः ।

तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः ॥ ७१६ ॥

अर्थ—इह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य स्वरूप है। उन तीनोंमें सम्यग्दर्शन ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यका अद्वितीय मूल कारण है। \*

सम्यग्दर्शनको प्रदानता—

ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा ।

सदृक् पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तादृशना कचित् ॥ ७१७ ॥

अर्थ—इसलिये चाहे गृहस्थ धर्म हो, चाहे मुनिधर्म हो सम्यग्दर्शनपूर्वक है तो वह धर्म है, यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक नहीं है तो वह धर्म भी नहीं कहा जा सकता है।

स्मृते धर्मका स्वरूप—

स्मृतिोपिपुण्यां किय धर्मः शुभावहा ।

तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सद्धानया ॥ ७१८ ॥

अर्थ—शक्ति और वचनोंकी शुभ क्रिया स्मृतिसे धर्म बहकाती है। उसी क्रियाके साथ मनोवृत्ति भी अनुकूल होनी चाहिये। भावार्थ—मन, वचन, कापकी शुभ क्रिया धर्म है

शुभ क्रियाके भेद—

सा विधा सर्वसागारानगाराणां विशेषतः ।

यतः क्रिया विशेषत्यान्मृतं धर्मो विशेषितः ॥ ७१९ ॥

अर्थ—पर सहित—गृहस्थ और पर रहित—मुनियोंकी विशेषतासे वह क्रिया दो प्रकार है। क्योंकि क्रियाकी विशेषतासे ही निश्चयसे धर्म भी विशेष बहकाता है।

अनुगतका स्वरूप—

तत्र हिंसानृत्तस्तेषामनुकूलस्त्वनपरिग्रहात् ।

देशतो विरतिः मोक्षं गृहस्थानामनुगतम् ॥ ७२० ॥

\* देशयामि धर्माधीन धर्म कर्मनिर्हृत्य सम्यग्दर्शनः साक्षात् दो पदपुष्पमे भुज्ज ।

+ स्मृतिवृत्तानामनुकूल धर्म धर्मोपपत्तिः विदुः विशेषतः धर्मोपपत्तिः न भवति ।

स्मरणार्थं श्राव्यम्—

उस श्रावकके लिये दिया गया है जो व्रतोंको पालना है, नियम पूर्वक त्याग करती श्रावक ही कर सकता है, अव्रती नियमपूर्वक इनका त्याग नहीं कर सकता है, परन्तु अष्टमूल गुणोंका धारण अव्रती श्रावकके लिये भी आवश्यक कहा गया है।

अतीचारोंके त्यागका उपदेश—

त्यजेद्दोषास्तु तत्रोक्तान् सूत्रोतीचारसंज्ञकान् ।

अन्यथा मयमांसादीन् श्रावकः कः समाचरेत् ॥ ७२८ ॥

अर्थ—व्रतोंके पालनेमें जो अतीचार \* नानक दोष सूत्रोंमें कहे गये हैं उन्हें भी छोड़ना चाहिये । मय मांसादिकोंका तो कौन श्रावक संवन करेगा ? अर्थात् मयादिक तो प्रथमसे ही सर्वथा त्याज्य हैं ।

दान देनेका उपदेश—

दानं चतुर्विधं देयं पात्रबुद्ध्याऽथ श्रद्धया ।

जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः ॥ ७२९ ॥

अर्थ—उत्तम श्रावकोंको जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट पात्रोंके लिये पात्रबुद्धि तथा श्रद्धापूर्वक चार प्रकारका दान देना चाहिये । भावार्थ—छठे गुणस्थानवर्ती मुनि उत्तम पात्र कहे जाते हैं, एक देशव्रतके धारक पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक मध्यम पात्र कहे जाते हैं और व्रतरहित चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि पुरुष जघन्य पात्र कहे जाते हैं । जैसा पात्र होता है उसी प्रकारका दानके फलमें भेद हो जाता है । जिस प्रकार क्षेत्रकी विशेषतासे वनस्पति फलोंमें विशेषता देखी जाती है उसी प्रकार पात्रकी विशेषतासे दानके फलमें विशेषता होती है । जिस प्रकार पात्रकी विशेषतासे दानके फलमें विशेषता होती है उसी प्रकार दाताकी श्रद्धा, पात्रबुद्धि, भक्ति, निष्कृष्टता आदि गुणोंसे भी दानके फलमें विशेषता होती है । दानका फल भोगभूमि आदि उत्तम सुखस्थान कहे गये हैं । धनोपार्जनसे रात दिन आरम्भतनित पात्र बननेवाले श्रावकोंको पात्रदान ही पुण्यबन्धका मूल कारण है । इसलिये प्रतिदिन यथाशक्ति चार प्रकारका दान करना चाहिये । यद्यपि वर्तमान समयमें उत्तम पात्रोंका अभाव हो गया है तथापि उनका सर्वथा अभाव नहीं है । मुनिकेन भिन्नपर उत्तम श्रावक, ब्रह्मचारी, उदासीन, सहस्रर्षी मनोको दान देना चाहिये । दातार प्रकार है—आहारदान, औषधदान, अभयदान और ज्ञानदान । यद्यपि सामान्य दृष्टिसे चारों ही दान विशेष पुण्यके कारण हैं तथापि इन चारोंमें उत्तरोत्तर विशेषता है । आहारदान एकादशकी क्षुधाको निवृत्त करता है; औषधदान अनेक रोगोंके लिये शारीरिक रोगोंको दूर कर देता, है अभयदान एक नन्मभरके लिये निर्भय स्व

• “ अतीचारोऽयमव्रतम् ” किसी व्रतके एक अवयव दोष समझनेको अतीचार कहते हैं।

देता है । और ज्ञानदान सदाके लिये अजर, अमर, क्षुधादि दोषरहित और निर्भय बना देता है । ज्ञानदानका अतुल्य माहात्म्य है । पहलेके तीनों दान तो शारीरिक बाधाओंको ही दूर करते हैं परन्तु ज्ञान दान आत्माके निज गुणका प्रकाश करता है । पहलेके तीन दान तो एक भक्तके लिये अथवा उत्तमों भी कुछ समझके लिये ही इस जीवके सहायक हैं परन्तु ज्ञान दान इस जीवका सदाके लिये परम सहायक है । ज्ञान ही एक ऐसा गुण है जो इस जीवात्माको सांसारिक बाधाओंसे हटाकर त्याग मार्ग पर ले जाता है इसलिये धार्मिकोंको चारों ही दान और विशेषतासे ज्ञान दान यथाशक्ति अवश्य करना चाहिये । छात्रोंकी सहायता करना, विद्यालयोंका खोलना, शास्त्रोंका वितरण करना, समुपदेश देना, और स्वयं पढ़ाना ये सम्पूर्ण बातें ज्ञान दानमें गभित हैं ।

कुपात्र और अपात्रको भी दान देनेका उपदेश—

कृपाप्राप्याप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम् ।

पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया ॥ ७३० ॥

अर्थ—\* कुपात्र और अपात्रके लिये भी यथोचित दान देना चाहिये । इसका विशेष है कि कुपात्र और अपात्रके लिये पात्र बुद्धिसे दान देना निषिद्ध (बर्निन) कहा गया है, परन्तु वह कृपाबुद्धिसे निषिद्ध नहीं है । भावार्थ—कुपात्र और अपात्रके लिये पात्र बुद्धिसे नो दान दिन दिया जाता है वह मिथ्यात्वमें शामिल किया गया है, क्योंकि पात्र सत्यवृत्ति ही होसका है । पात्रके लिये नो दान दिया जाता है वह भक्ति पूर्वक दिया जाता है, परन्तु कुपात्र अथवा अपात्रके लिये नो दान दिया जाता है वह भक्ति पूर्वक नहीं दिया जाता किन्तु वरुणा बुद्धिसे दिया जाता है ।

दानका सम्मान उपदेश—

शोषेभ्यः क्षुत्पिनासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात् ।

दीनेभ्यो दयादानादि दातव्यं करुणार्णवः ॥ ७३१ ॥

अर्थ—और भी जो अशुभकर्मोदयसे क्षुधा, प्यास आदि बाधाओंसे पीडित दीन हैं उनके लिये भी करुणा सिन्धुओं (दयालुओं)को करुणागान आदि करना चाहिये ।

\* उद्देशावसानकारणमुक्तत्वात् सर्वत्र चरेत्तु मुदयं जटनम् ।

निर्दयं न भवति कश्चन कुपयं कुप्योक्तिर नमस्यार्थमिदं वि विद्धि ॥

अर्थ—सम्पादनरहित रहित महाप्रतीति दिग्गजर कुन उत्तम पात्र है, अतुल्य सम्पादनरहित सम्पादन पात्र है । न रहित सम्पादनरहित जय पात्र है । ये दोनों ही सम्पादनरहित पात्र हैं । सम्पादनरहित रहित नवी जीव कुपय है तथा जो सम्पादनरहित और नव दानरहित रहित है वह अपात्र है ।

(सत्यरत्नसूत्र)

त्रिनेन्द्र पूजनका उपदेश—

**पूजामप्यर्हतां कुर्याद्यथा प्रतिमासु तद्विधा ।**

**स्वरव्यञ्जनानि संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधीः ॥ ७३२ ॥**

अर्थ—सद्बुद्धि गृहस्थको तेरहवें गुणस्थानवर्त्ती, वीतराग, सर्वज्ञ अरहन्त भगवानकी पूजा करना चाहिये अथवा उन अरहन्तोंकी प्रतिमाओंमें अरहन्तकी बुद्धि रख कर स्वर व्यञ्जनोंकी स्थापना करके उनकी पूजा करना चाहिये अथवा स्वर व्यञ्जनोंकी स्थापना करके सिद्ध भगवानकी भी पूजन करना चाहिये ।

आचार्य, उपाध्याय, साधुओंकी पूजाका उपदेश—

**सूर्यपाध्यायसाधूनां पुरस्तत्पादयोःस्तुतिम् ।**

**प्राग्विधायाष्टधा पूजां विदध्यात् स त्रिशुद्धिः ॥ ७३३ ॥**

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय और साधुओंके चरणोंकी पहले स्तुति करके फिर मन, बचन, कायकी शुद्धतासे श्रावकको उन तीनों परमेशियोंकी अष्ट द्रव्यसे पूजा करना चाहिये ।

सहधर्मी और ब्रह्मचारियोंकी विनय करनेका उपदेश—

**सम्मानादि यथाशक्ति कर्तव्यं च सधर्मिणाम् ।**

**व्रतिनां चेतरेषाम्वा विशेषाद्ब्रह्मचारिणाम् ॥ ७३४ ॥**

अर्थ—जो अपने समान धर्मसेवी ( अपने समान श्रावक ) हैं उनका यथाशक्ति आदर सत्कार करना चाहिये, तथा जो व्रती श्रावक हैं अथवा सम्प्रगृष्टि हैं उनका भी यथाशक्ति आदर सत्कार करना चाहिये, और विशेष रीतिसे ब्रह्मचारियोंका आदर सत्कार करना चाहिये ।

व्रतयुक्त स्त्रियोंको विनय करनेकी उपदेश—

**नारीभ्योऽपि व्रतादद्याभ्यो न निषिद्धं जिनागमे ।**

**देयं सम्मानदानादि लोकानामविरुद्धतः ॥ ७३५ ॥**

अर्थ—व्रतयुक्त जो स्त्रियां हैं, उनका भी लोकसे अविरुद्ध आदर सत्कार करना जिनागममें निषिद्ध नहीं है । भावार्थ—मिस प्रकार व्रती पुरुष सम्मान दानके योग्य हैं उसी प्रकार व्रत युक्त स्त्रियां भी सम्मान दानके योग्य हैं, क्योंकि पुन्यताका कारण यह है वह दोनोंमें समान है । इतना विशेष है कि स्त्रियोंका सम्मान आदि लोकसे अविरुद्ध करना चाहिये इसका आशय यह है कि लोकमें जिना सम्मान उन्हें प्राप्त है उसीके अनुरूप देना चाहिये ।

त्रिनेत्रवृद्ध बनानेका उपदेश—

**जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणे सावधानता ।**

**यथा मरुतल्लिखितं तत्राहं**



अखण्डित हैं। भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य ये तीनों ही उत्तरोत्तर चिन्तनीय हैं तीनोंमेंसे पहले २ के होनेपर आगे आगेके भवनीय हैं, परन्तु उत्तर-उत्तर के होनेपर रहने का होना अवश्यभावी है' अर्थात् सम्यग्दर्शन के होनेपर सम्यग्ज्ञान भवनीय है और सम्यग्ज्ञान होने पर सम्यक्चारित्र्य भवनीय है। यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों साथ साथ ही होते हैं। क्योंकि निम्न समय आत्मानमें दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम अथवा क्षय, क्षयोत्पत्ति होनेपर सम्यग्दर्शन प्रकट होता है उसी समय मति अज्ञान, ध्रुव अज्ञानकी निवृत्ति पूर्ण आत्मानमें सुमतिज्ञान मुमुक्षुतज्ञान प्रकट होजाते हैं। सम्यग्दर्शन यद्यपि ज्ञानको उत्पन्न नहीं करता है क्योंकि ज्ञानको उत्पन्न (प्रकट) करनेवाला तो ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोत्पत्ति है। परन्तु ज्ञानमें सम्यक्पणा सम्यग्दर्शनके होनेपर ही आता है इसलिये दोनों ही अविनाभावी हैं। अविनाभावी होनेपर भी ऊपर जो यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यग्ज्ञान भवनीय है, उसका आशय यह है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर उत्तरोत्तर सम्यग्ज्ञानका क्षयोत्पत्ति भवनीय है। इसी लिये सम्यग्दर्शनकी पूर्ति सातवें गुणस्थानमें नियत होजाती है, परन्तु ज्ञानकी पूर्ति बारहवें गुणस्थानके अन्तमें होती है। इससे मिश्र होता है कि सम्यग्दर्शनके होने पर ज्ञान भवनीय है। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानके होने पर सम्यक् चारित्र्य भवनीय है। सम्यग्ज्ञानके होनेपर यह नियम नहीं है कि चारित्र्य हो ही हो। चौथे गुणस्थानमें सम्यग्ज्ञान तो होजाता है। परन्तु सम्यक्चारित्र्य वहां नहीं है। वह पाँचवें गुणस्थानमें शुरू होता है। हां इतना अवश्य है कि जिस प्रकार सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञान अविनाभावी है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके साथ स्वरूपाचरण चारित्र्य भी अविनाभावी है। चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनके साथ ही स्वरूपाचरण चारित्र्य भी आत्मानमें प्रकट हो जाता है। इसका कारण भी यही है कि सम्यग्दर्शनके घात करनेवाली सात प्रकृतियाँ हैं—अनन्तानुक्ली, क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्पत्त्वप्रकृति। इन सातवें अन्तके तीन भेद तो दर्शनमोहनीयके हैं और आदिके चार भेद (अनन्तानुक्ली) चरित्रमोहनीयके हैं। अनन्तानुक्ली कषाय यद्यपि चारित्र्यमोहनीयका भेद है तथापि उसमें दो प्रकारकी शक्ति है वह सम्यग्दर्शनका भी घात करती है और सम्यक्चारित्र्यका भी घात करती है। अनन्तानुक्लीका दूसरे गुणस्थान तक उदय रहता है, इसीलिये चौथे गुणस्थानमें निराधाय सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्र्य प्रकट रहता है, परन्तु जब \* प्रथमोपशम सम्पत्त्व

• आदिम सम्पत्त्वदा समयादो छात्रलिङ्गि वाससे । अथ अण्णदकदयादो वासिषधस्यो वासस्यो हो ॥ सम्पत्त्वपण्डित्यादिदशोमिच्छभूमिसमभिपुदो । वासिषधस्यो हो सावन्तु मुनेष्वो ॥ अर्थात्—जिस समय अनन्तानुक्ली कषायके उदयसे जीव सम्यक्त्वसे दूर हो उस समय दूसरे गुणस्थानमें आता है, दूसरा गुणस्थान भी यद्यपि जीवकी वैभावंक भरण है तथापि वैभावंक नरण्या मिथ्यात्वके सम्पत्त्वप्रकृति भवता है। (गोमन्तर!)

एक समयसे लेकर छह आवलिकाळ बाकी रह जाता है उस समय अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभमेंसे किसी एकका उदय होनेपर सम्यक्त्वका नाश हो जाता है और द्वितीय गुणस्थान हो जाता है सम्यग्दर्शनके साथ ही स्वरूपावरण चारित्र भी नष्ट हो जाता है क्योंकि उसका भी साक्षात् घातक अनन्तानुबन्धी है ।

उपरोक्त कथनसे यह बात भी सिद्ध होनाती है कि जब स्वरूपावरण चारित्र और सम्यग्दर्शन दोनों ही सम्यग्दर्शनके साथ होने वाले हैं तो तीनों ही अविनाभावी हैं । इमोनिये प्रत्यक्षाने तीनोंको अविनाभावी बनलाए हुए तीनोंको अवष्टिप्त कहा है । परन्तु सम्यग्दर्शनका अविनाभावी स्वरूपावरण चारित्र ही है, जित्यारूप चारित्र नहीं है । क्योंकि जित्या रूप चारित्र पांचवें गुणस्थानसे प्रारंभ होता है । इसीसे पहले यह भी कहा गया है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यक्चारित्र बननीय है । अर्थात् सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यक्चारित्र हो भी अवकाश नहीं हो, नियम नहीं है । यहाँपर एक शंका उपस्थित होती है वह यह है कि जित्य प्रकार सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्दर्शनका अविनाभाव होनेपर ही उत्तरोत्तर वृद्धिकी अपेक्षासे ज्ञान बननीय है । उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यक्चारित्र बननीय नहीं होना चाहिये क्योंकि सम्यक्चारित्रकी पूर्ति बारहवें गुणस्थानमें ही होनाती है और सम्यग्दर्शनकी पूर्ति तारहवें गुणस्थानके प्रारंभमें होती है, इसका भी कारण यही है कि चारित्र गुणको पान करनेवाले चारित्र मोहनीय कषाय द्वावें गुणस्थानके अन्तमें सर्वथा नष्ट होनाती है और केवलज्ञानको प्राप्त करनेवाला ज्ञानावरणीय कर्म बारहवेंके अन्तमें नष्ट होता है । इस कथनसे तो यह बात सिद्ध होती है कि सम्यक्चारित्रके होनेपर सम्यग्दर्शन बननीय है और उक्त कहा गया है कि ज्ञानके होनेपर चारित्र बननीय है परन्तु इस शङ्काका उत्तर इस प्रकार है कि यद्यपि मनुष्य इच्छिते यह शंका ठीक प्रतीत होती है परन्तु सुश्रवणसे विचार करने पर वही कथन सिद्ध होता है जो उक्त कहा जा चुका है । अर्थात् सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यक्चारित्र ही बननीय रहता है । इसका सुलभता इस प्रकार है कि यद्यपि चारित्र मोहनीय कर्मके नष्ट होनेपर बारहवें गुणस्थानमें यथास्थानचारित्र प्रकट होनाता है तथापि एक इच्छिते उसे अभी पूर्ण चारित्र नहीं कहा जा सकता है, यदि कहा जाय कि चारित्र मोहनीय उमय पतक था जब पानक कर्म ही नष्ट हो गया तो फिर क्यों नहीं पूर्ण चारित्र कहा जाता है अवकाश भी पूर्ण चारित्र नहीं कहा जाता है तो कहा चाहिये कि नीचे जो कर्म चारित्रका पानक होगा जो कि चारित्रको पूर्णतामें लाकर है । तबका टोका है, परन्तु विस्तारमें दूसरी नज़ारें उठाई जा सकती हैं कि यदि चारित्र मोहनीयके नष्ट होनेका चारित्र पूर्ण हो जाता है तो तबसे गुणस्थानसे ही क्यों नहीं मोल हो जाती ! क्योंकि सम्यग्दर्शनकी पूर्ति पाननी तक ही पुगी और चारित्रकी पूर्ति बारहवें ही पाने है तथा जगत्सु दुर्ग

तदहं गुणस्थानमें हो जाती है। जहांपर रत्नत्रयकी पूर्णता है वहां पर ही मोक्षका होना आवश्यक है, अन्यथा रत्नत्रयमें समर्थकारणता ही नहीं आ सकती है। तीनोंकी पूर्णता उत्तर क्षणमें ही मोक्ष प्राप्ति होना अवश्यभावी है सो होती नहीं किन्तु मोक्षप्राप्ति गुणस्थानमें होती है इससे सिद्ध होता है कि अभी तक चारित्र्यकी पूर्णतामें कुछ अद है, और चारित्र्य ही मोक्ष प्राप्तिमें साक्षात् कारण कहा गया है। वह त्रुटि भी आनुषंगिक वह इस प्रकार है—जिस प्रकार आत्माका चारित्र्य गुण है उसी प्रकार योग भी आत्माका है। चारित्र्य गुण निर्जराका हेतु है परन्तु योग गुण मन, वचन, कायरूप अशुद्धावस्थामें ग्रहण करनेका हेतु है। दशवें गुणस्थान तक चारित्र्य योगके साथ ही अपूर्ण बना रहा दशवेंके अन्तमें यद्यपि चारित्र्यमोहनीयके दूर हो जानेसे वह पूर्ण हो चुका है तथापि अशुद्ध करनेमें कारणीभूत उसका साथी योग अभी तक अपना कार्य कर रहा है। इस चारित्र्यके निर्दोष होनेपर भी योगके माह्नयसे उसे भी आनुषङ्गिक दोषी बनना पड़ता यद्यपि कर्मके ग्रहण करनेवाला योग चारित्र्यमें कुछ मलिनता नहीं कर सकता है तथापि वह और योग दोनों ही आत्मासे अभिन्न हैं। अभिन्नतामें जिस प्रकार योगसे आत्मा अविमर्श होता है उसी प्रकार चारित्र्य भी समझा जाता है। जब योगशक्ति वैभाविक अस्ति मुक्त होकर शुद्धावस्थामें आ जाती है तभी चारित्र्य भी आनुषङ्गिक दोषसे मुक्त हो जाता। मोक्षिये शास्त्रकारोंने यथास्थान चारित्र्यकी पूर्णता चौदहवें गुणस्थानमें बताई है वहीं समाख्याद्वय मध्यस्थ भी बताया है। इसलिये चौदहवें गुणस्थानमें ही रत्नत्रयकी पूर्णता हो और वहीपर मोक्षप्राप्ति होती है। इससे रत्नत्रयमें समर्थ कारणता भी सिद्ध हो जाती है और सब कथनका माराश यही है कि सम्यग्ज्ञानके होनेपर भी मध्यस्थचारित्र्य भवनीय है मध्यस्थचारित्र्यके होनेपर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भवनीय नहीं है। किन्तु अवश्यभावी। क्योंकि बिना परते दोनोंके दृष्ट मध्यस्थचारित्र्य हो ही नहीं सकता है। इसीलिये मध्यस्थ मध्यस्थ और ज्ञानही चारित्र्यके अन्तर्गत बताया है। जिस प्रकार चारित्र्यमें दोनों भागों उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानमें सम्यग्दर्शन भी गणित है।

१. कारण दो प्रकारका होता है—एक समय का कारण एक अनसमय का कारण। जिसके होने उत्तर क्षण अवश्य हो चाहे ही निमित्त हो उस समय का कारण कहते हैं। अतः जिस कारण होनेपर निमित्तके उत्तर क्षण का हो न हो उसे अनसमय का कारण कहते हैं।

२. एक दोष के होने पर भी जो कुछ होना होता है उसे आनुषङ्गिक दोष कहते हैं। जैसे कोई दुष्टाचार ने जो कुछ न हो परन्तु भोगके लक्षणके रहे तो वह भी आनुषङ्गिक दोष कहते हैं।



सम्यग्दर्शनको प्रधानता—

किञ्च सदृशानं हेतुः संचिचारिप्रपादयोः  
सम्यक्विशेषणस्योच्चैर्यथा प्रत्यग्रजन्मनः ॥ ७३८ ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य, दोनोंमें सम्यग्दर्शन कारण है, और वह ज्ञानता भी नहीं नन्म कारण बननेवाले सम्यग् विशेषणकी अपेक्षासे है अर्थात् सम्यग्दर्शन, न और चारित्र्यको प्रकट करनेमें कारण नहीं है किन्तु ज्ञान और चारित्र्यमें सम्यक्ज्ञाना में कारण है । इसी लिये वह तीनोंमें प्रधान है।

रक्षोषा गुल्लका—

अर्थायं सानि सम्यक्कये ज्ञानं चारित्र्यमग्र यत् ।  
भूतपूर्वं भवेत् सम्यक् गृहे वाऽभूतपूर्वकम् ॥ ७३९ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका स-ए अर्थ यह है कि सम्यग्दर्शनके होने पर ज्ञान और चारित्र्य सम्यक् विशेषणको धारण करने हैं। अथवा उन दोनोंमें नहीं सम्यक्ज्ञान आता है। भावार्थ—जब सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य (इनके सम्यक्पूर्णमें) सम्यग्दर्शन कारण है। तो वे दोनों उसके कार्य हैं। कार्यसे कारणका अनुमान हो ही जाता है। इन्हीं सम्यक् चारित्र्यके वहनेसे दर्शन और ज्ञानका समावेश उसमें स्वयं सिद्ध है। इस कथनसे साक्षात्कारी यह सम्यक् के जब तीनों ही मोक्ष मार्ग हैं तो 'मुनिषीके' केवल चारित्र्यका हो निष्ठाण क्यों किया जाता है सर्वथा निर्मूलक है।

सम्यग्दर्शनका माहात्म्य—

शुद्धोपलब्धिजातिर्यो लब्धिज्ञानातिजातिर्ना ।  
सा भवेत्सति सम्यग्दर्शने शुद्धो भावोऽप्यथापि च ॥ ७४० ॥

अर्थ—आत्माकी शुद्धोपलब्धि (जो बाष्पाभूत जो अनिष्टाय ज्ञानात्मक लब्धि/वृत्ति/सात्त्विक कर्मका विशेष लक्षण) है वह सम्यग्दर्शनके होने पर ही होती है। अथवा शुद्ध भाव-शुद्धात्मानुभूति सम्यग्दर्शन होने पर ही होती है।

यत्पुनर्द्रव्यचारित्र्यं भूतं ज्ञानं विनापि हृत् ।  
न तज्ज्ञानं न चारित्र्यमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ॥ ७४१ ॥

अर्थ—और भी जो द्रव्य चारित्र्य और भूतज्ञान है यदि वह सम्यग्दर्शन नहीं है तो ज्ञान है और न वह चारित्र्य है, यदि है तो केवल कर्मबन्ध करनेवाला ही है।

सा. ८८—

तेषामन्यतमोद्देशयो नास्ति दोषाय कुर्याच्च ।  
मोक्षमार्गकमाप्यस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥ ७४२ ॥



अर्थ—अमूददृष्टि सम्पूर्णदर्शनका गुण है। यह गुण किसी प्रकार दोषोत्पादक नहीं है किन्तु गुणोत्पादक है। क्योंकि सम्पूर्णदृष्टि नियमसे अमूददृष्टि अंगका पावन करता है। मिथ्यादृष्टि ऐसा नहीं करता वह उल्टा ही करता है। भावार्थ—सम्पूर्णदृष्टिके लिये अमूददृष्टि अंग अद्वय पावनीय है। यदि सम्पूर्णदृष्टिकी बुद्धि देवगुरु धर्मके सिवा कुगुरु, कुधर्म, कुदेवकी प्रशंसा अथवा उनकी किञ्चिन्मान्यताकी तरफ है तो उसे मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिये। अथवा देव, गुरु, धर्ममें उसकी पूर्ण धृष्टा नहीं है तो भी उसे मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिये। इसलिए अमूददृष्टि सम्पूर्णदृष्टिका प्रधान गुण समझना चाहिये। शब्दान्तरमें यों कहना चाहिये कि सम्पूर्णदृष्टि अमूददृष्टि नियमसे होता ही है (यदि वह मूढ़दृष्टि है तो सम्पूर्णदृष्टि नहीं किन्तु मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि सम्पूर्णदृष्टि कुदेव, कुगुरु, कुधर्म और मिथ्या शास्त्रोंकी न तो विनय करता है न उन्हें प्रणाम ही करता है।\* बिना मिथ्यात्वके उसकी कुदेवादिककी ओर बुद्धि अनुगामी किसी प्रकार नहीं होसकी है। इसके सिवा जो लोग मधे देव, शास्त्र, गुरुकी यथार्थ विनय नहीं करते हैं, जिनको उनमें पूर्ण धृष्टा नहीं है उन्हें भी मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिये।\* बिना मिथ्यात्वधर्मके उदय हुए ऐसी कुमति नहीं हो सकी है।

यद्यपि सम्पूर्णदर्शन गुण अनिमूढ है उसका विवेचन नहीं किया जासका है। जिस पुरुषकी आत्मामें वह गुण प्रकट होता है उसीको शुद्धान्भावभवनका अपूर्व स्वाद आता है। वह उस आत्मिक अपूर्व स्वादका बाह्यमें उसी प्रकार विवेचन नहीं कर सका है जिस प्रकार कि घीका स्वाद लेनेवालेसे उसका स्वाद पूरने पर वह उसका स्वाद ठीक २ प्रकट नहीं कर सका। जिस प्रकार घीका स्वाद बचनेसे ही उसकी यथार्थ प्रतीति होती है उसी प्रकार उस आलौकिक दिव्य सम्पूर्णगुणकी प्रकटतामें होनेवाले आत्मिक रसका वह स्वयं भान करता है दूसरेमें नहीं वह सजना। तथापि व्यवहार सम्पूर्णत्व जो बतलाया गया है कि सत्यार्थ देव, गुरु, शास्त्रमें पूर्ण धृष्टा रहना, उस बाह्य सम्पूर्णत्वमें भी जिनकी बुद्धि विपरीत है उनके मिथ्यात्व धर्मका तीव्र उदय समझना चाहिये। व्यवहार सम्पूर्णत्वकी भी सच्चे देव, गुरु, शास्त्रमें भक्त रहती है। उनमें उसकी बुद्धि किञ्चिन्मात्र भी शंका नहीं होती है।

यह बात भी नहीं है कि किसी पदार्थमें सम्पूर्णदृष्टिको शंका ही नहीं उत्पन्न होती है, सम्पूर्णदृष्टि सर्वज्ञ नहीं है और ऐसे उद्यमस्थ हैं तैसे वह भी उद्यमस्थ है। उद्यमस्थानमें अनेक शंका-

\* नयाशास्त्रेऽलोमान्च कुदेवागमलिङ्गनाम् ।

प्रणाम विनय चैव न शुद्धदृष्टयः ॥

अर्थात् भयसे, आशयसे, प्रेमसे, मोहसे किले तरह भी सम्पूर्णदृष्टि कुदेवादिकको प्रणाम अथवा उनकी विनय नहीं कर सका है। रत्नकरण्ड आवकाचार ।

७ आनन्द जो प्रथमानुवीय पाषाणको चक्षुष्यां चरते हैं और जो विनयदर्शनको अनावृण्वक समझते हैं उनके मिथ्यात्वधर्मका उदय अवश्य है ।



अथवा—

आत्मशुद्धरदौर्धत्यकरणं चोपमं हणम् ।

अर्थाद्दृग्गतिचारित्र्यभावात् संवलितं हि तत् ॥ ७५९ ॥

अर्थ—आत्माकी शुद्धिमें मन्दता नहीं आने देना किन्तु उसे बढ़ाना इसका नाम भी उपमं हण है, अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य, इन भावोंसे विशिष्ट आत्माकी शुद्धिको बढ़ाते रहना उसमें किसी प्रकारकी शिथिलता नहीं आने देना इसीका नाम उपमं हण है।

उपमं हण गुणपापीका ररुपा—

जानन्नप्येष निःशेषात्पौरुषं प्रेरयन्नित्य ।

तथापि यत्नवान्नात्र पौरुषं प्रेरयन्नित्य ॥ ७६० ॥

अर्थ—उपमं हण गुणका धारी पुरुष पुरुषार्थ पूर्ण सम्पूर्ण ऐहिक बातोंको मानना है परन्तु उन ऐहिक ( संसार सम्बन्धी ) बातोंके प्राप्त करनेके लिये वह पुरुषार्थ पूर्ण प्रयत्न नहीं करता है।

नायं शुद्धोपलब्ध्या स्याल्लेशतोपि प्रमादवान् ।

निष्प्रमादतयाऽऽत्मानमाददानः समादरात् ॥ ७६१ ॥

अर्थ—उपमं हण गुणका धारक आत्माकी शुद्ध-उपलब्धिमें लेश मात्र भी प्रमादी नहीं है किन्तु प्रमाद रहित आदर पूर्वक अपने आत्माका ग्रहण करता है।

यदा शुद्धोपलब्ध्यर्थमभ्यस्येदपि तद्वहिः ।

सक्तियां काश्चिदप्यर्थात्तत्तत्साध्यापयोगिनीम् ॥ ७६२ ॥

अर्थ—अथवा वह शुद्धोपलब्धिके लिये बाह्य किसी सक्रियाका भी अभ्यास करता है जो कि उसके साध्यमें उपयोगी पड़ती है।

बाह्य आचरणमें दृष्टान्त—

रसेन्द्रं सेवमानोपि कोपि पथ्यं न याऽऽचरेत् ।

आत्मनोऽनुप्रापतामुज्जन्तुज्जन्तुप्रापनामपि ॥ ७६३ ॥

अर्थ—कोई पुरुष रसायनका सेवन भी करे परन्तु पथ्य न करे तो रसायनसे निम्न प्रकार वह अपने रोगका नाश करता है उसी प्रकार पथ्यके न करनेसे नौगोगनाश भी नाश करता है। भावार्थ—रोगको दूर करनेके लिये उचित औषधिके सेवनके साथ २ अनुद्वष्ट पथ्य करनेकी भी आवश्यकता है। अन्यथा रोग दूर नहीं हो सता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिसे साध्यापयोगी बाह्य सक्रियाओंके करनेकी भी आवश्यकता है।

अथवा—

यथा सिद्धं विनायासात्स्वतस्तत्रोपब्रंहणम् ।

ऊर्ध्वमूर्ध्वगुणश्रेण्यां निर्जरायाः सुसंभवात् ॥ ७८४ ॥

अर्थ—अथवा सम्यग्दृष्टिके किसी खास यत्नके स्वतः ही उपब्रंहण गुण सिद्ध है । क्योंकि ऊपर ऊपर गुणश्रेणी (परिणामोंकी उत्तरोत्तर विशुद्धतामें) रूपसे उसके निर्मल होना अवश्यभावी है । भावार्थ—सम्यग्दृष्टिके असंख्यात गुणों निर्मल होती रहती है और वह उत्तरोत्तर श्रेणी क्रमसे बढ़ी हुई है ।

अवश्यंभाविनी चात्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणाम् ।

प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदसंख्येयगुणक्रमात् ॥ ७८५ ॥

अर्थ—उपब्रंहण गुणवारीके सम्पूर्ण कर्मोंकी निर्मल अवश्य होगी, क्योंकि प्रतिसूक्ष्म उसके असंख्यात गुणों २ निर्जरा होती ही रहती है ।

कर्मोंके क्षयमें आत्माकी विशुद्धिकी वृद्धि—

न्यायादायातमेतद्वै यावतांशेन तत्क्षतिः ।

वृद्धिः शुद्धोपयोगस्य वृद्धेर्वृद्धिः पुनः पुनः ॥ ७८६ ॥

अर्थ—यह बात न्याय प्राप्त है कि नितन अंशमें कर्मोंका क्षय होनाता है उतने ही अंशमें शुद्धोपयोगकी वृद्धि होनाती है । उधर कर्मोंके क्षयकी वृद्धि होती जाती है इस शुद्धोपयोगकी वृद्धि होती जाती है । यह वृद्धि बराबर बढ़ती चली जाती है ।

यथा यथा विशुद्धेः स्याद् वृद्धिरन्तः प्रकाशिनी ।

तथा तथा हृषीकाणामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥ ७८७ ॥

अर्थ—जैसी जैसी विशुद्धिकी वृद्धि अन्तरंगमें प्रकाश डालती है, वैसी वैसी ही आत्माकी इन्द्रियोंके विषयोंमें उपेक्षा होती जाती है ।

क्रियाकाण्डको बढ़ाना चाहिये—

ततो भृशं क्रियाकाण्डे नात्मशक्तिं स लोपयेत् ।

किन्तु संयथैवेन्नृनं प्रपत्नादपि दृष्टिमान् ॥ ७८८ ॥

अर्थ—इसलिये बढ़ानेमें क्रियाकाण्डमें अपनी शक्तियों नहीं छिपाना चाहिये । किन्तु उसके बढ़ाना चाहिये यह सम्यग्दृष्टिके कर्तव्य है ।

वाराध—

उपब्रंहणनामापि गुणः सदृशेनस्य यः ।

गणिता गणनामध्ये गुणानां नागुणाय च ॥ ७८९ ॥

अर्थ—जो उपमंहेण (उपगूहन) गुण कहा गया है वह भी सम्यग्दृष्टिका गुण है । सम्यग्दृष्टिके गुणोंमें यह भी गुण गिना गया है, यह दोषावाक्य नहीं है ।

स्थितिकरण अंगका निरूपण—

. . . . .

क्षतेः ॥ ७९० ॥

अर्थ—स्थितिकरण गुण भी सम्यग्दृष्टिका गुण है । धर्मसे जो पतित हो चुका है अपता पतित होनेके समुच्च है उसे फिर धर्ममें स्थित कर देना इसीका नाम स्थितिकरण है । किन्तु अर्थात् सति होने पर अधर्ममें स्थित करनेको स्थितिकरण नहीं कहते हैं ।

अधर्म सेवन धर्मके लिये जो अच्छा नहीं है—

न प्रमाणीकृतं पृथग्धर्मायाधर्मसेवनम् ।

भाविधर्माशया केचिन्मन्दाः साधयथादिनः ॥ ७९१ ॥

अर्थ—धर्मके लिये भी अधर्मका सेवन करना बृद्ध पुरुषोंने स्वीकार नहीं किया है । आगामी कालमें धर्मकी आशासे कोई मूर्ख—अधर्म सेवनका भी उपदेश देते हैं ।

परस्परदेति पक्षस्य नायकाशोऽथ लेशतः ।

मूर्खादन्यत्र नो मोहाच्छीतार्थं यन्दिमाविशेत् ॥ ७९२ ॥

अर्थ—‘अधर्म सेवनसे परम्परा धर्म होता है, इस प्रकार परम्परा पक्षका लेशमात्र भी यहाँ अवकाश नहीं है । मूर्खको छोड़ कर ऐसा कौन पुरुष है जो बोहसे शीतके लिये बन्दिमें प्रवेश करे । भावार्थ—मेला कारण होता है उसी प्रकारका कार्य होता है, उण्डकर चाहने वाला, उन्हीं पदार्थोंका सेवन करेगा जो उण्डको पैदा करने वाले हों, उण्डकर चाहनेवाला उष्ण पदार्थों (अग्नि आदिक)का कभी सेवन नहीं करेगा । इसी प्रकार धर्मको चाहने वाला धर्मका ही सेवन करेगा । क्योंकि धर्म सेवनसे ही धर्मकी प्राप्ति हो सकती है, अधर्म सेवनसे धर्मकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती । जो लोग अधर्म सेवनसे धर्म बनाने हैं वे कीचरके गृहसे आप्रकी प्राप्ति बतलाते हैं, परन्तु यह उनकी भारी भूल है । कीचरके गृहसे मिठा काटोंके और कुछ नहीं मिल सकता है ।

नैनद्धर्मस्य प्रामूय प्रागधर्मस्य सेवनम् ।

व्याप्तरपक्षधर्मत्वाच्चेतोर्वा व्यभिचारतः ॥ ७९३ ॥

अर्थ—अधर्मा का सेवन धर्मका प्रामूय भी नहीं है । क्योंकि अधर्मसेवनसे ही वि-  
पक्षभूत—अधर्मप्राप्तिमें भी रह जाता है इसलिये व्यभिचारी है इसीसे अधर्ममय और धर्मप्राप्ति-  
की व्याप्ति भी व्यभिचरित है । भावार्थ—मीप्रामत्तादि दत्तानगर यागादिनें हिमाक्ष अर्क-  
सेवनसे धर्मप्राप्ति मानने हैं और उसी यागादिना कुछ स्वर्गप्राप्ति बनाने हैं । भावार्थ—इदं

हैं कि ऐसा उनका सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या है । क्या हिंसात्मक अवर्मके सेवन करनेसे पाप हो सकती है ? हिंसादि नीच कार्योंका स्पर्शकृत कभी नहीं हो सकता है । हिंसा करनेसे पापोंमें संश्लेषकी ही वृद्धि होगी उससे पाप बन्व होगा इसलिये अवर्मसेवनका फल उ अघर्मकी वृद्धि है । धर्मका हेतु अवर्म कभी नहीं हो सकता है ।

**प्रतिसूक्ष्मक्षणं याचहेतोः कर्मोदयात्स्थितः ।**

**धर्मो वा स्यादधर्मो चाप्येष सर्वत्र निश्चयः ॥ ७९४ ॥**

अर्थ—प्रति समय जब तक कर्मका उदय है तब तक धर्म और अधर्म दोनों ही सकते हैं ऐसा सर्वत्र नियम है । भावार्थ—जब कर्मोदय मात्रसे भी अवर्म-पापबन्व हो तब अधर्मसेवनसे तो अग्न्य ही अवर्म होगा, इसलिये यागादि अधर्मसेवनसे धर्मप्राप्तिकी ना करना मीमांसकोंकी सर्वथा मूल है ।

स्थितिकरणके भेद—

**तत्स्थितीकरणं द्वेषाऽध्यक्षात्स्वापरभेदतः ।**

**स्वात्मनः स्वात्मतत्त्वेऽर्थात्परत्वे तु परस्य तत् ॥ ७९५ ॥**

अर्थ—वह स्थितिकरण अपने और परके भेदसे दो प्रकारका है । अर्थात् अपने आत्माके पतित होनेपर अथवा पतित होनेके सम्मुख होनेपर अपने आत्मामें ही पुनः अपने पको लगा लेना इसे स्व-स्थितीकरण कहते हैं । और दूसरे आत्माके धर्मसे पतित होनेपर उसे उसी धर्ममें तदवस्थ कर देना इसे पर स्थितीकरण कहते हैं ।

स्वस्थितीकरणका खुलासा—

**तत्र मोहोदयोद्रेकाच्छ्रुतस्यात्मस्थितेश्चितः ।**

**भूयः संस्थापनं स्वस्य स्थितीकरणमात्मनि ॥ ७९६ ॥**

अर्थ—मोहोदयके उद्रेकवश अपनी आत्म परिस्थिति ( धर्मस्थिति ) से पतित आत्माको पुनः आत्म परिस्थितिमें लगा देना इसीका नाम स्वस्थितीकरण है ।

इधीमा स्थितीकरण—

**अयं भावः कचिद्देवादर्शनात्स पतत्यधः ।**

**प्रजत्सूर्ध्वं पुनर्देवात्सम्पगारुह्य दर्शनम् ॥ ७९७ ॥**

अर्थ—ऊपर वह देव कथनका खुलासा इस प्रकार है—कभी कर्मोदयकी तीव्रतासे सम्पगृष्टि दर्शनसे नीचे गिरता है । फिर देववश सम्पगृहर्शनको पाकर ऊपर चढ़ता है ।

अथवा—

**अथ कचिदयथाहेतुदर्शनादपतन्नपि ।**

**भायशुद्धिमयोपांशैरूर्ध्वमूर्ध्वं प्ररोहति ॥ ७९८ ॥**



अर्थ—अथवा सामग्रीकी योग्यतामें कभी दर्शनसे नहीं भी गिरता है तो भावोंकी शुद्धिको नीचे नीचेके अंशोंसे ऊपर ऊपरको बढ़ाता है ।

अथवा—

कचिद्वहिः शुभाचारं स्वीकृतं चापि मुञ्चति ।

न मुञ्चति कदाचिदै मुक्त्वा वा पुनराश्रयेत् ॥ ७९० ॥

अर्थ—कभी स्वीकृत किये हुए भी वाद-शुभाचारको छोड़ देता है । कभी नहीं भी छोड़ता है । अथवा छोड़कर पुनः ग्रहण करने लगता है ।

अथवा—

यथा यहिः क्रियाचारे यथावस्थं स्थितेपि च ।

कदाचिद्दीप्यमानोन्तर्भायैर्भूत्वा च वर्तते ॥ ८०० ॥

अर्थ—अथवा वाद क्रियाचारमें ठीक २ स्थित रहनेपर कभी २ अन्तर्ग भावोंसे दीप्यमान होने लगता है ।

नासंभवमिदं यस्माच्चारित्राचरणोदयः ।

अस्ति तरतमस्यांशैर्गच्छन्निम्नोन्नतामिह ॥ ८०१ ॥

अर्थ—कभी अन्तरंगके भाव बढ़ने लगने हैं कभी घटने लगते हैं यह बात असंभव नहीं है । क्योंकि चारित्र मोहनीय कर्मका उदय अपने अंशोंसे कभी घटने लगता है और कभी बढ़ने लगता है । भावार्थ—चारित्र मोहनीय जिस रूपसे कम बढ़ होता है उसी रूपसे भावोंमें भी हीनाधिकता होती है ।

अप्राभिमेतमेव तत्स्वस्थितीकरणं स्यतः ।

न्यायात्कुतश्चिदप्राप्तिर्येनोक्तवानयस्थितिः ॥ ८०२ ॥

अर्थ—यहां पर इतना ही अभिप्राय है कि स्वस्थितीकरण स्वयं होना है और उत्तम आत्माकी स्थिरताका न होना ही कारण है ।

दूसरी ॥ विधिपर—

सुस्थितीकरणं नाम परेषां सद्गुणहाव ।

भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र स्थापनं तत्रेदे पुनः ॥ ८०३ ॥

अर्थ—दूसरी पर × सद् अनुग्रह रहना ही पर-स्थितीकरण है । वह अनुग्रह यही है कि जो अपने पदसे भ्रष्ट हो चुके हैं उन्हें उनी पदमें फिर स्थापन कर देना ।

× सद् अनुग्रहे रहना ही तत्रेदे कि बिना किसी प्रकारकी सहायता के हुए धार्मिक बुद्धिमें परीक्षण करना । जो अनुग्रह मोक्षदण्ड भवता अन्य प्रकारकी सहायता के बिना जाता है, वह अनुग्रह तत्रेदे ८०३ उक्तो सद् अनुग्रह नहीं वह भ्रष्ट । यद्-कनीन अनुग्रह निरूपेष्ट हाथियोंका ही कहा जा सकता है ।

स्वोपकार पूर्वक ही परोपकार ठाँक है—

धर्मादेशोपदेशाभ्यां कर्तव्याऽनुग्रहः परे ।

नात्मव्रतं विहायास्तु तत्परः पररक्षणे ॥ ८०४ ॥

अर्थ—धर्मका आदेश और धर्मका उपदेश देकर दूसरों पर अनुग्रह करना चाहिये परन्तु आत्मीय व्रतमें किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचा कर ही दूसरोंके रक्षणमें तत्पर रहना उचित है । अन्यथा नहीं ।

ग्रन्थान्तर—

आदहिदं कादव्यं जइ सफइ परहिदं च कादव्यं ।

आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुठु कादव्यं ॥ ८०५ ॥

अर्थ—सबसे प्रथम अपना हित करना चाहिये । यदि अपना हित करते हुए जो पर हित करनेमें समर्थ है उसे परहित भी करना चाहिये । आत्महित और परहित इन दोनोंमें आत्महित ही उत्तम है उसे ही प्रथम करना चाहिये । भाषार्थ—इन दो कारिकाओंसे यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है कि मनुष्यका सबसे पहला कर्तव्य आत्महित है, जिसे आत्म कल्याण किये वास्तवमें आत्म कल्याण हो भी नहीं सकता है । जहाँ पर सर्वोपरि उच्च ध्येय है वहाँ भी आत्म हित ही प्रमुख है । आचार्य यद्यपि मुनियोंका पूर्ण हित करते हैं उन्हें मोक्ष मार्गपर लगाते हैं, तथापि उस अवस्थामें रहकर उनको उच्च ध्येय नहीं मिल सकता है । जिस समय वे उस उच्च ध्येय मुक्तिको प्राप्त करना चाहते हैं उस समय उन आचार्य पदका त्याग कर स्वात्म भावन मात्र—साधु पदमें आ जाते हैं इसलिये यह ठीक है कि आत्म हित ही सर्वोपरि है । आत्म हित स्वार्थमें शामिल नहीं किया जा सकता है । जो सांसारिक वासनाओंकी पूर्तिके लिये प्रयत्न किया जाता है उसे ही स्वार्थ कहा जा सकता है उसका कारण भी यही है कि स्वार्थ उसे ही कह सकते हैं जो प्रमाद विशिष्ट है, आत्महित करनेवाला प्रमाद विशिष्ट नहीं है इसलिये उसे स्वार्थ कहना भूल है । इन कथनसे हम परोपकारका निषेध नहीं करना चाहते हैं, परोपकार करना तो महान् पुण्य बन्धका कारण है । परन्तु जो लोग परोपकार करते हुए स्वयं भ्रष्ट हो जाते हैं अथवा आत्म हितको जो स्वार्थ बताते हैं अवश्य आत्म हितसे कोशों दूर हैं, आचार्योंनि परोपकारको भी स्वार्थ साधन ही बतलाया है । यहाँ पर यह शंका की जासक्ती है कि कहीं पर परोपकारार्थ स्वयं भ्रष्ट भी होना पड़ता है जैसे कि विष्णुकुमार मुनिने मुनियोंकी रक्षाके लिये अपने पदको छोड़ ही दिया ? शंका ठीक है । कहीं पर विशेष हानि देखकर ऐसा भी किया जाता है परन्तु आत्म हितको गौण कहीं नहीं समझा जाता है । विष्णुकुमारने अगत्या ऐसा किया तथापि उन्होंने शीघ्र ही प्रायश्चित लेध स्वपदका ग्रहण कर लिया । आनन्द तो आत्म कल्याण परोपकारको ही लोगोंने समझ रक्ता

है, जो देशोद्वारादिक कार्य वर्तमानमें दीप्त रहे हैं वे यद्यपि निःस्वार्थ-परोपकारार्थ हैं और उस परोपकारका श्रेय भी उन्हें अवश्य मिलेगा। परन्तु ऐसे परोपकारमें स्वोपकार (पारमार्थिक) की गन्ध भी नहीं है। देशोद्वारादि कार्यकारियोंमें स्वधर्म शैथिल्य एवं चारित्र्य होना प्रायः देखी जाती है। यदि उनमें यह बात न हो तो अवश्य ही उनका वह परोपकार पूर्ण स्वोपकारमें सहायक है।

कथनका संक्षेप—

उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्र सुस्थितीकरणं गुणः ।

निर्जरायां गुणश्रेणौ प्रसिद्धः सुदृगात्मनः ॥ ८०६ ॥

अर्थ—गुणस्थितिकरण गुणका स्वरूप थोड़ासा यहां पर कहा गया है। यह गुण सम्यग्दृष्टिके उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जराके लिये प्रसिद्ध है।

वात्सल्य जगदा विवचन—

वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्विभ्येदमसु ।

संघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्यं सुभृत्पवत् ॥ ८०७ ॥

अर्थ—सिद्धपरमेष्ठी, अर्हद्विम्ब, जिन मन्दिर, चतुर्विध संघ ( मुनि, आर्यिक, धारक, धारिका ) और शास्त्रमें, स्वामिकार्यमें योग्य सेवककी तरह दासत्व भाव रखना ही वात्सल्य है।

अर्थादन्यतमस्पोषैरुद्दिष्टेषु स दृष्टिमान् ।

सस्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदल्पमे ॥ ८०८ ॥

अर्थ—अर्थात् ऊपर जो सिद्धपरमेष्ठी आदि पूज्य वतगये हैं उनमेंसे किसी भी एक र घोर उपसर्ग होने पर उसके दूर करनेके लिये सम्यग्दृष्टि प्रत्यक्षो सहायनरहना चाहिये।

पदा नद्यात्मसामर्थ्यं पावन्मन्त्रासिकोशरम् ।

तावद्दृष्टं च श्रोतुं च तद्वाधां सहते न सः ॥ ८०९ ॥

अर्थ—अपवाद जब तक अपनी सामर्थ्य है और जब तक मन्त्र, अमि तत्परायण मोर) और बहुतसा द्रव्य ( सज्जना ) है तब तक वह सम्यग्दृष्टि प्रत्यक्ष उन पर आठें हुई किसी प्रकारकी बाधाको न तो देख ही सकता है और न सुन ही सकता है। धारार्थ—अनेक रूपनम देवों पर अपवाद देवाचार्यों पर अवस्था मुनि, आर्यिक, धारक धारिकाओं पर यदि किसी प्रकारकी बाधा आवे तो उस बाधाको जिन प्रकार हो सके उस प्रकार उसे दूर करनेका योग्य है। अपनी सामर्थ्यसे, मंत्र शक्तिसे, द्रव्य बलसे, आज्ञासे, कैयबलसे हर तरहसे दुःख बाधाको दूर करना चाहिये। यही सम्यग्दृष्टिकी आन्तरंगिक शक्ति है। मन्त्रासिक भी बहुत बड़ी शक्ति है, बड़े ९ कार्य मन्त्र दायिने निद्व हो जाते हैं। जो लोग मन्त्रों की सत्यता नहीं जानते हैं वे ही मन्त्रों पर विश्वास नहीं करते हैं, परन्तु सम्यग्दृष्टिके विनाश ॥ अद्वय



अर्थ—पहले अंगोंकी तरह प्रभावना अंग भी स्वप्ना और पाप्माके भेदमें दो प्रकार है । उन दोनोंमें पहला सर्वोत्तम है और उत्तम है । इसके पीछे दूसरा भी प्र.प है ।

उत्तर—

उत्कर्षां यदलाधिक्यादधिकीकरणं वृत्तं ।

अस्तत्तु प्रत्यनीकेषु नालं दोषाय मत्कथितम् ॥ ८१६ ॥

अर्थ—विपरीत न होने पर वृत्त पूर्वक धर्ममें वृद्धि करना, इसीका नाम उत्कर्ष है । प्रभावना अंग दोषोत्पादक कभी नहीं हो सकती है ।

अवनी प्रभावना—

मोहारातिक्षतेः शुद्धः शुद्धाशुद्धनरस्वतः ।

जीवः शुद्धतमः कश्चिदस्ति तस्यात्मप्रभायना ॥ ८१७ ॥

अर्थ—मोहलुपी शत्रुका नाश होनासे जो शुद्ध हो जाता है, वही शुद्धतम भी अधिक शुद्ध हो जाता है और कोई उत्तम भी अधिक शुद्ध हो जाता है इसका नाम प्रभावना है ।

इस वृद्धिमें दोष का नाम नहीं है—

मेदं स्वात्पर्ययायस्तं किन्तु नूनं स्वभावतः ।

ऊर्ध्वमूर्ध्वगुणधेर्णा यतः सिद्धिर्यथोत्तरम् ॥ ८१८ ॥

अर्थ—इस प्रकारका उत्कर्ष करना पौरुषके अर्थात् नहीं है किन्तु स्वभावतः ही होता है । और उत्तरोत्तर धर्मोंके अर्थमें अत्यन्त गुणा निर्मा होनेसे उत्तम सिद्ध होता है ।

वृत्त प्रभावना ।

बाह्यः प्रभावनाङ्गांस्ति विद्यामन्त्रादिनिर्बलं ।

तपोदानादिनिर्जन्मधर्मोत्कर्षां विधीयमानम् ॥ ८१९ ॥

अर्थ—बाह्यके वृत्तों, मन्त्रादिके वृत्तों, तपो दानादि उत्तम धर्मोंके अर्थमें उत्कर्ष (आविर्भाव) कहना चाहिये इसीको वृत्त प्रभावना कहते हैं ।

अर्थ—

परेशमपकर्षाय सिध्यात्प्राप्तकर्षदातिवाच्य ।

चमरकारको किञ्चित्प्रिये महात्मनिः ॥ ८२० ॥

अर्थ—जो लोग सिध्या विद्याके अभावमें होते हुए हैं ऐसे दुर्भागोंके वृत्तोंके अर्थमें अर्थात् उत्तम होना प्रत्यक्ष कर्षके अर्थमें परेशमको कुछ अर्थमें वृत्त प्रभावना कहते हैं ।

उक्तः प्रभावनाङ्गोऽपि गुणः सदृशानान्वितः ।

येन सम्पूर्णतां याति दर्शनस्य गुणाष्टकम् ॥ ८२१ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनसे विशिष्ट प्रभावना अंग भी गुण है । उसका कथन हो चुका । इसी प्रभावना अंगके कारण सम्यग्दर्शनके आठ गुण संपूर्ण हो जाते हैं, अर्थात् आठवां गुण प्रभावना है ।

इत्यादयो गुणाश्चान्ये विद्यन्ते सदृहात्मनः ।

अलं चिन्तनया तेषामुच्यते यद्विवक्षितम् ॥ ८२२ ॥

अर्थ—इन आठ गुणोंके सिवा और भी सम्यग्दृष्टीके गुण हैं उनका यहाँ पर विचार नहीं किया जाता है । किन्तु जो विवक्षित है वही कहा जाता है ।

प्रकृतं तद्यथास्ति स्यं स्वरूपं चेतनात्मनः ।

सा त्रिधात्राप्युपादेया सदृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥ ८२३ ॥

अर्थ—प्रकृत यही है कि आत्माका निगस्वरूप चेतना है । वह चेतना तीन है—कर्म चेतना, कर्मफल चेतना और ज्ञान चेतना । इन तीनोंमें ज्ञान चेतना ही सम्यग्दर्शन के उपादेय है, बाकी दोनों त्याग्य हैं ।

श्रद्धानादि गुणाश्चेते बाह्योल्लेखच्छलादिह ।

अर्थात्सदृशनस्यैकं लक्षणं ज्ञानचेतना ॥ ८२४ ॥

अर्थ—श्रद्धानादि जो सम्यग्दृष्टिके गुण हैं वे सब बाह्य कथनके उपादेय अर्थात् सम्यग्दृष्टि का तो केवल एक ज्ञानचेतना ही लक्षण है ।

किन्हीं नावमस्य पुरुषोंका कथन—

ननु रुदिरिहाप्यस्ति योगादा लोकतोऽथवा ।

तत्सम्यक्त्वं विधाप्यर्थनिश्चयादव्यवहारतः ॥ ८२५ ॥

ध्यावहारिकसम्यक्त्वं सारागं सचिकल्पकम् ।

निश्चयं वातरागं तु सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ॥ ८२६ ॥

इत्यस्ति वामनोन्मेषः केषाश्चिन्मोहशालिनाम् ।

नन्मेषं वातरागस्य सदृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥ ८२७ ॥

नैः सम्यक्त्वं विधा कृत्वा स्वामिभेदो विधा कृतः ।

एकः कश्चित् मरागोस्ति वातरागश्च कथन ॥ ८२८ ॥

तत्रास्ति वातरागस्य कस्यचिज्ज्ञानचेतना ।

सदृष्टेर्निर्विकल्पस्य नैरस्य कदाचन ॥ ८२९ ॥



सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतनाका अभव बतालाया है वह वीतगम सम्यग्दृष्टिके ही ज्ञानचेतना बताता है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है सराग सम्यग्दृष्टिके भी ज्ञानचेतना होती है। इस लिये सराग सम्यग्दृष्टिसे ज्ञानचेतनाको व्युत्कर्ष करना ऐसा ही है जैसे कि अग्निसे उसके गुणको दूर करना ।

अब सम्यग्दृष्टिके सराग और सविस्मयक विशेषणोंका आशय प्रकट किया जाता है जिससे कि सराग-सविस्मयक सम्यग्दृष्टिके ज्ञान चेतना होनमें किसी प्रकारका सन्देह न रहे—

**विकल्पो योगसंक्रान्तिरर्थाऽऽज्ञानस्य पर्यायः ।**

**ज्ञेयाकारः स ज्ञेयार्थात् ज्ञेयार्थान्तरसङ्गतः ॥ ८३५ ॥**

अर्थ—उपयोगके बदलनेको विकल्प कहतें हैं। वह विकल्प ज्ञानकी पर्याय है अथवा ज्ञेयाकार ज्ञान ही उस ज्ञेयरूप पदार्थसे हटकर दूसरे पदार्थके आकारको धारण करने लगा है। भावार्थ—आत्माका ज्ञानोपयोग एक पदार्थसे हटकर दूसरी तरफ लगना है इसीका नाम उपयोग संक्रान्ति है। और इसी उपयोगका नाम विकल्प है।

वह विस्मय क्षयोपशमरूपा है—

**क्षायोपशमिकं तत्स्यादर्थादक्षार्थसम्भवम् ।**

**क्षायिकात्यक्षज्ञानस्य संक्रान्तेरप्यसंभवात् ॥ ८३६ ॥**

अर्थ—वह उपयोग संक्रान्ति स्वरूप विकल्प क्षायोपशमात्मक है। अर्थात् इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धसे होनेवाला ज्ञान है। क्योंकि अतीन्द्रिय-क्षायिक ज्ञानमें संक्रान्तिका होना असंभव है। भावार्थ—जब तक ज्ञानमें अल्पज्ञता है तब तक वह सब पदार्थोंको ग्रहण कर सकता है किन्तु क्रम क्रमसे कभी किसी पदार्थको और कभी किसी पदार्थको ग्रहण करता है। यह अवस्था इन्द्रिय जन्य ज्ञानमें ही होती है। जो ज्ञान क्षायिक है—अतीन्द्रिय ज्ञानमें सम्पूर्ण पदार्थ एक साथ ही प्रतिबिम्बित होते हैं इसलिये उस ज्ञानमें उपयोगका वर्तन नहीं होता है। परन्तु वह ज्ञान भी सविस्मयक है।

कश्चित् कोई कहे कि वह ज्ञान (क्षायिक) कैसे हो सकता है क्योंकि विस्मय नाम संक्रान्तिको संक्रान्तिकार है और क्षायिक ज्ञानमें संक्रान्ति होती नहीं है, फिर क्षायिक ज्ञान सविस्मयक किस प्रकार हो सकता है ? इसका समाधान—

**अस्ति क्षायिकज्ञानस्य विकल्पत्वं स्वलक्षणात् ।**

**नार्थादर्थान्तराकारयोगसंक्रान्तिलक्षणात् ॥ ८३७ ॥**

अर्थ—क्षायिक ज्ञानमें विकल्पना अपने लक्षणसे आता है न कि अर्थसे अर्थान्तराकार योग होनेवाले उपयोगके संक्रमण रूप लक्षणसे।



वह लक्षण इस प्रकार है—

**तत्त्वज्ञानं स्वापूर्वार्थविशेषग्रहणात्मकम् ।**

**एकोऽर्थे ग्रहणं तत्स्पादाकारः सविकल्पता ॥ ८३८ ॥**

अर्थ—साधितज्ञानका लक्षण इस प्रकार है—स्व-आत्मा और अतुल्य पदार्थको विशेष रीतिसे ग्रहण करना । यहां पर अर्थ नाम पदार्थका है और ग्रहण नाम आकारका है । स्व और पदार्थके ज्ञानका ज्ञेयाकार होता ही ज्ञानमें सविकल्पता है । भावार्थ—जो ज्ञान अपने आपको जानता है साथ ही पर पदार्थोंको जानता है परन्तु उपयोगसे उपयोगात्मा नहीं होता है उसीको साधित ज्ञान कहते हैं । यद्यपि साधित ज्ञानमें भी पदार्थोंके परिवर्तनकी अपेक्षामें परिवर्तन होता रहता है तथापि उसमें वस्तुस्थिति ज्ञानकी तरह कभी किसी पदार्थका और कभी किसी पदार्थका ग्रहण नहीं है । साधित ज्ञान सभी पदार्थोंको एक साथ ही जानता है इसी लिये उसमें उपयोग संक्रान्तिरूप लक्षण घटित नहीं होता है परन्तु ज्ञेयाकार होनेसे वह सविकल्प अवश्य है ।

ऐसे अविकल्पका सारा ज्ञानमें ग्रहण नहीं है—

**विकल्पः सोधिकारस्मिन्नाधिकारी मनागपि ।**

**योगसंक्रान्तिरूपो यो विकल्पोपिकृताऽभुना ॥ ८३९ ॥**

अर्थ—जो विकल्प साधित ज्ञानमें घटित किया गया है वह विकल्प इस अधिकारमें कुछ भी अधिकारी नहीं है । यहां पर तो उपयोगके पञ्चमे रूप विकल्पका ही अधिकार है ।

ऐसे विकल्पका अधिकार क्या है ?—

**नेन्द्रियं तु पुनर्ज्ञानं न संक्रान्तिमृते कचित् ।**

**यतोऽप्यस्य क्षणं यावदर्थार्थान्तरे गतिः ॥ ८४० ॥**

अर्थ—यहां पर इन्द्रियजन्य ज्ञानका अधिकार है और इन्द्रियजन्य ज्ञान बिना संक्रान्तिके कभी होता ही नहीं है । क्योंकि उसके प्रतिक्षण भ्रमे अर्थान्तरमे गति होती रहती है । भावार्थ—यहां पर विचार यह था कि सारा सम्यक्त्व सविकल्प है उसमें ज्ञानवेचना नहीं होती है किन्तु बीतराग सम्यक्त्वमें ही यह होती है । भावार्थ करने हैं कि उपरुक्त कथन ठीक नहीं है, सविकल्प सम्यक्त्वमें भी ज्ञानवेचना होती है उसके होनेमें कुछ कसर नहीं है । यदि कहा जाय कि सारा सम्यक्त्व सविकल्प है इसलिये उसमें ज्ञानवेचना नहीं होती है इसके उत्तरमें भावार्थका करना है कि विकल्प नाम ज्ञानोपयोगके पञ्चमे रूप है । ज्ञानोपयोग पञ्चमे पञ्चमा यह उक्त स्पष्ट है । अतएव यह उपयोग कभी विकल्पानुसार ही उत्पन्न है और कभी यह वाय पदार्थोंको भी जानता है । परन्तु यह ज्ञानवेचनासे किसे ज्ञानवेचना नहीं होमाता है । सारा सम्यक्त्वके ज्ञानोपयोगके पञ्चमे रूप को ज्ञानवेचना कहते हैं ।



यह क्रमवर्तीन परछेकाठा नही है—

नात्र हेतुः परं साध्ये क्रमत्वेऽर्थान्तराकृतिः ।

किन्तु तत्रैव चैकार्थं पुनर्नृत्तिरपि क्रमात् ॥ ८४२ ॥

अर्थ—इस ध्यानरूप ज्ञानमें जो क्रमवर्तीपना है उसमें अर्थमें अर्थान्तर होता है ही नहीं है किन्तु एक पदार्थमें ही क्रमसे पुनः पुनर्नृत्ति होती रहती है ।

धारार्थ—निम्न प्रकार इन्द्रियजन्य ज्ञानमें अर्थमें अर्थान्तररूप क्रमवृत्ति बन गई है उसप्रकार ध्यानरूप ज्ञानमें क्रमवृत्ति नहीं है किन्तु वही एक ही पदार्थमें पुनः पुनर्नृत्ति है ।

अतिव्याप्ति दोष नहीं है—

नोक्तं तत्राप्यपि व्याप्तिः सायिकास्त्यक्षमंविदि ।

स्यात्परीणामपत्येपि पुनर्नृत्तिरसंभवात् ॥ ८४३ ॥

अर्थ—कदाचित् यह कहा जाय कि इस उक्त वक्ते हुए ध्यानरूप ज्ञानकी अतिव्याप्ति सायिक ज्ञानमें अतिव्याप्ति \* आती है क्योंकि सायिक ज्ञान भी अर्थमें अर्थान्तररूप प्रत्यक्ष नहीं करता है और ध्यानरूप ज्ञान भी अर्थमें अर्थान्तरका प्रत्यक्ष नहीं करता है इस निमित्त ध्यान रूप ज्ञानपर सायिक ज्ञानमें प्रत्यक्ष वशा जाया है / ऐसी आशय टोक नहीं है, क्योंकि सायिक ज्ञान यद्यपि परिणमनशील है तथापि उसमें पुनर्नृत्ति (बार बार अर्थमें पदार्थमें उत्पन्न होना) होना असंभव है धारार्थ—यद्यपि सामान्य दृष्टिसे ध्यान और सायिकाज्ञान दोनों ही वस्तु रहित हैं, अर्थमें अर्थान्तरका प्रत्यक्ष दोनोंमें ही नहीं है । तथापि दोनोंमें वही अन्तर है, ध्यान इन्द्रियजन्य ज्ञान है वह यद्यपि एक पदार्थमें ही ( एक वस्तुमें ) होता है तथापि उसीमें फिर फिर उपयोग लगाना पड़ता है । सायिक ज्ञान ऐसा नहीं है वह अर्थान्तर ही प्रतिक्रिया में उसमें उपयोगही पुनर्नृत्ति नहीं है वह सदा दुबारा अर्थमें पदार्थमें अर्थान्तर ही उपयोग रहता है, केवल पदार्थोंमें प्रति समय परिवर्तन होनेके कारण सायिक ज्ञानमें ही परिणमन होता रहता है । धान्तु सायिक ज्ञानमें अन्तर्गत है और पुनर्नृत्ति नहीं है इस विषे ध्यानरूप प्रत्यक्ष इसमें सर्वथा नहीं आया है ।

उक्त(पक्ष) का दूर उल्लेख ८४३ है—

पापच्छाद्यस्थजीवानामस्मिन् ज्ञानवशमुपपन्न ।

नियतक्रमपारिस्त्यात् सर्वं संक्रमणायाम्भव ॥ ८४७ ॥

\* जो वस्तु अर्थमें पदार्थमें अर्थों और वस्तुओं की वृत्ति अर्थान्तर ८४३ ॥ ८४७ ॥

अर्थ—उद्यत् जीवोंके चारों ही ज्ञान (मति, श्रुति, अवधि, मन.पर्ययः) नि-  
कमवर्ती हैं इसलिये चारों ही संक्रमण रूप हैं ।

**नाले दोषाय तच्छक्तिः सूक्तसंक्रान्तिलक्षणा ।**

**हेतोर्वैभाविकत्वेपि शक्तित्वाज्ज्ञानशक्तिवत् ॥ ८४८ ॥**

अर्थ—संक्रमण होनेसे ज्ञान शक्तिमें कोई दोष नहीं समझना चाहिये । यद्यपि  
विक हेतुसे उसमें विकार हुआ है तथापि वह आत्मीक शक्ति है जिस प्रकार शुद्ध  
आत्माकी शक्ति है । इसीप्रकार संक्रमणात्मक ज्ञान भी आत्माकी शक्ति है ।

आचार्य—

**ज्ञानसञ्चेतनायास्तु न स्यात्तद्विघ्नकारणम् ।**

**तत्पर्यायस्नदेवेति तद्विकल्पो न तद्विपुः ॥ ८४९ ॥**

अर्थ—वह संक्रान्ति ज्ञानचेतनामें विघ्न नहीं कर सकती है क्योंकि वह भी  
की ही पर्याय है । ज्ञानकी पर्याय ज्ञानरूप ही है । इसलिये विकल्प (संक्रमण ज्ञान)  
चेतनाका शत्रु नहीं है । भावार्थ—पहले यह कहा गया था कि व्यावहारिक सम्यग्दर्शनमें स  
स्पज्ञान रहता है, और उसका कारण कर्मोदय है । कर्मोदय हेतुसे व्यावहारिक सम्यग्दर्शन  
ज्ञान संक्रमणात्मक है । इसलिये उस विकल्पावस्थामें ज्ञानचेतना नहीं होसकती । ज्ञानचे  
तीतराग सम्यग्दर्शिके ही होती है । इसी बातका निराकरण करनेके लिये आचार्य कहते हैं  
विकल्पज्ञान ज्ञानचेतनामें बाधक नहीं होसकता । चारों ही ज्ञान क्षयोपशमात्मक हैं इस  
चारों ही संक्रमणात्मक हैं । संक्रमणात्मक होनेसे ज्ञानचेतनामें वे किसी प्रकार बाधक  
होने लगे हैं ।

उदाहरण—

**ननु चेति प्रतिज्ञा स्यादर्थादर्थान्तरे गतिः ।**

**आत्मनोऽन्यत्र तत्रास्ति ज्ञानसञ्चेतनान्तरम् ॥ ८५० ॥**

अर्थ—आपकी यह प्रतिज्ञा है कि संक्रान्तिके रहने हुए अर्थात् अर्थान्तरमें स  
होना है, नव ऐसी प्रतिज्ञा है तो क्या आत्मासे भिन्न पदार्थोंमें भी ज्ञान सञ्चेतनान्तर  
है ? भावार्थ—पढ़ते कहा गया है कि मति, श्रुति, अवधि और मन.पर्यय ये चारों ही  
संक्रमणात्मक हैं, मतिज्ञानमें ज्ञान चेतना भी आ गई इसलिये वह भी संक्रमणात्मक  
इसी नियममें कोई उद्यत् करना है कि ज्ञान चेतना शुद्धात्मानुभवको कहते हैं और संक्रमण  
ज्ञान चेतनामें मानने ही हो, तब क्या आत्माको पढ़ते ज्ञानकर ( आत्मानुभव करके ) स  
उद्यत् उद्यत् दूसरे पदार्थोंमें दूसरी ज्ञान चेतना होती है ! यदि होती है तो शुद्धात्मा



अर्थ—ज्ञानकी निरुपयोगात्मक चेतना कभी २ होती है। वह लब्धिका विनाशक समर्थ नहीं है। इसका कारण भी यही है कि उपयोगरूप ज्ञानचेतनाकी सन व्याप्ति है। भावार्थ—सम्यग्दर्शनका अविनाभावी जो मतिज्ञानावरण कर्मका विशेष क्षयोपशम है उसको लब्धि कहने हैं, और उस लब्धिके होनेपर आत्माकी तरफ उन्मुख (हृत्) हो आत्मानुभवन करना ही उपयोग है। लब्धि और उपयोगमें कार्य कारण भाव है। लब्धि होनेपर ही उपयोगात्मक ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। परन्तु यह नियम नहीं है कि लब्धि होनेपर उपयोग रूप ज्ञान हो ही हो। उपयोगात्मक ज्ञान अनित्य है। लब्धिरूप ज्ञान नित्य है। जिस समय पदार्थके जाननेके लिये आत्मा उद्यत होता है उसी समय उसके उत्पन्न आत्मक ज्ञान होता है। परन्तु लब्धिरूप ज्ञान बना ही रहता है। इसलिये उपयोग और लब्धि दोनोंमें विषमव्याप्ति है। जो व्याप्ति एक तरफसे होती है उसे विषमव्याप्ति कहते हैं। उपयोगके होनेपर लब्धि अवश्य होती है परन्तु लब्धिके होने पर उपयोगात्मक चेतना भी और नहीं भी हो, नियम नहीं है। जो व्याप्ति दोनों तरफसे होती है उसे समव्याप्ति कहते हैं जैसे ज्ञान और आत्मा। जहां ज्ञान है वहां आत्मा अवश्य है और जहां आत्मा है वहां ज्ञान अवश्य है। ऐसी उभयथा व्याप्ति लब्धि और उपयोगरूप ज्ञानचेतनामें नहीं है।

उक्तका सटीककरण—

अस्त्यत्र विषमव्याप्तिर्यावल्लब्ध्युपयोगयोः ।

लब्धिक्षतेरवश्यं स्यादुपयोगक्षतिर्यतः ॥ ८५५ ॥

अभावाच्चूपयोगस्य क्षतिर्लब्धेश्च वा न वा ।

\* यत्तदावरणस्यामा दशा व्याप्तिर्नचाशुना ॥ ८५६ ॥

अवश्यं सति सम्पक्त्वे तल्लब्ध्यावरणक्षतिः ।

न तत्क्षतिरसत्पत्र सिद्धमेतद्विनागमात् ॥ ८५७ ॥

अर्थ—लब्धि और उपयोगमें विषम व्याप्ति है। क्योंकि लब्धिका नाश होने पर उपयोगका नाश अवश्यभावी है। परन्तु उपयोगका नाश होनेपर लब्धिका नाश अवश्यभावी नहीं है। हो या न हो कुछ नियम नहीं है। सम्यग्दर्शनके साथ लब्ध्यावरणकर्मके क्षयोपशम की व्याप्ति है, उसके साथ उपयोगात्मक ज्ञानकी व्याप्ति नहीं है। व्याप्तिसे तात्पर्य यही समव्याप्तिकार है सम्यग्दर्शनके होनेपर लब्ध्यावरण कर्म (ज्ञानचेतनाको रोदनेवाला कर्म) का क्षयोपशम भी अवश्य होता है। सम्यग्दर्शनके अभावमें लब्ध्यावरण कर्मका क्षयोपशम भी

\* यहा पर आवरण शब्दका अर्थ आवरणका क्षयोपशम लेना चाहिये। नामके एवमेव होनेके कारण नमका प्रश्न कहीं २ किया जाना है।

होता है । यह बात निनामसे सिद्ध है । ×

विषय—

नूनं कर्मफले सद्यश्चेतना वाऽथ कर्मणि ।

स्यात्सर्वतः प्रमाणाद्वै प्रत्यक्षं चलच्चयतः ८५८ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वके अभावमें कर्म चेतना व कर्मफल चेतना होती है, और यह बात प्रमाण सिद्ध है । क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि मिथ्यादृष्टिके कर्मचेतना व कर्मफल

× बहुतसे लोग ऐसी टीका उठाया करते हैं कि कामज, वैशेष आदि पदार्थोंका ज्ञान जैसा सम्बन्धानीको होता है वैसा ही मिथ्याज्ञानीको होता है । फिर यथार्थ ज्ञान होने पर भी, मिथ्याज्ञानीमें मिथ्याज्ञानी क्यों कहा जाता है ? इस टीकाका यह समाधान है कि केवल लौकिक पदार्थोंको ज्ञाननेसे ॥ सम्बन्धानी नहीं होजाता है । यदि लौकिक पदार्थोंको ज्ञाननेसे ही सम्बन्धानी होजाता हो तो उस पश्चिमात्य-विज्ञान वेत्ताको जो कि अनेक सूक्ष्म आविष्कार कर रहा है और पदार्थोंकी प्रकृतियोंका परिचय कर रहा है सम्बन्धानी कहना चाहिये, परन्तु नहीं, वह भी मिथ्याज्ञानी ही । सम्बन्धानीका यही लक्षण है कि जिसकी आत्मामें दर्शन मोहनीय कर्मके ध्वज, उपद्रव अथवा उपोद्गमके साथ ही मतिज्ञानावरण कर्मका ध्योपद्रव 'लब्धि' होजुका हो । मतिज्ञानावरण कर्मका ध्योपद्रव यद्यपि सामान्य दृष्टिसे सबके ही होता है तथापि यह जुदा है । यह स्वानुभूत्यावरण कर्मका ध्योपद्रव कहलाता है । स्वानुभूति भी मतिज्ञानका ही भेद है । सम्बन्धानीके स्वानुभूति पक्षि प्रकट होजाती है वह यही उसके सम्बन्धानका चिह्न है । इसीसे बाह्य पदार्थोंमें अत्यन्त प्रवृत्ति करी पर घटित कृति होनेपर भी वह सम्बन्धानी ही कहा जाता है । सम्बन्धानीकी भी रस्तेमें अनेक, सीपमें बाड़ीका, रथानुमें पुरुषका भ्रम होता ही है परन्तु यह भ्रम बाह्यदृष्टिके दोषसे होता है । उसके सम्बन्धानमें वह दोष बाधक नहीं होसकता है । पशुओंकी भी सम्बन्धदर्शनके साथ वह लब्धि प्रकट होजाती है, इसी लिये वे पदार्थोंका बहुत कम (न कुछके बराबर) ज्ञान रखने पर भी सम्बन्धानी हैं । पशुओंकी जीवादि वस्तुओंका पूर्ण बोध भले ही न हो तथापि वे उस मिथ्याप्रवृत्तिके ॥ ज्ञाननेसे सम्बन्धानी हैं । सम्बन्धानीको यह विह्वल होना चाहिये ऐसा नियम नहीं है, केवल स्वानुभूतिके प्रकट होजानेसे ही सम्बन्धानी अलौकिक मुखका आरकादन करता है । अप्रत्यक्षोपद्रवी पदार्थोंका भ्रमान सम्बन्धानीको ही होसकता है वह भ्रमान बड़े २ आविष्कारोंको नहीं होसकता । भावकल बहुतसे मनुष्य हरएक पदार्थके विस्तारको सम्बन्धदर्शन कह देते हैं परन्तु ऐसा उनका कहना लोगोंको केवल भ्रममें डालनेवाला ही है । सिद्धान्त तो यहां तक बतलाता है कि बिना स्वानुभूतिके जो जीवादि वस्तुओंका भ्रमान है वह भी सम्भव नहीं है, यही कारण है कि द्रव्यविज्ञानी सगारमें ही रहते हैं, वे यद्यपि द्रव्य अंग तकके पावो होजाते हैं उन्हें जीवादि वस्तुओंकी भी भ्रमान है परन्तु स्वानुभूति स्पष्टिज उनको जमाव है इसी लिये वे मिथ्यादृष्टि ही हैं उनके यथार्थ मुखका स्वाद नहीं मिलता है । उन्मुख कथनका सादृश्य यही है कि जिनके स्वानुभूत्यावरण कर्मका ध्योपद्रव होजुका है वे ही सम्बन्धानी हैं । हाँ, स्वानुभूत्यावरण भ्रमान भी सम्भवमें कारण है ।

चेतना होती है । जो बात प्रत्यक्ष मित्र होती है वह भी प्रमाण मित्र होती है, जो प्रत्यक्ष सत्यमें सद्मान प्रमाण है ।

निष्कर्ष—

सिद्धमेतावतोक्तेन लब्धिर्या प्रोक्तलक्षणा ।

निरूपयोगरूपत्यानिर्धिरुल्पा स्वतोस्ति सा ॥ ८५९ ॥

अर्थ—उपयुक्त कथनका गही सांगश है कि जो ज्ञानचेतनासंगही स्यात्तत्त्व लब्धि है वह शुद्धात्मानुभवा रूप उपयोगके अभावमें निर्धिरुल्पा आत्मामें रहती है ।  
भावार्थ—जैसे दाढ़ पदार्थके अभावमें अग्निही दाहक शक्तिका व्यक्त परिणमन (अर्थ) कुछ भी दिखाई नहीं देता, वैसी ही आत्मा शुद्धात्मानुभवके अभावमें लब्धिरूप ज्ञानचेतना समझना चाहिये । ऊपर जो कहा गया है कि सम्यक्तत्त्वके रहने हुए उपयोगात्मक चेतना स्व होती है कभी नहीं होती किन्तु सम्यक्तत्त्वके रहने हुए लब्धिरूप चेतना मदा बना होती उसका सांगश यही है कि सम्यक्तत्त्वके सद्भावमें स्यात्मानुभवा रूप उपयोगात्मक ज्ञान हो अतः न हो परन्तु लब्धिरूप ज्ञान अदृश्य रहता है, हां इतना अदृश्य है कि उपयोगके अभावमें वह लब्धिरूप ज्ञान निर्विकल्पक अवस्थामें रहता है, उस समय कार्य परिणम नहीं है ।

शुद्धस्यात्मोपयोगो यः स्वयं स्यात् ज्ञानचेतना ।

निर्धिरुल्पाः स एवार्थादर्थासंक्रान्तसङ्गतेः ॥ ८६० ॥

अर्थ—शुद्धात्मानुभव रूप जो उपयोगात्मक ज्ञानचेतना है वह भी वास्तवमें निर्धिरुल्पा ही है, क्योंकि जितनेकाल तक शुद्धात्मानुभव होता रहता है उतने काल तक ही उपयोगात्मक ज्ञान न रहता ।

भावार्थ—यहां पर यह शंका हो सकती है कि पहले ज्ञान चेतनाको संक्रमणात्मक कहा गया है और यहां पर उसीको असंक्रमणात्मक वा निर्विकल्पक कहा गया है, तो क्यों ! इस उत्तरमें यह समझना चाहिये कि वहां पर दूसरे पदार्थोंसे हटकर शुद्धात्मा में लब्धिकी अंश ज्ञान चेतनाको संक्रमणात्मक कहा गया है और यहां पर ज्ञान चेतनारूप उपयोगके अस्तित्व कालमें शुद्धात्मासे हटकर पदार्थान्तरमें ज्ञानका परिणमन न होनेकी अपेक्षासे उसे असंक्रमणात्मक (निर्विकल्पक) कहा गया है ।

अस्ति प्रश्नावकाशस्य लेशमात्रोत्र केवलम् ।

यत्कश्चिद्वहिरर्थं स्यादुपयोगोन्यत्रात्मनः ॥ ८६१ ॥

अर्थ—यहां पर इस प्रश्नके लिये फिर भी लेश मात्र अवकाश रह जाता है कि ज्ञान चेतनामें शुद्धात्माको छोड़कर अन्य पदार्थ विषय पड़ते ही नहीं, तब केवलज्ञाननिर्धिरुल्पा



ज्ञान चेतना है या नहीं, यदि है तो उसमें अन्य पदार्थ क्यों विषय पड़ते हैं, यदि नहीं है तो केवलियोंके कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतनाकी असंभावनामें कौनसी चेतना बहनी चाहिये ? इस प्रश्नके उत्तरमें यही समझना चाहिये कि केवलज्ञानियोंके ज्ञानचेतना ही होती है और उसमें शुद्धात्मा विषय रहते हुए ही अन्य सरूत पदार्थ विषय पड़ते हैं । शुद्धात्माको छोड़ कर केवल अन्य पदार्थ विषय नहीं पड़ते हैं । भावार्थ—किसी ज्ञान चेतनामें केवल शुद्धात्मा विषय पड़ता है और किसीमें शुद्धात्मा तथा अन्य पदार्थ दोनों ही विषय पड़ते हैं किन्तु ऐसी कोई भी उपयोगात्मक ज्ञान चेतना नहीं है कि जिसमें शुद्धात्मा विषय न पड़ता हो, भयवा केवल अन्य पदार्थ ही विषय पड़ते हों । अन्य पदार्थोंके निषेध करनेका भी हमारा यही प्रयोजन है कि शुद्धात्माको छोड़कर केवल अन्य पदार्थ ज्ञान चेतनामें विषय नहीं पड़ते हैं । यहापर यह शंका उठाई जा सकती है कि जब ज्ञान चेतनामें अन्य पदार्थ भी विषय पड़ते हैं तब उसमें संतम्रणका होना भी आवश्यक है । और ऊपर ज्ञान चेतनामें संतम्रणका निषेध किया गया है, तो क्यों ? इसका उत्तर यह है कि जिस ज्ञान चेतनामें अन्य पदार्थ भी विषय पड़ते हैं वे उस ज्ञान चेतनाके अस्तित्व कालमें आदिसे अन्ततक बराबर विषय रहते हैं । केवलज्ञानमें आदिसे ही शुद्धात्मा तथा अन्य पदार्थ विषय पड़ते हैं और अन्तकाल तक निरन्तर बने रहते हैं, ऐसा नहीं है कि केवलज्ञानमें उत्पत्ति कालमें केवल शुद्धात्मा ही विषय पड़ना हो, पीछे विषय बदलने जाते हों, किन्तु आदिसे ही सर्व विषय उसमें मिलते हैं, और बराबर मिलते रहने हैं, इसी अपेक्षासे ज्ञान चेतनामें अन्य पदार्थोंके विषय रहते हुए भी संतम्रणका निषेध किया गया है ।

ज्ञानोपयोगकी महिमा—

अस्ति ज्ञानोपयोगस्य स्वभावमहिमोदयः ॥

आत्मपरोभयाकारभावरूपश्च प्रदीपयत् ॥ ८६२ ॥

अर्थ—ज्ञानोपयोगकी यह स्वाभाविक महिमा है कि वह अपना प्रकाशक है, परका प्रकाशक है और स्व-पर दोनोंका प्रकाशक है । जिस प्रकार दीपक अपना और दूसरे पदार्थोंका प्रकाशक है उसी प्रकार ज्ञान भी अपना और दूसरे पदार्थोंका प्रकाशक है यह ज्ञानोपयोगकी स्वाभाविक महिमा है ।

उपेक्षा मुख्यता—

निर्दिशोपायधात्मानमिव ज्ञेयमयति च ।

तथा मूर्तानिमूर्ताश्च धर्मादीनयनच्छति ॥ ८६३ ॥

अर्थ—ज्ञान सामान्य रीतिसे जिस प्रकार अपने स्वरूपमें जानता है उसी प्रकार ज्ञेय पदार्थोंको भी वह जानता है तथा ज्ञेय पदार्थोंमें मूर्त पदार्थोंको और अमूर्त धर्मद्रव्य, अव्यय आदि पदार्थोंको वह जानता है ।

इतः और दोनों उपयोग का नही है—

गुणदोषद्वयोरपि नोपयोगोऽस्ति कारणम् ।

हेतुनान्यतरस्यापि योगवादी च नाप्यगम् ॥ ८७३ ॥

अर्थ—इस प्रकार ऊपर रहे हुए गुण और दोषोंमें उपयोग (ज्ञानोत्पत्ति) नहीं है, और न वह उन दोनोंमेंमें किसी एकमें हेतु ही है। तथा यह उत्पत्ति सहकारी भी नहीं है। भावार्थ—कारण, हेतु, सहकारी इन तीनोंमें बिना २ अंगों करनेवालेको कारण कहने हैं, जैसे धूमकी उत्पत्तिमें अग्नि कारण है, जो उत्पत्ति किन्तु साधक हो उसे हेतु करने हैं, जैसे पर्वतमें अग्नि मिट्टी करने मन्त्र पूरा उत्पत्ति होता है। सहायता पहुंचानेवालेको सहकारी कहने हैं, जैसे घर बनाने मन्त्र कुंभकार दण्ड सहकारी है। उपयोग गुण दोषोंके लिये न तो कारण है न हेतु है और न सहकारी है।

सम्यक्त्वकी उत्पत्ति का कारण—

सम्यक्त्वं जीवभावः स्यादस्तादृशमोहकर्मणः ।

अस्ति तेनाविनाभूतं व्याप्तेः सञ्जायतस्तयोः ॥ ८७४ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होनेसे सम्यक् जीवका गुण प्रकट होता है। दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमके सम्यक्त्वका अविनाभाव है। इन्हीं दोनोंमें व्याप्ति पटित होती है।

दैवादस्तं गते तत्र सम्यक्त्वं स्यादनन्तरम् ।

\* दैवान्नास्तंगते तत्र न स्यात्सम्यक्त्वमज्ञसा ॥ ८७५ ॥

अर्थ—दैवशा (काल लब्धि आदिक निमित्त मिलने पर) उस दर्शनमोहनीय उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर आत्मानें सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है, और (प्रतिकूलतामें) उस दर्शन मोहनीयके अस्त नहीं होने पर अर्थात् उदित रहने पर लब्धि नहीं होता है। भावार्थ—दर्शन मोहनीय कर्मका उदय सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें बाधक है उसका अनुदय सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें साधक है।

सार्धं तेनोपयोगेन न स्याद् व्यभिर्द्वयोरपि ।

विना तेनापि सम्यक्त्वं तदस्ते सति स्याद्यतः ॥ ८७६ ॥

अर्थ—उस ज्ञानोपयोगके साथ दर्शन मोहमात्र और सम्यक्त्वको व्याप्ति नहीं

\* "दैवान्नास्तंगते तत्र न स्यात्सम्यक्त्वमज्ञसा" यह पाठ मूल पुस्तकका है। इसका अर्थ यह है कि उपयोग दर्शनमोहनीयके उदय और अनुदयमें हेतु नहीं है, सहकारी भी नहीं है। परन्तु इस बातका कथन नीचेके श्लोकमें आया है तथा दो प्रकार भी उद्धृते हैं। लिये संशोधित पठ ॥ ठीक पतीत होता है।

क्योंकि बिना उपयोग (शुद्धोपयोग) के भी दर्शन मोहनीय कर्मके अनुदय होने पर सम्भव होता ही है। इसलिये दर्शनमोहाभाव और सम्प्रत्यक्षकी व्याप्ति है, उपयोगके साथ इनकी व्याप्ति नहीं है।

उपयोगके साथ निर्जरादिकी भी व्याप्ति नहीं है—

**सम्प्रत्यक्षत्वेनाविनाभूता येषि ते निर्जरादयः ।**

**समे तेनोपयोगेन न व्याप्तास्ते मनागपि ॥ ८३८ ॥**

अर्थ—सम्प्रत्यक्षदर्शनके साथ अविनाभावसे रहने वाले जो निर्जरा, मय आदिक गुण हैं वे भी उन उपयोगके साथ व्याप्ति नहीं रखते हैं, अर्थात् निर्जरा आदिक भी उपयोग वशसे नहीं हैं।

सम्प्रत्यक्ष और निर्जरादिकी व्याप्ति—

**सत्प्रत्य निर्जरादीनामपश्यन्भावलक्षणम् ।**

**सङ्गायोस्ति नासङ्गायो यस्यासा मोपयोगि सन् ॥ ८३९ ॥**

वार्थ—सांख्यदर्शनके होने पर निर्जरा आदिक अपश्य ही होता है। सम्प्रत्यक्षदर्शनके उत्पत्तिमें निर्जरादिक अभाव नहीं हो सकता है। यान्त्रिक उन मय गुण उपयोगके होने अथवा न हो कुछ नियम नहीं है। अर्थात् शुद्धोपयोग हो या न हो निर्जरादि सम्प्रत्यक्ष अविनाभावी हैं। उनमें उपयोग कारण नहीं है।

इतीका उपलक्षणम्—

**आत्मन्येवोपयोग्यस्तु ज्ञानं वा स्यात्परात्मनि ।**

**सस्तु सम्प्रत्यक्षभावेण सन्ति ते निर्जरादयः ॥ ८४० ॥**

अर्थ—ज्ञान चाहे स्वात्मानमें ही उपयुक्त हो चाहे वह परमात्मा में उपयुक्त हो, सम्प्रत्यक्षरूप भावोंके होनेपर ही निर्जरादि होते हैं। आचार्य—उपयुक्त हो जाने में जो कुछ कहा गया है उसका तार यही है कि ज्ञान चाहे निर्जरादि गुणोंके होने में उपयुक्त हो चाहे पर पदार्थोंमें भी उपयुक्त हो वह गुण दोषोंके कारण नहीं है। उनमें दोषोंमें गुणोंका कथन किया गया है। निर्जरादि गुणोंके होनेके सम्प्रत्यक्ष कारण वही कारण है स्वात्मीयता वशसे नहीं है।

इति उपलक्षणम् ॥ ८४० ॥

**परतुल्यः भेषतो बन्धो बन्धव्याऽभेषतोऽपि वा ।**

**रागाद्या भेषतो मोहात् स राजा स्यादभेषतोऽप्यस्ता ॥ ८४१ ॥**

अर्थ—जिस प्रकार निर्जरादि गुणोंमें उपयोग कारण नहीं है। उक्त ८३८-८३९ के और पारस्परिक भी वह कारण नहीं है। उपयोगके और पारस्परिक गुणोंमें उपयोग होने के, उपयोगकी वशसे नहीं है।





नहीं है नित प्रचार कि आकाशके पुष्प कोई पदार्थ नहीं है। इसलिये विकल्प शब्द वाच्य न होनेसे उसे आश्रयासिद्ध ही कहना चाहिये, और नत्र विकल्प कोई पदार्थ तत्र ज्ञानको सन्निकल्प कहनेमें सर्वज्ञागम प्रसिद्ध न्या हेतु हो सकता है, अर्थात् नहीं होसकता ।

उत्तर—

सत्यं विकल्पसर्वस्वसारं ज्ञानं स्वलक्षणात् ।

सम्यक्त्वे यद्विकल्पत्वं न तद्विसृज्य परीक्षणात् ॥ ९०५ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि ज्ञान अपने लक्षणसे विकल्पात्मक कहा जाता है सम्यक्त्वमें जो विकल्पका व्यवहार होता है वह परीक्षासे सिद्ध नहीं होता। भावार्थ—तथा सम्यक्त्वमें जो विकल्पका व्यवहार होता है वह व्योम पुष्पवत् नहीं है किन्तु उ है इसी बातको नीचे दिखाते हैं—

युत्पुनः कैश्चिदुक्तं स्यात् स्थूललक्ष्योन्मुखैरिह ।

अत्रोपचारहेतुर्यस्तं श्रुवे किल साम्प्रतम् ॥ ९०६ ॥

अर्थ—जिन लोगोंने स्थूल दृष्टि रख कर सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनको स बता लाया है उन्होंने उपचारसे ही बतलाया है। वास्तवमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान स नहीं हैं। उपचारका भी क्या कारण है ? उसे ही अब बतलाने हैं ।—

क्षायोपशमिकं ज्ञानं प्रत्यर्थ परिणामि यत् ।

तत्स्वरूपं न ज्ञानस्य किन्तु रागक्रियास्ति वै ॥ ९०७ ॥

अर्थ—क्षायोपशमिक ज्ञान जो हर एक पदार्थको क्रम क्रमसे जानता है वह स्वस्वरूप नहीं है किन्तु राग क्रिया है, और यही राग उपचारका हेतु है।

राग क्रिया क्या है उसे ही बतलाते हैं—

प्रत्यर्थ परिणामित्वमर्थानामेतदस्ति यत् ।

अर्थमर्थ परिज्ञानं मुह्यद्रज्यद्विषयथा ॥ ९०८ ॥

अर्थ—पदार्थोंमें प्रत्येक पदार्थका परिणमन होता है, उस परिणमनमें ज्ञान पदार्थके प्रति मोह करना है, राग करना है, द्वेष करना है। भावार्थ—पदार्थोंमें इष्टानिष्ट होनेसे किम्बोमें मोह रूप परिणाम होने हैं, किम्बोमें रागरूप परिणाम होने हैं और द्वेषरूप परिणाम होने हैं ।

९०५ कावच सम्यक्त्वो अशेषं यद्विज्ञा नत्र ही उपका भाव्य होसकता है कि ९०६ कावच ही नहीं है अतएव आश्रयानिष्ट होन जाय है ।

अर्थ—स्फुट पदार्थों को उद्यम करनेवाले जिन प्रतिद्वन्द्व पुरुषों ने केवल रागरूप हेतुसे कहा है। उनका कहना है कि प्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त सम्यक्त्व और ज्ञान दोनों ही स्वरूप हैं।

ततस्तुर्ध्वं तु सम्यक्त्वं ज्ञानं वा निर्विकल्पकम् ।

शुद्धध्यानं तदेवास्ति तच्चास्ति ज्ञानचेतना ॥ ९१५ ॥

अर्थ—प्रमत्तगुणस्थानसे ऊपर सम्यक्त्व और ज्ञान दोनों ही निर्विकल्पक होते हैं। वही शुद्धध्यान कहा जाता है, और उसी अवस्थामें ज्ञानचेतना होती है।

प्रमत्तानां विकल्पत्याप्त स्यात्सा शुद्धचेतना ।

अस्तीति चासनोन्मेष केपाश्चित्स न सन्निह ॥ ९१६ ॥

अर्थ—“प्रमत्त जीवोंको विद्वत्सात्मक होनेसे उनके शुद्ध चेतना नहीं हो सकती है।” किन्हीं किन्हीं पुरुषोंके इस प्रस्नरकी वातना छणी हुई है, वह ठीक नहीं है। भावार्थ—जो लोग ऐसा कहते हैं कि प्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त बुद्धिपूर्वक राग होता है। इसलिये वहाँ तक ज्ञान और सम्यक्त्व दोनों ही सविरह्य हैं। सविरह्य अवस्थामें ज्ञानचेतना भी नहीं होती है अर्थात् छत्रे गुणस्थानसे ऊपर ही ज्ञानचेतना होती है नीचे नहीं। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहनेवाले यथार्थ वस्तुके विचारक नहीं हैं, क्यों नहीं है सो नीचे बतलाते हैं।

यतः पराश्रितो दोषो गुणो वा नाश्रयेत्परम् ।

परो वा नाश्रयेदोषं गुणाश्चापि पराश्रितम् ॥ ९१७ ॥

अर्थ—नयोंकि दूसरेके आश्रयसे होनेवाला गुण दोष दूसरेके आश्रय नहीं हो सका इसी प्रकार दूसरा भी दूसरेके आश्रयसे होनेवाले गुण दोषोंको अपने आश्रित बना सकता है। भावार्थ—जिस आश्रयसे जो दोष अथवा गुण होता है वह दोष अथवा उसी आश्रयसे होता है अन्य किसी दूसरे आश्रयसे नहीं होसका ऐसा सिद्धान्त स्थिर पर भी जो पराश्रित गुणदोषोंको अन्याश्रित बनलाते हैं वे वास्तवमें नहीं भूल करते हैं। राग विष कारणसे होता है।

पाकाचारित्र्यमोहस्य रागोऽस्त्यौदयिकः स्फुटम् ।

सम्यक्त्वे स कुतोऽन्यायाज्ज्ञाने वाऽनुदयात्मके ॥ ९१८ ॥

अर्थ—चारित्र्यमोहनीय कर्मका पाक होनेसे राग होता है, राग आत्माका औदयिक अर्थात् कर्मोंके उदयसे होनेवाला है। वह औदयिक भाव अनुदय स्वरूप सम्यक्त्व में किस प्रकार हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सका। भावार्थ—राग आत्माका





आचार्य कहते हैं कि यदि रागभाव ही दर्शन मोहनीयका बन्ध तथा उदय कानमें समर्थ है तो आत्मामें सम्यक्त्वकी कभी उत्पत्ति ही नहीं होसकती है ।

रागभावसे सम्यक्त्वकी हानि नहीं होसकती है—

न स्यात्सम्यक्त्वप्रध्वंसश्चारित्र्यावरणोदयात् ।

रागेणैतावता तत्र दृष्टमोहोऽनधिकारिणा ॥ ९२२ ॥

अर्थ—चारित्र्यावरण कर्मके उदयसे (रागभावासे) सम्यक्त्वका विनाश नहीं हो सकता है । क्योंकि रागभावका दर्शनमोहनीय कर्मके विषयमें कोई अधिकार नहीं है ।

\* सिद्धान्त कथन—

यत्तद्ध्यास्यागमात् सिद्धमेतद्दृष्टमोहकर्मणः ।

नियतं स्योदयादन्धप्रभृति न परोदयात् ॥ ९२३ ॥

अर्थ—क्योंकि यह बात आगमसे सिद्ध है कि दर्शन मोहनीय कर्मका बन्ध उत्कर्ष आदि दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे ही नियमसे होता है । किसी अन्य (चारित्र्य मोहनीय)के उदयसे दर्शनमोहनीयका बन्ध, उत्कर्ष, उदय कुछ नहीं होता । भावार्थ—जिस कार्यका जो कारण नियत है उसी कारणसे वह कार्य सिद्ध होता है, यदि कार्यकारण पद्धतिको उठा दिया जाय तो किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है । इसके सिवा संकट, आदि अनेक दुष्ण भी आते हैं । क्योंकि कारण भेदसे ही कार्य भेद होता है । अन्यथा किसी पदार्थकी ठीक २ व्यवस्था नहीं हो सकती है । सिद्धान्तकारोंने पहले गुणस्थानमें दर्शनमोहनीयका उदय कहा है वहीं पर उमका स्वीकरण बन्ध भी होता है । यदि दर्शनमोहनीयका बन्ध अथवा उदय आदि किसी दूसरे कर्मके उदयसे भी होने लगे तब तो मग्न पहला ही गुणस्थान रहेगा । अथवा गुणस्थानोंकी श्रृङ्खला ही रूढ़ नागमी । गुणस्थानोंकी अव्यवस्था होने पर संसार मोक्ष अथवा शुद्ध अशुद्ध भावोंकी व्यवस्था भी नहीं रह सकती है, इसलिये दर्शनमोहनीयके उदय होने पर ही उसका बन्ध उत्कर्ष आदि मानना न्यायसंगत है ।

यथाचार । \*

ननु चैवमनित्यत्वे सम्यक्त्वान्धयस्य यत् ।

स्यतः स्योदयाभावे तत्कथं स्यादहेतुतः ॥ ९२४ ॥

न प्रतीमो ययं चैतद्दृष्टमोहोपशमः स्वयम् ।

हेतुः स्यात् स्योदयस्योच्चैस्तर्कपस्याथवा मनाक् ॥ ९२५ ॥

अर्थ—संशयकारका कहना है कि यदि आने उदयमें ही आना बन्ध उत्कर्ष हो अथवा परोदयमें परका उदय न हो तो आदिके दो सम्यक्त्वोंमें अनित्यता कैसे आ सकती है ! क्योंकि बिना कारण अपना उदय अपने आप तो हो नहीं सकेगा, और बिना दर्शनमोह-

नीयके उदय हुए आदिके दो सम्यक्त्वोंमें अनित्यता आ नहीं सकती है तथा हम (शंकाकार) वह भी विश्वास नहीं कर सकते हैं कि स्वयं दर्शन मोहनीयका उपशम ही दर्शनमोहनीयके उदय अथवा उत्कर्षका कारण हो जाता हो । भावार्थ—उपशमसम्यक्त्व और क्षयोपशम सम्यक्त्व दोनों ही अनित्य हैं अर्थात् दोनों ही छूटकर मिथ्यात्व रूपमें आसके हैं । सायिक सम्यक्त्व ही एक ऐसा है जो होनेपर फिर छूट नहीं सकता है । शंकाकार पहले दो सम्यक्त्वोंके विषयमें ही पूछता है कि दर्शनमोहनीयका जिस समय उपशम अथवा क्षयोपशम हो रहा है उस समय किस कारणसे दर्शनमोहनीय कर्मका उदय हो जाता है जो कि सम्यक्त्वके नाशका हेतु है । स्वयं दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम अथवा क्षयोपशम तो उसके उदयमें कारण हो नहीं सकता है । यदि ऐसा हो तो आत्माके स्वाभाविक भाव ही कर्मबन्धके कारण होने लगेंगे । और बिना कारण दर्शनमोहनीयका उदय हो नहीं सकता है इस लिये अगत्या परोक्ष (एग)से उसका उदय और बन्ध मानना पड़ता है, शंकाकारने बुभाव देकर फिर भी वही “सत्ता अवस्थामें ज्ञानचेतना नहीं हो सकती है ” शंका उठाई है ।

उत्तर—

नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि पुद्गलाचिन्त्यशक्तिषु ।

प्रतिकर्म प्रकृत्याद्यैर्नानारूपासु वस्तुतः ॥ १.२६ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि शंकाकारने जो ऊपर शंका उठाई है वह सर्वथा निर्मूल है । आचार्य शंकाकारसे सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि अभी तुम पुद्गलकी अचिन्त्य शक्तियोंके विषयमें बिल्कुल अज्ञान हो, तुम नहीं समझते हो कि हर एक कर्ममें प्रकृति, प्रेरण, प्रीति, अनुभाग आदि अनेक रूपसे फलदान शक्ति भरी हुई है ।

अस्त्युदयो यथानादेः स्वतथ्योपशमस्तथा ।

उदयः प्रशमो भूयः स्याद्वर्गागुणर्भवात् ॥ १.२७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अनादि कालसे कर्मोंका उदय हो रहा है उसी प्रकार कर्मोंका उपशम भी स्वयं होता है । इसी प्रकार उपशमके पीछे उदय और उदयके पीछे उपशम हो रहे हैं । यह उदय और उपशमकी शृङ्खला जब तक मोक्ष नहीं होती है चलती रहती है ।

यदि ऐसा न माना जाय तो देख—

अथ गत्यन्तराक्षोपः स्यादनिच्छत्यमंशकः ।

दोषः स्यादनवस्थात्मा दुर्वारोऽन्योन्यसंश्रयः ॥ १.२८ ॥

अर्थ—यदि उत्तर छोड़ दूँ जस्य न माना जाय और दूसरी ही रीति सोच

भी नाय तो असिद्ध नामक दोष आता है, अनस्ता दोष भी आता है। अन्योन्याश्रय दोष भी आता है जो कि दुबारा है। ये दोष किस प्रकार आते हैं हम जानना खुशमा नीचे किया जाता है—

राग स्वयं होता है या परत—

इहमोहस्योदयो नाम रागायत्तोसि चैन्मतम् ।

मोऽपि रागोसि स्वायत्तः किं स गदपररागमान् ॥ १२१ ॥

अर्थ—इहो मोहनीयका उदय शंकाकारके अनुमात यदि रागाधीन माना जाय तो दूसरी शंका उपस्थित होती है कि यह राग भी क्या अपने ही अंगीन है अर्थात् अपने आप ही होता है अथवा दूसरे रागके अधीन है ।

राग यदि अपने आप ही होता है—

स्वायत्तश्चैव चारित्रस्य मोहस्योदयात्स्वतः ।

यथा रागस्तथा चाग्रे स्वायत्तः स्योदयात्स्वतः ॥ १२२ ॥

अर्थ—यदि चारित्रमोहनीयके उदये राग स्वयं अपने आप ही होता है तो किन प्रकार राग स्वयं होता है उसी प्रकार यह दर्श। मोहनीयका उदय भी अपने उदये स्वयं होने आप होता है ।

यदि परस्पर सिद्धि मानी जाय—

अथ चेत्तद्व्यपारेय सिद्धिधान्योन्यदेतुतः ।

न्यायादसिद्धदोषः स्वाहावादन्योन्यसम्भवात् ॥ १२३ ॥

अर्थ—अथवा यदि दोनों ही सिद्धि एक दूसरेमें मानो जाय अर्थात् राग स्वयं मोहनीयका उदय माना जाय और दर्शनमोहनीयसे रागोदय माना जाय तो अनेक दोष आता है । इसीके अन्तर्गत अन्योन्याश्रय दोष आता है । अर्थ—अन्तर परस्पर सिद्धि दूसरेके अधीन माननेमें एककी भी सिद्धि नहीं हो सकती है । क्योंकि जब एक सिद्ध होनाय तब दूसरा सिद्ध हो, परस्परकी अपेक्षामें एक भी सिद्ध नहीं होता है ।

आजय भी ऐसा नहीं कहकर दे—

नागमः कश्चिदस्तीहगपेतुर्हमोहकर्मणः ।

+ रागस्तस्याथ रागस्य तस्य हेतुर्देगावृत्तिः ॥ १२४ ॥

अर्थ—येई नेत्र राग भी यह नहीं बालता है कि यह मोहनीय के कारण ही होता है और उस कारण हेतु दर्शनमोहनीय स्वयं है ।

+ इस दुष्टकर्म "हमोहकर्मणः" का उद्देश्य मोहनीय के कारण ही है ।

मार्गज—

तस्मात्सिद्धोऽस्ति सिद्धान्तो दृढमोहस्येतरस्य वा ।

उदयोनुदयो वाऽथ स्यादनन्यगतिः स्वतः ॥ ९३३ ॥

अर्थ—इसलिये यह मिद्वभूत-निश्चिन मिद्वान्न है कि दर्शन मोहनीयका अन्तः  
चारित्र मोहनीयका उदय अथवा अनुदय बिना किसी दूसरे हेतुके अपने आप ही होता है ।

अगर कोई दृष्ट सम्पूर्ण रूपनका पालितार्थ—

तस्मात्सम्यक्त्वमेकं स्यादर्थान्तरलक्षणादपि ।

तथथाऽवश्यकी तत्र विद्यते ज्ञानचेतना ॥ ९३४ ॥

अर्थ—इसलिये सम्यक्त्व एक ही है । क्योंकि उसका लक्षण भी एक ही है । इसलिये वहाँपर ज्ञानचेतना अवश्य ही है । भावार्थ—ऊपर बहुत दूरसे यह बात चली आ रही थी कि सराग सम्यक्त्वमें ज्ञानचेतना नहीं होती है । वीतराग सम्यक्त्वमें ही होती है । शास्त्रकारने रागके निमित्तसे सम्यक्त्वके सराग और वीतराग ऐसे दो भेद किये थे, आचार्य कहते हैं कि रागका चारित्रसे सम्बन्ध है सम्यक्त्वसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है । इसलिये न तो सराग और वीतराग ऐसे सम्यक्त्वके दो भेद ही हैं और न ज्ञानचेतनाका अभाव ही है सम्यग्दर्शन एक है । उसका स्वानुभूति लक्षण है । ज्ञानचेतना सम्यग्दर्शनका अविनाभावी गुण है इसलिये सम्यग्दर्शनके साथ उसका होना अत्यावश्यक है । इसलिये चाहे सरागावस्था हो चाहे वीतरागावस्था हो ज्ञानचेतना सम्यक्त्वके साथ अवश्य ही होगी ।

सम्यक्त्वके भेद—

मिश्रौपशमिकं नाम क्षायिकं चेति तस्मिन्निधा ।

स्थितिवन्धकृतो भेदो न भेदो रसबन्धसात् ॥ ९३५ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वके मिश्र ( सायोपशमिक ) औपशमिक और क्षायिक ऐसे तीन भेद हैं । इन तीनों भेदोंमें स्थिति बन्धकी अपेक्षासे ही भेद है । रसबन्ध ( अनुभाग बन्ध ) की अपेक्षासे कोई भेद नहीं है । भावार्थ—सम्यक्त्वको घात करनेवाली सात प्रकृतियाँ हैं—मिथ्यात्व, सम्यङ्-मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति, अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ इन सातोंके सायोपशमसे सायोपशमिक सम्यक्त्व होता है । सातोंके उपशमसे उपशम सम्यक्त्व होता है, और सातोंके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है । औपशमिक सम्यक्त्वकी गन्ध और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है । क्षायिककी गन्ध स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है । उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त सहित अष्ट वर्ष कम दो करोड़ पूर्व अधिक तेतीस सागरकी है । सायोपशमिक सम्यक्त्वकी गन्ध स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है और उत्कृष्ट स्थिति छयासप्त सागरकी है । ॥





विधाय पड़ गया । इसी लिये आचार्यों मतमालमें समधि मरणको परम आवश्यक बताया है, संन्या है कि दूसरे अंगुष्ठ कब न लगे मरणमालमें तो अक्षय ही होगा ।

प्रदेश बन्ध—यमोंकी इच्छा—परिमाणको रहते हैं अर्थात् कितने प्रदेशोंका बन्ध हुआ है, अधिकतर या कमशा । जब मन, बचन, वाचयोगोंकी तीव्रता होती है तब अधिक प्रदेशोंका बन्ध होता है और योगोंकी मन्दतामें कम प्रदेशोंका बन्ध होता है । परन्तु प्रतिपन्न सामान्य गीर्णने अनन्तानन्त प्रदेशोंका बन्ध होता रहता है । अर्थात् प्रति समय यह जो विद्वत् राशि (अनन्तानन्त, के अनन्तर भाग और अभ्य जीव राशि (नन्द्य सुष्ठानन्त) । अनन्त गुने समय प्रसद अर्थात् एक समयमें बंधनेवाले परमाणु समूहको बांधता है । परन्तु मन, बचन, कागरी प्रवृत्तिरूप योगोंकी विशेषतासे कभी कबती कभी बढ़ती परमाणुओंका भी बन्ध करता है परन्तु अनन्तसे कम बन्ध नहीं करता है । क्योंकि अनन्त क्योंकि समूहको एक कर्मा कहते हैं, और अनन्तानन्त कर्माओंके समूहको एक समय—प्रसद कहते हैं । और इन ही परमाणु प्रति समय इन ओके उदयमें आते रहते हैं, उदय होनेवाले परमाणु समूहको निषेक करते हैं । इस प्रकार यह बन्ध उदयकी श्रृंखला तब तक बराबर होती रहती है जब तक कि यह नीच कर्मबन्धकी कारणभूत काय विशिष्ट योगोंकी प्रवृत्तिमें नहीं रोकता है । जो कर्म परमाणु इन नीचोंके बंधते हैं वे आठ उगुंक्त प्रकृतियोंमें बंध जाते हैं, उन कारणों आगु कर्मका हिस्सा मयसे थोड़ा रहता है उससे कुछ अधिक नाश और गोत्र कर्मका समान हिस्सा रहता है, नान गोत्रसे अधिक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अनन्त काय इन तीव्र प्रवृत्तियोंका समान हिस्सा रहता है उनसे अधिक मोहनीय कर्मका हिस्सा रहता है । उससे अधिक हिस्सा वेदनीय कर्मका रहता है । वेदनीय कर्मका भाग सबसे अधिक रहता है इसका कारण यह है कि वेदनीय कर्म मुख दु खका कारण हैं इसलिये इसकी निर्मिता अधिक होती है, इसी लिये सबसे अधिक द्रव्य इसमें चया जाता है ।

स्थिति बन्ध आत्माके साथ कर्मोंके रहनेकी पर्याप्तको कहते हैं । जो कर्मबन्ध हुआ है वह कितने बाल तक आत्माके साथ रहेगा इसीका नाश स्थिति बन्ध है । यह स्थिति बन्ध दो प्रकारसे होता है । एक नवन्व एक उत्कृष्ट । सबसे नवन्व स्थितिवन्ध अन्तर्मुहूर्तका होता है परन्तु उद्दीरणा ( असमयमें किसी कारणवश निर्मिता होनेवाले कर्म ) होनेपर नवन्व स्थितिवन्ध एक आवलि मात्र है, अर्थात् यदि किसी कर्मकी उद्दीरणा भी हो तो भी कर्मसे कम आवलि मात्र आकाश छल पड़ेगा ही । तत्काल बन्ध और तत्काल उद्दीरणा भी नहीं होती है, ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें जो तत्काल बन्ध और तत्काल उदय होता है वास्तवमें वह बन्ध ही नहीं है । बन्ध कायके निनिधत्त होता है, उक्त गुणस्थानोंमें

कषायका उदय ही नहीं है इसलिये वृं पर यो के निमित्तने जैसे कर्म अता है वैसे ही क जाता है। उत्कृष्ट स्थितिवन्ध सत्तर कोट्यभोटि सागर प्रमाण होत है। मध्यकं अनेक हैं। कर्मोंका उदय आवाधा काल\* के पीछे हं होता है। उदयकी अपेक्षासे आवाधा काल प्रमाण सातों कर्मों (आयु कर्मको छोड़कर) का एक बोंड़ा-भोंड़ सागर प्रमाण स्थितिसे वर्ष प्रमाण है, बाकी स्थितियोंका उनके त्रैराशिकके अनुसार जान लेना चाहिये। आयु कर्म आवाधा काल कोड़ पूर्वके तीसरे भागसे लेकर आखिरे अंख्यात भाग प्रमाण है। जैसे अन्य कर्मोंकी आवाधा स्थितिके अनुसार भाग करनेसे होनी है वैसी आयु कर्मकी नहीं है। उदीरणाकी अपेक्षासे सप्त कर्मोंकी आवाधा आबलि प्रमाण है। परभवकी बंधी हुई आयु उदीरणा नहीं होती है। बिना स्थिति बन्धके कर्म अग्ना फल इस आत्म कां नहीं दे सके हैं और स्थितिवन्ध कषायसे होता है। इसलिये कदायोंको रम करना ही सुख चाहनेवाओंसे परम कर्तव्य है।

अनुभागबन्ध-कर्मोंके फल देनेकी शक्तिकी हीनता व अधिकताको कहते हैं। वास्तवमें यही बन्ध साक्षात् आत्माको दुःखका कारण है। क्योंकि कर्मोंका फल (विपाकान्तरा) ही दुःख है और कर्मोंका फल अनुभागबन्धसे होता है। अल्पके गुणोंका विभाज्य परिणाम इसीसे होता है। आत्मामें अशुद्धता इसीसे आती है। आत्माके संक्षेप परिणामोंसे अल्प प्रकृतियोंमें तीन अनुभाग पड़ता है और शुभ प्रकृतियोंमें नवन्ना पड़ता है तथा शुभ परिणामोंसे अशुभ प्रकृतियोंमें नवन्ध अनुभाग पड़ता है शुभोंमें अधिक पड़ता है। चारों परिणाम अशुभ हैं। उनका अनुभाग अर्थात् फल देनेकी शक्ति चार भेदोंमें विभजित की जाती है। कुछ कर्मोंमें फल देनेकी शक्ति उतनाके समान है। जैसे लता गोबर होती है वैसे ही उन कर्मोंकी फलदान शक्ति भी बहुत हल्की होती है। उतनाके समान फलदान शक्ति रखनेवाले कर्म आत्माके गुणोंका सम्पूर्णतासे प्राप्त नहीं कर सकते हैं किन्तु एक देश प्राप्त करते हैं। जैसे सम्पूर्ण प्रकृति उतनाके समान है वह सम्पूर्णदर्शनका भव प्राप्त नहीं कर मती इसीसे वह देशवाली प्रकृतियों गिनाई गई है। कुछ कर्म परमाणु के फलके समान फलदान शक्ति हैं। कुछ, उतनासे बहुत अधिक होता है, माछके समान शक्ति रखनेवाले मछली बहुत भोजन (अन्न) भोजन देताती है। और बहुत भाग संतापी है। कुछ परमाणु के हल्के समान

\* इत्युक्तं तस्मात्तद्विषयस्यैव विवेकः ।

कंशुभीमल्लव भ.राहा जाय ताव हरे।

॥ १ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

गोपदत्तार संप्रकाश ।



शक्ति है, यह शक्ति वास्तविकी अंशों और भी ऊपर है और कुछ कर्म पर  
 त्याग समान कर्मान शक्ति है ये कर्म पर पाते हैं, अर्थात् ऐसी शक्ति  
 कर्म अर्थात् गुणों का सम्पूर्णता पान करने हैं । निम्न प्रकृति और  
 प्रकृति इनका उदाहरण है । निम्न प्रकृति वायु भाग के समान है । और मि  
 प्रकृति हवा और पृथ्वी के समान है । निम्न प्रकार पातिया कर्म सब ही अ  
 लभ प्रसार अचानिना करे नहीं हैं किन्तु उनमें तात्त्विक, शुभ अथवा शुभ नाम  
 उच्च गुण ये शुभ हैं, वास्तविक-भूत वास्तविक, शुभ अथवा, अशुभ नाम और नीच  
 अशुभ कर्म हैं । जो शुभ प्रकृतियाँ हैं उनमें भी चार प्रकार की शक्तियाँ-गुण, त  
 र्का (विश्वी) और अशुभ समान समझना चाहिये । अर्थात् प्रशस्त कर्मों में कुछ भाग त  
 के समान कुछ दा । शक्ति है, इन्हींकर कुछ पान कर लोके समान, कुछ भाग त  
 गी के समान और कुछ भाग त अशुभ के समान कुछ दा शक्ति है । अचानिना कर्मों में जो  
 अशुभ प्रकृतियाँ हैं उनमें कर्मों में नीच, अशुभ, निम्न और हावाहलके समान शक्ति भेद  
 समझना चाहिये । इन्हीं शक्ति भेदों के अनुसार यह नीच सुख दुःख की अभिवृत्ति अथवा  
 हीनता को योग्यता है । यह शक्ति भेद ही कुछ दा शक्तिक तात्त्विक कहलाता है । ऐसा  
 तात्त्विक अनुभाग कर्मों में होता है । इसमें वास्तविक अनुभाग कर्म ही दुःखों का मूल कारण  
 है । अर्थात् दूसरे शक्तियों में यह कर्मा टीका है कि अनुभाग कर्म ही दुःखस्वरूप है । इसको दूर  
 करने का उपाय भी कर्माओं की हीनता है । निम्नी २ कर्माये निर्मल अथवा मन्द होगी उतनी २ ही  
 रम शक्तिक अभिवृत्ति होगा । और निम्नी २ कर्माये निर्मल अथवा मन्द होगी उतनी २ ही  
 कर्मों में रम शक्तिक हीनता होगी । उपर्युक्त चारों प्रकार का ही कर्म योग और कर्मासे होता है ।  
 योगसे प्रकृति और प्रशस्त होता है । कर्मायसे स्थिति और अनुभाग कर्म होता है  
 इन योग और कर्माय दोनों के समुदाय को उद्देश्य कहते हैं । उद्देश्य का लक्षण यही है कि  
 " कर्मायोदयानुरजिता योगप्रतिष्ठेयम् " अर्थात् कर्मायों के उदय सहित जो योगों की

\* देवायु, मनुष्यायु, त्रियगायु ये तीनों ही आयु शुभ हैं । परन्तु गतियों में देवगति  
 और मनुष्यगति ये दो गति शुभ हैं इनका कारण भी यह है कि त्रियगायु में कोई जीव  
 जाना नहीं चाहता है क्योंकि यह दुःख का कारण है इसलिये त्रियगायु तो अशुभ है, परन्तु  
 जो जीव त्रियगायु में है वह चाहता है निश्चयता नहीं चाहता इस लिये त्रियगायु शुभ है । और  
 नरक में तो कोई जाना भी नहीं चाहता और पशुचर वहाँ उठाना भी कोई नहीं चाहता इस  
 लिये नरकगति और नरकायु दोनों ही अशुभ हैं ।

+ योग शक्तिकी लक्षणा कर्माय उदयानुरजिता होती है ।  
 तत्ता देवों के कर्म संभवतः निर्दिष्ट ।

अर्थात् कर्मायोदयानुरजित योगों की प्रशंस लेना कहलाती है । इसलिये कर्माय और योग  
 दोनों ही चाये प्रकार का कर्म होता है ।

प्रवृत्ति है उसीका नाम लेश्या है। इसलिये यह लेश्य ही चारों बन्धोंका कारण है। लेश्या अर्थात् शुभ राग और शुभ योग प्रवृत्ति पुण्यबन्धका कारण है और अशुभ अर्थात् अशुभ राग और अशुभ योगोंकी प्रवृत्ति पापबन्धका कारण है\* इस लिये प्रथम अशुभ प्रवृत्तिका त्याग कर शुभ प्रवृत्तिमें लगना चाहिये। शुभ प्रवृत्तिमें लग जाने अशुभ प्रवृत्तिजन्य तीन दुःस्वका कारण पापबन्ध होता है वह रुक जाना है।

अनुभागबन्धमें विशेषता—

**स्यार्थक्रिया समर्थोत्र बन्धः स्याद्रससञ्ज्ञिकः ।**

**शेषबन्धत्रिकोप्येय न कार्यकरणक्षमः ॥ ९३८ ॥**

अर्थ—ऊपर जो चारों बन्धोंका स्वरूप कहा गया है उनमें अनुभाग बन्ध ही क्रियाके करनेमें समर्थ है, बाकीके तीनों ही न च कार्य करनेमें समर्थ नहीं हैं। भाव प्रकृति बन्ध, प्रवेश बन्ध, स्थिति बन्ध इन तीनोंसे आत्माको सक्षात् दुःख नहीं होता साक्षात् दुःख देनेकाला और आत्माके गुणोंका घात करनेवाला अनुभाग बन्ध ही है। क्लृप्त हर एक कर्म इस शक्ति अवस्थामें ही फल देनेमें समर्थ हैं, और इस शक्तिमें न्यूनता अनुभाग बन्धसे आता है।

सांग—

**ततः स्थितिवशादेव सन्मात्रेण्यत्र संस्थिते ।**

**ज्ञानसञ्चेतनावास्तु क्षतिर्न स्यान्मनागति ॥ ९३९ ॥**

अर्थ—इसलिये तीनों सम्यग्दर्शनोंमें कि बिबन्धकी अपेक्षामें सत्ता मात्रमें ही भेद उससे ज्ञानचेतनाकी किञ्चित्तात्र भी क्षति (हानि) नहीं है। भावार्थ—पहले कहा गया है सम्यग्दर्शनके सात्विक, सायोनसमिक और औपसमिक एते ती। भेद हैं, उन तीनों ही भेदोंमें अन्धैकिक सम्यग्दर्शन गुणका अनुभूत समानतासे होता है, केवल कर्मोंकी स्थिति की अपेक्षासे तीनोंमें भेद है, वास्तवमें रसबन्ध कृत्र भेद नहीं है इसी बातको चारों बन्धोंका स्वरूप बता स्पष्ट किया गया है कि स्थितिके भेदसे ज्ञानचेतनाकी थोड़ी भी हानि नहीं होती है। अतः सम्यग्दर्शनके साथ अविनाभावसे रहनेवाली ज्ञानचेतना तीनों ही में समान है।

\* लिख अन्धैकिक एतद्वय त्रय मद्रूप पुनं च ।

जीवति होतुं देहा जेमागुण। जयनात् ॥

अर्थ—जीव त्रिकके द्वारा पुण्य पदका प्रत्येक उन्नीको देहाके जयनेरूपमें जेमा

सम्पददर्शनके साथ और भी सद्गुण होते हैं—

एवमित्पादयद्धान्ये सन्ति ये सद्गुणोपमाः ।

सम्पत्त्वमात्रमारभ्य ततोऽप्यूर्ध्वं च तद्वतः ॥ १४० ॥

स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्ञानं स्वानुभवाह्वयम् ।

वैराग्यं भेदविज्ञानमित्पाद्यस्तीह किं बहु ॥ १४१ ॥

अर्थ—इसी प्रकार सम्पददर्शनके साथ तथा उनके भागे और भी सद्गुण प्रकट होते हैं । वे सब सम्पददर्शन सहित हैं इमान्त्रिये सद्गुण हैं । उनमेंसे कुछ ये हैं—स्वसंवेदन प्रत्यक्ष स्वानुभव ज्ञान, वैराग्य, और भेद विज्ञान । इत्यादि सभी गुण सम्पददर्शनके होनेपर ही होते हैं इससे अधिक क्या कहा जाय । भावार्थ—सम्पददर्शनके होनेपर ही भेद विज्ञानादि उत्तम गुणोंकी प्राप्ति होती है । अन्यथा नहीं होती । दूसरा यह भी आशय है कि जो गुण सम्पददर्शनके साथमें होने हैं वेही सद्गुण हैं । बिना सम्पददर्शनके होनेवाले गुणोंकी सद्गुणोंकी उपाया भले ही दी जाय, परन्तु बाल्यमें वे सद्गुण नहीं हैं । चौथे गुणस्थानसे पहले पहले भेदविज्ञानादि ( सद्गुण ) होते भी नहीं हैं ।

चेतना तीन प्रकार है—

अद्वैतेति त्रिधा प्रोक्ता चेतना चैवमागमात् ।

ययोपलक्षितो जीवः सार्धनामास्ति नान्यथा ॥ १४२ ॥

अर्थ—यद्यपि चेतना एक है तथापि आगमके अनुसार उस चेतनाके तीन भेद हैं उस चेतनासे विशिष्ट जीव ही यथार्थ नाम धरी कहा जाता है । अन्यथा नहीं । भावार्थ—एक ही चेतना एक है तो भी कर्मके निमित्तसे उसके कर्म चेतना, कर्म फल चेतना और ज्ञान चेतना ऐसे तीन भेद हैं उनमें आदिष्टी दो चेतनायें मिश्रितके साथ होनेवाली हैं, और तीसरी ज्ञान चेतना सम्पददर्शनके साथ होने वाली है । इन तीनों चेतनाओंका मुख्यता कर्म १९३ आशु है ।

आवृत्ति—

ननु चिन्मात्र एवास्ति जीवः सर्वोऽपि सर्वथा ।

किं तदाद्या गुणाद्यान्ये सन्ति तत्रापि केचन ॥ १४३ ॥

अर्थ—यदि सद्गुण और सर्वथा चैवमागमात् ही है अतः चेतनाके साथ उनके और भी गुण होते हैं । उत्तर—हां होते हैं उनमेंसे कुछ गुण जो वे सब वे होते हैं ।

सभी पदार्थ अनन्त हुए हैं—

उच्यतेनन्तवर्माधिरूढोऽप्येकः सचेतनः ।

अर्थजातं यतो पावस्पादनन्तगुणात्मकम् ॥ १४४ ॥



हैं अर्थात् भिन्न २ पदार्थोंके जुड़े २ हों, उन्हें विशेष गुण कहते हैं। विशेष गुण हो वस्तुओंमें परस्पर भेद करानेवाले हैं। जैसे जीवमें विशेषगुण ज्ञान, दर्शन, सुख आदि हैं। पृथ्वीमें रूप, रस, गन्ध, वर्ण आदि हैं। इन्हीं सामान्य और विशेष गुणोंके समूहको द्रव्य कहते हैं।

सभी गुण स्वाभाविक हैं—

**सामान्या वा विशेषा वा गुणाः सिद्धाः निसर्गतः ।**

**टंकोत्कीर्णा इवाजस्रं तिष्ठन्तः प्राकृता स्युतः ॥ १४८ ॥**

अर्थ—जीवके सामान्यगुण अथवा विशेषगुण स्वभाव सिद्ध हैं। सभी गुण टंकोंसे उठके हुए पत्थरके समान निरन्तर रहते हैं और स्वयं सिद्ध अनादिनिधन हैं।

**तथापि प्रोच्यते किञ्चिच्छ्रयतामवधानतः ।**

**न्यायबलात्समायातः प्रवाहः केन वार्यते ॥ १४९ ॥**

अर्थ—तथापि उन गुणोंके विषयमें थोड़ासा विवेचन किया जाता है उसे मानवानांसे गुनना चाहिये। गुणोंका प्रवाह न्याय (युक्ति)के बन्से बला आरहा है उसे कौन रोक सकता है? भावार्थ—द्रव्यकी सहभावी पर्यायको गुण कहते हैं द्रव्यकी अनादि कायसे होनेवाली अनन्त कालतक सभी पर्यायोंमें गुण जाते हैं। गुणोंका नाश कभी नहीं हो सकता है, इसी लिये कहा गया है कि गुणोंका प्रवाह न्याय प्राप्त है उसे कौन रोक सकता है।

वैभाविकी शक्ति—

**अस्ति वैभाविकी शक्तिः स्वतस्तेषु गुणेषु च ।**

**जन्तोः संसृत्पवस्थायां पैकृतास्ति स्पष्टेतुतः ॥ १५० ॥**

अर्थ—उन्हीं जीवके अनन्त गुणोंमें एक स्वतः सिद्ध वैभाविक नामा शक्ति है। वह शक्ति संसार अवस्थामें अपने कारणसे विकृत ( विकारी ) हो रही है। भावार्थ—वैभाविक भी एक आत्मिक गुण है। उस गुणकी दो अवस्थाएँ होती हैं। आत्माकी शुद्ध अवस्थामें उसकी स्वाभाविक अवस्था और आत्माकी अशुद्ध अवस्थामें उसकी वैभाविक अवस्था। अशुद्धताका कारण—राग द्वेषभाव हैं, उन्हीं भावोंके निमित्तसे उन वैभाविक शक्तिको विचाररूप परिणमन होता है। तथा रागद्वेषके अभावमें उसका स्वभाव परिणमन होता है। आत्माकी संसाररूपामें उसका विचाररूप परिणमन होता है और मुक्तारूप में स्वभाव परिणमन होता है। इसलिये स्वाभाविक और वैभाविक ऐसी दो अवस्थाएँ उसी एक वैभाविक नामा गुण की हैं। कोई स्वाभाविक गुण प्रवृत्त नहीं है।

टीका—

**यथा पा स्वच्छताऽऽदर्शं प्राकृतास्ति नित्यतः ।**

**तथाप्यस्यास्यसंयोगादेकृतास्त्वर्थतोपि सा ॥ १५१ ॥**

अर्थ—जिस प्रकार दर्पणमें स्वभावसे ही स्फुटता ( निर्मलता ) सिद्ध है। तब सम्बन्ध होनेसे उसकी विकार अवस्था होनाती है। और वह विकार वास्तविक भावार्थ—मुखका प्रतिबिम्ब पड़नेसे दर्पणका स्वरूप सुखमय होनाता है। वह उसकी विरावस्था है और वह केवल कल्पना मात्र नहीं है किन्तु वास्तवमें कुछ वस्तु है। क्योंकि प्रदलकी पर्याय है। दर्पणकी सुखमय पर्याय सामने उठरे हुए मुखके निमित्तसे होती है उसी प्रकार जीवके रागद्वेष परिणामोंसे उम वैभाविक गुणकी विकारावस्था होरही है। ऐसी अवस्था इसकी अनादिकालसे है।

विकारावस्थामें पदार्थ स्वयं अपने स्वरूपको नहीं छोड़ता है—

वैकृतत्वेपि भावस्य न स्यादर्थान्तरं कचित् ।

प्रकृतौ यद्विकारित्वं वैकृतं हि तदुच्यते ॥ ९५२ ॥

अर्थ—विकृत अवस्था होनेपर भी पदार्थ कहीं बदल नहीं जाता है। प्रकृतिमें जो विकृति होती है उसे ही उसका विकार कहते हैं। भावार्थ—पदार्थमें जो विकार होता है वह उसी पदार्थका विकार कहा जाता है। ऐसा नहीं है कि पदार्थ ही बदल कर दूसरे पदार्थ रूप हो जाता हो। यदि ऐसा होता तो फिर उसे उसी पदार्थका विकार नहीं कहना चाहिये किन्तु पदार्थान्तर ही कहना चाहिये, इसलिये स्वभाव सिद्ध पदार्थमें जो विकृति होती है वह उसी पदार्थकी निमित्तान्तरसे होनेवाली अशुद्ध अवस्था है जिस निमित्तसे वह अशुद्धावस्था हुई है उन निमित्तके दूर होनाने पर वह पदार्थ भी अपने प्राकृतिक स्वरूपमें आ जाता है।

दशन्त—

तथापि धारुणीपानाद् युद्धिर्नाऽयुद्धिरेव नुः ।

तत्प्रकारान्तरं युद्धौ वैकृतत्वं तदर्थसात् ॥ ९५३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार मदिरा पीनेसे मनुष्यकी युद्धि युद्धि ही रहती है वह अशुद्धि ( पदार्थान्तर ) नहीं होनाती है किन्तु युद्धिमें ही कुछ दूसरी अवस्था हो जाती है। यों युद्धिकी दूसरी अवस्था है वही उमकी वास्तविकविकृति है। भावार्थ—युद्धि रूप परिणामोंसे ही युद्धिकी विरुद्धावस्था कहने दे।

प्राकृतं वैकृतं चापि ज्ञानमात्रं तदेव यत् ।

यावदग्रेन्द्रियापत्तं तत्सर्वं वैकृतं विदुः ॥ ९५४ ॥

अर्थ—ज्ञानार्थि ज्ञान हो, अज्ञान वैभाविक ज्ञान हो सभी ज्ञान ही वही ज्ञान है। क्योंकि ज्ञानाना दोनों ही अवस्थाओंमें है। परन्तु ज्ञाना विनये है कि ज्ञाना भी इन्द्रियों से ही होता है वह सब वैभाविक है।

विहतावस्थामं जीवकी वास्तवमं हानि हे—

अस्ति तत्र क्षतिर्नूनं नाक्षतिर्यास्त गदपि ।

जीवस्यातीयदुःखित्वात् सुखस्योन्मूलनादपि ॥ ९५५॥

अर्थ—जीवकी बिहृत अवस्थामें वास्तवमें हानि है । बिहृत अवस्थासे जीवकी वास्तवमें कुछ हानि न हो ऐसा नहीं है । क्योंकि विहृतावस्थामें जीवकी अत्यन्त दुःख होता है और इसका स्वाभाविक सुख गुण नष्ट हो जाता है । भावार्थ—जो लोग सर्वथा निधय पर आरुढ़ है वं ऐसा कहने हैं कि कर्मबन्धसे वास्तवमें आत्माकी कोई हानि नहीं है, आत्मा सदा शुद्ध है । ऐसा कहनेवाले व्यवहारनयको सर्वथा मिथ्या समझते हैं परन्तु यह उनकी भूल है, कर्मबन्धसे ही जीव कष्ट भोग रहा है, अत्यन्त दुःखी हो रहा है, चारों गतियोंमें घूबता फिरता है, रागद्वेषसे मूर्छित हो रहा है, अल्पज्ञानी हो रहा है इत्यादि अवस्थाएँ इसकी प्रत्यक्ष दीख रही हैं इसी लिये आचार्यने इस श्लोक द्वारा बतलाया है कि वास्तवमें भी इस जीवकी विहृतावस्थामें हानि हो रही है, केवल निधय नय पर आरुढ़ रहनेवालोंको नयोंके स्वरूपपर भी थोड़ा विचार अवश्य करना चाहिये । उन्हें सोचना चाहिये कि निधय नय और व्यवहार नय कहने किसे हैं ? यथार्थमें नय नाम किसी अपेक्षासे पदार्थके निरूपण करनेका है । निधय नय आत्माके शुद्ध स्वरूपका निरूपण करता है, वह बतलाता है कि आत्मा कर्मोंसे सर्वथा भिन्न है, वह सदा शुद्ध ज्ञान शुद्ध दर्शनवाला है, वह चारों गतियोंके दुःखका भोक्ता नहीं है इत्यादि, यह सब कथन आत्माके असली स्वरूपके विचारकी अपेक्षासे है, अर्थात् आत्माका शुद्ध स्वरूप, कर्मोंके निमित्तसे होनेवाली अवस्थासे सर्वथा भिन्न है, कम इसी शुद्ध स्वरूपको प्रकट करना ही निधय नयका कार्य है । परन्तु वर्तमानमें जो कर्मकृत अवस्था हो रही है वह मिथ्या नहीं है किन्तु वह जीवकी शुद्ध अवस्था नहीं है इसी लिये नयकी दृष्टिसे यह जीवकी विहृतावस्था मिथ्या प्रतीत होती है । वास्तवमें यह जीवकी निज अवस्था नहीं है इसका व्यवहार नय बतलाता है इसीलिये उसे भी मिथ्या कह दिया जाता है । अन्यथा यदि विहृतावस्था कुछ वस्तु ही न हो, केवल कल्पना अथवा भ्रमात्मक बोध ही हो तो फिर यह शरीरका सम्बन्ध और पुण्य पापका फल तथा जीवका अच्छा बुरा कर्मेव्य कुछ नहीं ठहरता है, इसलिये ये सब बातें यथार्थ हैं और विहृतावस्थासे जीव वास्तवमें दुःखी है और उसके सुख गुणकी हानि हो रही है × इसी बातको ग्रन्थकार आगे स्पष्ट करते हैं—

× निधयनयपर ही चलनेवाले गृहजन्म आदि सुख कायोंमें भी उदात्त हो जाते हैं वह उनको भारी भूल दे । उन्हें स्वामी समन्तभद्रादि आचार्योंकी इतिवृत्त पढ़ान देना चाहिये कि जिन्होंने केवल आत्माको ध्येय बनाते हुए भी भक्तिमार्गको कहा तब अनायास है ।

अपि द्रव्यनयाद्देशादंकोत्कीर्णोस्ति प्राणभृत् ।

नात्मसुखे स्थितः कश्चित् प्रत्युतातीव दुःखवान् ॥ ९५६ ॥

अर्थ—यद्यपि द्रव्यार्थिक नयसे यह जीव टांकीसे उठे हुए पत्थरके समान शुद्ध है तथापि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे कोई संसारी जीव अपने सुखमें स्थित न किन्तु उत्पन्न अत्यन्त दुःखी है ।

अने स्वस्वरूपमें स्थित समझना भी भूल है—

नाङ्गीकर्तव्यमेवेतत् स्वस्वरूपे स्थितोस्ति ना ।

बद्धो वा स्याद्बद्धो वा निर्विशेषाद्यथा मणिः ॥ ९५७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार मणि मिला हुआ ( कीचड़ आदिमें ) अवस्थामें भी शुद्ध है भिन्न अवस्थामें भी शुद्ध है । उसी प्रकार यह मनुष्य भी चाहे कर्मोंसे बंधा हुआ हो मुक्त हो सदा अपने स्वरूपमें स्थित है ऐसा भी नहीं मानना चाहिये ।

क्योंकि—

यत्तथैवं स्थिते जन्तोः पक्षः स्याद्वाचितो बलात् ।

संमृतिर्वा विमुक्तिर्वा न स्यादा स्यादभेदसात् ॥ ९५८ ॥

अर्थ—क्योंकि जीवको यदि सदा शुद्ध माना जाय तो वह मानना न्यायवशसे बलवत् है । जीवको सदा शुद्ध माननेसे न तो संसार ही सिद्ध हो सका है, और न मोक्ष ही सिद्ध मछी है । अथवा दोनोंमें अभेद ही सिद्ध होगा । भावार्थ—संसारणं संसारः परिधमणस्य न ही संसार है, वह बिना अशुद्धताके हो नहीं सका है । और संसारके अभावमें मुक्ति का ही अभेद है । क्योंकि मुक्ति संसार पूर्वक ही होती है । जो बंधा ही नहीं है वह मुक्त क्या होगा । इसलिए जीवको सदा शुद्ध माननेसे संसार और मोक्ष दोनों ही नहीं बनें अथवा दोनोंमें कोई भेद सिद्ध नहीं होता है । इसीको स्पष्ट करने हैं—

स्वस्वरूपे स्थितो ना चेत् संसारः स्यात्कुतो नयात् ।

इदादा मन्यमानोऽस्मिन्नित्यवमं ह्यनुकम् ॥ ९५९ ॥

अर्थ—यदि मनुष्य सदा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहे अर्थात् सदा शुद्ध हो सके तो संसार किस नयने हो सका है ? यदि जीवको सदा पूर्वक ही बिना किसी हेतुके शुद्ध माना जाय तो अनिष्टता का प्रयोग आता है । उसे ही सिद्धांत है—

जीवधेयमनः शुद्धो मोक्षोऽप्येव निरर्थकः ।

नेष्टमित्यस्मिन्नापि तदर्थं वा वृथा श्रमः ॥ ९६० ॥

अर्थ—यदि जीव सदा शुद्ध है तो फिर मोक्ष का मोक्ष ( निष्काम ) अर्थ है । मोक्ष





अर्थ—सूत्रोंके अर्थके विस्तारसे जीवके भाव असंख्यातलोक प्रमाण हैं। तथा भावोंकी जातियोंकी अपेक्षासे पांच भाव कहे गये हैं।

पांच भावोंके नाम—

तत्रौपशमिको नाम भावः स्यात्क्षायिकोपि च ।

क्षायोपशमिकश्चेति भावोऽप्यौदयिकोऽस्ति नुः ॥ ९३३ ॥

पारिणामिकभावः स्यात् पञ्चेत्युद्देशिताः क्रमात् ।

तेषामुत्तरभेदाश्च त्रिपञ्चाशदतिरिक्ताः ॥ ९३७ ॥

अर्थ—औपशमिकभाव, क्षायिकभाव, क्षायोपशमिकभाव, औदयिकभाव और पारिणामिकभाव ये मनुष्य ( जीव ) के पांच भाव क्रमसे कहे गये हैं। इनके त्रेपन उत्तरभेद भी कहे गये हैं। भावार्थ—ये पांच जीवके अमावारणभाव हैं। यद्यपि भेदकी अपेक्षासे असंख्यात लोकप्रमाण जीवके भाव हैं अथवा अनन्तभाव हैं परन्तु स्थूलरीतिसे इन्हीं पांचोंमें सब गर्भित होनाते हैं। जो जीवके चौदह गुणस्थान कहे गये हैंवे भी इन पांच भावोंसे बाहर नहीं हैं अपरा दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि इन पांच भावोंमें ही चौदह गुणस्थान बैठे हुए हैं। जीवके गुणोंमें सम्यग्दर्शन ही प्रधान गुण है, और उसके तीन भेदोंमेंसे पहले औपशमिक ही होता है इसलिये औपशमिक भावका पहले नाम लिया गया है। औपशमिककी अपेक्षासे क्षायिक भाववालोंका द्रव्य ( जीव राशी ) असंख्यात गुणा है इसलिये औपशमिकके पीछे क्षायिकका नाम लिया गया है। क्षायिककी अपेक्षा क्षायोपशमिकका द्रव्य असंख्यात गुणा है, तथा उपर्युक्त दोनों भावोंके मेलसे यह होता है इसलिये तीसरी संख्या क्षायोपशमिकके लिये बही गई है। उन तीनोंसे औदयिक पारिणामिक भावोंका द्रव्य अनन्त गुणित है इसलिये अन्तमें इन दोनोंका नाम लिया गया है। औपशमिक और क्षायिक भाव सम्यग्दर्शिक ही होते हैं। मिश्र भाव भव्य और अभव्य दोनोंके होता है, परन्तु इतना विशेष है कि भव्य सम्यक्त्व और चारित्र्यकी अपेक्षासे भी होता है। अभव्यके केवल अज्ञानादिकी अपेक्षासे ही होता है। औदयिक और पारिणामिक ये दो भाव सामान्य रीतिसे सभी संसारी जीवोंके होते हैं औपशमिक भाव दो प्रकारका है, क्षायिक भाव नौ प्रकारका है, क्षायोपशमिक भव अठा प्रकारका है, औदयिकभाव इकीम प्रकारका है, और पारिणामिक भाव तीन प्रकारका है। प्रत्येक प्रकार के जीवके त्रेपन भाव हैं इनका खुलसा ग्रन्थकार स्वयं आगे करेंगे।

• जेहि दुखनिखवत उदयारिभु संभवेहि भावेहि ।

जीवा ते गुणवर्णा निदिष्टा स्वस्वरसिद्धि ॥

औदयिकभेदके पञ्चसंभव भावोंमें जीव पाये जाते हैं इसलिये उन भावोंका नाम त्रेपन है। ऐसा सर्वत्र देखने कहा है।

गोमदसार ।

औपशमिक भावका स्वरूप—

कर्मणां प्रत्यनीकानां पाकस्योपशमान् स्वतः ।

यो भावः प्राणिनां स स्यादौपशमिकसंज्ञकः ॥ १६८ ॥

अर्थ—विपक्षी कर्मोंके पाकका स्वयं उपशम होनेसे जो प्राणियोंका भाव होता है उसका नाम औपशमिक भाव है । भावार्थ—कर्मोंके उपशम होनेसे जो जीवका भाव होता है उसीको औपशमिक भाव कहते हैं । “आत्मनि कवण स्वशक्तेः कारणवशाद्गुणनि-  
रात्मः ।” अर्थात् आत्मामें कर्मकी निज शक्तिका कारणवशसे उदय नहीं होता इसीको उपशम कहते हैं । जैसे कीचसे मिले हुए (खवाले) जलमें फिटकरी आदि द्रव्य डालनेसे कीच जलके नीचे बैठ जाती है और निर्मल जल ऊपर रहता है । इसी प्रकार जिन कर्मोंका उपशम होता है वे उस कालमें उदयमें नहीं आने दे इसलिये आत्मा उस समय निर्मल जलकी तरह निर्मल होजाता है ।

धायिक भावका स्वरूप—

पथास्यं प्रत्यनीकानां कर्मणां सर्वतः क्षयान् ।

जातो यः क्षायिको भावः शुद्ध स्वाभाविकोऽस्य वरः ॥ १६९ ॥

अर्थ—विपक्षी कर्मोंका सर्वथा क्षय होनेसे जो आत्माका भाव होता है उसे क्षायिक भाव कहते हैं । यह क्षायिक भाव आत्माका शुद्ध भाव है, और उसका स्वाभाविक स्वरूप है । भावार्थ—कर्मोंकी अत्यन्त निवृत्ति होनेसे जो आत्माका भाव होता है उसे ही क्षायिक भाव कहते हैं । जैसे फिटकरी आदिके डालनेसे जिस समय कीच नीचे बैठ जाता है और निर्मल जल ऊपर रहता है उस समय उस निर्मल जलको यदि दूसरे वर्तनमें भर लें तब क्षय भाव हो फिर वह जल सदा शुद्ध ही रहता है फिर उसके मालिन होनेकी सम्भावना भी नहीं हो सगी है । क्योंकि मलिनता पैदा करनेवाला कीच ही वह सर्वथा हट गया है । इसी प्रकार क्षायिक भाव आत्मासे कर्मोंके सर्वथा हट जाने पर होता है । वह सदा शुद्ध रहता है, फिर वह कभी अशुद्ध नहीं हो सगा ।

क्षायोपशमिक भावका स्वरूप—

यो भावः सर्वतोऽप्यतिस्पर्धकानुदयोद्भवः ।

क्षायोपशमिकः स स्यादुदयोद्देशपातिनाम् ॥ १७० ॥

अर्थ—सर्वपक्षोंका अनुदय होने पर और देशपातिस्पर्धके उदय होने पर जो आत्माका भाव होता है उसे ही क्षायोपशमिक भाव कहते हैं । भावार्थ—क्षयोपशमिक भावमें क्षय और उपशमकी मिश्रित अवस्था रहती है । जैसे मलिन जलमें यदि फिटकरी

जालनेसे कुछ तो निर्मल जल रहता है कुछ गदला रहता है, दोनोंकी मिली हुई अवस्था रहती है। उसी प्रकार क्षायोपशमिक भाव भी दोनोंकी मिश्रित अवस्था है। सर्वविध मिश्रका ऐसा लक्षण किया है—“सर्वधातिस्पर्शकानामुदयक्षयात् तेषामेव सदुपशमाच्च धातिस्पर्शकानामुदये सति क्षायोपशमिको भावो भवति”, अर्थात् जो कर्म सर्वथा गुणका करनेवाले हैं उनका (सर्वधातिस्पर्शकोंका) उदयक्षय\* होनेसे और उन्हीं सर्वधाति स्पर्शकों सत्तामें उपशम होनेसे तथा देशधाति स्पर्शकोंका उदय होनेपर क्षायोपशमिक भाव होता है। यहांपर यह संका हो सकती है कि क्षायोपशमिक सम्बन्धदर्शन अथवा त्रारिष आत्मीय भाव है, क्या आत्मीक भावोंमें भी कर्मका उदय कारण पड़ता है? यदि पड़ता है तब वे आत्मीक भाव ही नहीं रहे, उन्हें कर्मरुत पर भाव कहना चाहिये। यदि कर्मोंका कारण नहीं पड़ता है तो फिर देशधाति स्पर्शकोंका उदय मिश्र भावमें कारण क्यों माना गया है। इसका उत्तर यह है कि आत्मीक भावके प्रकट होनेमें कर्मोदय कारण नहीं पड़ता है, बितने अंशमें कर्मोदय है उतने अंशमें तो उस गुणका घात हो रहा है इसमें कर्मोदय तो आत्मीक भावोंके घातका ही कारण है, यहांपर भी यही मतज्ञाया है कि तिस समय मिश्र भाव होता है उस समय देशधाती कर्मका उदय रहता है, इसका यह नहीं है कि देशधाती कर्मका उदय मिश्रभावका कारण है। सम्बन्धत्व प्रतीति सम्बन्धानुसंगे चरना, मन्त्रिता, भगवता आदि शेष उत्पन्न करती ही है। इसलिये कर्मोदयका ही आत्मगुणोंका घातक है।

औरद्विक भावका स्वरूप—

कर्मणामुदयाद्यः स्यान्नायो जीवस्य मंमूर्ता ।

नाम्नाप्यादविकाऽन्यथात्परं वन्धाधिकारवान् ॥ ९७१ ॥

अर्थ—ममारी जीवके कर्मोंके उदयमें जो भाव होता है वही औरद्विक नामसे कहा जाता है और वही यथावत नामधारी है, तथा कर्मवन्ध करनेका वही अधिकारी है। उदय-द्वय ध्वज काउ भावके निमित्तमें कर्मोंकी जो कल्पना विनाश भूतया है उसमें उदय करने के, कर्मोंके उदयमें जो आत्माका भाव होता है उसीको औरद्विक भाव कहा है, जो नाम धारणके गुणोंका घातक, दुःखायक तथा तमोवन्धका मूल कारण है।

औरद्विक भावका स्वरूप—

हृत्तद्वर्त्मनिरपेक्षः प्रोक्तावस्थापनुष्ठयान् ।

आन्ध्रतन्मन्त्रमात्रमात्रा भावः स्यात्पारिणामिकः ॥ ९७२ ॥

अर्थ—हृत्तद्वर्त्मनिरपेक्षः प्रोक्तावस्थापनुष्ठयान् । आन्ध्रतन्मन्त्रमात्रमात्रा भावः स्यात्पारिणामिकः ॥ ९७२ ॥

अर्थ—कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे सर्वथा निरपेक्ष जो आत्माका स्वाभाविक भाव है उसे ही पारिणामिक भाव कहते हैं । भावार्थ—द्रव्यकी निज स्वरूपकी प्राप्तिही ही पारिणामिक भाव कहते हैं । इस भावमें कर्मोंकी सर्वथा अवस्था नहीं है, किन्तु आत्म द्रव्य मात्र है ।

इत्युक्तं लक्षितस्तेषां भावानां लक्षणं पृथक् ।

इतः प्रत्येकमेतेषां व्यासात्तद्रूपमुच्यते ॥ ९७३ ॥

अर्थ—इस प्रकार उन भावोंका लक्षमात्र लक्षण भिन्न २ कहा गया । अब उनमेंसे प्रत्येक भावका स्वरूप विस्तार पूर्वक कहा जाता है ।

औदयिक भावके भेद—

भेदाध्यात्मिकस्यास्य सूत्रार्थादेकपिनाति ।

गतस्यो गतयो नाम चत्वारश्च कथायताः ॥ ९७४ ॥

प्रीणि लिङ्गानि मिथ्यात्वमेकं अज्ञानमात्रकम् ।

एकंम्याऽसंयतस्थं स्यादेकमेकास्त्वितिउता ॥ ९७५ ॥

लक्ष्याः पश्य कृष्णाणां प्रमादुद्देशिता इति ।

तत्स्वरूपं प्रपञ्चयामि नात्वं नामाय विस्तरम् ॥ ९७६ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त आशयसे औदयिक भावके इतीस भेद हैं । वे इस प्रकार हैं—गति । कथाय ४, लिङ्ग १, मिथ्यात्व १, अज्ञान १, असंयतत्व १, अतिष्ठ १, इत्यदि-रथा है ये कर्मसे इतीस भाव हैं, इनका स्वरूप अब कहते हैं, यह सब अधिक ध्यानसे ही होगा और न अधिक विस्तृत ही होगा ।

गति-कर्म—

गतिनामास्ति कर्मके विरुपाते नामकर्मणि ।

गतस्यो गतयो यस्मात्तच्चतुर्धाभिर्गोषते ॥ ९७७ ॥

अर्थ—नाम कर्मके भेदोंमें प्रसिद्ध एक गति नामा कर्म की है । गति ४ भाव है । इनमें से यह गति कर्म भी चार प्रकारका कहा जाता है ।

कर्मणोऽस्य विषाद—

कर्मणोऽस्य विषादाया दैवादन्यतमे षण्णुः ।

प्राप्ये तत्रोचितान्भाषणान् करोत्यात्मोदधारणम् ॥ ९७८ ॥

अर्थ—इस गतिकर्मके विषाद होनेसे यह आत्मा अपने ही उद्वेगसे हैरत होकर, अतर्क्य, अरक्त इन चार गतिकर्मोंसे किसी एकको प्रत्यक्ष होकर उसके उचित कर्मोंके अनुष्ठान

है। अर्थात् जिस गतिमें पहुंचना है वहांकी द्रव्य क्षेत्र काल भाव सामग्रीके अनुसार अपने भावोंको बनाता है।

इति-त—

यथा तिर्यगवस्थायां तद्व्या भावसन्ततिः ।

तत्रावश्यं च नान्यत्र तत्पर्यायानुसारिणी ॥ १७१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार तिर्यग अवस्थामें जो उसके योग्य भावसन्तति है वह उस पर्यायके अनुसार वहां अवश्य होती है, तिर्यग अवस्थाके योग्य जो भाव सन्तति है वह वहां पर होती है अन्यत्र नहीं होती।

इति प्रकार—

एवं दैवेष्वपि मानुष्ये नारके वपुषि स्फुटम् ।

आत्मीयात्मीयभावाश्च सन्त्यसाधारणा इव ॥ १८० ॥

अर्थ—इसी प्रकार देवगति, मनुष्यगति, नरकगतिमें भी अपनी २ गतिके वेल भाव होते हैं। वे ऐसे ही होते हैं जैसे असाधारण हों। भावार्थ—जिस पर्यायमें भी यह शब्द आता है उसी पर्यायके योग्य उसे वहां द्रव्य क्षेत्र काल भावकी योग्यता मिलती है, और उसी सामग्रीके अनुसार उस जीवके भाव उत्पन्न होते हैं। जैसे भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले जीवके वहांकी सुखमय सामग्रीके अनुसार शान्तिपूर्वक सुखानुभव करनेके ही भाव पैदा होते हैं। कर्मभूमिमें उत्पन्न होनेवाले जीवके असि मत्स्यादि कारण सामग्रीके अनुसार कर्म ( क्रिया ) पूर्वक जीवन बितानेके भाव पैदा होते हैं। तथा जिस प्रकारका क्षेत्र मिलता है उसी प्रकारकी शरीर रचना आदि योग्यता भी मिलती है। इसलिये भावोंके सुचार और बिगाड़में निमित्त कारण ही प्रमुख है।

शुद्धाकार—

ननु देवादिपर्यायां नामकर्मोदयात्परम् ।

तत्कथं जीवभावस्य हेतुः स्याद्घातिकर्मवत् ॥ १८१ ॥

अर्थ—देवादिक गतिया केवल नामकर्मके उदयसे होती हैं। जब ऐसा सिद्धान्त है तब क्या कारण है कि नाम ( देवादिगतियां ) कर्म घातिया कर्मोंके समान जीवके भावोंके हेतु समझा जाय ! भावार्थ—ऊपर कहा गया है कि जैसी गति इस जीवकी मिलती है उसीके अनुसार इसके भावोंकी सृष्टि भी चलती है। इसी विषयमें शुद्धाकारका कहना है कि भावोंके परिवर्तनका कारण तो घातिया कर्म ही हो सके हैं, नाम कर्म तो अकालिक है उसमें भावोंके परिवर्तन करनेकी सामर्थ्य कहासे आई !

उत्तर—

सत्यं तन्नामकर्मापि लक्षणाचित्रकारवत् ।

नूनं तद्देहमात्रादि निर्मापयति चित्रवत् ॥ ९८२ ॥

अस्ति तत्रापि मोहस्य नैरन्तर्याम्योऽज्ञसा ।

तस्मादौदयिको भावः स्यात्तद्देहक्रियाकृतिः ॥ ९८३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार चित्रकार अनेक प्रकारके चित्र बनाता है उसी प्रकार नाम कर्म भी नियमसे शरीरादिकी रचना करता है, साथ ही वहां पर मोहनीय कर्मका निरन्तर उदय रहता है, इसी लिये उस देह क्रियाके आकार औदयिक भाव होता है। भावार्थ—यद्यपि नामकर्मका कार्य शरीरादिकी रचना मात्र है वह भावोंके परिवर्तनका कारण नहीं हो सक्ता है, यह ठीक है। तथापि उस नाम कर्मके उदयके साथ ही मोहनीय कर्मका उदय भी बराबर रहता है इस लिये उस पर्यायमें औदयिक भाव अपना कार्य करता है। यदि मोहनीय कर्मका उदय नाम कर्मके साथ न हो तो वास्तवमें वह पर्याय जीवके भावोंमें सङ्केत नहीं कर सकती है, अरहन्त परमेष्ठिके नाम कर्मका उदय तो है परन्तु मोहनीय कर्म उनके नहीं है इसलिये स्वाभाविक भावोंमें परिवर्तन नहीं होता है। अतः मोहनीय कर्मक अविनाभाव ही वास्तवमें कार्यकारी है।

शङ्काकार—

ननु मोहोदयो नूनं स्वापत्तोस्त्येकधारया ।

तत्तद्वपुः क्रियाकारो नियतोऽयं कुतो नयान् ॥ ९८४ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मका उदय अनगल रीतिसे अपने ही अधीन है। वह फिर भिन्न भिन्न शरीरोंकी क्रियाओंके आकार किस नयसे नियत है? अर्थात् भिन्न २ शरीरानुसार मोहनीय कर्म क्यों फल देता है ?

उत्तर—

नैवं यतो न भिन्नोऽस्ति मोहस्यादयवैभवे ।

तत्रापि बुद्धिपूर्वं चाऽबुद्धिपूर्वं स्वलक्षणात् ॥ ९८५ ॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है। शङ्काकारसे आचार्य कहते हैं कि मोहनीय कर्मका उदय वैभव कितना बड़ा हुआ है, और वह अपने उत्पन्नके अनुसार बुद्धिपूर्वक अबुद्धिपूर्वक आदि भेदोंमें बँटा हुआ है इस विषयमें तुम सर्वथा अज्ञान हो। भावार्थ—मोहनीय कर्मका बहुत बड़ा विस्तार है, वह कहा २ किम २ रूपमें उदयमें आरहा है इसके समझनेकी बड़ी आवश्यकता है।

मोहनीय कर्मके भेद—

मोहनान्मोहकर्मकं तद्विधा वस्तुतः पृथक् ।

दृग्मोहश्चात्र चारित्रमोहश्चेति द्विधा स्मृतः ॥ ९८६ ॥

अर्थ—मूर्छित करनेसे सामान्य रीतिसे मोहकर्म एक प्रकार है । और वही दर्शन मोह और चारित्रमोहकी अपेक्षासे वास्तवमें दो प्रकार भी है । भावार्थ—अन्य कर्मोंकी अपेक्षा मोहकर्ममें बहुत विशेषता है, अन्यकर्म अपने प्रतिपक्षी गुणमें न्यूनता करने हैं उसे सर्वथा भी दफ़ लेते हैं परन्तु अपने प्रतिपक्षी गुणको मूर्छित नहीं करते हैं, जैसे ज्ञानावरण कर्म ज्ञानगुणको दफ़ता है परन्तु ज्ञानगुणको अज्ञानरूप नहीं करता है, इसी प्रकार अन्य राय कर्म वीर्यगुणको दफ़ता है परन्तु उसे उत्ते रूपमें नहीं लाता है । उत्ते रूपमें लांकी विशेषता इसी मोहनीय कर्ममें है, मोहनीय कर्म अपने प्रतिपक्षीको सर्वथा विपरीत स्वादु बना डालता है । इसीलिये इसका नाम मोहनीय है अर्थात् मोहनेवाला—मूर्छित करनेवाला है । सामान्य रीतिसे वह एक है, और दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय ऐसे उसके दो भेद हैं । इसी मोहनीय कर्मके उदयसे सम्यग्दर्शन मिथ्यादर्शनरूप और सम्यक्चारित्र मिथ्याचारित्ररूप परिणत होजाता है । इसीके निमित्तसे जीव अनन्त संसारमें भ्रम करता फिरता है ।

दर्शन मोहनीयके भेद—

एकधा त्रिविधा वा स्यात् कर्ममिथ्यात्वसञ्ज्ञकम् ।

क्रोधाद्याद्यचतुष्कञ्च, सत्तने दृष्टिमोहनम् ॥ ९८७ ॥

अर्थ—दर्शन मोहनीय कर्म भी सामान्य रीतिसे मिथ्यात्वरूप एक प्रकार है, विशेष रीतिसे मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व, भेदोंसे तीन प्रकार है, और अनन्ताहु-मन्थि क्रोध, मान, माया, लोभ चार भेद प्रथम कषायके हैं । इस प्रकार ये साठ भेद दर्शनमोहनीयके हैं । भावार्थ—मूलमें दर्शनमोहनीयका एक ही भेद है—मिथ्यात्व । पीछे प्रथमोपशम सम्यक्त्वके होनेपर उस मिथ्यात्वके तीन टुकड़े हो जाते हैं । एक सम्यक्त्वप्रकृति, दूसरा-सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति, तीसरा मिथ्यात्वप्रकृति, ये तीन टुकड़े ऐसे ही होते हैं जैसे धान्यको पीसनेसे उसके तीन टुकड़े होते हैं, एक तो छिलकारूप, दूसरा मूद्म कण-रूप तीसरा मध्यमका सारभूत अंश—मिगीरूप । जिस प्रकार छिलकेमें पुष्ट करनेकी शक्ति ही है, उसी प्रकार सम्यक्त्वप्रकृतिमें भी सम्यग्दर्शनको घात करनेकी पूर्ण शक्ति नहीं है । यह भी उसमें चलता, मलिनता आदि दोष उत्पन्न करनेकी अवश्य थोड़ीसी शक्ति है । सम्यक्त्वप्रकृतिके उदय होनेपर सम्यग्दर्शनका घात नहीं होता है किन्तु उस समय क्षायो-प्रतिक सम्यक्त्व होता है । त्रिम प्रकार मूद्म धान्यकणमें पुष्ट करनेकी शक्ति है उसी







यथा धाराधराकारैः गुण्डितस्यांशुमालिनः ।

नाविर्भावः प्रकाशस्य द्रव्यदेशात् स्वतोपि वा ॥ १९४ ॥

अर्थ—यद्यपि द्रव्यदृष्टिसे सूर्यका प्रकाश - द्य सूर्यके साथ है उसका कभी अभाव नहीं हो सक्ता है तथापि मेघोंसे आच्छादित होनेपर सूर्यका प्रकाश छिप अवश्य जाता है। भावार्थ—उसी प्रकार ज्ञानादि गुण सदा आत्माके साथ है अथवा आत्मस्वरूप हैं उनका कभी नाश नहीं हो सक्ता है तथापि ज्ञानावरणादि कर्मोंके निमित्तमें वे दृढ़ अवश्य जाते हैं।

अज्ञान औदार्यक नहीं है—

यत्पुनर्ज्ञानमज्ञानमस्ति रुदिवशादिह ।

तत्तौदयिकमस्त्यस्ति क्षायोपशमिकं किल ॥ १९५ ॥

अर्थ—जो ज्ञान ही रुदिवश अज्ञान कहा जाता है वह औदयिक नहीं है किन्तु निधयसे क्षायोपशमिक है। भावार्थ—यदापर अज्ञानसे तात्पर्य मन्दज्ञानसे है। प्रायः मन्दज्ञानीको अज्ञानी अथवा मन्द ज्ञानको अज्ञान कह दिया जाता है, यह अज्ञान औदयिक भाव नहीं है किन्तु क्षायोपशमिक भाव है तथा निध्यादृष्टि ज्ञान भी अज्ञान प्रकटता है वह भी क्षायोपशमिक ही है। क्योंकि ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपरतमसे होता है। जो अज्ञानभाव औदयिक भावोंमें गिनाया गया है वह कर्मके उदयकी अवेशसे है।

अथास्ति केवलज्ञानं यत्तदावरणावृणम् ।

स्वापूर्वाभात् परिच्छिन्नं नालं मूर्छितजन्तुवत् ॥ १९६ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण कर्मोंमें एक केवल ज्ञानावरण कर्म भी है, यह केवल ज्ञानावरण कर्म आत्माके स्वाभाविक केवलज्ञान गुणसे दृढ़ होता है। आराधनसे ही ज्ञान मूर्छित पुरुषकी तरह अपने स्वरूप और अनिधित पदार्थोंसे नहीं रहता है।

अथवा—

यथा स्यादवधिज्ञानं ज्ञानं वा स्थान्नपरिणम ।

नार्थक्रियाममर्थ स्यात्तत्तदावरणावृणम् ॥ १९७ ॥

अर्थ—अथवा अवधिज्ञान वा मन्दपरिणम ज्ञान - अज्ञान होते हैं अर्थात् दृढ़ होते हैं तब अर्थक्रिया - अर्थ क्रिया मर्म नहीं रहते हैं।

मतिज्ञानं भूतज्ञानं तत्तदावृणम् ॥ १९८ ॥

यथावतोदयांशेन स्थितं ज्ञानम् ॥ १९९ ॥

अर्थ— इसी प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी अपने २ आवरणसे आच्छादित होते हैं, और उनके आवरणक कर्मका जितने अंशोंमें उदय रहता है उतने ही अंशोंमें भी तिरोभूत ( ढका हुआ ) रहता है ।

धायिक भाव—

यत्पुनः केवलज्ञानं व्यक्तं सर्वार्थभासकम् ।

स एव क्षायिको भावः कृत्स्नस्यावरणक्षयात् ॥ ९९९ ॥

अर्थ—जो केवलज्ञान है वह प्रकटीतसे सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रकाशक है वह सम्पूर्ण आवरणोंके क्षय होनेसे होता है इसलिये वही क्षायिक भाव है ।

कर्मोंके भेद प्रभेद—

कर्माण्यष्टौ प्रसिद्धानि मूलमात्रतया पृथक्

अष्टचत्वारिंशच्छतं कर्माण्युत्तरसंज्ञया ॥ १००० ॥

अर्थ—कर्मोंके मूल भेद आठ प्रसिद्ध हैं और उनके उत्तर भेद एकसौ अष्टचत्वारिंशत् हैं । भावार्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र अन्तराय ये आठ मूल भेद कर्मोंके प्रसिद्ध हैं । उत्तर भेद १४८ इस प्रकार हैं—ज्ञानावरणके ५ भेद, दर्शनावरणके ९ भेद, वेदनीयके २ भेद, मोहनीयके २८ भेद, आयुके ४ भेद, नामके ९३ भेद, गोत्रके २ भेद, और अन्तरायके ५ भेद ।

उत्तरोत्तरभेदैश्च लोकासंख्यातमात्रकम् ॥

शक्तितोऽनन्तसंज्ञं च सर्वकर्मकदम्यकम् ॥ १००१ ॥

अर्थ—ये ही कर्म उत्तरोत्तर भेदोंसे असंख्यात लोक प्रमाण हैं, और सर्व कर्म स शक्तिकी अपेक्षासे अनन्त भी हैं ।

घातिया कर्म—

तत्र घातीनि चत्वारि कर्माण्यन्वर्थसंज्ञया ।

घातकत्वाद्गुणानां हि जीवस्यैवेति चाकस्मृतिः ॥ १००२ ॥

अर्थ—उन मूल कर्मोंमें चार घातिया कर्म हैं, और घातिया संज्ञा उनके जीवार्थानुक्त ही है, क्योंकि जीवके गुणोंका ये कर्म घात करनेवाले हैं ऐसा सिद्धान्त है ।

अघातिया कर्म—

ततः शेषचतुष्कं स्यात् कर्माघाति विवक्षया ।

गुणानां घातका भावशक्तोऽप्यात्मशक्तिमत् ॥ १००३ ॥

अर्थ—घातिया कर्मोंमें बचे हुए चारोंके चार कर्म अघातिया कहलाते हैं । ये ४



अर्थ—ज्ञान, दर्शनके समान आत्माका सम्यग्दर्शन गुण भी है, और उस सम्यग्दर्शन गुणको मूर्छित करनेवाला कर्म भी दर्शनमोहनीय कह्यता है।

दर्शनमोहनीय कर्म अन्तर्भाव नहीं है—

नैतत्कर्मपि तत्तुल्यमन्तर्भावीनि न कर्णित् ।

तद्व्यावर्णादितदस्ति जात्यन्तरं यतः ॥ १००७ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरणके समान यह कर्म भी कहींपर अन्तर्भाव नहीं हो सक्ता है क्योंकि ज्ञानावरण, दर्शनावरणसे यह सर्वथा जुदा है इसलिये नसिरा ही कर्म इसे मानना चाहिये।

मार्गज्ञ—

ततः सिद्धं यथा ज्ञानं जीवस्थैको गुणः स्वतः ।

सम्यक्त्वं च तथा नाम जीवस्थैको गुणः स्वतः ॥ १००८ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि जिस प्रकार जीवका एक स्वतन्त्र ज्ञान गुण है उसी प्रकार जीवका स्वतःसिद्ध एक सम्यग्दर्शन भी गुण है।

अतएव—

पृथगुद्देश एवास्य पृथक् लक्ष्यं च लक्षणम् ।

पृथग्दुष्मोहकर्म स्यादन्तर्भावः कुतो नयात् ॥ १००९ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनका भिन्न स्वतन्त्र है, भिन्न ही लक्ष्य है, भिन्न ही लक्षण और भिन्न ही दर्शनमोहनीय कर्म है फिर किस नयसे इस कर्मका कहीं पर अन्तर्भाव (गमितपना) हो सक्ता है ? अर्थात् कहीं पर नहीं हो सक्ता।

चारित्र्य मोहनीय—

एवं जीवस्य चारित्र्यं गुणोऽस्येकः प्रमाणसात् ।

तन्मोहयति यत्कर्म तत्स्याचारित्र्यमोहनम् ॥ १०१० ॥

अर्थ—इसी प्रकार जीवका एक प्रमाणसिद्ध गुण चारित्र्य भी है, उस चारित्र्य गुणको जो कर्म मूर्छित करता है उसीको चारित्र्यमोहनीय कहते हैं।

अन्तराय—

अस्ति जीवस्य वीर्याख्यो गुणोऽस्येकस्तदादिवत्

तदन्तरायतोद्देष्टव्यमन्तरायं हि कर्म तत् ॥ १०११ ॥

अर्थ—पहले गुणोंके समान जीवका एक वीर्य नामक भी गुण है, उस वीर्य गुणमें जो अन्तर डालता है उसे ही अन्तराय कर्म कहते हैं। भाषार्थ—आत्माकी वीर्य शक्तिको रोकनेवाला अन्तराय कर्म है।



पदार्थ है सो ही गुण है और जो गुण हैं सो ही पदार्थ हैं अर्थात् गुणोंका समूह ही पदार्थ है और एक पदार्थमें रहनेवाले अनन्तगुणोंकी एक ही सत्ता है इसलिये सभी गुण परस्परमें अभिन्न हैं, और अभिन्नताके कारण ही एक गुणके रहनेमें सभी अनन्तगुणोंका ग्रहण हो जाता है, जीवको ज्ञानी कहनेसे सम्पूर्ण जीवका ही ग्रहण होता है, परन्तु एकर गुणका भिन्न कार्य है, भिन्न कार्य होनेमें उन गुणोंके भिन्न-लक्षण किये जाते हैं, इस प्रकार भिन्न-लक्षणोंवाली भिन्न-अनन्त शक्तियां जन्ममें जलान्तरेकी तरह कभी उदित कभी अनुदित होती रहती हैं। सांगत्य यह है कि द्रव्यसे भिन्न गुणोंकी विवक्षा करनेसे (नेद विवक्षा करनेसे) सभी गुण भिन्न हैं, उनमें परस्पर आधार-आधेय भाव, हेतु हेतुमग्न आदि कुछ भी उस समय नहीं है तथा अभेद विवक्षा करनेसे वे सभी गुण अभिन्न हैं। जो एक गुणका आधार है वही इतर सब गुणोंका आधार है, जो एक गुणकी सत्ता है व इतर सब गुणोंकी सत्ता है, जो एक गुणका काल है वही सब गुणोंका काल है आ सभी बातें सबोंकी एक ही हैं। इसी बातको 'द्रव्याध्याया निर्गुणा गुणाः' यह सूत्र प्रक करता है। अर्थात् जो द्रव्यके आश्रयसे रहें और निर्गुण हों उन्हें गुण कहते हैं, यहाँ आचार्यने दोनों बातोंको बतला दिया है, 'द्रव्याध्याया' कहनेसे तो गुण और द्रव्यमें ज्ञेय बतलाया है, + जिस समय किसी एक गुणका विवेचन किया जाता है तो उस सत्त्व या कीका गुण समुदाय (द्रव्य) उसका आश्रय पड़ जाता है, इसी प्रकार चालिनी न्यायसे सभी गुण सभी गुणोंके आधारभूत हो जाते हैं क्योंकि गुण समुदायको छोड़कर और कोई द्रव्य पदार्थ नहीं है और निर्गुणा कहनेसे गुणोंमें परस्पर भेद बतलाया है। एक गुणकी विवक्षासे वही उसका आधार है वही उसका आधेय है। एक गुण दूसरे गुणमें नहीं रहता है इसलिये गुण परस्परमें कथञ्चित् भिन्न हैं और कथञ्चित् अभिन्न भी हैं। लक्षण भेदादिकी अपेक्षासे भिन्न हैं, तादात्म्य सम्बन्धकी अपेक्षा अनिन्न हैं हर एक पदार्थकी सिद्धि अनेकान्तके अधीन है, अपेक्षा पर दृष्टि न रखनेसे सभी कथन अव्यवस्थित प्रतीत होता है। इसी बातको पूर्वार्द्धमें स्पष्ट किया गया है "तत्रयतोऽनेकान्तो बलवानिह सत्तु न सर्वथैकान्तः"। सर्व स्यादविरुद्धं तत्पूर्वं तद्विना विरुद्धं स्यात्" अर्थात् अनेकान्त ही बलवान है सर्वथा एकान्त ठीक नहीं है, अनेकान्त पूर्वक सभी कथन अविरुद्ध हो जाता है और उसके बिना सभी विरुद्ध हो जाता है।

**गुणानां चाप्यनन्तस्यैवागल्पवहारगौरवात् ।**

**गुणाः केचित् समुद्दिष्टाः प्रसिद्धाः पूर्वस्तरिभिः ॥ १०१५ ॥**

+ 'द्रव्याध्याया' का यह भी आशय है कि द्रव्यके आश्रयसे गुण जनाद अनन्त होते हैं।



यस्य गुण अनन्त हैं, सब कहे नहीं जा सकते हैं । उनमेंसे कुछ अधिक भी यदि जायें तो भी बचन गौरव होता है इसलिये पृथ्याचार्योंने उनमेंसे प्रसिद्ध कुछ गुणोंका संग्रह किया है ।

पशुनः क्वचित् कस्यापि सीमाज्ञानमनेकम् ॥

मनःपर्यज्ञानं वा तद्वद्वयं भावयेत् समम् ॥ १०१६ ॥

तत्तदापरणस्थोऽयं क्षात्रोपगमिकस्त्वयः ॥

स्याद्यथात्क्षिप्रताज्ञावात्स्याद्व्याप्यपरा गतिः ॥ १०१७ ॥

अर्थ—जो कहीं किसीके अवधिज्ञान होता है वह भी अनेक प्रकार है, इसी प्रकार सर्वज्ञान भी अनेक प्रकार है, इन दोनोंको समान हो ममज्ञाना चादिये । दोनोंही अपने २ कारण कर्मका क्षयोपशम होनेसे होते हैं और कभी २ यथायोग्य भावोंके अनुसार उनकी दूसरी भी गति होती है । भावार्थ—अवधिज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशमसे अवधिज्ञान होता है, परन्तु देव और नारदियोंके भव प्रत्यय भी अवधिज्ञान होता है भवप्रत्ययसे होनेवाला अवधिज्ञान तीर्थकरके भी होता है, अपवाद नियमसे तीर्थकरका भवन होता है । यद्यपि भवप्रत्यय जातिमें भी क्षयोपशम ही अन्तरंग कारण है तथापि सब कारणकी प्रधानतासे भव प्रत्यय को ही मुख्य कारण कहा गया है । देव नारद और तीर्थकर पर्यायमें नियमसे अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम दो जाता है, इसलिये भवकी प्रधानतासे भवप्रत्यय और क्षयोपशम निमित्तक गये अवधिज्ञानके दो भेद किये हैं । और भी अनेक भेद हैं । अवधिज्ञान अपने स्वान्तर और क्षेत्रने क्षेत्रान्तर जाता है उसे अनुगामी कहते हैं, कोई नहीं जाता है उसे अनुगामी कहते हैं, कोई अवधिज्ञान विगुह परिणामोंकी वृद्धिमें बढ़ता है और बाह्य स्वयंके समान बढ़ता ही चला जाता है उसे वर्धमान कहते हैं, कोई संश्लेष परिणामोंके निमित्तसे घटता ही चला जाता है उसे हीयमान कहते हैं, कोई समान परिणामोंमें उद्योत त्यों चला रहता है उसे अवस्थित कहते हैं, और कोई अवधिज्ञान कभी विगुह परिणामोंसे बढ़ता है, कभी संश्लेष परिणामोंसे घटता भी है उसे अनवस्थित कहते हैं । कर्मोंके क्षयोपशमके भेदसे अवधिज्ञान के भी अनेक भेद हो जाते हैं, जैसे देहावधि, परमावधि, सर्वावधि, । देहावधिके भी अनेक भेद हैं, इसी प्रकार परमावधि और सर्वावधिके भी अनेक भेद हैं । इतना विशेष है कि परमावधि और सर्वावधि में दो ज्ञान चरम शरीरी भित्तके ही होते हैं । उठे गुणस्थानमें नीचे नहीं होते हैं । सर्वावधिज्ञान सेवही अनेकानेकों लक्ष्योंको विघ्न करता है, दम्पकी अनेकानेक पुत्रक परमाणु तक विघ्न करता है \* इस प्रकार अवधिज्ञानका बहुत बड़ा

\* पर कथन गोमनद्वाराको अनेकभेद है ।

विस्तार है। कभी मिथ्यात्वोदयके साथ होनेसे कु-अवधिज्ञान (विभंगज्ञान) भी हो जात है यह भी “अपरागति” का आशय है। अवधिज्ञानके समान मन पर्यय ज्ञानके भी अनेक भेद हैं। इतना विशेष है कि चाहे ऋजुमती मन पर्यय ज्ञान हो, चाहे विपुलमती हो, ऋजु गुणस्थानसे नाँचे होता ही नहीं है। विपुलमती मनःपर्यय तो एकवार होकर झूटा नहीं है, वह चरम शरीरीक होता हुआ भी अप्रतिपत्ती है अर्थात् फिर गिरता नहीं, जिससे बारहवें गुणभ्रान तक जाता है। हां ऋजुमतोवाला गिर मो जाता है। बहुतसे मनुष्य ऐसी शंका करते हैं कि ऋजुमती मनःपर्यय ज्ञान ईशमतिज्ञान पूर्वक होता है और ईशमतिज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञान है इसलिये यह भी इन्द्रियजन्य हुआ। ऐसी शंका करनेवालोंसे यह जान लेना चाहिये कि ईशमतिज्ञान वहां पर केवल बाह्यमें आपेक्षिक है, वास्तवमें ऋजुमती मनःपर्यय तो मनमें ठहरी हुई वास्तवका साक्षात्कार करता है, इन्द्रियजन्य ज्ञान पदार्थका प्रत्यक्ष नहीं कराता है। मनःपर्यय ज्ञानमें तो पदार्थका आत्म प्रत्यक्ष हो जाता है इसलिये उक्त शंका निर्मूल है। मनःपर्यय ज्ञान क्षेत्रकी अपेक्षा बाई द्वीप तक ही जान सका है आगे नहीं। द्रव्यकी अपेक्षा अवधिज्ञानके विषयभूत पदार्थके अनन्तमें भाग जान सका है। मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्मके भेदोंकी अपेक्षासे मनःपर्यय ज्ञानके भी अनेक भेद हो जाते हैं, परन्तु अवधिज्ञानकी तरह इसमें मिथ्यापन नहीं आता है।

**मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमेतन्मात्रं सदाननम् ।**

**स्यादा तरतमैर्भावैर्यथा हेतूपलब्धिमात्रम् ॥ १०१८ ॥**

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों तो इस जीवनके संसारावस्थामें सदा ही रहने हैं, इतना विशेष है कि जैसा निमित्त कारण मिल जाता है वैसा ही इन ज्ञानोंमें भी तरतम भाव होता रहता है।

**ज्ञानं यथायदर्थानामस्ति ग्राहकशक्तिमत् ।**

**क्षायोपशमिकं तावदस्ति नादयिकं अयेन ॥ १०१९ ॥**

अर्थ—यद्यपि ग्रहण करनेकी शक्ति रखनेवाला जितना भी ज्ञान है वह सब क्षायोपशमिक ज्ञान है, औदयिक नहीं है।

सु-। यधि और कु-अवधि—

**अस्ति येषावधिज्ञानं हेतोः कृतश्चिदन्तरात् ।**

**ज्ञानं स्यात्सम्पन्नगवधिरज्ञानं कृत्स्नितोऽयधिः ॥ १०२० ॥**

अर्थ—यिमी कारणवश अवधिज्ञानके दो भेद हो जाते हैं। सम्पन्न अवधिको ज्ञान कहने हैं तथा मिथ्या अवधिको अज्ञान कहने हैं। भाष्य—ज्ञानमें तात्पर्य सम्पन्नज्ञान

है । जो ज्ञान मिथ्यादर्शनके उदयके साथ होता है उसे ही मिथ्या अवधि कहने हैं । सम्ब-  
र्द्धके साथ होनेवाले अवधिज्ञानको सम्बन्ध अवधि कहने हैं । प्रायः अवधिज्ञान कहनेसे  
सम्बन्ध अवधि ही प्रदण किया जाता है । मिथ्या अवधिसे विभक्तज्ञान, प्रत्यक्ष उपा-  
य किया जाता है ।

मति भूत भी दो प्रकार है—

अस्ति वेधा मतिज्ञानं भूतज्ञानं च स्याद्विधा ।

सम्बन्ध मिथ्याविशेषाभ्यां ज्ञानमज्ञानमित्यपि ॥१०२॥

अर्थ—मतिज्ञान भी दो प्रकार है और भूतज्ञान भी दो प्रकार है, एक ज्ञान एक  
अज्ञान । सम्बन्धज्ञानको ज्ञान कहने हैं, और मिथ्याज्ञानको अज्ञान कहने हैं ।

त्रिषु ज्ञानेषु चैतेषु तत्स्यादज्ञानमर्थतः । \*

साधोपशमिकं तत्स्यादज्ञानमर्थतः कथिन् ॥ १०२॥

अर्थ—इन तीनों ज्ञानोंमें अर्थात् कुमति, कुभूत, कुमतिमें जो अज्ञान है वह साधोप-  
शमिक ज्ञान है वह अज्ञान वहीं औदयिक नहीं है । भावार्थ—मिथ्याज्ञान भी अपने  
अपने भावणोंके साधोपशमसे ही होते हैं इसलिये वे भी साधोपशमिक भाव हैं, वे मिथ्या-  
दर्शनके उदयके साथ होते हैं इसीलिये मिथ्याज्ञान बदलाते हैं । मिथ्यादर्शनके उदयसे उनके अविद्या-  
कारी ज्ञान भी पदार्थको विपरीत रूपसे ही जानते हैं । परन्तु जानना साधोपशमिक ज्ञान है ।

औदयिक ज्ञान—

अस्ति यत्पुनरज्ञानरथादौदयिकं स्मृतम् ।

तदस्ति शून्यतारूपं यथा निश्चेतनं पशुः ॥ १०३॥

अर्थ—जो अज्ञानभाव औदयिक भावोंमें कहा गया है वह शून्यतारूप है, जैसे कि  
चेतनके निष्ठान्त जानवर शरीर रह जाता है । भावार्थ—जीवके इन्हीं औदयिक भावोंमें अज्ञान  
भी है । वह अज्ञानभाव जीवकी औदयिक अवस्था है । जब तक हम आत्मामें सब पदार्थोंका  
ज्ञान नहीं होता है अर्थात् जब तक केन्द्रज्ञानकी उन्नति नहीं होगी है जब तक उनके अज्ञान-  
भाव रहता है । यह भाव ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होता है । पदार्थ विषयक भाव होने  
ही उसका स्वरूप है । अर्थात् जिनमें अंशोंमें ज्ञानावरण कर्मका उदय रहता है उनके ही  
अंशोंमें अज्ञान भाव रहता है, जैसे अधिज्ञानावरण, सब पदार्थ ज्ञानावरण और केन्द्रज्ञानावरण  
आदि भावोंका उदयसे सब जीवोंके उदय हो रहा है इससे वे सब अज्ञान रूप  
रहते हैं । वह अज्ञान साधोपशमिक नहीं है, यदि वह साधोपशमिक

\* अर्थ—त्रिषु ज्ञानेषु अर्थात् कुमति, कुभूत, कुमतिमें जो अज्ञान है वह साधोपशमिक ज्ञान है ।

अज्ञान है ।

१०३

होना तो औदयिक भावों में नहीं गिनाया जाता, इसका कारण भी यही है कि क्षयोपशमि ज्ञान भी आत्माका गुण है, नितने अंशों में भी ज्ञान प्रकट होनाता है वह आत्माका गुण है, और जो आत्माका गुण है वह औदयिकभाव हो नहीं सकता, क्योंकि उदय तो ऊपर ही होता है, वहीं आत्माके गुणोंका उदय नहीं होता है। इसलिये क्योंकि उदयसे होनेवाली आत्माकी अज्ञान अस्पष्टाको ही अज्ञानभाव कहने हैं वही अज्ञान औदयिक है। जो क ज्ञानारण्य कर्मके क्षयोपशमसे होता है वह क्षयोपशमिक भाव है। इसलिये ही कुपति, कुप और कुभ्रविको क्षयोपशमिक भावों में शामिल किया गया है।

भारत—

एतापतास्ति यो भावो दृग्मोहस्योदयादपि ।

पाकान्नारिघ्नमोहस्य सर्वोऽप्यौदयिकः स हि ॥ १०२४ ॥

अर्थ—इन कथनों यह बात भी सिद्ध हुई कि जो भाव दर्शन मोहनीयके उदयसे होता है और जो भाव नारिघ्न मोहनीयके उदयसे होता है वह सभी औदयिक है।

नया—

न्यायादप्येवमन्येषां मोहादिघातिकर्मणाम् ।

यायास्तत्रोदयाज्जातो भावोऽप्यौदयिकोऽस्ति ॥ १०२५ ॥

अर्थ—इसी प्रकार और भी मोहको आदि लेकर नितने पातिया कर्म हैं उन सबके उदयने जो अत्यन्त भाव होता है वह सब भी न्यायानुसार औदयिक भाव है।

मिरा—

तत्राप्यस्ति निवेकोऽयं श्रंगान्नरोदितो यथा ।

शृङ्गो मां हतो भावः शोणः सर्वोऽपि लौकिकः ॥ १०२६ ॥

अर्थ—उस शृङ्ग कानमें उना मग्न सेना और अज्ञा है कि पातिया कर्मों के उदयने जो भाव होता है वही योदय (औदयिक) भाव है। पातिया कर्मों के उदयने जो भाव होता है वह औदयिक है। यावत्—कानमें जो भाव मोहनीय कर्मों के उदयसे होता है वही निवेको है। वही भाव आत्माकी अज्ञानाका कारण है, उपायो मग्नो कर्मों के उदयसे और उपायो निमित्तसे वह आत्मा मग्नका भाव होता हुआ अज्ञानभाव में अज्ञान होता है, कर्मों के उदयसे अज्ञान भावों के उदयसे होता है। नतीजे के उदयसे होता है और न उन कर्मों की अज्ञाना ही कर्म है।

स यदाश्चरितमज्ञानात् कर्मणोऽप्युदयादपि ।

आदिशस्य दृग्मोहस्यान्योदयात्पुनरादिशः ॥ १०२७ ॥

अर्थ—यह विद्वान्-मोहरूप भाव दर्शनमोहनीय तथा भारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे होता है । इन दोनों कर्मों का उदय बराबर अनादि सन्तति रूपसे संचारी जीवोंके हो रहा है । इसी दोनों कर्मोंके उदयसे आत्माकी जो विसाग्रास्था हो रही है उसे ही मोहरूप औद्यिक मान करते हैं ।

तत्रोद्धेतो यथासूत्रं दृग्मोहस्यादये सति ।

तत्त्वस्याऽप्रतिपत्तिर्या मिथ्यापत्तिः शरीरिणाम् ॥ १०२८ ॥

अर्थ—यथासूत्र उक्त दर्शनमोहनीयके विषयमें ऐसा उद्धेत (कथन) है कि दर्शन-मोहनीय कर्मके उदय होनेपर जीवोंका तत्त्वकी प्रतीति (अज्ञान) नहीं होती है अथवा मिथ्या प्रतीति होता है । भाषार्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदय होनेपर हम भीषकी विवरीत हो बुद्धि हो जाती है । उसे उपदेश भी दिया जाय तो भी ठीकर पदार्थोंमें वह ग्रहण नहीं करता है, यदि करे भी तो उल्टे रूपसे ही ग्रहण करता है । मिथ्यात्व का ऐसा ही माहात्म्य है ।

इमंका गुणका—

अर्थादात्ममद्वेषोऽप्यु कान्मुष्यं दृग्निर्णयान् ।

तत्त्वस्यात्परिणतिमात्रं मिथ्याजात्यनतिप्रमात् ॥ १०२९ ॥

अर्थ—अर्थात् सत्यदर्शनकी निरीत आत्मा हो जानेसे आत्माके प्रतीतिमें कटुता भी जाती है और वह कटुता आत्माका मिथ्यात्वका परिणाम विशेष है ।

तत्र सामान्यमात्रस्यादस्ति यत्तुमशङ्कता ।

अर्थ—सामान्य उदय हो रहा है वह अनुद्विपूर्वक है—सामान्य है इसलिये विवेचनमें नहीं आ सकता है । अतः उसका अनुद्विपूर्वक उदय स्वीकारे कहा जाता है ।

अनुद्विपूर्वक मिथ्यात्वकी सिद्धि—

निर्दिशपातमके तत्र न स्याज्जनोरसिद्धता ।

स्वसंवेदनसिद्धत्वाद्युक्तिस्तानुभवागमैः ॥ १०३० ॥

अर्थ—सामान्य अर्थात् अनुद्विपूर्वक मिथ्यात्वकी किमी हेतुसे अस्तिद्धि नहीं हो सकती है । क्योंकि अनुद्विपूर्वक मिथ्यात्व स्वसंवेदन ज्ञानसे भङ्गीभूति सिद्ध है । तथा युक्ति, अपने

\* मिथ्यात्वके औचित्य उद्देश्य परंपरा में कहा है ।

कहा है अस्तिमात्र उद्देश्य या अनुभव । नोपदेश ।

अनुभव और आगमसे भी सिद्ध है। भावार्थ—हर एक संसारी जीवके मिथ्यात्वका उदय रहा है यह बात आगमसे तो सिद्ध है ही, किंतु युक्ति और अपने अनुभवसे भी सिद्ध है इसी बातको नीचेके श्लोकसे स्पष्ट करते हैं—

सर्वसंसारिजीवानां मिथ्याभावो निरन्तरम् ।

स्याद्विशेषोपयोगीह केषाञ्चित् संज्ञिनां मनः ॥ १०३२ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण संसारी जीवोंके निरन्तर मिथ्याभाव होरहा है, परन्तु किन्हीं संज्ञी जीवोंका मन उस मिथ्याभावकी ओर विशेष उपयोगवाला हो रहा है। भावार्थ—यद्यपि सामान्य रीतिसे असंज्ञी जीवों तक तो सभीके मिथ्यात्व कर्मका उदय होरहा है, संज्ञियोंमें भी बहुत भाग जीव मिथ्यात्वसे ग्रसित होरहे हैं, वे सभी उस मिथ्यात्वके उदयसे उसी प्रकार मूर्छित होरहे हैं जिस प्रकार कि गाढ़ रीतिसे मदिरा पीनेवाला मूर्छित होजाना है। जिस प्रकार मद्यपायी पुरुषको कुछ स्मरण नहीं रहती है उसी प्रकार उन जीवोंको भी कुछ स्मरण नहीं है, क्योंकि फलको भोगते जाते हैं और नवीन कर्मोंका बन्ध भी करते जाते हैं। अनन्त कालक उनकी ऐसी ही अवस्था रहती है। वे अपने समीचीन गुण पुञ्जको खोजते हैं, निषट् अज्ञानी भी बन चुके हैं, परन्तु उनकी यह अवस्था अज्ञानभावोंमें ही लीप्त रहती है असंज्ञी जीव कर्मबन्ध करनेमें तथा उसका फल भोगनेमें बुद्धिपूर्वक उपयुक्त नहीं होसकते हैं। बुद्धिपूर्वक उपयोग लगानेमें संज्ञी जीव ही समर्थ हैं इसलिये किन्ने ही संज्ञी जीव अपने उपयोगको उस मिथ्याभावकी ओर विशेषतासे लगाते हैं, अर्थात् वे मिथ्या सेवनमें जान बूझ कर अनभिप्राय प्रवृत्ति करते हैं। तथा दूसरे जीवोंको भी उसमें लगाते हैं ऐसे ही जीव बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व सेभी बंधे जाते हैं।

अथवा—

तेषां वा संज्ञिनां नूनमस्त्यनवस्थितं मनः ।

कदाचित् सोपयोगि स्यान्मिथ्याभावार्थभूमिषु ॥ १०३३ ॥

अर्थ—अथवा उन संज्ञी जीवोंका मन चञ्चल रहता है इसलिये मिथ्याभाव पूर्ण पक्षोंमें कभी २ उपयुक्त होता है। भावार्थ—कोई संज्ञी जीव मिथ्यात्व प्रवृत्तिमें सराबोर होता है और कोई कभी २ छोड़ता है।

अथवा—

ततो न्यायागतो जन्तोर्मिथ्याभावो निसर्गतः ।

उत्क्रामोदत्योदयादेव वर्तते वा प्रवाहयत् ॥ १०३४ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् जन्तु न्यायानुसार मिथ्यात्वसे उत्पन्न होता है किन्तु जो कि जन्तु जन्मके दशमबोधनीय कर्मके उदयसे ही स्वतन्त्र मिथ्यात्व हो जाता है, और उसका प्रवाह अनदिहाउसे अनन्तकाल तक चला करता है।

मिथ्यात्वका कार्य—

कार्यं तदुदयस्योद्यैः प्रत्यक्षात्सिद्धमेव यत् ॥

स्वरूपानुपलब्धिः स्यादन्यथा कथमात्मनः ॥ १०३५ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका कार्य प्रयत्नसे ही सिद्ध है कि आत्माके स्वरूप-  
में प्राप्ति नहीं होने पाती । यदि दर्शनमोहनीय कर्मका उदय न होता तो अवश्य ही आत्माके  
में स्वरूपकी उपलब्धि हो जाती । इसलिये आत्माके स्वरूपको नष्ट करना ही दर्शनमोहनीय  
का कार्य है ।

स्वरूपानुपलब्धिः कथं—

स्वरूपानुपलब्धौ तु बन्धः स्यात्कर्मणो महान् ।

अथैवं शक्तिमात्रं तु वेदितव्यं सुदृष्टिभिः ॥ १०३६ ॥

अर्थ—आत्माके स्वरूपकी अनुपलब्धि होनेसे कर्मोंका तीव्र बन्ध होता है । इस प्रकार  
शक्तियोंको जान लेना चाहिये कि दर्शनमोहनीय कर्ममें ऐसी शक्ति है ।

प्रसिद्धरपि भास्यन्निरलं दृष्टान्तकोटिमिः

अथैवमेवमेवं स्यादलङ्घ्या वस्तुशक्तयः ॥ १०३७ ॥

अर्थ—प्रसिद्ध तथा ज्वलन्त (पुष्ट) ऐसे कर्मोंका दृष्टान्त भी यदि दिये जायें तो भी  
ही बात सिद्ध होगी कि मोहनीय कर्ममें इसी प्रकारकी शक्ति है, जिस वस्तुमें जो शक्ति है  
ही अनिवार्य है । मोहनीय कर्ममें आत्माके स्वरूपको नष्ट करनेकी शक्ति है, इस शक्तिको  
से कर्मसे कोई दूर नहीं कर सका है । क्यों कि भिन्न २ वस्तुओंकी भिन्न २ ही शक्तिया  
ही हैं और जो जिसका स्वभाव है वह अमिट है ।

यथा—

सर्वे जीवमया भावा दृष्टान्तो बन्धसाधकः ।

एकत्र व्यापकः कस्मादन्यत्राऽव्यापकः कथम् ॥ १०३८ ॥

उपर—

अथ तथापि केषाञ्चिद संज्ञिनां बुद्धिपूर्वकः ।

मिथ्याभावो गृहीताख्यो मिथ्यार्थाकृतिसंस्थितः ॥ १०३९ ॥

अर्थ—किन्हीं २ संज्ञी जीवोंके बुद्धिपूर्वक—गृहीत मिथ्यात्व होता है, वह वस्तुओंमें

मिथ्या भावों को लिये हुए होता है। भावार्थ—बन्धका कारण असलमें मिथ्यात्वभाव है और इसके मूल मिथ्यादर्शन व मिथ्याचारित्र्य ये दो भेद हैं और उत्तर भेद असंख्यात लोक हैं। मिथ्यात्वके संवेधसे ही अन्य भाव भी बन्धके कारण कहलाते हैं इसलिये मिथ्यात्वके सहचारी भावोंमें बन्धके साधकपनेका नियम व्याप्त होकर रहनाता है और स्वरूपोपनि मिथ्यादर्शनका सहचारी भाव नहीं है इसलिये उनमें यह नियम व्याप्त होकर नहीं रहता।

अर्थादेकविधः स स्याज्जातिरनतिक्रमादिह ।

लोकासंख्यातमात्रः स्यादालापपेक्षयापि च ॥१०४०॥

अर्थ—अर्थात् वह मिथ्याभाव जातिकी अपेक्षासे एक प्रकार है, अर्थात् मिथ्याभावोंके निमित्त भी भेद हैं उन सबमें मिथ्यात्व है इसलिये मिथ्यात्वकी अपेक्षासे तो कौन्सा ही मिथ्या भाव क्यों न हो सब एक ही है, और आलाप (भेदों) की अपेक्षासे वह असंख्यात लोक प्रमाण है।

आलापोंके भेद—

आलापोप्येकजातियौ नानारूपोपपन्नकथा ।

एकान्तो विपरीतश्च यथेत्पादिक्रमादिह ॥१०४१॥

अर्थ—जो एक जातिका आलाप (भेद) है वह भी अनेक रूपोंमें विभक्त होनेसे अनेक प्रकार है। जैसे—एकान्त मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व इत्यादि। भावार्थ—मिथ्यात्व कर्मके अनेक भेद हैं परन्तु जो एक भेद है वह भी अनेक प्रकारका है, कभी इस जीवके विपरीत भाव होता है, कभी एकान्तभाव होता है, कभी संशयभाव होता है, कभी अज्ञानभाव होता है कभी विनयभाव होता है इत्यादि सभी भाव मिथ्यात्वके एक भेदमें ही गणित है। इसका खुलासा इस प्रकार है कि हर एक कर्मके अनेक भेद होते हैं और उन अनेक भेदोंमें प्रत्येक भेदका भी तरतमस्वरूप अनेक प्रकार होता है। दृष्टान्तके लिये ज्ञानावरण कर्मको ही लेलीजिये ज्ञानावरण कर्मके सामान्य रीतिसं पांच भेद हैं—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण मन. पर्ययज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण। उनमें जो मतिज्ञानावरण है वह भी अनेक प्रकार है, किसी वर्गणामें \* तीव्र अनुभाग बन्ध होता है और किसीमें कम होता है, किसी वर्गणकी स्थिति अधिक पड़ती है, किसीकी कम पड़ती है। तथा एक प्रकारकी सत्ताधिक रखने वाले भी कर्म पित्र भिन्न कार्यों द्वारा फलीभूत होने हैं। इन्हीं कर्मोंके भेद प्रवेदोंसे भ्रमोंके भाव भी अनेक प्रकारके होते रहते हैं। वास्तवमें आत्माका ज्ञान गुण एक है, उसके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि भेद केवल कर्मोंके निमित्तसे हुए हैं, और उन भेदोंमें भी

\* वर्गोंके समूहोंके वर्णना कहते हैं। मनन अधिभाग मतिवेदोंका कारण बनना कहते हैं। अतः २ वर्ग समूहकी विभिन्न २ वर्णनाये होता है।





बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वके कतिपय दृष्टान्त—

बुद्धिपूर्वकमिथ्यात्वं लक्षणाह्नक्षितं यथा ।

जीवादीनामश्रद्धानं श्रद्धानं वा विपर्ययात् ॥ १०४५ ॥

अर्थ—बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वका जो लक्षण किया गया है वह इस प्रकार है—जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान नहीं करना, अथवा उनका उल्टा श्रद्धान करना ।

तथा—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रागेवात्रापि दर्शिताः ।

नित्यं जिनोदितैर्वाक्यैर्ज्ञातुं शक्या न चान्यथा १०४६ ॥

दर्शितेष्वेपि तेपूञ्चैर्जनैः स्वाद्यादिभिः स्फुटम् ॥

न स्वीकरोति तानेव मिथ्याकर्मोदयादपि । \* ॥ १०४७ ॥

अर्थ—सूक्ष्म पदार्थ—परमाणु धर्मादि द्रव्य, अन्तरित पदार्थ—राम रावणादि, दूर ती पदार्थ—सुमेरु अकृत्रिम कैत्यालय आदि । इसका वर्णन पहले भी आ चुका है । ये प्रागे जिनोदित कथित—आगमसे ही जाने जा सकते हैं अन्यथा नहीं । इन पदार्थोंका स्वभाव प्रागंत आचार्योंने अच्छी तरह शास्त्रोंमें विवेचन किया है परन्तु मिथ्यात्व कर्मके उत्पत्ति मिथ्यादृष्टि पुरुष उनको नहीं स्वीकार करता है । भावार्थ—जैनाचार्योंने प्रथमानुयोग—शास्त्रों मोसगामी—उत्तम पुरुषोंके जीवन चरित्र लिखे हैं परन्तु मिथ्यादृष्टि पुरुष उस कथनको ही मिथ्या समझता है, वह समझता है कि जिन राम रावणादिका चरित आचार्योंने लिखा है वह केवल काल्पनिक है वास्तवमें राम रावण आदिक हुए नहीं हैं । यह आचार्योंकी कल्पना उपन्यासकी तरह समझानेके लिये है । इसी प्रकार सुमेरु, विदेह आदि जो उसके सत्य प्रतीत हैं उन्हें भी वह मिथ्या समझता है । मिथ्यात्व कर्मने उसकी आत्मापर इतना बुरा प्रभाव डाल दिया है निमित्त कि उसकी बुद्धि सत्यपदार्थोंकी ओर जाती ही नहीं है । वास्तवमें नञ्चक तीव्र कर्मका प्रकोप इस आत्मापर रहता है नञ्चक इसका कल्याण होता ही नहीं है । जिन नीबोद्य कर्म शान्त हो जाता है उनके अन्तरंग किताड़ तुरन्त खुल जाते हैं और उनके समय वे सुखमें लगे जाते हैं । स्वामी विद्यानन्दि गौतम गणेश आदिके ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो कि पढ़ते मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उन्हीं पदार्थोंको भ्रमरूप समझने में परन्तु कि निमित्तवत् मिथ्यात्व कर्मके दृष्ट नानेसे उन्हीं पदार्थोंको पदार्थ समझने लगे । जो जैन नहीं आचार्योंकी कही हुई तत्त्व कितासिकी (तत्त्व विज्ञान) को ठीक मानते हैं और उन्हीं आचार्योंकी कही हुई प्रथमानुयोग कथनीको काल्पनिक समझने हैं उन्हें सोचना चाहिए कि

● मिथ्यात्वके कारणसे देना श्रद्धानिष्ठ पुण्यकर्म पाठ है ।

आचार्योंको ऐसी क्या आवश्यकता पड़ी थी जो कि बिना किसी प्रयोजनके करना करके जेबोंको डगने ! यदि यही कर्तव्य उनको करना शेष था तो क्यों सांसारिक सुखका परिष्कार कर कठिन ता करनेके लिये भयास्पर्द जंगलको उन्होंने निवास स्थान बनाया था ? यदि कहा जाय कि भ्रमना कल्याण करनेके लिये तो दूसरे जेबोंको प्रतारण करना आत्म-कल्याण नहीं कहा जा सकता है ! इनलिसे आचार्योंकी कृतिको जो मिथ्या बतलाते हैं वे बिकारे मिथ्यात्व कर्मोदयके सत्ताये हुए हैं । दूसरी बात यह है कि कल्याणसे शिक्षा अवश्य मिलती है परन्तु शिक्षा नबन्ना पण्डित न बननी नहीं हो सकता, और बिना निश्चय तथा परिज्ञान हुए उस शिक्षाको सुखद शिक्षा नहीं कहा जा सकता । पञ्चपुराणमें लिखा है कि रामजने केलास पर्वत उद्गमके पीछे उस पर्वत पर जब वैताल्य और मुनिमहाराजके चर्चन किये तब भक्तिसे बड़ा अपने हामकी नखलो बिकाहा बना कर उनके गुणोक्त गद्गद मान किया । इसी प्रकार वज्रजने मुनिपदाराजके दर्शन कर अनुभवोंको मदन किया, कल्याणचन्द्रको सीताके जीवने बहुत कुछ विचलित करनेका उपयोग किया, परन्तु वे मानने लगे ही बने रहे, किमिन्मात्र भी विचलित न हो सकें; इत्यादि बातोंको यदि कि माना जाता है तब तो मनुष्य उसी प्रकारकी क्रियाओंने अपने भावोंका सुधार कर लेंगे हैं और रामजने समान भाविरसमें मान हो सकते हैं, वज्रजनेके समान अपने जेब-मोका छोड़ सकते हैं; रामचन्द्रके मुक्त ध्यानमें निश्चय-उपयोगी बन सकते हैं । भजनचोर लीसे पुण्योंके आगे शीछेके कर्तव्योंने भावोंका वैविध्य जान गन्ते हैं । परन्तु इन सब बातोंको कालान्तिक समझनेसे कुछ कार्य सिद्ध नहीं हो जाता है, क्योंकि कल्याणमें राम-सकी भक्ति, रामचन्द्र-उनका ध्यान, वज्रजने-उनका सुधार, भजनचोर-उनकी काया उदर, ये सब कार्य मिथ्या ही प्रतीत होतीं । ऐसी अवस्थामें किस आधार पर और किस आदर्शसे शारकी यथार्थ शिक्षा ली जा सकती है ! शिक्षासे पाव किया वह नरकको गया, किसीने प्य किया वह स्वर्गको गया, यह पाप पुण्यका फल भी मिथ्या ही प्रतीत होगा, क्योंकि कल्याणमें न कोई स्वर्ग, गया भरे न नरक गया, ऐसी अवस्थामें नरक स्वर्ग क्याका भी जानी है । केवल वे ही लीसे समझ जागी हैं जो कि भजनचोर-वज्रजने आ गये हैं, सोस पदार्थ कुछ पदार्थ नहीं उद्हरते । प्रसन्न पदार्थोंमें बुद्धि न जानेसे भजनचोर के हाथ भी उतना ही समझता है जितना कि वह देखता है । ऐसी निरति भवविपर्यय हमके उदयसे होता है ।

विश्वस्तु कर्मोदयो लोभगले बाध—

ज्ञानानन्दो यथा स्यात्तं मुक्तात्मनो यदन्यथात् ।

विनामप्यक्षरशरीरेभ्यः प्रोक्तमस्त्यस्ति यत् न या ॥ १०४८ ॥

अर्थ—ज्ञान और सुख आत्माके गुण हैं इसलिये वे इन्द्रिय और शरीरके भी मुक्त जैविक निरन्तर रहते हैं, इसी विषयमें मिथ्यादृष्टि विचार करता है कि कहना ठीक है अथवा ठीक नहीं है । भावार्थ—ज्ञान और सुख आत्माके निज गुण गुणोंका कभी नाश नहीं होता है, यदि गुणोंका ही नाश हो जाय तो द्रव्यका भी नाश हो जाय, और द्रव्यका नाश होनेसे शून्यताका प्रसंग आवेगा इसलिये गुण पुनः सदा दृष्टोत्कीर्णके समान अखण्ड रहता है परन्तु संसारमें ज्ञान और सुखका अनुशरीर और इन्द्रियोंके द्वारा ही होता रहता है । यद्यपि इन्द्रियोंसे आत्मीक सुख स्वाद नहीं आता है । आत्माका सुख तो आत्मामें ही स्वयं होना है, इन्द्रियोंकी बाधक हैं इन्द्रियों द्वारा जो सुख होता है वह केवल शुभ कर्मका फलस्वरूप तथापि मिथ्यादृष्टि उसी सुखको आत्मीक सुख समझने लगता है, इन्द्रियजन्य ज्ञानसे वह यथार्थ-प्रत्यक्ष और पूर्ण ज्ञान समझता है । और उसी समझके अनुसार वह परमात्मना करता है कि बिना इन्द्रिय और शरीरके सुख और ज्ञान ही नहीं सके हैं इसीलिये वह मुक्तात्माओंके ज्ञान, सुखमें सन्देह करता है कि बिना शरीर और इन्द्रियोंके मुक्तात्माओंके ज्ञान और सुख जो बताया है वह हो सक्ता है या नहीं । वास्तवमें इन्द्रियजन्य ज्ञान सीमाबद्ध और परोक्ष होता है, जहाँपर इन्द्रियोंसे रहित-अतीन्द्रिय ज्ञान होता है वही पर उसमें पूर्णता और निर्मलता आती है । मुक्त भावोंके जो ज्ञान होता है वह अतीन्द्रिय होता है । इसी प्रकार उनके जो सुख होता है वह इन्द्रियोंसे सर्वत्र निवृत्त होता है, इन्द्रियजन्य जो सुख है वह कर्मादयः जनित है इसलिये दुःख ही है । मिथ्यादृष्टि दुःखको ही सुख समझता है ।

और भी—

स्यतः सिद्धानि द्रव्याणि जीवादीनि किलेति यद् ।

प्रोक्तं जैनागमे यस्तस्याद्या नेच्छेदनात्मयित् ॥ १०४९ ॥

अर्थ—जैन शास्त्रोंमें स्वतः सिद्ध भीवादिक छह द्रव्य कहे गये हैं वे ही सके हैं या नहीं । ऐसी भी भावना वह व्याप्तस्वरूपाको नहीं जाननेवाला—मिथ्यादृष्टि करता है ।

और भी—

नित्यानित्यात्मकं तत्त्वमेकं चैकपदे च यत् ।

स्याद्या नेति विरुद्धस्यात् संशयं कुरुते कुरह ॥ १०५० ॥

अर्थ—पशुपति नित्यानित्यात्मक है, एक ही पदार्थमें नित्यता और अनित्यता रहते हैं । इस विषयमें भी मिथ्या दृष्टि संशय करता है कि एक पदार्थमें नित्यता और अनित्यता दो पदार्थ रह सके हैं या नहीं । वह समझता है कि नित्यता और अनित्यता

मत्सर विरोधी है इस लिये उनका एक पदार्थमें रहना असम्भव है । भावार्थ—पदार्थ  
इष्ट्य दृष्टिसे सदा रहता है उसका कभी भी नाश नहीं होता है । परन्तु पर्याप्त दृष्टिसे  
वह अनित्य है । जैसे मनुष्य मरकर देव हो जाता है । यहां पर जीवकी मनुष्य पर्यायका  
तो नाश हो गया और देव पर्यायका उत्पन्न हो गया परन्तु जीवका न तो नाश हुआ है  
और न उत्पन्न हुआ है । जो जीव मनुष्य पर्यायमें था वही जीव अब देव पर्यायमें है,  
इस लिये जीवद्वयकी अपेक्षासे तो जीव नित्य है परन्तु जीवकी पर्यायोंकी अपेक्षासे  
जीव अनित्य है अतः जीवमें कथंचित् नित्यता, और कथंचित् अनित्यता दोनों ही धर्म  
रहते हैं, परन्तु जिस अपेक्षासे नित्यता है उस अपेक्षासे अनित्यता नहीं है, यदि जिस  
अपेक्षासे जीवमें नित्यता है उसी अपेक्षासे उसमें अनित्यता भी मानी जावे तब तो असम्भव  
निमित्त संभव है परन्तु अपेक्षाके न समझनेसे ही मिथ्या दृष्टि इन धर्मोंको विरोधी समझता है ।

और—

अप्यनास्मीपभावेण यावन्नो कर्म कर्मसु ।

अहमास्मेति बुद्धिर्वा हृन्मोहस्य विजृम्भितम् ॥ १०२१ ॥

अर्थ—कर्म—ज्ञानावरणादि, जो कर्म-शरीरादि जो आत्मासे भिन्न पदार्थ हैं उन पदार्थों  
में मैं आत्मा हूँ, इस प्रकार जो बुद्धि होती है वह दर्शनमोहकी चेष्टा है । भावार्थ—  
दर्शन मोहनीयके उदयसे यह जीव शरीरादि अह पदार्थोंको ही आत्मा समझता है ।

और—

अदेवं देवबुद्धिः स्यादगुरौ गुरुधीरिव ।

अधर्मे धर्मवज्ज्ञानं हृन्मोहस्यानुशासनात् ॥ १०५२ ॥

अर्थ—दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे यह जीव अदेवने देवबुद्धि, अगुरुमें  
गुरुबुद्धि और अधर्मे धर्मबुद्धि करता है ।

और भी—

धनधान्यसुताद्यर्थं मिथ्यादेवं दुराशयः ।

सेवते कृतिसत्तं कर्म कुर्यात्ता मोहशासनात् ॥ १०५३ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मके बलीभूत होकर यह जीव अनेक छोटे २ आदरोंको  
हरणसे रतकर धन धान्य पुत्र आदि की प्राप्ति के लिये मिथ्या देवोंकी सेवा करता है । तथा  
अन्य धर्म भी करता है । भावार्थ—जो लोग बुराई दृष्टिसे धन, पुत्री, भैरों, भद्र-  
सेन, नाता आदि कुरेवोंकी पूजा करते हैं तथा जो द्वेषादिक नियम धर्मोंमें मरुप होते हैं  
वे सब मिथ्या कर्मके बलीभूत हैं ।



द्विपूर्वक राग नहीं होता है । जैसे-दिध्याष्टि शरीरादि-मित्र पदार्थोंमें आत्मत्व-बुद्धिसे  
 उप कर सका है परन्तु सम्यग्दृष्टि शरीरादिमें राग अवश्य कर सका है किन्तु आत्मत्व-  
 बुद्धिसे नहीं कर सका है । क्योंकि शरीरादिमें आत्मत्वबुद्धि करनेवाला तो केवल  
 कर्ममोह है ।

शायं—

पञ्चमौदयिका भाषाधत्वारो गतिसंश्रिताः ।

केपलं पन्थकर्तारो मोहकर्मोदयात्मकाः ॥ १०५६ ॥

अर्थ—इस प्रकार गतिकर्मके आश्रयसे चार औदयिक भाव होते हैं । परन्तु कर्मके  
 होनेवाले केवल मोहकर्मके उदयसे होनेवाले ही भाव हैं । भा. अर्थ—विना मोहनीय कर्मके  
 गति कर्मका उदय कुछ नहीं कर सका है, केवल उदयमें आकर स्थिर जाता है ।

कपाय भाव—

कपायाध्यापि चत्वारो जीयस्यौदयिकाः स्मृताः ।

क्रोधो मानोऽय माया च लोभयेति चतुष्टयात् ॥ १०५७ ॥

ते चाऽऽत्मोत्तरभेदश्च नामतोप्यत्र षोडश ।

पञ्चविंशतिकाध्यापि लोकासंख्यातमात्रकाः ॥ १०५८ ॥

अथवा शक्तितोऽनन्ताः कपायाः कल्मषात्मकाः ।

यस्मादेकैकमालापं प्रत्यन्ताश्च शक्तयः ॥ १०५९ ॥

अर्थ—क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कर्मायें भी जोड़के औदयिक भाव हैं ।  
 और उन कर्मायोंके अनेक उत्तर भेद हैं वे सब भी औदयिक भाव हैं । कर्मायोंके उत्तर  
 भेद नामकी अपेक्षासे सोलह भी हैं तथा पचीस भी है । परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे उनके  
 अनेकालोक प्रमाण भी भेद हैं । अथवा शक्तिकी अनेकाने उन कर्मायोंके अनन्त भी  
 भेद हैं । क्योंकि एक १ भेदके प्रति अनन्त अनन्त शक्तियाँ हैं । ये सब कर्मायें पारस्परिक  
 अर्थात् सभी कर्मायें आत्माके गुणोंका पात करनेवाली हैं । भा. अर्थ—सामान्य रूपसे  
 क्रोध मान माया लोभ ये कर्मायोंके चार भेद हैं, अनन्तादुःखि, अपत्यरूपान, मत्वाङ्गानु  
 सृज्यन्त इन् भेदोंकी अपेक्षासे उनके सोलह भेद हैं । अर्थात् इन चारों भेदोंमें क्रोध  
 मान माया लोभ जोड़ देनेसे सोलह भेद हो जाते हैं । इन्हींमें दामय, दृष्टि, अशक्ति, लोभ,  
 लज्जा, दुःख, दुःख, दुःख, नृपसक भेद इन नौ मोहकर्मोंको जोड़ देनेसे उनके पञ्चविंश  
 हो जाते हैं । अन्तर्भेद और शक्तियोंकी अपेक्षासे उनके अनन्तालोक अनेकाने भेद





चारित्र्यमोहके भेद—

तस्माच्चारित्र्यमोहश्च तद्भेदाद्विशिष्टो भवेत् ।

पुत्रलो द्रव्यरूपोस्ति भावरूपोस्ति चिन्मयः ॥ १०६१ ॥

अर्थ—इस लिये उसके भेदसे चारित्र्य मोह दो प्रकार है एक द्रव्य रूप, दूसरा भावरूप।  
इत्यर्थ—चारित्र्य मोह पुत्रल स्वरूप है और भावरूप चारित्र्य मोह चैतन्य स्वरूप है ।

व्याख्या—चारित्र्यमोह कर्मके उदयसे जो आत्माके चारित्र्य गुणकी राग द्वेष रूप वैभाविक प्रकृति है उसीसे चारित्र्य मोहनीय कर्मके दो भेद होजाते हैं, एक द्रव्य मोह दूसरा भाव मोह । पौत्रलिक चारित्र्य मोह द्रव्य मोह है और उसके निमित्तसे होनेवाले आत्माके राग-रूप भाव, भावमोह है ।

द्रव्य मोह—

अस्त्वेतं मूर्तिमद्द्रव्यं नाम्ना कथ्यतः स पुत्रलः ।

वैकृतः सोस्ति चारित्र्यमोहरूपेण संस्थितः ॥ १०६२ ॥

अर्थ—रूप रस गन्ध स्पर्शका नाम मूर्ति है । जिस द्रव्यमें ये चारों गुण पाये जायें उसे मूर्तिमान द्रव्य कहते हैं, ऐसा मूर्तिमान द्रव्य उहाँ द्रव्योपमेसे एक है और वह पुत्रलके रूपसे मूर्तिमान है । उसी पुत्रल ही एक वैभाविक प्रयोग चारित्र्य मोहरूप है ।

पृष्ठीपिण्डसमानः स्यान्मोहः पौत्रलिकोऽखिलः ।

पुत्रलः स स्वयं नाम्ना सिद्धो धर्मोऽप्योरपि ॥ १०६३ ॥

अर्थ—पौत्रलिक चित्तना भी मोह है सभी पृष्ठी पिण्डके समान है, वह स्वयं पुत्रल है आत्मा नहीं है पौत्रलिक द्रव्यमोह और आत्मा इन दोनोंका परस्पर सम्बन्ध होता है ।

भाव मोह—

विविधस्यापि मोहस्य पौत्रलिकस्य कर्मणः ।

उदयादात्मनो भावो भाव मोहः स उच्यते ॥ १०६४ ॥

अर्थ—दोनों प्रकारके पौत्रलिक मोहनीय कर्मके उदयसे आत्माका जो भाव होता है उसे ही भाव मोह कहते हैं । व्याख्या—द्रव्यमोहके उदयसे होनेवाली आत्माकी वैभाविक प्रकृति का नाम ही भावमोह है ।

भाव मोहका स्वरूप—

जले जम्बालवन्मूत्रं स भावो मन्दिनी भवेत् ।

बन्धनेतुः स एव सः सः सः सः सः सः सः सः ॥ १०६५ ॥

अर्थ—जबमें जलमें मूत्र ( दूध दूध, के जलमें उत उत मन्दिनी हो जाता है, उसी प्रकार वह भाव भी ( रागद्वेषरूप ) मन्दिनी होता है, तथा वही बन्धन बन्धन बन्धन



अर्थ—उस भाव कर्मके निमित्तसे क्षानावरणादि रूप पुत्रल कर्म आते हैं ( आत्माके बंधे हैं ) इसलिये यह कारणरूप है । भावार्थ—भाव कर्मोंके निमित्तसे नवीन कर्मोंका होता है, उन कर्मोंके निमित्तसे नवीन भाव मोह पैदा होता है, फिर उससे नवीन कर्म-मोह पैदा होता है उन कर्मोंके निमित्तसे दूसरा भाव मोह पैदा होता है । इस प्रकार यह परस्पर कार्य-कारण भाव सन्तति अनादि काटसे चली आ रही है । एक बार द्रव्य मोह कारण पड़ता है मोह उसका कार्य पड़ता है । इस प्रकार परस्पर इन दोनोंमें निमित्त नैमित्तिक भाव है ।

विशेष—

विशेषः कोप्ययं कार्यं केवलं मोहकर्मणः ।

मोहस्यास्यापि बन्धस्य कारणं सर्वकर्मणाम् ॥ १०७१ ॥

अर्थ—इस भावमोहमें इतनी कोई विशेषता है कि यह कार्य तो केवल मोहनीय है, परन्तु कारण उस मोहनीय कर्म तथा सम्पूर्ण कर्मोंके बन्धक है । भावार्थ—द्रव्य के उदयसे ही भाव मोह होता है इसलिये यह कार्य तो केवल मोह कर्मका ही है । सम्पूर्ण कर्मोंमें स्थिति अत्रुभाष डालनेवाला वही एक भाव मोह है इसलिये यह कारण कर्मोंका है ।

साध—

अस्ति सिद्धं ततोऽन्योन्यं जीवपुत्रलकर्मणोः ।

निमित्तनैमित्तिकोभायो यथा कुम्भकुलालयोः ॥ १०७२ ॥

अर्थ—इस लिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि जिस प्रकार कुम्हार और बटका नैमित्तिक भाव है उसी प्रकार जीव और पुत्रल कर्मोंका परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव यथा पर दृष्टान्तका उद्दिष्ट अंश ही लेना चाहिये, दृष्टान्त स्पष्ट है ।

अन्तर्दृष्ट्या कषायाणां कर्मणां च परस्परम् ।

निमित्तनैमित्तिकोभायः स्यान्नस्याजीवकर्मणोः ॥ १०७३ ॥

अर्थ—बाह्य दृष्टिसे तो जीव और कर्मोंका परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है परन्तु अन्तर्दृष्टिसे कषायोंका निमित्तनैमित्तिक भाव है । अन्तर्दृष्टिसे जीव कर्मका नहीं है । अर्थ—जीवके चारित्र गुणका विकार राग द्वेष है और वही राग द्वेष कर्म बन्धक सिद्ध है अन्तर्दृष्टिसे कषाय भाव चारित्र गुणकी वैमर्शिक अवस्था और कर्मोंका ही उपर्युक्त है । स्पष्ट दृष्टिसे जीवका भी कहा जा सकता है ।

यदि जीवका ही उपर्युक्त भाव माना जाय तो—

यतस्तत्र स्वयं जीवे निमित्ते सति कर्मणाम् ।

नित्या स्यात्कर्तृता चेति न्यायान्मोक्षो न कस्याचित् ॥ १०७४ ॥

अर्थ—यदि कर्म क्लृप्ता निमित्त कारण स्वयं नीव ही माना जाय तो नीव तब कर्म क्लृप्ता कर्ता ही बना रहेगा । फिर किसी नीवकी कमी भी मोल नहीं हो सकेगी । इसलिये कर्म क्लृप्ता करनेवाड़े आत्माके वैभाविक भाव कषाय भाव ही हैं । जब तक उन क्षयोंकी सत्ता है, तभी तक आत्मा कर्म क्लृप्त करता है, उनके अभावमें कर्म क्लृप्त नहीं करता है । नीव स्वयं कर्मक्लृप्ता कारण नहीं है । किन्तु अशुद्ध नीव है ।

इत्येवं ते कषायाख्यास्त्यारोप्यौदयिकाः स्मृताः ।

चारित्रस्य गुणस्यास्य पर्याया वैकुण्ठात्मनः ॥ १०७५ ॥

अर्थ—इस प्रकार वे चारों ही कषायों औदयिक कही गई हैं । वे कषायों आत्मके चारित्र गुणकी वैभाविक पर्यायें हैं ।

नोकषाय—

लिङ्गाभ्यौदयिकान्येव त्रीणि स्त्रीपुंसपुंसकान् ।

भेदात् नोकषायाणां कर्मणामुदयान् किल ॥ १०७६ ॥

अर्थ—श्रीशैव, श्रीवैश्व, नानुसक्त वेदके भेदसे तीन प्रकारके लिङ्ग भी औदयिक बन हैं । वे चार नो कषाय कर्मोंके उदयसे होते हैं ।

चारित्र भेदके भेद—

चारित्रमोहकर्मतद्विधिषु परमागमात् ।

भाष्यं कषायमित्युक्तं नोकषायं विलीयकम् ॥ १०७७ ॥

अर्थ—नेमाजमें चारित्र मोह कर्मोंके दो भेद किये हैं । पहला—कषाय, दूसरा—नोकषाय । भाष्य—नो आत्माके गुणोंको कौ भर्त्ता उन्हें नष्ट करे उसे कषाय कहते हैं, और दूसरा धर्म कषायको नोकषाय कहते हैं । नो नाम ईश्वर-नोदेहा है, वे दो भेद चारित्र नोदयिक हैं ।

नो कषायके भेद—

नञ्चापि नोकषायाख्या नञ्चा स्तुतिविधानतः ।

अहस्तो हस्तारत्ना शोको भीर्तुगुणोति त्रिलिङ्गकम् ॥ १०७८ ॥

अर्थ—नो कषायके दो भेद हैं—हस्त, शोक, भीरु, शोक, नञ्, नृगुणा, शोको, अहस्त, अहस्तारत्ना । भाष्य—नोकषायके उदयसे ही भाष्य उसे हस्त नोकषाय कहते हैं । शोक उदयसे शिखरिणी उदयसे (नञ्) को उसे शोक कहते हैं । शोक

नोकषाय नञ्चापि नोकषायाख्या नञ्चा स्तुतिविधानतः । अहस्तो हस्तारत्ना शोको भीर्तुगुणोति त्रिलिङ्गकम् ॥ १०७८ ॥

उदयसे अस्त हो उसे अरति कहते हैं । जिसके उदयसे शोक हो उसे शोक कहते हैं । जिसके उदयसे उद्वेग ( मय ) हो उसे मय कहते हैं । जिसके उदयसे दुर्मोहो वह जीव प्रकट करे और अपने दोषोंको छिपावे उसे नुगुप्ता कहते हैं । अप-  
 दोषोंसे घृणा करना भी नुगुप्ता है । जिसके उदयसे खीन भाव हो अर्थात् खीनके साथ रम-  
 करनेकी वाञ्छा हो उसे खी वेद कहते हैं । जिसके उदयसे प्रुस्त्व भाव हो अर्थात् प्रुस्त्वकी  
 रमण करनेकी वाञ्छा हो उसे प्रुवेद कहते हैं । जिसके उदयसे नपुंसकत्व भाव हो अर्थात् नपुं-  
 प्रुस्त्व दोनोंसे रमण करनेकी वाञ्छा हो उसे नपुंसक वेद कहते हैं । ये नौ नो रूपाय कर्मोंके  
 वेद हैं । इन्हींके उदयसे ऊपर कहे हुए कार्य होते हैं । इतना विशेष है कि कहीं पर जैन  
 भाव वेद होना है वैसा ही दम्भ वेद होता है परंतु कहीं कहीं पर दम्भ वेद दूसरा होता है  
 और भाव वेद दूसरा । आत्म्याके भावोंको भाव वेद कहने हैं और शरीरके आकारको दम्भ वेद  
 कहते हैं । यदि कोई पुरुष पुरुषके साथ रमण करनेकी वाञ्छा करे तो उसके दम्भ वेद तो  
 पुरुष वेद है परन्तु भाव वेद भी वेद है । प्रायः अधिकतर दम्भके अनुद्वेग ही भाव होता है,  
 केतु कहीं १ पर विषमता भी हो जाती है । इन तीनों वेदोंके उदयसे जैसे इन तीनों  
 परिणाम होते हैं उसका क्रम आचार्योंने इस प्रकार बताया है । पुरुषकी काम वासना तृणकी  
 अग्निके समान है । जिस प्रकार तृणकी अग्नि उत्पन्न भी शीघ्र होती है और मत्स्य होकर  
 शान्त भी शीघ्र ही होनाती है । खीकी काम वासना कण्टकी अग्नि (उपकोटी अग्नि)के  
 समान होती है कण्टकी अग्नि उत्पन्न भी देरसे होती है और उठरती भी अधिक देर तक  
 है । इसी प्रकार खियोंकी काम वासना बिना निमित्तकी प्रवृत्ताके सदा दबी ही रहती है वान्धु  
 प्रक निमित्तके बिछने पर उत्पन्न होकर फिर शान्त भी देरसे होती है । इसी छिये आवश्यक है  
 कि खियोंको ऐसे निमित्तोंसे बचाया जावे । और सदा समुपदेशकी उन्हें शिक्षा दी जावे । ऐसी  
 आत्म्यामें उनकी कामवासना कभी दीप्त नहीं हो सकती है वान्धु आनन्दके शितिकम्पन  
 के ही उपयोग करते हैं । यह उनका दयाका परिणाम केवल हिमाय है और अनर्थक  
 है । यदि स्वभावगुण खियोंको सदा सम्यग्दर्शकी शिक्षा दी जावे तो वे दबी नहीं  
 हैं । नपुंसककी काम वासना इदोंके पाक (अग्नि)के समान होती है  
 उनकी अग्नि दोनोंकी अवेला आग्नि दीप्त होती है । समारी और इन्हीं वेदोंके  
 साथे हुए हैं । शान्तारवे दिवार किया प्राय तो अर्थो २ विषय संयमको लक्ष्य यह दृष्ट्य  
 १ २ इसकी अग्नि और वाञ्छा करती ही जाती है, तब तो इन वेदोंके  
 अधिक संयमसे समुप्य वृत्तिकी वाञ्छा कराना है वान्धु उप अग्नि के विना नहीं

है कि अग्निहोत्र शान्त करनेके लिये क्या उसमें लकड़ी डालनेकी आवश्यकता है। यदि विषय सेवन वृत्तिका मार्ग है तो अनादिकालसे अभी तक क्यों नहीं वृत्ति हो पाती ! हमने हमसे मितना नत्तरी सम्बन्ध बुझाया जाय और इनकी ओर विरक्तता की भाव उत्पन्न हो परन्तु मूल सम्मत्ता चाहिये ।

ततश्चारित्रमोहस्य कर्मणो ऋदुषाद्भुवम् ।

चारित्रस्य गुणस्यापि भाषा वैभाषिका अमी ॥ १०७९ ॥

अर्थ—हमलिये चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाले ये नोकराय भी कर्मके गुणके वैभाषिक भाव हैं ।

प्रत्येकं त्रिविधान्येष लिङ्गानीह निसर्गतः ।

द्रव्यभाषयिभेदाभ्यां सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात् ॥ १०८० ॥

अर्थ—संज्ञाही भाषा—भाग्यके अनुसार प्रत्येक लिङ्ग स्वभाषसे ही द्रव्य रेद, वर रेद इन दोनोंसे दो दो प्रकार हैं । इन दोनोंका वर्णन पहले श्लोकमें सविस्तर दिया गया है ।

नाम कर्म—स्वरूप—

भस्ति यन्नामकर्मकं मानारूपं च चित्रयत् ।

पौत्रलिकमचिरूपं स्यात्पुत्रलयिपाकि यत् ॥ १०८१ ॥

अर्थ—नाम कर्मोंमें एक नाम कर्म है वह विशेषके समान अनेक रूपका है, अर्थात् भस्ति प्रकार चित्रकार आने इत्त कौशलसे अनेक प्रकारके चित्र बनाता है उसी प्रकार नाम कर्म एवं जो आने अनेक प्रकारोंसे अनेक प्रकार बनाता है । शरीर, संवदन, गति, भाषि, अज्ञोपज्ञ आदि सभी रचना इस नामकर्मके उदयसे ही होती है । इसका बहुत बड़ा भिन्न है । नाम कर्म पौत्रलिक है, पुत्रलिकी वैभाषिक व्यञ्जन पर्वण्य है । इसीसे वह यह है, की पुत्र लिये है ० वाच्यार्थ—पुत्र कर्म तो ऐसे हैं जिनका पुत्रमें ही निष्पन्न होता है । अर्थात् उदयसे ही उनका उत्पन्न होता है, पुत्र एवं ऐसे हैं जिनका स्वरूप ही निष्पन्न होता है, अर्थात् उनका उदय वनी आता है जब कि संगती नोच एक दृष्टिसे जोरके रूप स्वरूपसे नाम कर्मके स्वरूप नामा विप्रद गतिमें होता है । पुत्र एवं ऐसे हैं जो अन्वयमें है अर्थात् सत्यार्थ पर्वण्यमें ही उनका उत्पन्न होता है, की पुत्र एवं ऐसे हैं जो अन्वयमें है, अर्थात् उनका उत्पन्न होता है ।

य कर्म कर्मके पुत्र लिये नहीं है । १० ॥ १०८१ ॥ उदय ॥ १०८१ ॥ अर्थात् नाम कर्म के उत्पन्न होने पर पुत्र लिये ही है, इसका ( ० पुत्रलिक भाषण ) अर्थ है ।

उनमें ११ प्रकृतियाँ प्रकृत विभाकी हैं । पाँच शरीरोंसे लेकर स्पर्शपर्यन्त \* १० प्रकृतियाँ, तथा निर्माण, आताप, उद्योत, स्थिर, अम्भिर, शुभ, अशुभ, प्रत्येक साधारण, अगुरुलघु, उपधात पाचात ये नाम कर्मकी ११ प्रकृतियाँ प्रकृत विभाकी हैं इनका फल शरीरमें ही होता है । नरकादि चारों आयु भव विभाकी हैं । आयुका कार्य प्राप्त हुई पर्यायमें नियमित स्थिति तक रोकना है । इसलिये आयुका फल नरकादि चारों पर्यायोंमें ही होता है । चार आनुपूर्वी प्रकृतियाँ क्षेत्र विभाकी हैं । आनुपूर्वी कर्म उसे कहते हैं कि जिस समय जीव पूर्व पर्यायको छोड़ कर उत्तर पर्यायमें जाता है, उस समय भव तक वहाँ नहीं पहुँचा है, तब तक मध्यमें उस जीवका पहली पर्यायका आकार बनाये रखते । चार गतिपां हैं इस लिये आनुपूर्वी प्रकृतियाँ भी चार ही हैं । जिस आनुपूर्विका भी उदय होता है वह पहली पर्यायके आकारको रक्षती है । इसी लिये आनुपूर्वी प्रकृतियाँ क्षेत्र विभाकी हैं । इनका फल परलोक गमन करते समय जीवकी मध्य अवस्थामें ही आता है । निम्न लिखित ७८ प्रकृतियाँ जीव विभाकी हैं वेदनीयकी २, गोत्रकी २, धातिपा कर्मोंकी ४७ और २७ नाम कर्मकी । नाम कर्मकी २७ प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं । तीर्थंकर, उच्छृंग, वादर, सुक्ष्म, पर्वस, अपर्वास, सुस्तर, दुस्तर, आदेय, अनादेय, यशस्कीर्ति, अयशस्कीर्ति, ज्ञस, स्यावर, शुभविहाययोगति, अशुभ विहायोगति, सुमग, दुर्भग, नरकगति, तिर्यगगति, मनुष्यगति, देवगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय जाति, ये प्रकृतियाँ जीव विभाकी हैं ।

अंगोपाङ्ग और शरीरनामकर्मके कार्य—

अङ्गोपाङ्ग शरीरं च तद्भेदोऽस्मोऽप्यभेदवत् ।

तद्विधाकास्थितिक्रानामाकाराः सम्भवन्ति च ॥ १०८२ ॥

अर्थ—उसी नाम कर्मके भेदोंमें एक अंगोपाङ्ग और एक शरीर नाम कर्म भी है । ये दोनों ही भेद नाम कर्मसे भिन्न हैं । इन्हीं दोनोंके उदयसे लीबेद, पुंवेद और नपुंसक-वेदके आकार होते हैं । भावार्थ—शरीर और अंगोपाङ्ग नाम कर्मके उदयसे इस शरीरके शरीर और अंग तथा + उपाङ्ग बनते हैं, शरीरके मध्य तीनों वेदोंके आकार भी इन्हीं दोनों कर्मोंके उदयसे बनते हैं । वेदोंसे यहाँ पर द्रव्य वेद समझना चाहिये ।

\* ५ शरीर, १ अङ्गोपाङ्ग, ५ वचन, ५ वपाठ, १ वपापन, १ उरनन, ८ ररु, ५ ररु, २ गण, ५ वर्ण ।

+ यकका बाहू च तथा निम्न दुष्टो उद्योत लीलोच ।

महेव तु अंगार्थे देदे सता उवेगाह ॥

अर्थ—दो रेर, दो हाथ, निम्न, (पूतक), पीठ, पैर, पिर ये आठ वे अंग वेद वरुण्डे हैं बाकी सब उपाङ्ग कहलाते हैं । वेदे उदात्तियाँ, वाच, नाक, दृष्ट, आले आदि । गोमहसार ।

द्रव्य वेदसे भाव वेदमें कार्यकता नहीं आती—

**त्रिलिङ्गाकारसम्पत्तिः कार्यं तन्नामकर्मणः ।**

**नास्ति तद्भावलिङ्गेषु मनागपि करिष्युता ॥ १०८३ ॥**

अर्थ—स्त्रीवेद अथवा पुरुषवेद अथवा नपुंसकवेदके आकारका पाना नाम कर्मका कार्य है । इस आकारकी भावलिङ्गोंमें कुछ भी कार्यकारिता नहीं है । भावार्थ—नाम कर्म केवल द्रव्यवेद—शरीरमें लिङ्गाकृतिको बनाता है, स्त्री पुरुषोंके भावोंमें जो रमण करनेकी वाञ्छा होती है व भाव वेद कहलाता है । ऐसा भाव वेद नाम कर्मके उदयसे नहीं होता है । जब तक भाव वेदका उदय न हो तब तक केवल द्रव्य वेद कुछ नहीं कर सकता है, केवल आकार मात्र है । इसीलिये नवमें गुणस्थानसे ऊपर केवल वेदोंका द्रव्याकार मात्र है ।

भाव वेदका कारण—

**भाववेदेषु चारित्रमोहकर्मशकोदयः ।**

**कारणं नूनमेकं स्यान्नेतरस्योदयः कश्चित् ॥ १०८४ ॥**

अर्थ—भाववेदोंके होनेमें केवल एक चारित्र मोहकर्मका उदय ही निश्चयसे कारण है, किसी दूसरे कर्मका उदय उनके होनेमें कारण नहीं है ।

वेदोंके कार्य—

**रिरंसा द्रव्यनारीणां पुंवेदस्योदयात्किल ।**

**नारी वेदोदयाद्वेदः पुसां भोगाभिलाषिता ॥ १०८५ ॥**

**नालं भोगाय नारीणां नापि पुंसामशक्तितः ।**

**अन्तर्दग्धोस्ति यो भावः स्त्रीपुंवेदोदयादिव ॥ १०८६ ॥ ×**

अर्थ—पुंवेदके उदयसे द्रव्य स्त्रियोंके साथ रमण करनेकी वाञ्छा होती है । स्त्री वेदके उदयसे पुरुषोंके साथ भोग करनेकी अभिलाषा होती है । और जो अशक्त सामर्थ्य हीन होनेसे न तो स्त्रियोंके साथ ही भोग कर सकता है, और न पुरुषोंके साथ ही कर सकता है किन्तु दोनोंकी वाञ्छा रखता हुआ हृदयमें ही मला करता है ऐसा भाव नपुंसक वेदके उदयसे होता है ।

वेदोंकी सम विषयता—

**द्रव्यलिङ्गं यथा नाम भावलिङ्गं तथा कश्चित् ।**

**कश्चिद्व्यतमं द्रव्यं भावव्यान्यतमो भवेन् ॥ १०८७ ॥**

× संघोषित पुस्तकमें स्त्रीवेदोदयादिव, पाठ है । इसका कोई भय भी नहीं निकलता है ।

— वेदोंकी वेद पुंमं लट्ठभो उदयतिवदिरिषो ।

इहाकृषिगणमानय वेदगणभो कटुगणितो ॥

वर ननुवक्ता लखर है ।

गोपबन्धनार ।



अर्थ—कहीं पर ऐसा द्रव्यवर्ण होता है वैसा ही भाववर्ण भी होता है । कहीं पर द्रव्यवर्ण दूसरा होता है और भाववर्ण दूसरा होता है ।

उदाहरण—

यथा दिविजनारीणां नारीयेदोस्ति नेतर ।  
देवानां चापि सर्वेषां पाकः पुंवेद एव हि ॥ १०८८ ॥

अर्थ—जिनकी भी पारों निरायोंके देवोंकी देवियों हैं उन सबके स्त्रीवेद ही भाववेद होता है, दूसरा नहीं होता । और जिनके भी देव हैं उन सबके पुंवेद ही भाववेद होता है दूसरा नहीं होता । भावार्थ—देव देवियोंके द्रव्यवेद और भाववेद दोनों एक ही होते हैं । भोग भूमौ च नारीणां नारीयेदो नचेतरः । पुंवेदः केवलः पुंसां नान्यो वाऽन्योन्यसंभवः ॥ १०८९ ॥

अर्थ—भोगभूमिमें स्त्रियोंके स्त्रीवेद ही भाववेद होता है दूसरा नहीं होता ! और उनके पुंवेदोंके केवल पुंवेद ही भाववेद होता है, दूसरा नहीं होता अपवा इन दोनोंमें भी स्त्र विषमता नहीं होती । भावार्थ—देव देवियोंके समान इनके भी समान ही वेद होता है, देवियों और भोगभूमिके स्त्री पुंवेद इनके नपुंसक वेद तो दोनों प्रकारका होता ही नहीं और स्त्रीवेद भी द्रव्यभाव समान ही होता है विषम नहीं । नारकाणां च सर्वेषां वेदश्चैको नपुंसकः । द्रव्यतो भावतश्चापि न स्त्रीवेदो न वा पुमान् ॥ १०९० ॥

अर्थ—सम्पूर्ण नारकियोंके एक नपुंसक वेद ही होता है । वही तो द्रव्यवेद होता है ही भाववेद होता है । नारकियोंके द्रव्यसे अथवा भावसे स्त्रीवेद, पुंवेद सर्वथा नहीं ।

तिर्यग्जाती च सर्वेषां एकाक्षाणां नपुंसकः ।  
वेदो विकलप्रयाणां स्त्रीयः स्यात् केवलः किल ॥ १०९१ ॥  
पञ्चाक्षासंशितां चापि तिरश्चां स्यान्नपुंसकः ।

द्रव्यतो भावतश्चापि वेदो नान्यः कदाचन ॥ १०९२ ॥  
—तिर्यग् जातिमें सभी एकेन्द्रिय जीवोंके नपुंसकवेद ही होता है, जितने भी द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय ( हैं उन सबके केवल नपुंसक वेद ही होता है । ती भासंती पञ्चेन्द्रिय हैं उन सबके भी केवल नपुंसक वेद ही होता है । वही है और वही भाव वेद होता है । दूसरा वेद कभी नहीं होता । त्र्यम्भूमौ मनुष्याणां मानुषीणां तथैव च । रश्मां वा तिरश्चीनां त्रयो वेदास्तथोदयात् ॥ १०९३ ॥

लिये सचिष्ट त्याग प्रतिमावाला पदार्थोंको अचित्तवनाकर साता है। हरीको नहीं साता है, जलको प्राप्नुक बनाकर पीता है। यद्यपि ऐसा करनेसे वह जीव हिंसासे मुक्त नहीं होता, तथापि नितेन्द्रिय अवश्य हो जाता है। स्वादिष्ट पदार्थोंको अस्वादिष्ट बनानेसे इन्द्रियोंकी कालसायें कम हो जाती हैं - इन्द्रिय संयम पालनेवाला ही आगे चलकर आठवीं आरंभ त्याग प्रतिमामें प्राण संयम भी पालने लगता है। परन्तु संकल्पी हिंसाका त्यागी पहलेसे ही होता है। आठवीं प्रतिमामें आरंभ जनित हिंसाका भी वह त्यागी हो जाता है।

**इत्युक्तलक्षणो यत्र संयमो नापि लेशतः \***

**असंयतत्वं तन्नाम भावोस्त्वौदयिकः स च ॥ ११२४ ॥**

अर्थ—ऊपर कहा हुआ दोनों प्रकारका संयम जहांपर लेश मात्र भी नहीं पाया जाता है वहीं पर असंयत भाव होता है, वह आत्माका औदयिक भाव है।

संज्ञाकार—

**ननु वाऽसंयतस्त्वस्य कथायाणां परस्परम् ।**

**को भेदः स्याच्च चारित्रमोहस्यैकस्य पर्ययात् ॥ ११२५ ॥**

अर्थ—असंयत भाव और कथायोंमें परस्पर क्या अन्तर है क्योंकि दोनों ही एक चारित्र मोहनीयकी पर्याय हैं। अर्थात् दोनों ही चारित्र मोहके उदयसे होते हैं ?

+ इन्द्रियोंकी कालसायें घट जानेसे मनुष्य अरुण तथा परछा बहुत कुछ उपकार कर सकता है। अनेक कर्तव्योंमें सफलता प्राप्त कर सकता है। परन्तु उनकी इच्छा होनेसे मनुष्यका बहुतसा समय इन्द्रिय भोग्य भोग्य पदार्थोंकी योजनामें ही चला जाता है। तथा विषयावलता में वह निज कर्तव्यको भूल भी जाता है।

\* केद्यतः पाठसे यह बात प्रकट होती है कि उक्त दोनों समय यथाशक्ति जपन्य अवस्थामें भी पाले जाते हैं। इसी लिये जो नियम रूपसे पांचवीं प्रतिमामें नहीं हैं वे भी पाक्षिक अवस्थामें भी अभ्यास रूपसे हरितादिका त्याग कर देते हैं। कुछ नये शिक्षार्थ पांचवीं प्रतिमामें नीचे हरितादिके त्यागका विवेचन करते हैं, प्रत्युतः हरितादि भक्षणका विधान कछे है यह उनकी बड़ी भूल है, क्योंकि विधानका कही उपदेश नहीं है विद्वाना भी कपन है वह निवेचन छुल्ले है चाहे वह बोले ही अंशोंमें क्यों न हो। पांचवीं प्रतिमामें तो हरितादिका त्याग आवश्यक है, उससे नीचे यद्यपि आवश्यक नहीं है तथापि अभ्यास रूपसे उतका करना प्रशस्त ही है। जितने अंशोंमें भी त्याग मार्ग है उतना ही अभ्यास है। इसलिये जो पुरुष अमर्षी है, यदि वे हरिका पक्षमें त्याग करते हैं, उगवादि भक्षण करते हैं अशुद्धता त्याग करते हैं तो ऐसी अवस्थामें भक्षण वे शुभ प्रवृत्तिवाले हैं। भले ही वे मन्द शक्ती हो परन्तु अनन्य स्थानर जीवोंके बचते बच बर्धने। जितनी भी प्रतिमामें है उनी त्यागकी मर्शदाकी आवश्यक बतझाती है परन्तु उनके नीची भेजीवाका भी केद्य मात्र त्यागी भवता नव्यन रूपाने दुर्ब शक्ती भी बन सता है।



अर्थ—चारित्र्य मोह कर्ममें भी स्वभासे दो शक्तियाँ हैं—(१) असंयत (२) काय

उद्धाकार—

ननु येयं सति न्यायात्तरसंख्या चाभिगर्भताम् ।

यथा चारित्र्यमोहस्य भेदाः पञ्चविंशतिः स्फुटम् ॥ ११३३ ॥

अर्थ—यदि कथाय और अमंयतभाव दोनों चारित्र्य मोहके ही भेद हैं तो चारित्र्य मोहनीयकी संख्याका बढ़ना भी न्याय संगत है । पचीसके स्थानमें अमंयत भावको मिलाने उंचीस भेद उठाने होने चाहिये !

उत्तर—

सत्यं पञ्चातिभिज्ञास्ता यत्र कार्माण्यवर्गणाः ।

+ आद्यापपेक्षयाऽसंख्यास्तत्रैवान्यत्र न कश्चित् ॥ ११३४ ॥

नात्र तत्रातिभिज्ञास्ता यत्र कार्माण्यवर्गणाः ।

किन्तु शक्तिविशेषोऽस्ति सोऽपि जात्यन्तरात्मकः ॥ ११३५ ॥

अर्थ—ठीक है, जहाँपर भिन्न भिन्न जातियोंमें पँटी हुई कार्माण्य वर्गनावे होती हैं वहीं पर आद्याप ( भेद ) की अपेक्षासे असंख्यात वर्गणायें भिन्न २ होती हैं । अन्यत्र भिन्न जातिवाली वर्गणायें होती हैं वहीं पर आद्यापकी अपेक्षासे संख्या भेद होता है, जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ कर्मोंकी संख्या भी भिन्न नहीं समझी जाती है । यहाँ पर भिन्न जातिवाली वर्गणायें नहीं हैं किन्तु एक चारित्र्य मोहनीयकी ही हैं इसलिये मोहकी छब्बीसकी संख्या नहीं हो सकती है परन्तु शक्ति भेद अवश्य है, वह भी स्वभाव वाला है । भावार्थ—जहाँ पर जातिकी अपेक्षासे वर्गणाओंमें भेद होता वहीं पर कर्मोंके नाम भी जुड़े २ हो जाते हैं जैसे—मतिज्ञानावरण भुक्तज्ञानावरण परन्तु जहाँ पर जातिभेद नहीं है किन्तु शक्ति भेद है वहाँ पर कर्मोंकी नाम जुड़ी जुड़ी नहीं होती । जैसे—एक ही मतिज्ञानावरण सयोपशमके भेदसे भेदवाला है । दृष्टान्तके लिये धत्तूरको ही ले लीजिये । धत्तूरकी जड़ भिन्न है उसके भिन्न काममें आते हैं तथा उसके फल भिन्न काममें आते हैं परन्तु कहा जाता है । इसलिये जहाँ पर शक्ति भेद होता है । यदि बिना जातिभेदके केवल शक्तिभेदसे ही नाम भेद

कथाय सम्यक्त्व और

मोहनीयके छब्बीस भेद होने चाहिये ।

न कश्चित् पेषा यद्योचित पुस्तकमें  
वृथया अर्थ लिखा गया है ।

कषायके कुछ स्पर्धक प्रमत्त भावको पैदा करते हैं, कुछ नहीं करते वहां भी शक्ति भेदसे चारित्र्य मोहके अधिक भेद होने चाहिये ! ॥ लिये जहां जातिभेद होता है वहीं पर संख्या भेद भी होता है यहां पर जातिभेद नहीं है । जहां पर मित जातिकी कषाय है वहां पर उसी जातिका वताभाव-असंयत है ।

कषाय और असंयमका लक्षण—

तत्र यन्नाम कालुष्यं कषायाः स्युः स्वलक्षणम् ।

व्रताभावात्मको भावो जीवस्यासंयमो मतः ॥ ११३६ ॥

अर्थ—जीवके कलुषित भावोंका नाम ही कषाय है यही कषायका लक्षण है । तथा

जीवके मन रहित भावोंका नाम ही असंयम है । भावार्थ—कषायका स्वरूप गोमट्टसारमें भी इस प्रकार कहा है " सुहृदुःखसुखदुःखसंस्पर्शकर्मस्वेतं कसेदि जीवस्स, संसारदूरंभं तेण क्खामोस्सि णं वेति । सम्मत्तरेत्तसयल चरित्तमहत्ताद् चरण परिणा॥ घादंति वा कषाया चउत्तोळ असंत्त-  
छोगमिदा " मित प्रकार कोई किसान एक बीघा, दो बीघा दश बीघा खेतको जोतता है, जोतनेके पीछे उसमें धान्य पैदा करता है । उसी प्रकार यह कषाय तो किसान है, जीवका कर्मरूपी खेत है, उस खेतकी अनन्त संग्रार हव ( मर्यादा ) है, उस खेतको यह कषायरूपी किसान बराबर जोतता रहता है, फिर उससे साप्ताहिक सुख दुःखरूपी धान्य पैदा करता है । अर्थात् जो जीवके परिणामोंको हलके सवान कषयता रहे उसे, कषाय कहते हैं । अपना सम्पत्त्व, देशचारित्र्य, सकलचारित्र्य, यथाख्यातचारित्र्य रूप जीवके शुद्ध परिणामोंको जो पावे उसे कषाय कहते हैं । कषायें चार हैं—(१) क्रोध (२) मान (३) माया (४) लोभ । ये चारों ही क्रमसे चार चार प्रकारके होते हैं उनके दृष्टान्त इस प्रकार हैं—एक तो ऐसा क्रोध जैसे कि पत्थर पर रेखा । एक ऐसा जैसे पृथ्वी पर रेखा । एक ऐसा जैसे धूलिपर रेखा । एक ऐसा जैसे पानीपर रेखा । पत्थर पर की हुई, रेखा गाढ़ होती है, बहुत काल तक तो ऐसी ही बनी रहती है । पृथ्वीपर की हुई उससे कम कालमें नष्ट हो जाती है, इसी प्रकार धूलि और जल-रेखायें क्रमसे अति शीघ्र मिट जाती हैं । क्रोध कषायका यही भेद क्रमसे नरक, विद्वक्, मनुष्य देवगतिप्राप्तिमें जीवको लेजाता है । जैसे क्रोधकी तीक्ष्णमन्दादिकी अंशतासे चार शक्तियां हैं उसी प्रकार मान, माया, लोभ की हैं । मानके दृष्टान्त—पर्वत, हज़ारे, काठ, बैल । मान कषायको कठोरताकी उपमा दी गई है । पर्वत बिड़कुल सीधा रहता है थोड़ा भी नहीं मुड़ता । इसी प्रकार तीन मानी सदा पर्वतके समान कठोर और सीधा रहता है, इनसे कम दमैवाले मानीको हड्डीकी उपमा दी है । हड्डी पण्डि कठोर है तथापि पर्वतकी अंशता कम

। काठ

। क्रमसे बहुत कम कठोरता है । ये चारो मान कषायें भी क्रमसे नरकादि हैं । मायाको कठता ( कुटिलता—झगड़ना—झुका हुआ ) की उपमा

दी है उसके दृष्टान्त ये हैं—बेणुके नीचेका भाग, भैंसका सींग, गौका मूत्र, खुरपा । बेणुके नीचेका भाग बहुत गांठ गंठीला होता है । तथा उत्तरोत्तर कम कुटिलता है । वे चारों भाग कपायें भी क्रमसे नरकादि गतियोंमें ले जानेवाली हैं । लोमकी चिच्छन्तासे उपमा दी है । उसके दृष्टान्त ये हैं—कृमि राग, अर्थात् हिरमिनीका रंग पहियेकी ओगन, शरीरका मल, हल्दीका रंग । ये चारों लोम कपायें भी क्रमसे नरकादि गतियोंमें ले जानेवाली हैं । जीवके व्रत रहित भावोंका नाम असंयम है, किन्हीं परिणामोंमें यह जीव अष्टमूल गुणोंको भी धारण नहीं कर सकता है । किन्हीं परिणामोंमें अष्ट मूल गुणोंको धारण कर लेता है परन्तु अणुव्रतोंको नहीं धारण कर सकता है । कहींपर अणुव्रतोंको तो धारण कर लेता है परन्तु उनके अतीचारोंको नहीं छोड़ सकता है । कहीं पर महाव्रतोंको धारण नहीं कर सकता है । जब तक असंयम भावका उदय रहता है तब तक आत्मा व्रतोंको धारण करनेके लिये तत्पर नहीं होता है ।

कपाय और असंयमका कारण—

एतद्व्यैतस्य हेतुः स्याच्छक्तिद्वैतैककर्मणः ।

चारित्रमोहनीयस्य नेतरस्य मनागपि ॥ ११३७ ॥

अर्थ—कपाय भाव और असंयम भावका कारण—दो शक्तियोंको धारण करनेवाला केवल चारित्र मोहनीय कर्मका उदय है । किसी दूसरे कर्मका उदय इन दोनोंमें सर्वथा कारण नहीं है ।

दोनों साथ ही होते हैं—

यौगपद्यं द्वयोरेव कपायासंयतस्वयोः ।

समं शक्तिद्वयस्योच्चैः कर्मणोस्य तथोदयात् ॥ ११३८ ॥

अर्थ—कपायभाव और असंयतभाव ये दोनों साथ साथ होते हैं, क्योंकि समान दो शक्तियोंको धारण करनेवाले चारित्र मोहनीय कर्मका उदय ही ऐसा होता है ।

दृष्टान्त—

अस्ति तत्रापि दृष्टान्तः कर्मोन्नतानुबन्धि यत् ।

धातिशक्तियपोपेतं मोहनं इच्छारित्रयोः ॥ ११३९ ॥

अर्थ—दो शक्तियोंको धारण करनेवाले कर्मके उदयसे एक साथ दो भाव उत्पन्न होते हैं इस विषयमें अनन्तानुबन्धी कपायका दृष्टान्त भी है—सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्रको धारण करने से ही दो शक्तियोंको धारण करनेवाली अनन्तानुबन्धी कपायमित्र समय उदयमें आती है उस समय सम्यग्दर्शन और चारित्र दोनों ही गुण नष्ट हो जाते हैं ।

धर्माकार—

ननु पापस्याकृष्यानादिकर्मणामुदयात् क्रमात् ।

देशादुत्सन्नमताद्वानां क्षतिः स्यात्तत्कथं स्मृतौ ॥ ११४० ॥

अर्थ—जब कि अप्रत्याख्यानके उदयसे देशव्रतकी और प्रत्याख्यानके उदयसे महाव्रतकी व्रत क्रमसे क्षति होती है तब अप्रत्याख्यानके उदय समयमें महाव्रत क्यों नहीं होता क्योंकि उस समय महाव्रतको रोकनेवाला प्रत्याख्यानका तो उदय रहता ही नहीं और यदि अप्रत्याख्यानके उदयकालमें प्रत्याख्यानका भी उदय माना जाय तो दोनोंका क्रमक्रमसे उदय क्यों कहा है !

उत्तर—

सत्यं तत्राविनाभाचो बन्धसत्त्वोदयं प्रति ।

इयोरन्यतरस्यातो विवक्षायां न वृणम ॥ ११४१ ॥

अर्थ—अप्रत्याख्यानके उदयकालमें प्रत्याख्यानका भी उदय रहता है इसलिये तो अप्रत्याख्यानके उदयकालमें महाव्रत नहीं होता और पांचवें गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानके उदयका अभाव होनेपर भी प्रत्याख्यानका उदय रहता है इसलिये कथंचित् व्रमसे उदय कहा जाता है तथा अप्रत्याख्यानका उदय कहनेसे प्रत्याख्यानका भी उदय आनाता है क्योंकि अप्रत्याख्यानके बंध उदय और सत्त्व प्रत्याख्यानके बंध उदय और सत्त्वके साथ अविनाभावी है, अर्थात् प्रत्याख्यानके बंधोदय सत्त्वके बिना अप्रत्याख्यानके बंध उदय सत्त्व नहीं होसकता है इसलिये चौथे गुणस्थान तक दोनोंका उदय रहते हुए भी अप्रत्याख्यानका उदय बढनेमें कोई दोष नहीं आता । अविनाभावी पदार्थोंमें एकका कथन करनेसे दूसरेका कथन स्वयं होनाया करता है । यहाँ यह शंका होसकती है कि जब अन्यतरका ही (मिसी एकका) प्रयोग करना है तब अप्रत्याख्यानके स्थानमें प्रत्याख्यानका ही प्रयोग क्यों नहीं किया जाना अर्थात् जैसे अप्रत्याख्यानके उदयसे प्रत्याख्यानके उदयका बोध होता है उसी प्रकार प्रत्याख्यानका उदयसे अप्रत्याख्यानके उदयका भी बोध हो जाना चाहिये परंतु इसका उत्तर यह है

प्रत्याख्यानका उदय अप्रत्याख्यानके उदयके बिना भी रह जाना है । इसका कारण यह है कि प्रत्याख्यानका प्रयोग नहीं होसकता ।

अतिशयभाव—

असिद्धत्वं भवेद्भाषो मूनमौदधिको घतः ।

व्यस्ताया स्पारसमस्ताया जातेः कर्माष्टकोदयात् ॥ ११४२ ॥

अर्थ—असिद्धत्वभाव भी औदयिक भाव है । यह भाव अठों वर्षोंके उदयसे होता है । मिन २ वर्षोंके उदयसे भी होता है और अठों वर्षोंके सम्मिलित उदयसे भी होता है ।

सिद्धत्वगुण—

सिद्धत्वं कृत्स्नकर्मभ्यः पुंसोवस्थान्तरं पृथक् ।

ज्ञानदर्शनसम्पत्त्ववीर्याद्यष्टगुणात्मकम् ॥ ११४३ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण कर्मोंसे रहित पुंल्यकी शुद्ध अवस्थाका नाम ही सिद्धत्वगुण अथवा

सिद्धावस्था है। वह अवस्था ज्ञान, दर्शन, सम्पत्त्व, वीर्यादि आठ गुण स्वरूप है।  
 भाचार्य—ज्ञानावरण कर्मने आत्माके ज्ञानगुणको ढक रक्खा है। जीवोंमें ज्ञानकी जो न्यूना-  
 धिकता पाई जाती है वह ज्ञानावरण कर्मकी न्यूनाधिकताके निमित्तसे ही पाई जाती है।  
 मूर्खोंसे विद्वानोंमें, विद्वानोंसे महाविद्वानोंमें ज्ञानका आधिक्य पाया जाता है उनसे ऋषियोंमें,  
 तथा उनसे महर्षियों और गणवरोंमें ज्ञानका आधिक्य उत्तरोत्तर होता गया है परन्तु यह सब  
 ज्ञान क्षयोपशमरूप ही है। जहां पर ज्ञानावरणरूपी पर्दा सर्वथा हट जाता है वहीं पर यह आत्मा  
 समस्त लोकालोकको जाननेवाला सर्वज्ञ हो जाना है। उस सर्वज्ञ-ज्ञानमें समस्त पदार्थोंकी  
 समस्त पर्यायें साक्षात् झलकती हैं। हर एक आत्मामें सर्वज्ञ-ज्ञानको प्राप्त करनेकी शक्ति है  
 परन्तु ज्ञानावरण कर्मने उस शक्तिको मेवोंसे ढके हुए सूर्यके समान छिपा दिया है। इसी  
 प्रकार दर्शन गुणको दर्शनावरण कर्मने ढक रक्खा है। संसारमें जो जीव देखे जाते हैं उनमें  
 कितने तो ऐसे हैं जो केवल पदार्थोंको छूना ही जानते हैं, उनके मुंह, नाक, आंख, कान, नहीं  
 होते, दृष्टान्तके लिये वृक्षको ही ले लीजिये। वृक्षके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय है उसीसे वह  
 पानीका स्पर्श कर वृद्धि पाता है। इसी कोटिमें पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वगैरे  
 जीव भी हैं। इन जीवोंके पृथिवी आदि ही शरीर हैं इसलिये हम सिवा उस पृथ्वी मृत् आदि  
 स्पृष्ट शरीरके उनका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं। उन जीवोंकी चेतना कर्मोंसे गहरी आच्छादित  
 है इसलिये केवल वृक्ष पर्वतादिकी वृद्धिसे उनका अनुमान कर लेते हैं। कुछ जीव पदार्थोंको  
 छूते हैं और चखते हैं। उनके पहले जीवोंकी अपेक्षा एक मुंह (रसना इन्द्रिय) अधिक है।  
 इन जीवोंकी चेतना कर्मोंके कुछ मंद होनेसे पदार्थके रसका अनुभव भी कर सकती है। कुछ  
 जीवोंमें पदार्थोंकी गन्ध जाननेकी भी शक्ति है ऐसे जीवोंके नासिका इन्द्रिय भी होती है  
 इस श्रेणीमें चींटियां, मकोड़े आदि जीव आते हैं। इन जीवोंके आंखे कान नहीं होते हैं।  
 भ्रमर, बर्र, मक्खी आदि जीव देख भी सकते हैं। और कुछ जीव सुन भी सकते हैं। और  
 कुछ जीव ऐसे होते हैं जो मनमें पदार्थोंका अनुभव भी करते हैं। इस श्रेणीमें मनुष्य  
 पशु आदि आते हैं। यहांपर विचारनेकी यह बात है कि ऐसे मनुष्य  
 आंगसे जितना देखता है क्या वह अपनी ही देखनेकी शक्ति रखता है? नहीं,  
 वह सम्पूर्ण आत्मासे समस्त पदार्थोंके देखनेकी शक्ति रखता है, परन्तु देखना क्यों नहीं।  
 देखता हम ज्ञेय नहीं, कि वह आस ऊपर सगेलेसे परान्व हो रहा है। दर्शनारण कर्मने



उसके दर्शन गुणको दक दिया है केवल थोड़ासा क्षयोपशम होनेसे वह आंख रूपी सरोखेसे देख सका है । जिन जीवोंके इतना भी क्षयोपशम नहीं होता वे विचारे इतना भी नहीं देख सके अर्थात् उनके आंख भी नहीं होनी, जैसा कि पहले कहा गया है । इसका दृष्टान्त स्पष्ट ही है जैसे एक आदमी बंद मकानमें बंद कर दिया जाय तो वह बाहरकी वस्तुओंको नहीं देख सका है । परन्तु उस मकानकी यदि एक खिड़की खोल दी जाय तो वह खिड़कीके मापने भाये हुए पदार्थोंको देख सका है यदि दूसरी खिड़की भी खोल दी जाय तो उसके मापने भाये हुए पदार्थोंको भी वह देख सका है । इसी प्रकार पूर्व पश्चिमकी तरह उत्तर दक्षिणकी तरफकी खिड़की भी यदि खोल दी जाय तो उधरके पदार्थोंको भी वह देख सका है । यदि सब मकानकी भित्तियोंको गिरा दिया जाय और चौपट कर दिया जाय तो वह आदमी चारों ओरके पदार्थोंको देख सका है । दूसरा दृष्टान्त दर्पणका ले लीजिये । एक विशाल दर्पण पर यदि कानल पोत दिया जाय तो उसमें सर्वथा मुंह दिखाई नहीं देता है । परन्तु उमी दर्पण पर एक अंगुली फेर कर उसका अंगुलीके बराबरका भाग स्वच्छ कर दिया जाय तो उतने ही भागमें दीखने लगेगा । यदि दो अंगुली फेरी जायें तो कुछ अधिक दीखने लगेगा । इसी प्रकार तीन चार पांच अंगुलियोंके फेरनेसे बहुत अच्छा दीखने लगेगा । कपड़ेसे अच्छी-तह पूरे दर्पणको साफ कर दिया जाय तो सर्वथा स्पष्ट और पूर्णतासे दीखने लगेगा । इसी प्रकार आत्मामें सम्पूर्ण पदार्थोंके देखनेकी शक्ति है परन्तु दर्शनावरण कर्मने उस शक्तिको दक रक्खा है । उसीके निमित्तसे आत्मा इन्द्रियरूपी सरोखोंके बन्धनमें पड़कर पदार्थको स्पष्टतासे नहीं देख सका है । और न गूढ़न और दूरवर्ती पदार्थको ही देख सका है । आत्मा जब दर्शनावरण कर्मके बन्धनसे मुक्त होता है तब वह इन्द्रियोंकी सहायतासे नहीं देखता है, किन्तु आत्मासे साक्षात् देखने लगा है उमी समय अग्नित पदार्थोंका वह प्रत्यक्ष भी कर लेता है जैसे कि खिड़कीसे देखनेवाला मरान्ना कोड़ देनेसे गिरावियोंकी सहायताके बिना आसनामके समस्त पदार्थोंको देख लेता है । वेदनीय कर्म अनेक प्रकारसे सांसारिक सुख दुःख देता रहता है । यद्यपि वेदनीय कर्म अथापि रति कर्म और भरति कर्मका सम्बन्ध होनेके कारण वह आत्माको आपात पटुंवाता है\* इसीलिये वेदनीय कर्मका पाठ पातिपा कर्मोंके बीचमें दिया है । जबकि वेदनीय कर्मका सम्बन्ध रहता है तब तक आत्मा सांसारिक सुख दुःखकी बाधासे बाधित रहता है । वेदनीय कर्मके दो वेद हैं ( १ ) माता ( २ ) अमाता । अमाताके उदयसे तो इन जीवोंके अमाता होती ही रहती है परन्तु साक्षात् उदयसे मा माता होती है बाल्यमें वह भी अमाता ही है । संसारी जीव सदा दुःखोंसे सन्तप्त रहता है इच्छिते

\* आहारवे, वायुवे, तेजवे गुणव्यापारोंसे रति अर्थात् उदय न होनेके वेदनीय कर्म सुख नहीं कर सका ।

साताके उदयसे जो सुखसा प्रतीत होने लगता है उसे ही वह सच्चा सुख समझता है । वास्तवमें वह सुख नहीं है किन्तु दुःखकी कमी है । सांसारिक सुखका उदाहरण ऐसा है जैसे किसी आदमीमें कोई युद्धरकी मार लगाने और लगाते २ थक जाय तो उस समय पिछेवाला समझता है कि अब कुछ साता मिली है । ठीक इसी प्रकार दुःखकी थोड़ी कमीको ही वह जीव सुख समझने लगता है । सांसारिक सुखके विषयमें स्वामी समन्तमद्राचार्यने कहा है 'कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये । पापनीने सुखेऽज्ञात्या श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता । अर्थात् (१) सांसारिक सुख कर्मोंके अधीन हैं । जब तक शुभ कर्मोंका उदय है तभी तक है । (२) इसी लिये उसका अन्त भी शीघ्र हो जाता है (३) बीच बीचमें उसके दुःख भी आते रहते हैं (४) और पापका बीज है अर्थात् जिन बातोंमें संसारी सुख समझता है वे ही वांटे पापबन्धकी कारणभूत हैं इसलिये सांसारिक सुख दुःखका कारण अपवा दुःख रूप ही है । वेदनीय कर्मका अभाव हो जानेसे आत्मा अव्याबाध गुणका भोक्ता हो जाता है । आत्माके उस निराकुल स्वरूप अव्याबाध (बाधा रहितपना) गुणको वेदनीय कर्मने ढक रक्ता है मोहनीय कर्मके विषयमें पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है । आठों कर्मोंमें एक यही कर्म अनर्थोंका मूल है । यह कर्म सब कर्मोंका राजा है । यही आठों कर्मोंके बन्धका कारण है । मोहनीय कर्ममें दूसरे कर्मोंसे एक बड़ी विशेषता यही है कि दूसरे गुण तो अपने प्रतिपक्षी गुणोंको ढकते ही हैं परन्तु मोहनीय कर्म अपने प्रतिपक्षी गुणको विपरीत स्वादु बना देता है । यह कर्म आत्माके प्रधान गुण सम्यक्त्व और चारित्रका घात करता है । इसी कर्मने जीवोंको कुपय्यामी—भ्रष्ट—अनाचारी तथा रागी द्वेषी बना रक्ता है । इस कर्मके दूर हो जानेसे आत्मा परम नीतराग—शुद्धात्मानुभवी हो जाता है । आयु कर्म बेड़ीका काम करता है । जिस प्रकार किसी दोषीको बेड़ीसे नकड़ देने पर फिर वह कहीं जा नहीं सक्ता, इसी प्रकार यह संसारी जीव भी गतिरूपी जेलखानोंमें आयुरूपी बेड़ीसे नकड़ा रहता है जब तक आयु कर्म रहता है तब तक इसे श्वास भी नहीं उठा सक्ती है । नरकगतिमें वर्णनातीत दुःखोंको सहन करता है परन्तु आयु कर्म वहाँसे टलने नहीं देता है । आयु कर्मके चार भेद हैं, उनमें तिर्यगायु, मनुष्यायु, देवायु ये तीन आयु शुभ हैं । नरकायु अशुभ है । आयु कर्मके उदयसे यह जीव कभी किसी शरीरके आकारमें बंधा रहता है कभी किसी शरीरके आकारमें बंधा रहता है परन्तु अपने वास्तविक स्वरूपका अवगाहन नहीं करता है, अर्थात् अपने स्वरूपमें नहीं टहर पाता है । इसलिये आयुर्कर्मने जीवके अवगाहन गुणको जिया रक्ता है ।

नाम कर्मने आत्माके सूक्ष्म गुणको रोक रक्ता है । इस कर्मके उदयसे आत्मा गति, भाति, दरीर, अंग, उपाग, आदि अनेक प्रकारके अनेक रूपोंको धारण करता हुआ स्थूल र्पायी बन गया है । वास्तवमें महाप्रादिक बिछारोंसे रहित—अमूर्तिक आत्माका सूक्ष्म स्वरूप

। परन्तु नाम कर्मने उच सुक्ष्मताको छिपा दिया है । जिन प्रकार किसी कारखानेका एक जिन अनेक कार्योंको करना है, उनी प्रकार नामकर्म भी आत्माको अनेक रूपोंमें घुमाता है । नाम कर्मकी उत्पत्ति एक बहु रूपशरीर-बहुरूपव्यासे ठीक घटती है । जिस प्रकार बहु रूपोंको धारण करनेवाला बहुरूपव्या अनेक असली सूक्ष्म स्वरूपको छिपा रखता है, उसी प्रकार नाम कर्मने आत्माके असली-सूक्ष्म स्वरूपको छिपा रखा है और स्पूल पर्यायोंसे उसे बहु रूप-धारी-बहुरूपव्या बना रखा है ।

आत्मा अनन्त गुणधारी, निर्विकार शुद्ध है उसमें न नीचता है और न उच्चता है वह सदा एतन्मा है, परन्तु गोत्र कर्मने उसे ऊँच नीच बना रखा है । नीच गोत्रके उदयसे यही अनन्त गुण धारी आत्मा कभी नीच कहलाने लगता है और उच्च गोत्रके उदयसे कभी उच्च कहलाने लगता है । गोत्र कर्मका कार्य गोमट्टपारमें इसप्रकार है 'संतागक्रमेणा- ग्य नीचापरगन्त गोदमिदि सण्णा, उच्चं नीचं चरणं उच्चं नीचं हवे गोदं, अर्थात् कुछ परम्परासे चला आया जो नीचका आचरण है उसकी गोत्र संता है । उस कुछ परम्परामें यदि उच्च आचरण है तो वह उच्च गोत्र कहलाता है । यदि निच हीन आचरण हो तो वह नीच गोत्र कहलाता है । यद्यपि उच्च नीच गोत्रमें आचरणकी अवश्य प्रशानता है, परन्तु साथ ही कुछ परम्पराकी भी प्रधानता अवश्य है । अन्यथा किसी शत्रुय राजाके जो पुत्र होता है वह जन्म दिनसे ही उच्च कहलाने लगता है । इसी प्रकार एक पाण्डालके जो पुत्र होता है वह जन्म दिनसे ही नीच कहलाने लगता है । यदि उच्च नीचका आचरणसे ही सम्बन्ध हो तो जन्म दिनसे लोक उन्हें उत्तम और नीच क्यों समझने लगने हैं । उन्होंने अभी कोई आचरण नहीं प्रारंभ किया है । यदि कहा जाय कि उन्होंने आचरण भले ही न किया हो परन्तु उनके माता पिता तो अपने आचरणोंसे उच्च नीच बने हुए हैं, उन्हींके यहाँ जो बालक जन्म लेता है वह भी उसी श्रेणीमें शामिल किया जाता है तो सिद्ध हुआ कि साक्षात् आचरण उच्च नीचका कारण नहीं है, किन्तु कुछ परम्परा ही प्रधान कारण है । गोत्र कर्मका लक्षण बताते हुए स्वामी पृथ्वीपादने तर्थापत्तिदिमें भी यही कहा है—यस्योदयाओकपुनितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रं, यदुदयादहितेषु कुलेषु जन्म तलोच्चैर्गोत्रम्, जिसके उदयसे लोकपुनित कुलोंमें जन्म हो उसे उच्चगोत्र कहते हैं । और जिसके उदयसे निच कुलोंमें जन्म हो उसे नीचगोत्र कहते हैं । इस उच्चगोत्र नीचगोत्रके कारणसे यह बात स्पष्ट है कि कुछ परम्परासे ही उच्चता नीचताका स्वरूप प्रहार होता है । साक्षात् आचरणोंसे नहीं होता । इसका कारण भी यही है कि गोत्र कर्मका उदय वहाँसे प्रारंभ होजाता है जहाँसे कि यह नीच एक पर्यायको छोड़कर दूसरी पर्यायमें जाने लगता

है। अर्थात् विग्रहगतियों ही उच्च अथवा नीच कर्मका उदय प्रारंभ होनाता है, और जैसा कर्मका उदय होता है वैसी ही इस जीवको पर्याय मिलती है इसीलिये— उस कर्मोदयके कारण ही उस जीवको जन्म समयसे ही संसार उच्च नीचका व्यवहार करने लगता है। लोकमें यह व्यवहार भी प्रसिद्ध है कि कोई आदमी यदि ब्राह्मण कुलमें जन्म लेकर शिल्पीका कार्य करने लगे तो लोग उसे यही कह कर पुकारते हैं कि यह जातिका तो ब्राह्मण है परन्तु हीन कर्म करता है, उसे हीन कर्म करते हुए भी उस पर्यायमें शुद्र कोई नहीं कहता है। यदि साक्षात् आचारणोंसे ही वर्ण व्यवस्था मान ली जाय तो उच्च गोत्र कर्म और नीच गोत्र कर्मका उदय ही निरर्थक है। कर्मोदयको निरर्थक मान लेनेसे संसारका सच रहस्य ही उठ जाता है। आयु कर्मका बन्ध निरर्थ होता है वह छूटता नहीं है और जीवको उस पर्यायमें नियमसे ले जाता है। यदि इसको भी भर्कितकर समझ लिया जाय तो फिर जीवका घूमना ही बन्द हो जाय परन्तु जब तक कर्म हैं तब तक ऐसा होना असंभव है। वे अपना शुभाशुभ फल देते ही हैं। दूसरी बात यह भी है कि एक मनुष्यने जावनमरमें कोई काम न किया हो, वैसे ही पड़े ९ आनन्दसे जीवन बिताया हो तो उस जीवनमें संसार उसे किस वर्णका कहकर पुकारेगा ? उससे उच्चताका व्यवहार किया जायगा या नीचताका ? क्योंकि उसने साक्षात् आचरण तो कोई किया नहीं है। विना साक्षात् आचरणके वर्ण व्यवस्था नहीं मानने वालोंके मतसे उसे वर्ण रहित कहें अपना चारों वर्णोंसे अतिरिक्त कुछ हीन-पद्मवर्णभाव, कहें ! क्योंकि उसके साथ उच्चता अथवा नीचता का कुछ न कुछ व्यवहार करना ही होगा। उस व्यवहारका आधार वहाँ आचरण तो है नहीं, इसलिये विना कुछ परम्परासे आई हुई उच्चता नीचताको स्वीकार किये किसी प्रकार काम नहीं चल सकता। जो लोग कुलगत वर्ण व्यवस्थाका छोड़ करते हैं वे अनिश्चितारम्भ-कर्म विनयी साहसी हैं। आश्चर्य तो यह है कि ऐसे लोग भी माता पिताको उपदेश देते हुए कहा करते हैं यदि तुम योग्य पुत्र चाहते हो तो अपने भाव उद्यम रक्खो, तुम्हारे जैसे भाव होंगे पुत्रमें भी वे भाव होंगे, इस उपदेशसे स्वभावोद्भूत संस्कारोंका ही प्राधान्य सिद्ध होता है। \* इसलिये गुण कर्मसे नहीं,

\* यदि स्वभावोद्भूत उच्चता नीचता न हो, और स्वभावोदयके कारण ही न मानी जाय तो मारउकाही नहीं लाई पावनी—यह पावनीके धावणको भावने दे। इसीको न, कि वे स्वभावसे उद्यमपेश होने हैं। स्वभावसे जेन कुलमें यह जीव उत्पन्न होता है वेने मातापिता से बच्चे लगता है, इस नियमसे एक दृष्टान्त है कि किसी प्रयत्नसे एक जीवका स्वभाव सिद्धीके साथ एक मरता। निहनीके उभे छेद—यह होनेके कारण पाव निश्च। जब सिद्धीके वेने देता पुत्र एक यह जीव उत्पन्न होनेके साथ वेने लगता। एकद्वारा वह बच्चे निश्च। पुत्र

किन्तु स्वभावसे ही गोत्र भ्यात्प्या न्यायसङ्गत है। परम्परा गुण कर्म भी कारण हैं। इस प्रकारकी उद्यता और नीचता इस गोत्र कर्मके कारण ही आत्मा प्राप्त करता है, गोत्र कर्मके अभावमें वह अगुल्लु है। न तो बड़ा है और न छोटा है, यह छोटा बड़ा उद्य नीच व्यवहार कर्मसे होता है। गोत्र कर्मने आत्माके उस अलौकिक अगुल्लु गुणको छिपा दिया है। अन्तराय कर्मने आत्माकी वीर्य शक्तिको नष्ट कर रक्खा है। वीर्य शक्ति आत्माका निज गुण है, उसीको आत्मिक बलके नामसे प्रकटा जाता है। शारीरिक बल और आत्मिक बलमें बहुत अन्तर है। शारीरिक बलबालोंसे जो कार्य नहीं हो सकते हैं वे आत्मिक बल वालोंसे अच्छी तरह हो जाते हैं। योगियोंमें यद्यपि शारीरिक बल नहीं है वे तपस्वी हैं साथ ही शीघ्र शरीरी भी हैं परन्तु आत्मिक बल उनमें बहुत बड़ा हुआ है उसीका प्रभाव है कि वे इतने साहसी हो जाते हैं कि सिंहोंसे भरे हुए अति मयानक जंगलमें निर्भय होकर घुमान लगाते हैं। यह उनके आत्मिक बलका ही परिणाम है। बहुतसे विद्वान् मानसिक बलको ही आत्मीक बल समझते हैं उन्हें यह पृथक्ना चाहिये कि वह मानसिक बल ज्ञानसे भिन्न है या अभिन्न। यदि भिन्न है तब तो सिद्ध हो चुका कि ज्ञानसे बल दूसरा गुण है, परन्तु ज्ञानमें वह सहायक अवश्य है, उसीके निमित्तने मानसिक ज्ञानमें उसकी उपचरित कल्पना कर ली जाती है। जितनी जिसकी आत्मिक बल शक्ति प्रबल है। उतना ही उसका ज्ञान भी पुष्ट होता है यदि ज्ञानसे वह अभिन्न है तो उसमें बल शब्दका प्रयोग किस आशयसे किया जाता है? इसलिये यह बात निर्धारित है कि ज्ञानसे अतिरिक्त एक वीर्य नामा भी आत्माकी शक्ति है। उस शक्तिका शारीरिक बलसे सम्बन्ध अवश्य है। बाह्य शक्ति अन्तरंग शक्तिमें सहायक है। आत्मा जितना किसी पदार्थका ज्ञान करता है उतनी अन्तरंग बल शक्ति भी साथ ही उसमें सहायता पहुँचाती है। इसीलिये आचार्योंने आत्मके निकल गये, वही हाथियोंका छत्र देखकर उनपर वे सिंहोंके बच्चे, सिंह हुए पड़े, परन्तु इस भयावह दौड़के मीदक डरकर पीछे भागा। सिंहोंके बच्चे भी अपने बड़े माईको ओटता हुआ देख ओट तो पड़े परन्तु उनसे न रहा गया, वे आकाश चोढ़े वा। आत्म हमें बड़े माईने हाथियोंकी छिकारसे थोका दिया है यह जोक नही किया है। सिंहोंने मनमें धोखा कि इसका कुछ तो मीदकोषा है इसलिये इसमें डरके लक्षण बने परन्तु लक्षण भी था ही जागा है। उसने लक्षणमें उस मीदकोषा बुझाकर उसे हिलकर वह उदरेण दिया। "एतच्छि कृच्छ्रियोति रश्मिचोति पुष्पः। यत्किन् बुद्धेः सद्रूपतो यत्तत्तत् न दृश्यते" है पुनः। ए एकीर है, विद्यावान् है, देखनेसे योग्य है, परन्तु जिस बुद्धि ने देखा हुआ है उस बुद्धिमें शक्ति नहीं भरे कहे इसलिये ए शक्ति ही सब दास भव वा, अन्तरंग के बड़े बच्चे दूधने वही एक बच्चे रखेगे। तात्पर्य बारी है कि बुद्धि का लक्षण सिद्ध ही सिद्ध न, वही न हो, वा ही जागा है। वह उस पक्षमें नहीं मिलता।

केवलज्ञानके अन्तर्गत अनन्त वीर्यका सद्भाव बतलाया है। जहाँ पर आत्माने स्व  
 अनन्त वीर्य शक्ति प्रकट हो जाती है वहाँ फिर शारीरिक बलही उसे आवरण  
 नहीं पड़ती है। उस अनन्त वीर्य शक्तिको अन्तराय कर्मने रोक रक्ता है। किन्तु  
 १ अन्तराय कर्मका क्षयोपशम होता जाता है उतना २ ही आत्मिक वर क्षयोपशम  
 रूपसे संसारी जीवोंमें पाया जाता है। उसी अन्तराय कर्मके दानान्तराय, लाभान्तराय,  
 भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ऐसे पांच भेद हैं। किसी सेउठे पहाँ बहुत  
 घन भी है परन्तु उसके देनेके परिणाम नहीं होते, समझना चाहिये उसके दानान्तराय रूपसे  
 उदय है। दो आदमी एक दिन और एक ही साथ व्यापार करने निश्चित हैं, एक अपने  
 हानि उठाता, एक लाभ उठाता है, समझना चाहिये कि एकका अन्तराय कर्म तीव्र है, एकका  
 मन्द है। भोग्य-योग्य सामग्री रखती हुई है परन्तु उसे किसी कारणसे भोग नहीं सका है,  
 समझना चाहिये उसके भोगान्तराय कर्मका उदय है। अन्तराय कर्मने आत्माको दोषोंसे  
 शक्तियोंसे रोक रक्ता है। इस प्रकार आठों ही कर्मोंने आत्माको अनन्त अविन्ध्य  
 शक्तियोंसे जिग दिया है इसलिये आत्माकी असली अस्त्या प्रकट नहीं हो  
 पाती। आत्मा अत्यज्ञानी नहीं है, अव्यवस्था भी नहीं है, भिन्ना दृष्टि भी नहीं  
 है, दुःखी भी नहीं है, शरीरान्नाही भी नहीं है, स्थूल भी नहीं है, कोश वा  
 भी नहीं है, और अशक्त भी नहीं है, किन्तु वह अनन्त ज्ञानी-सर्वाज्ञ है, सम्पन्न है,  
 सर्व दया है, अनन्त शक्तिशाली है, मृदु है, अगुल्य है, आत्मापराधी है, अन्त्यास-  
 रण रहित है। इन्हीं अविन्ध्य शक्तियोंसे जब आत्मा विकसित होने लगता है अर्थात् जब  
 वे अज्ञान गुण उसके प्रकट होना शुरू होते हैं तभी वह मित्र कहलाने लगता है। आत्माकी शुद्ध  
 अवस्थाका नाम ही मित्र है। अथवा ज्ञानादि-शक्तियोंके पूर्ण विद्याशाला नाम ही  
 मित्र है। इसी अवस्थाका नाम मोक्ष है। आत्माकी शुद्धावस्था-मित्रावस्थाको  
 मोक्ष ही मोक्ष और कोई पदार्थ नहीं है। कर्म मरुत छूटने रहित आत्माकी स्वाभाविक  
 अवस्था ही मोक्ष कहते हैं \* नव नव कर्मोंका सम्बन्ध रहता है नव नव अवस्था  
 मुक्त नहीं रहता वा सदा । अर्थात् देवके वरदाँ पात्रिया कर्मोंका मरुत हो जानेसे स्वाभाविक  
 गुण प्रकट हो गये हैं अर्थात् अवस्थाया कर्मोंके प्रकटाने शक्तियोंसे गुण प्रकट नहीं हुए हैं  
 ननु किन्ने नव नव उन्हें समीक्षाही ही बना रहता है । वेदोंके कर्म दण्डों मर्त्य के

\* अत्रिहो नव नव कर्मोंके मरुत होनेसे नव नव अवस्था प्रकट होती है नव नव अवस्था प्रकट होनेसे नव नव कर्मोंका सम्बन्ध रहता है नव नव अवस्था प्रकट होनेसे नव नव कर्मोंका सम्बन्ध रहता है नव नव अवस्था प्रकट होनेसे नव नव कर्मोंका सम्बन्ध रहता है

मोक्ष ही मोक्ष है।



जब तक संसार है सिद्धावरण नहीं होती—

नेदं सिद्धत्वमेति स्यादसिद्धत्वमर्थतः ।

यावत्संसारसर्वस्वं महानर्थास्पदं परम् ॥ ११४४ ॥

मुख प्रकट होजाता है—इसीलिये सिद्धोंका परम शान्त—परम मुखी देवा विशेषण दिया है। मस्करी—मस्कूर मतवाले मुक्त जीवका फिर संसारमें आना स्वीकार करते हैं इसको मिथ्या सिद्ध करनेके लिये सिद्धोंका विशेषण—निरञ्जन दिया है, अब उनके रागद्वेष भजन नहीं है इसलिये अब वे कभी कर्मोंके जाकमें नहीं आ सकते हैं। कर्मोंका कारण राग द्वेष है। जब कारण ही नहीं तो कार्य भी किसी प्रकार नहीं हो सका है। इसलिये एकबार मुक्त हुए जीव फिर कभी नहीं संसारमें लौटते। आर्य समाज भी मुक्त जीवका लौटना स्वीकार करते हैं, उनका सिद्धान्त भी मिथ्या है। बौद्ध दर्शन मुक्त जीव (पदार्थ मात्र) को क्षणिक मानता है परन्तु सर्वथा क्षणिकता सर्वथा वाधित है, सर्वथा क्षणिक मानने पर मुक्ति संसार आदि किसी पदार्थकी व्यवस्था नहीं बन सकती है इसीलिये सिद्धोंका नित्य विशेषण दिया है। सिद्ध सदा नित्य है वे सदा सिद्ध पर्यायमें ही रहेंगे। उनमें अनित्यता कभी नहीं आसकती है। योगदर्शन मुक्त जीवको निर्गुण मानता है, नैयामिक और वैशेषिक भी मुक्त जीवके बुद्धि मुलादि गुणोंका नाश मानते हैं। देवा मानना सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि जीव गुण स्वरूप ही है। गुणोंका नाश माननेसे जीवका ही नाश हो जाता है। दूसरे—गुण नित्य होते हैं उनका नाश होना ही असंभव है। तीसरे—उक्त दर्शनवाले ही जीवका और गुणोंका समवाय सम्बन्ध बतलाते हैं और समवाय सम्बन्ध उन्हींके मतमें नित्य स्वीकार किया है, नित्य भी कहना और नाश भी कहना स्वयं उनके मतसे ही उनका मत वाधित करना है। इसलिये गुणोंका सिद्धोंमें नाश नहीं होता किन्तु उनमें गुण पूर्ण रूपसे प्रकट हो जाते हैं इसीसे सिद्धोंका ‘अष्ट गुणसहित’ विशेषण दिया है। ईशान मतवाले मुक्त जीवको कृतकृत्य नहीं मानते हैं अर्थात् मुक्त जीवको भी अभी काम करना बाकी है देवा उनका सिद्धान्त है इसी सिद्धान्तके अन्तर्गत ईश्वरको सृष्टि कर्ता माननेवाले आते हैं। परन्तु धीरे रहित, इच्छा रहित, क्रिया रहित मुक्त जीवके सृष्टिका करना हरना कुछ नहीं हो सका है। नृष्टि सदासे है। उसका करना, हरना भी अशुद्ध ही है। और उपर्युक्त तीन बातोंसे रहित मुक्त जीवके भी उसका करता, हरता अशुद्ध है। इसीलिये सिद्धोंका ‘कृतकृत्य’ विशेषण दिया है। सिद्ध सदा वातराग—अलौकिक—आत्मोत्पन्न—परमानन्दका आस्वादन करते हैं उन्हें कोई कार्य करना नहीं है। मण्डली नामक सिद्धान्त मुक्त जीवको सदा ऊर्द्धगमन करता हुआ ही मानता है अर्थात् मुक्त जीव जबसे ऊपर गमन करता है तबसे बराबर करता ही रहता है कहीं ठहरता ही नहीं। इस सिद्धान्तका निराकरण—लोकामयिवासी, इस विशेषणसे हो जाता है। जहाँ तक धर्म द्रव्य है वहीं तक अनंत शक्ति होनेके कारण एक समयमें ही मुक्त जीव चला जाता है, धर्म द्रव्यके अभावसे आगे नहीं जा सका। धर्म द्रव्य छोक तक है इसलिये सिद्ध जीव ओका प्रमे ठहर जाते हैं।











करोत छेद्यावाला जीव-प्रोषी, अन्यकी निंदा करनेवाला, दूसरोंको दोषी कहनेवाला, शोक और मय करनेवाला दूसरेकी सम्पत्ति पर बह करनेवाला, दूसरेका तिरस्कार करनेवाला, अपनी प्रशंसा करनेवाला, दूसरे पर विश्वास नहीं करनेवाला, अपने समान दूसरोंको (दुष्ट) समझनेवाला स्तुति करनेवाले पर प्रसन्न होनेवाला, अपने हानि लाभको नहीं समझनेवाला, रणमें मरनेकी इच्छा रखनेवाला, अपनी प्रशंसा करनेवालेको घन देनेवाला, और कार्य अकार्यको नहीं समझने वाला होता है । + पीत छेद्यावाला जीव-कार्य अकार्य तथा सेव्य असेव्यको समझनेवाला, सर्वोपर समान याव रखनेवाला, दया रखनेवाला, और दान देनेवाला होता है । \* पद्म छेद्यावाला जीव-दानी, भद्र परिणामी, नुकार्यकारी, उद्यमी, सहनशील, और साधु-गुरु पूजक होता है + शूल छेद्यावाला जीव-पक्षपात रहित, निदान बन्ध नहीं करनेवाला समदर्शी है अनिष्ट पदार्थोंसे राग द्वेष रहित, और कुटुम्बसे मयत्न रहित होता है - कर्षो छेद्यावाले जीवोंके विचारोंके विषयमें एक दृष्टान्त भी प्रसिद्ध है-एक पक्षिक अगडके मार्गसे जा रहे थे, मार्ग भूखकर वे घूमते हुए एक आमके वृक्षके पास पहुँच गये । उस वृक्षके फलोंसे भरा हुआ देखकर कृष्णछेद्यावालेने अपने विचारोंके अनुसार कहा कि ये १५ वृक्षके नदसे उलाहकर इसके आम खाऊँगा, नीलछेद्यावालेने अपने विचारोंके अनुसार कहा कि ये नदसे तो इसे उलाहना नहीं चाहता किन्तु स्वयं (नदसे उपरका भाग ही खाऊँगा) इसके आम खाऊँगा । कशोतछेद्यावालेने अपने विचारोंके अनुसार कहा कि ये तो बड़ी १ इच्छाओंको ही गिरा कर आम खाऊँगा । पीतछेद्यावालेने अपने विचारोंके अनुसार कहा कि ये बड़ी १ छात्ताओंको तोड़कर समस्त वृक्षकी हरिवालीको खाँ लूँगा वगैरे, केवल इसको छोड़ूँगा ।

+ कच्छ विरह अन्ने, दूध वहुको व बाँध अब वहु  
अधुवह परिधवह वर वठवह अपव वहुको ॥  
वव पविधव वर को अपव विव वरिह अपवनी ।  
वुवह अविधवतो वव आवह हावि वहु वा ॥  
आव वठव रने देह वुवव वि वुवव वरिह ।  
व गवह वववव ववववव व वववव ।  
+ अपव वववव वववव व वव वववव ।  
ववववव व विव ववववव व वववव ।  
व ववव वव वववव ववव व ववव वववव ।  
वव वव ववव वव ववव ववव ववव ववव ।  
वव व वववव वव व व ववववव व

संस्कृतम् ।

ढालियो (टहनियो) को तोड़कर ही आम खाऊंगा । पञ्चदेव्यावालेने अपने विचारोंके अनुमा  
 कहा कि मैं तो इसके फलोंको ही तोड़कर खाऊंगा । शुक्रदेव्यावालेने अपने विचारोंके अनुमा  
 कहा कि तुम तो फलोंके खानेकी इच्छासे इतना २ बड़ा आरंभ करनेके लिये उद्य  
 हो, मैं तो केवल वृत्तसे स्वयं दूटकर गिरे हुए फलोंको ही बीनकर खाऊंगा ।  
 इन्ही छेदयागत भावोंके अनुमार यह आत्मा आयु और गतियोंका बन्ध करता है । जैसी  
 इसकी छेदया ( भाव ) होती है उसीके अनुमार आयु और गतिका बन्ध इसके होता है ।  
 परन्तु सम्पूर्ण छेदयागत भावोंसे आयुका बन्ध नहीं होता है किन्तु मध्यके आठ अंशों का  
 ही होता है । अर्थात् छेदयाओंके सब छत्वीस अंश हैं । उनमें मध्यके आठ अंश ऐसे होते  
 हैं जो कि आयु बन्धकी योग्यता रखते हैं । उन्हींमें आयुका बंध होसकता है । बाकीके अंशोंमें  
 नहीं हो सक्ता । ये मध्यके आठ अंश आठ अपकर्ष कालोंमें होते हैं । अपकर्ष नाम घटनेका है  
 अर्थात् मुख्यमान आयुके दो भाग घट जानेपर अवशिष्ट एक भागके प्रमाण अन्तर्जुत प्रमाण  
 कालका नाम अपकर्षकाल है । इन्हीं कालोंमें आयुबन्धके योग्य छेदयाओंके मध्यके आठ अंश  
 होते हैं । परन्तु जिस अपकर्षमें आयुबन्धके योग्य आठ मध्यम अंशोंमेंसे कोई अंश होगा उस  
 अपकर्षमें आयुका बन्ध होगा औरोंमें नहीं । इसीलिये किसीके आठों अपकर्षोंमें आयु  
 बंध होसकता है, किसीके सब अपकर्षोंमें नहीं होता किन्तु किसी २ में होता है । किसी  
 आठों ही अपकर्षोंमें नहीं होता है । जिसको आठों ही अपकर्षोंमें बन्धकी योग्यता न  
 मिलती है उसके आयुके अन्त समयमें एक आठिका असंख्यातवा भाग शेष रह जाने पर  
 उससे पहले अन्तर्जुतमें भरपूर आयु बन्ध होता है । इदानींके त्रिये-रूपका  
 करिये एक मनुष्यकी १९११ वर्ष की मुख्यमान ( वर्तमान-उत्प्राप्त ) आयु है । उसके  
 पहला अपकर्ष काठ ११८० वर्ष शेष रह जाने पर पड़ेगा । इस काठके प्रथम अन्तर्जुतमें  
 यदि आयुबन्धके योग्य आठ मध्यम अंशोंमेंसे कोई अंश हो तो पञ्चमी आयुका बंध हो  
 सकता है । यदि यहां पर कोई अंश न पड़े तो ३२२ वर्ष शेष रहने पर दूसरा अपकर्ष काठ  
 पड़ेगा वही आयुका बन्ध हो सकता है । यदि वही भी आयुका योग्यता नहीं मिले तो  
 तीसरा अपकर्षकाठ २४३ वर्ष शेष रह जाने पर पड़ेगा । इसी प्रकार ८० वर्ष शेष रहने पर  
 चौथा, १० वर्ष शेष रहने पर पांचवा, २ वर्ष शेष रहने पर छठा, १ वर्ष शेष रहने पर सातवा  
 अन्तर्जुत और मुख्यमान आयुके दूध १ वर्ष शेष रहने पर अन्तर्जुत काठ १०० वर्ष शेष रहने पर  
 दस अन्तर्जुत वही बंधा बन्धना हो पड़ेगी पर आयुका बंध हो सकता है ।  
 छठे अन्तर्जुत हो तो बंधन हो सकता है । यदि वही भी योग्यता न  
 हो तो फिर अन्तर्जुत बंधन हो सकता है । आठवां अपकर्ष २४३ वर्ष शेष रहने पर  
 कि जिस अपकर्षके बन्ध का अन्त पड़ा है उन्हींके अन्तर्जुत काठ १०० वर्ष शेष रहने पर

बन्ध होता है। इसीलिये आचार्यों का उपदेश है कि परिणामोंको सदा उन्वृत्त बनाओ, नहीं मादुर किस समय आयुका विभाग पड़ जाय। मरण कालमेंसे तो अवश्य ही क्रोधादिका त्याग कर शान्त हो जाओ क्योंकि मरणकालमें तो आयुबन्धकी पूर्ण संभावना है। इसीलिये समाधि मरण करना परम आवश्यक तथा परम उत्तम कहा गया है। \*

उपर्युक्त आयुबन्धके योग्य आठ अंशोंको जोड़कर बाकीके अठारह अंश योग्यतानुसार चारों गतियोंके कारण होते हैं। अठारह अंशोंमेंसे जैसा अंश होगा उसीके योग्य गति बन्ध होगा। शुक्लदेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मरे हुए जीव नियमसे सर्वार्थसिद्धि जाते हैं। उसीके नक्षत्र अंशसे मरे हुए जीव चारहवें स्वर्ग तक जाते हैं तथा मध्यम अंशसे मरे हुए आनन्दसे ऊपर सर्वार्थसिद्धिसे नीचे तक जाते हैं। पद्मदेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मरे हुए जीव सहस्रार स्वर्ग जाते हैं उसके नक्षत्र अंशसे मरे हुए जीव सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग जाते हैं और मध्यम अंशसे मरे हुए इनके मध्यमें जाते हैं। वीर्यदेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मरे हुए सनत्कुमार माहेन्द्र तक जाते हैं। उसके नक्षत्र अंशसे मरे हुए सौधर्म ईशान स्वर्गतक जाते हैं और मध्यम अंशसे इनके मध्यमें जाते हैं। इसप्रकार इन शुभदेश्याओंके अंशों सहित मरकर जीव स्वर्ग जाते हैं। और कृष्णदेश्या, नीलदेश्या कापोतीदेश्याओंके उत्कृष्ट नक्षत्र मध्यम अंशोंसे मरे हुए जीव सातवें नरकसे लेकर पहले नरक तक यथायोग्य जाते हैं। तथा मधन-त्रिकसे लेकर सर्वार्थसिद्धि तकके देव और सातों पृथिवियोंके नारकी अपनी-१ देश्याओंके अनुसार मनुष्यगति अथवा तिर्यग गतिको प्राप्त होते हैं। इतना विशेष है कि जिस गति सम्बन्धी आयुका बन्ध होता है उसी गतिमें जाते हैं, बाकीमें नहीं। क्योंकि आयुबन्ध छूटा नहीं है। गतिबन्ध छूट भी जाता है। आयुका अविनाशही ही गतिबन्ध उदयमें आता है। बाकीकी उदीरणा हो जाती है। तथा गतिबन्धके होनेपर भी मरण समयमें जैसी देश्या होती है उसीके अनुसार उसी गतिमें नीचा अथवा ऊंचा स्थान इस जीवको मिलता है। उपर्युक्त देश्याओंके विवेचनसे यह बात भलीभाँति सिद्ध है कि अनर्थाका मूल कारण देश्यायें ही हैं। इस पञ्चपरावर्तनरूप अनादि अनन्त-मर्यादा रहित संसार समुद्रमें यह आत्मा इन्हीं देश्याओंके निमित्तसे गंते रहा है। कभी अनुभूतिदेश्याओंके उदयसे नरक तिर्यग गतिरूप गहरे भ्रमरमें पड़कर घूमता हुआ नीचे बड़ा जाता है, और कभी शुभ देश्याओंके उदयसे मनुष्य, देव गतिरूप तरंगोंमें पड़कर ऊपर उठने लगता है, जिस समय यह आत्मा नीचे जाता है उस समय अति व्याकुल तथा घेनना हीनता होजाता है, जिस समय ऊपर आता,

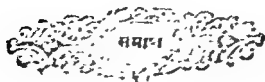
\* देव नारकीके शुभमान आयुके छह महीना, और भौव भूमेकोके नौ महीना छह छह महीना परमवर्ष आयुका बन्ध होता है। उनके उठने की कालमें आठ बरकरकाबद्ध योग्यता होती है। उनकी किसी कारण वध भकाकन्यु नहीं होती है क्योंकि इनके विवेचना है।

है उस समय भी यद्यपि तीव्र तरंगोंके सकोरोसे शान्ति लाभ नहीं करने पाता है तर्पा नीचेकी अपेक्षा कुछ शान्ति समझने लगता है । इसी लिये कतिपय विचारशील उस भ्रमरनालं बचनेके लिये अनेक शुभ उद्योग करते हैं । बुद्धिमान पुरुषोंका कर्तव्य है कि वे उहो लेश्याओंके स्वरूपको उनके कार्योंको उनसे होनेवाले आयु वन्ध और गति वन्ध आदिको समझकर अशुभलेश्याओंको छोड़ दें, और शुभ लेश्याओंको ग्रहण करें । अर्थात् तीव्र क्रोध, धर्महीनता, निर्दयता, स्वात्म प्रशंसा, परनिंश, मायाचार आदि अशुभ मार्गोंका त्यागकर सनता, दया, धार, दानशीलता, विवेक धर्मपरायणता आदि शुभ मार्गोंको अपनावें इसी लिये गोमूत्रपारके आधारपर लेश्याओंका इतना विवेचन किया गया है । परन्तु सुस्मदष्टिसे वास्तविक विचार करनेपर शुभ तथा अशुभ दोनों लेश्यायें इस संसारसमुद्रमें ही डुबानेवाली हैं । अशुभ लेश्या तो संसार समुद्रमें डुबाती ही हैं परन्तु शुभ लेश्या भी उससे उद्धार नहीं कर सकती । क्योंकि वह भी तो पुण्य बंधका ही कारण है, और जब तक इस आत्माके साय बन्ध लग, हुआ है तब तक यह आत्मा परम सुरती नहीं होसका है । इसलिये जो अशुभ तथा शुभ दोनों प्रकारकी लेश्याओंसे रहित हैं वे ही परमसुरती-संसारके लिये कर्मबन्धनसे मुक्त-अनन्त गुण तैनोदाम, वीतराग-निर्विकार-कृतकृत्य-स्वात्मानुभूतिपरमानन्दनिम्न-सिद्ध परमेश्वर हैं । उन्ही परम मङ्गलस्वरूप सिद्ध भगवानके ज्ञानमय वरणारविन्दोंको हरय मंदिरमें स्थापित कर तथा उन्हींकी बार बार याचना कर इस प्रवचनकी यह सुबोधिनी दीक्षा यहीं समाप्त की जाती है ।

मंगलं भगवान् धीरो मंगलं गौतमो गणी ।

मंगलं कृदकृदायां जैन-धर्मास्तु मंगलं ॥१॥

( मार्यश्रीर्षेष्टा नवमी वीर व० १४४८ )





ॐ नमः सिद्धेभ्यः

## टीकाकारकी प्रशस्ति

शहर आगराके निकट ग्राम चावली नाम  
वैश्योंमें विख्यात तहें श्रीयुत तोताराम ॥ १ ॥  
धर्मवंत बुधिवंत अति पद्मावति पुरवाल  
परउपकारी वैद्यवर पूजक जिन गुणमाल ॥ २ ॥  
छहसुत तिनके हैं समी गण्य मान्य विद्वान  
धर्मनिष्ठ विनयी बड़े व्यापारी नयवान ॥ ३ ॥  
बाल ब्रह्मचारी सुधी रामलालजी नाम  
पुत्ररत्न वे ज्येष्ठ थे जिनसेवक वसु जाम ॥ ४ ॥  
तिनसे लघु सागर हैं भाई मिहलाल  
सर्वमान्य निजगौरवी, ग्रामपंच बड़ भाल ॥ ५ ॥  
तृतीय भ्रात पण्डित प्रमुख दासी लालाराम  
निपुण न्याय सिद्धान्तमें काव्यकलाके धाम ॥ ६ ॥  
उनका ही उपकार यह टीका ग्रन्थ अनेक  
भावपूर्ण विस्तृत सरल रचीं स्व-परहितहेतु ॥ ७ ॥  
आदिपुराण प्रसिद्ध हैं, उचर ह जु पुरान  
शान्तिनाथ जिनराजका शान्तिपुराण महान ॥ ८ ॥  
पायकेदरी स्तोत्र अरु धर्माभूत सागर  
धर्मप्रश्नउत्तर सहित, सरल भावकाचार ॥ ९ ॥  
नक्षत्रकोष तथ्यानुशासन ह शाय महान  
परितसार पुनि जिनगतक, मूक्तिमुक्तावलि ज्ञान ॥ १० ॥  
मणिमाला वैराग्यकी, ग्रन्थ हष्ट उपदेश,  
क्रियामञ्जरी, मालिका ग्रन्थोत्तर अरण्य ॥ ११ ॥  
संशयवदनविदारिका आदि शाल अशिराम  
इन सबकी टीका रचीं शायी लालाराम ॥ १२ ॥  
देखि नास्तिकोंका महा धुतका अरण्यसाद  
आदिपुराण समीधका रचीं परीधाराद ॥ १३ ॥  
मुक्ति पूर्ण सागम कथन देखि निरुपर होव  
बैठि रहें पुष होइके मिथ्यारादी तोव ॥ १४ ॥

शास्त्रीजीका टैकट यह पङ्क्तौ चारों ओर  
 सत्य धर्मकी जय हुई विघटौ मिथ्या शोर ॥ १५ ॥  
 पण्डित नंदनलालजी तिनतें लघुवर आत  
 सरलचित्त विद्वान अति स्फुटवक्ता बिल्यात ॥ १६ ॥  
 तिनहूँ इक चारित्रिका ग्रन्थ स्वतन्त्र बनाइ  
 जातें निजहित भवि करें तत्त्व जथारथ पाइ ॥ १७ ॥  
 चौबीसों जिनराजका पाठ रचौ अनमोल  
 छन्दशास्त्र लक्षणसहित छन्द धरे तहँ तोल ॥ १८ ॥  
 दीपमालिकाकी रचा पूजा और विधान  
 पढ़ि पूजा करते सदा नर नारी कल्याण ॥ १९ ॥  
 तारंगा सिधक्षेत्र पुनि गजपंथा सुविशाल  
 तिन सबकी पूजा रची पण्डित नंदनलाल ॥ २० ॥  
 उनतें छोटे आत द्वै प्रथम जु मक्खनलाल  
 द्वितिय जोंदरी, प्रिय समी चिरंजीव श्रीलाल ॥ २१ ॥  
 ममी आत मिलकें रहें स्नेहभरे चित चैन  
 भद्रा राखें अटल मन देव गुरु जिन बैन ॥ २२ ॥  
 आर्पवचन प्रतिकूल वच सहै न कोई आत  
 धर्म दिगम्बर जग बढै यह चिन्ता दिनरात ॥ २३ ॥  
 गजपुर तीर्थ पवित्र अति ऋषभाश्रममें आइ  
 पञ्चाध्यायीकी रची टीका जिनगुण गाइ ॥ २४ ॥  
 महागहन यह ग्रन्थ है ग्रन्थराज कहि सूरि  
 विद्वद्वर जगने समी करें प्रशंसा भूरि ॥ २५ ॥  
 मैं बालक मनिमंद हूँ शास्त्ररहस्य-अज्ञान  
 अति साहस मंत्रे कियौ करि टीका निर्माण ॥ २६ ॥  
 भूल चूक जो रहगई सुजानी गुणमाल  
 पढ़ा पढ़ावो शुद्ध करि विनये मक्खनलाल ॥ २७ ॥  
 पञ्चाध्यायी ग्रन्थको पढ़े मुने जो कोय  
 रद मम्पत्ती संवसी नचझानी होय ॥ २८ ॥

हमारे यहां ॐ

नीचे लीखे ग्रंथ मिलते हैं-

### आदिपुराण-

मूल श्लोक और सरल हिंदी भाषानुवाद सहित मोटे ममबूत कागजपर खुले पत्रोंमें छपा हुआ । मूल्य १९) रु.

धर्मप्रश्नोत्तर-सकलकीर्त्याचार्य विरचित धर्मप्रश्नोत्तरका सरल हिंदी अनुवाद । मूल्य २) रु.

धर्मरत्नोद्योत-छंदोबद्ध उपदेशी ग्रन्थ । मूल्य १) रु.

जिन शास्त्र-भी समतुल्यार्थ विरचित विश्वबद्ध श्लोक, कविवर नरसिंह कृत संस्कृत टीका, सरल हिंदी भाषानुवाद तथा श्लोकोंके विश्व सहित । मूल्य ॥३)

दीपाली पूजन-

इनका डाक संचे भेज । मूल्य ८-)

### उत्तरपुराण-

सरल हिंदी भाषानुवाद सहित गुरु और पवित्र प्रसंगोंमें छपा रहा है ।

पता-

लालाराम जैन

मल्हारगंज, इंदौर।

शास्त्रीजीका ट्रैक्ट यह पहुँचा चारों ओर  
 सत्य धर्मकी जय हुई विषयों मिथ्या शोर ॥ १५ ॥  
 पण्डित नंदनलालजी तिनतें लघुवर भ्रात  
 सरलचित्त विद्वान अति स्फुटवक्ता विख्यात ॥ १६ ॥  
 तिनहूँ इक चारित्रिका ग्रन्थ स्वतन्त्र बनाइ  
 जातें निजहित भवि करें तच्च जयारय पाइ ॥ १७ ॥  
 चौबीसों जिनराजका पाठ रचा अनमोल  
 छन्दशास्त्र लक्षणसहित छन्द धरे तहँ तोल ॥ १८ ॥  
 दीपमालिकाकी रचा पूजा और विधान  
 पढ़ि पूजा करते सदा नर नारी कल्याण ॥ १९ ॥  
 तारंगा सिधक्षेत्र पुनि गजपंथा सुविशाल  
 तिन सचकी पूजा रची पण्डित नंदनलाल ॥ २० ॥  
 उनतें छोटे भ्रात द्वै प्रथम जु मक्खनलाल  
 द्वितिय जोंहरी, प्रिय समी चिरंजीव श्रीलाल ॥ २१ ॥  
 ममी भ्रात मिलकें रहें स्नेहभरे चित चैन  
 श्रद्धा राखें अटल मन देव गुरु जिन बैन ॥ २२ ॥  
 आर्पवचन प्रतिकूल वच सहै न कोई भ्रात  
 धर्म दिगम्बर जग बढ़ै यह चिन्ता दिनरात ॥ २३ ॥  
 गजपुर तीर्थ पवित्र अति ऋषभाश्रममें आइ  
 पञ्चाध्यायीकी रची टीका जिनगुण गाइ ॥ २४ ॥  
 महागहन यह ग्रन्थ है ग्रन्थराज कहि सूरि  
 विद्वद्वर जगके समी करें प्रशंसा भूरि ॥ २५ ॥  
 मैं बालक मतिमंद हूँ शास्त्ररहस्य-अज्ञान  
 अति साहज मने कियौ करि टीका निर्माण ॥ २६ ॥  
 भूल चूरु जो रहगई मुत्रानी गुणमाल  
 पढ़ा पढ़ापो शुद्ध करि विनवै मक्खनलाल ॥ २७ ॥  
 पञ्चाध्यायी ग्रन्थको पढ़ै गुनै जो कोय  
 रट्ठ सम्यन्दी संपत्ती नञ्जानी होय ॥ २८ ॥

हमारे यहां

नीचे लीखे ग्रंथ मिलते हैं-

### आदिपुराण-

मूल श्लोक और सरल हिंदी भाषानुवाद सहित मोटे ममबूत कागजपर खुले पत्रोंमें छापा हुआ । मूल्य ११) रु.

धर्मप्रश्नोत्तर-संस्कृतकीर्त्याचार्य विरचित धर्मप्रश्नोत्तरका सरल हिंदी अनुवाद । मूल्य २) रु.

धर्मरत्नोद्योत-छंदोबद्ध उपदेशी ग्रंथ । मूल्य १) रु.

जिन शातक-भी समंतभद्राचार्य विरचित विप्रबद्ध श्लोक, कविवर नरसिंह कृत संस्कृत टीका, सरल हिंदी भाषानुवाद तथा श्लोकोंके चित्र सहित । मूल्य III)

दीपावली पूजन- मूल्य ८-)

इनका डाक सफे अलग ।

### उत्तरपुराण-

सरल हिंदी भाषानुवाद सहित शुद्ध और पवित्र ग्रंथमें छपा रहा है ।

पता-

लालाराम जैन

मल्हारगंज, इंदौर ।

शास्त्रीजीका दैवट यह पङ्क्तों चारों ओर  
 सत्य धर्मकी जय हुई विघटों मिथ्या शोर ॥ १५ ॥  
 पण्डित नंदनलालजी तिनतें लघुवर आत  
 सरलचित्त विद्वान अति स्फुटवक्ता विम्व्यात ॥ १६ ॥  
 तिनहूँ एक चारित्रिका ग्रन्थ स्वतन्त्र बनाई  
 जातें निजहित भवि करें तत्त्व जथारथ पाई ॥ १७ ॥  
 चौबीसों जिनराजका पाठ रचौ अनमोल  
 छन्दशास्त्र लक्षणसहित छन्द धरे तहँ तोल ॥ १८ ॥  
 दीपमालिकाकी रचा पूजा और विधान  
 पढ़ि पूजा करते सदा नर नारी कल्याण ॥ १९ ॥  
 तारंगा सिधक्षेत्र पुनि गजपंथा सुविशाल  
 तिन सबकी पूजा रची पण्डित नंदनलाल ॥ २० ॥  
 उनतें छोटे आत है प्रथम जु मक्खनलाल  
 द्वितिय जोंहरी, प्रिय सभी चिरंजीव श्रीलाल ॥ २१ ॥  
 सभी आत मिलकें रहें स्नेहभरे चित चैन  
 श्रद्धा राखें अटल मन देव गुरु जिन बैन ॥ २२ ॥  
 आर्पवचन प्रतिकूल वच सहै न कोई आत  
 धर्म दिगम्बर जग बढै यह चिन्ता दिनरात ॥ २३ ॥  
 गजपुर तीर्थ पवित्र अति श्रमभाश्रममें आई  
 पञ्चाध्यायीकी रची टीका जिनगुण गाई ॥ २४ ॥  
 महागहन यह ग्रन्थ है ग्रन्थराज कहि सूरि  
 विद्वद्भर जगके सभी करें प्रशंसा भूरि ॥ २५ ॥  
 मैं बालक भतिमंद हूँ शास्त्ररहस्य-अज्ञान  
 अति साहस मैंने किया करि टीका निर्माण ॥ २६ ॥  
 भूल चूक जो रहगई सुझानी गुणमाल  
 पढ़ा पढ़ावो शुद्ध करि विनवै मक्खनलाल ॥ २७ ॥  
 पञ्चाध्यायी ग्रन्थका पढ़ै सुनै जो कोय  
 हट्ठ सम्यक्ती संयमी तत्त्वज्ञानी होय ॥ २८ ॥

